कल्याण

'नमो धर्माय महते'

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम । गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥

[संस्करण १,५०,०००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें १० रु०
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य
रु० ७.५०
विदेशमें १० रु०
(१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

श्रीलालबहादुर शास्त्रीजी !

मानव-जीवन कितना क्षणभङ्गुर है ! हम सोचते कुछ हैं, विधाताके विधानसे हो जाता है कुछ और ही। श्रीलालबहादुरजी शास्त्रीका जहाँ सफल-यात्राका स्वागत होनेवाला था, वहाँ उनकी शवयात्राका जुलूस निकला। वे सारे विश्वमें शान्ति चाहते थे। युद्धमें तो उन्हें बाध्य होकर प्रवृत्त होना पड़ा था अपनी मङ्गल इच्छाके विरुद्ध। पर भगवान्की कृपासे उन्हें सफलता मिली। तासकंद-यात्रामें भी उनका विश्व-शान्तिका महान् उद्देश्य सदा उनके सामने रहा और उन्होंने अन्तमें बलप्रयोग न करनेके समझौतेमें सफलता प्राप्त की। वे भारतके ही नहीं, विश्वके महान् सेवक थे। उनके अकस्मात् यों चले जानेसे अनभ्र वज्रपात हो गया। सारा संसार शोक-मग्न है आज। भारतमें वे जन-जनके प्रिय थे, इस भयानक प्रिय-वियोगसे भारतका जन-जन सभी संतप्त है। घरवालोंके, खास करके श्री-ललिता बहिनजीके दुःखकी कोई सीमा नहीं। पर उनके लिये यह गौरव-की बात है, उनके महान् आत्मा स्वामीने विश्वकी सेवामें अपना बलिदान किया है। वे परम पुण्य-जीवन थे और सच्चे अर्थमें धार्मिक थे।

गीताप्रेस तो उनके अहैतुक उपकारोंके लिये सदासे ऋणी है। बड़ा निकटका घरका सम्बन्ध था गीताप्रेससे उनका। उनके अभावमें गीताप्रेस आज एक बहुत बड़े अभावका अनुभव कर रहा है। पर विधाताके विधान-के सामने कुछ भी वश नहीं।

इस प्रकारकी मृत्युको देखकर सबको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और रागद्वेषादिसे मुक्त होकर जीवनको भगवत्-सेवामें समर्पित कर देना चाहिये।

'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

१. वर्तमानमें प्रायः सारी दुनिया अधर्मसे नाता जोड़े हुए है। राजनीतिक क्षेत्रमें तो धर्मका बहिष्कार है ही, धार्मिक जगत्में भी विपरीत तामस बुद्धिके कारण धर्मके नामपर प्रायः अधर्मने ही अड्डा जमा रक्खा है। सर्वत्र ही भ्रष्टाचार, दुराचार, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार, असदाचार, मिथ्याचारका विस्तार हो रहा है। लोगोंकी धर्मसे चिढ़ और अधर्ममें गौरव-बुद्धि हो गयी है। यह धर्मनाश जगत्को अनन्त दुःखमय सर्वनाशकी ओर लिये जा रहा है। ऐसे समयमें इस 'धर्माङ्क'का प्रकाशन इसीलिये किया जा रहा है कि जिससे धर्मप्राण भारतके आत्मविस्मृत लोग पुनः धर्मका महत्त्व समझें और धर्मकी रक्षा करके सुरक्षित हों। इस 'धर्माङ्क'में मूल शाश्वतधर्मके विविध रूपों तथा अङ्गोंपर उदाहरणसहित प्रकाश डाला गया है तथा धर्मके तत्त्वोंको भलीभाँति समझानेका प्रयत्न किया गया है। धर्मपालनके महत्त्वपूर्ण चरित्रोंके साथ रंगीन तथा सादे चित्र दिये गये हैं, जिससे अङ्ककी उपादेयता और भी बढ़ गयी है। इसका जितना ही प्रचार होगा, उतना ही धर्म-ज्योतिका विस्तार होगा और मार्गभ्रष्ट अशान्त दुखी मानव पुनः सन्मार्गपर आकर सच्चे सुख-शान्तिको प्राप्त कर सकेगा।

२. जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

३. मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना नाम, पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर मैनेजर 'कल्याण'के नाम भेजें। उसमें किसी व्यक्तिका नाम न लिखें।

४. ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'धर्माङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और इधरसे वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५. आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

६. 'धर्माङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो-तीन सप्ताह तो लग ही सकते हैं। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७. 'कल्याण'—व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'—सम्पादन-विभाग, 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी), 'साधक-सङ्घ' और 'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ'के नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८. किसी अनिवार्य कारणवश, 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उनमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य रु० ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) है।

९. जिन ग्राहकोंका सजिल्द मूल्य आया हुआ है, उनको यदि वर्तमान परिस्थितिवश सजिल्द अङ्क लेनेकी सम्भावना नहीं होगी तो अजिल्द विशेषाङ्क और जिल्द-चार्ज रु० १.२५ मनीआर्डरद्वारा लौटा दिया जा सकेगा। इस बार 'विशेषाङ्क'के प्रकाशनमें कई कारणोंसे कुछ विलम्ब हो गया है। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थना करते हैं।

१०. एक सौ रुपये एक साथ देनेपर आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जिनको आजीवन ग्राहक बनना हो वे एक सौ रुपये भेजकर ग्राहक बन जायँ। जो सज्जन वर्तमान वर्षके रु० ७.५० भेज चुके हों, वे रु० ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं। जबतक वे जीवित रहेंगे और तबतक 'कल्याण' बंद नहीं होगा, तबतक 'कल्याण' उन्हें मिलता रहेगा।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क (डाकखर्च सबमें हमारा है)

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ-सं० ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५०

२—मानवता-अङ्क—पृष्ठ-सं० ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ४९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०९ एकरंगे और ३९ रेखाचित्र। मूल्य ७.५०

३—संक्षिप्त शिव-पुराणाङ्क—प्रसिद्ध शिवपुराणका संक्षिप्त रूपान्तर है। इसमें ७०४ पृष्ठोंकी ठोस पाठ्य-सामग्री है, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा रेखाचित्र १, सादे १२ और १३८ रेखाचित्र हैं। मूल्य रु० ७.५०, सजिल्दका ८.७५

४—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ७०४, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, इकरंगे ६, रेखाचित्र १२०, इस अङ्कमें भगवान् श्रीकृष्णकी विविध लीलाओंका बड़ा ही रोचक वर्णन है। मूल्य ७.५०

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

The Kalyana-Kalpataru

1. The Gita-Tattva Numbers—I and III — Price Rs. 5.00 nP.
(An exhaustive commentary on the Bhagavadgita along with the original Sanskrit text in two Volumes. Number II is out of stock @ Rs. 2.50 nP. each)
2. The Bhagavata Numbers—II, V, VI — " Rs. 8.12 nP.
(An English translation of Books IV to VI, Book X (Latter Half) and Books XI-XII with the original Sanskrit text of the Bhagavata with Mahatmya @ Rs. 2.50 nP. each) (Numbers I, III and IV containing Books I to III and VII to IX and First Half of Book X out of stock)
3. The Valmiki-Ramayana Numbers—I, II, III, IV and V — " Rs. 12.50 nP.
(An English translation with original Sanskrit text of Balakanda, Ayodhyakanda and Aranyakanda of the Valmiki-Ramayana @ Rs. 2.50 nP. each.)

Postage free in all cases.

MANAGER—KALYANA-KALPATARU, P. O. *Gita* Press (Gorakhpur)

श्रीहरिः

धर्माङ्क

विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

दोरंगा चित्र

सादा

रेखाचित्र

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर ४२९ केन्द्र और लगभग १८००० परीक्षार्थी हैं। विशेष जानकारीके लिये कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० 'स्वर्गाश्रम' (देहरादून)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रसार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' ग्यारह वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या ४८४१७ हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

साधक-संघ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-संघकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको २५ नये पैसेमें एक डायरी दी जाती है, जिसमें वे अपने नियमपालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। आनन्दकी बात है कि इसके सदस्योंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। इस समय ८६१२ सदस्य हैं। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये—संयोजक, 'साधक-संघ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

'कल्याण'के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वारा 'कल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है, इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक साथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये। चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस'के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें उन्हें १२५.०० रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५.०० रुपये या दस पौंड और सजिल्दके लिये १५०.०० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा व्यापारी फर्म भी आजीवन-ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण', गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

धर्मरक्षक अनन्त शौर्य-वीर्य-सिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोके यस्य पवित्रतोभयविधा दानं तपस्या दया चत्वारश्चरणाः शुभानुसरणाः कल्याणमातन्वते ।
यः कामाद्यभिवर्षणाद् वृषवपुर्ब्रह्मर्षिराजर्षिभिर्विट्शूद्रैरपि वन्द्यते स जयताद्धर्मो जगद्धारणः ॥

वर्ष ४० } गोरखपुर, सौर माघ २०२२, जनवरी १९६६ { संख्या १ पूर्ण संख्या ४७०

धर्मरक्षक धर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना

जय वसुदेव-देवकी-नन्दन, व्रजपति नंद-यशोदालाल ।
जय मुष्टिक-चाणूर-निमर्दक, गज कुवलया-कंसके काल ॥
जय नरकासुर-केशिनिषूदन, जरासंध-उद्धारक श्याम ।
जयति जगद्गुरु, गीता-गायक, अर्जुन-सारथि-सखा, ललाम ॥
जय अनुपम योद्धा, लीलामय, योगेश्वर, ज्ञानी, निष्काम ।
जय धर्मज्ञ, धर्म, वरदायक, शुचि सुखदायक शोभाधाम ॥
जय सर्वज्ञ, सर्वमय, शाश्वत, सर्वातीत, सर्वविश्राम ।
जयति परात्पर लोकमहेश्वर, गुणातीत चिन्मय गुणधाम ॥

धर्मकी महत्ता

धर्म करता है चित्त पवित्र। धर्म देता है उच्च चरित्र ॥
धर्म है सदा सभीका मित्र। धर्म देता है फल सुविचित्र ॥
धर्म करता विपत्तिका नाश। धर्म करता सब पाप-विनाश ॥
धर्म करता विज्ञान-प्रकाश। धर्म भरता जीवन उल्लास ॥
धर्म ही है सबका आधार। धर्म ही है जीवनका सार ॥
धर्म करता सबका उद्धार। धर्म ही है विशुद्ध आचार ॥
धर्म हरता माया-तम घोर। धर्म फैलाता द्युति सब ओर ॥
धर्म रखता नित पुण्य-विभोर। धर्म देता सुख दिव्य अछोर ॥
धर्म हर लेता कलह कलेश। धर्म हर लेता राग-द्वेष ॥
धर्म हरता हिंसा निःशेष। धर्म उपजाता दया विशेष ॥
धर्म हर लेता सारी भ्रान्ति। धर्म हर लेता मोह-अशान्ति ॥
धर्म हर लेता सारी श्रान्ति। धर्मसे मिलती शाश्वत शान्ति ॥
धर्म करता न कभी गुमराह। धर्मसे बढ़ती सात्त्विक चाह ॥
धर्म हर दुःखोंकी परवाह। धर्म करवाता त्याग अथाह ॥
धर्मसे मिलते इच्छित काम। धर्मसे मिलते अर्थ तमाम ॥
धर्मसे मिलता पद निष्काम। धर्मसे मुक्तिलाभ सुखधाम ॥
धर्ममें सहज अहिंसा-सत्य। धर्ममें सदाचार सब नित्य ॥
धर्ममें रहते गुण संचिन्त्य। धर्ममें मिटते भाव अनित्य ॥
धर्ममें नहीं नीचतम स्वार्थ। धर्मका लक्ष्य एक परमार्थ ॥
धर्ममें सफल सभी पुरुषार्थ। धर्ममें पूर्ण ब्रह्म एकार्थ ॥
धर्ममें नहीं कुमतिको स्थान। धर्म है विमल बुद्धिकी खान ॥
धर्मसे होता नित्योत्थान। धर्मसे मिलते श्रीभगवान ॥
धर्म कर अघका सहज अभाव। धर्म उपजाता पावन भाव ॥
धर्मसे बढ़ता सेवा-चाव। धर्मसे बढ़ता भगवद्भाव ॥
धर्म कर दिव्य विवेक-विकास। धर्म करता त्रितापका नाश ॥
धर्म उपजा प्रभु-पद-विश्वास। धर्म कर देता प्रभुका दास ॥
धर्मसे मिलता अचल सुहाग। धर्म कर देता शुचि बड़भाग ॥
धर्म उपजाता विषय-विराग। धर्म देता प्रभु-पद-अनुराग ॥

इस श्लोकके अपने भाष्यमें परमाद्वैतसिद्धान्तके प्रतिष्ठापक भगवान् शंकराचार्य भी भगवान्‌की स्तुतिको ही प्रकृष्टतम धर्म निर्धारित करते हैं। अपने देशके सभी बालक-बालिकाओंको भगवद्भक्तिपूर्ण कोई छोटी-सी स्तुति अवश्य कण्ठ रखनी चाहिये; जिससे भविष्यमें जनतामें कुछ भक्तिका आविर्भाव हो। आज भी बहुत-से बूढ़े लोग, जिन्होंने बाल्यकालमें एक भी भक्तिस्तोत्र कण्ठ नहीं किया था, इसके लिये पश्चात्ताप करते दीखते हैं और कहते हैं कि हम तो बेकार ही बैठे रहते हैं और यों ही समय नष्ट करते हैं। इस विषयमें सभी आस्तिकोंको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार राष्ट्रोद्धार तथा आत्मोद्धारके लिये कुछ करना चाहिये। जो कण्ठस्थ पाठ करनेमें सुलभ हों, श्रेष्ठ भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके मुखसे निकले हों, ऐसे छोटे-छोटे स्तोत्रोंको पुस्तिकारूपमें छपाना चाहिये। इन्हें देशके छोटे बालक-बालिका जिस प्रकार कण्ठस्थ कर लें, वैसा प्रयत्न करना चाहिये। कण्ठाग्र करनेवाले बालक-बालिकाओं-को एक कोई चाँदीकी भगवच्चिह्नाङ्कित मुद्रा देनी चाहिये और विशेष योग्य धर्मपरीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियोंको अगली कक्षाके योग्य पुस्तक भी दी जानी चाहिये। मुद्रणालय-अधिकारी, धनी-मानी सेठ, पुस्तकविक्रेता, विद्यालय-संचालक प्रबन्धकगण यदि इधर थोड़ा ध्यान दें तो बहुत कुछ कार्य हो सकता है। इससे वातावरणमें पर्याप्त सुधार तथा परिष्कार हो सकेगा—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २। ४०)

इस महाकार्यमें आयोजनार्थ देश-प्रदेशकी कीर्तन-मण्डलियाँ और भजन-समाजादि भी सत्र-सभा-सम्मेलन आदि करेंगी, ऐसी नारायण-स्मृतिके साथ शुभाशा करता हूँ।

धार्मिक चेतना

(श्रीशृंगेरीमठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजके सदुपदेश)

धर्म ही हिंदुओंके धार्मिक जीवनका मूल स्वर है। सामाजिक एवं नैतिक आचरणमें व्यक्त आध्यात्मिक जीवनका ही नाम धर्म है। मानव-जीवनका यही आश्रय और आधार है। रामायण और महाभारत धार्मिक जीवनकी व्याख्या उपदेश और उदाहरणद्वारा करते हैं। महाभारतमें धर्मराज धर्मके एक महान् उदाहरण हैं, किंतु रामायणके श्रीराम तो साक्षात् धर्मकी मूर्ति ही हैं—'रामो विग्रहवान् धर्मः'।

धार्मिक जीवनका अर्थ है—'आर्जव' और 'अहिंसा'। धार्मिक व्यक्ति स्वयं तपस्वी होता है। तपस्याके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, क्षुधाका दमन तथा शरीरमें सर्दी-गरमी एवं अन्य कष्टोंको सहनेकी शक्ति लानेवाले विभिन्न साधनोंकी भी गणना है। विवेक तथा उचित निश्चयके साथ की हुई ये तपस्याएँ भक्तको आध्यात्मिक झंकारके साथ अपने तन-मनकी तानको मिला देनेमें सहायक सिद्ध होती हैं। आत्मानुशासन-का अर्थ अपनेको यन्त्रणा देना नहीं है। तपका महत्तम उद्देश्य है—सनातन आत्मानन्दके बदले क्षणभङ्गुर इन्द्रिय-सुखोंको श्रेष्ठ माननेवाली मनुष्यकी कुबुद्धिको बदल देना।

एक महात्माने हृदयमें पैठनेवाली बात कही है कि 'जहाँ धर्म है, वहीं साथमें सुख भी है।' धार्मिक जीवन बिताइये और आप सदा सुखी रहेंगे। कोई व्यक्ति त्रिभुवनका स्वामी होकर भी दुखी रह सकता है और दरिद्रसे दरिद्र भिखमंगा भी संसारका सबसे अधिक सुखी प्राणी हो सकता है। भगवान् एक कदम और भी आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने कहा है—'यतो धर्मस्ततो जयः'—'जहाँ धर्म है, वहीं जय है।'

धर्म क्या है? धर्म वह प्रणाली अथवा संस्था है, जिसकी सर्वाङ्गपूर्ण परिभाषा बन चुकी है और जिसे 'सनातन धर्म'के नामसे पुकारा जाता है। न तो किसी समयविशेषमें इसका आरम्भ हुआ तथा न किसी विशेष संस्थापकसे ही इसका श्रीगणेश हुआ। सनातन होनेके साथ ही यह सार्वभौम भी है। यह पृथ्वीगत सीमाबन्धनको नहीं मानता। जितने लोग विश्वमें पैदा हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे, वे सब इसीके अन्तर्गत हैं। इसके नियमसे मनुष्य बच नहीं सकता। चीनी मीठी होती है और आग जलाती है, ये सनातन सत्य अपनी वास्तविकताके लिये इस बातपर निर्भर नहीं रहते कि हम उनको मानें। हम इन सत्योंको मान लेते हैं तो हमारे लिये शुभ और कल्याण है; हम नहीं मानते तो हमारे लिये उसी मात्रामें अशुभ तथा अमङ्गल है।

दोनों ही परिस्थितियोंमें नियम तो सार्वभौम, अविकारी और सनातन ही रहेगा। ऐसा है हमारा धर्म।

हमारा विश्वास है कि वेद स्वयं भगवान्की वाणी हैं। सृष्टिके पश्चात् भगवान्की जगह किसी अन्य उपदेशकके द्वारा बादमें चलाया हुआ कोई भी धर्म निश्चितरूपसे अपूर्ण और अनित्य होगा। वेद ही एक ऐसा मञ्च है, जिसपर समस्त हिंदू समान अधिकारसे मिल सकते हैं। प्रस्थानत्रयीमें वेद भी एक है, जिसके प्रमाण और अधिकारको अबतक स्वीकार माना है। यह बन्धन टूटा कि हिंदू तितर-बितर हो जायँगे।

कहा गया है कि धर्मकी अवहेलना करनेवाला और शास्त्रोंके विपरीत आचरण करनेवाला नष्ट हो जायगा तथा तत्परतापूर्वक धर्मके मार्गपर चलनेवालेकी रक्षा होगी।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

धर्मका सर्वप्रथम और सर्वप्रधान सिद्धान्त है—अपने माता-पिताका आदर करना। इनमें भी उन माताका पहले और पिताका बादमें, जिनसे हमको अपने शरीरकी प्राप्ति हुई है। उनके बाद आचार्य अथवा गुरुकी पूजा करनी चाहिये—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

सामान्य धर्मोंमेंसे नीचे कुछका नामोल्लेख किया जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सभीको इनका तत्परतापूर्वक अनुसरण करना चाहिये—

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) शौच, (५) इन्द्रिय-निग्रह।

इनके अतिरिक्त अपने भीतर श्रद्धाका भी बीज बोना चाहिये और सदा शुभकी आशा रखनी चाहिये। साथ ही सभी प्राणियोंको कुछ देनेका अभ्यास करना चाहिये। मानवधर्म दानको उन सिद्धान्तोंमें माना गया है, जिनपर हमारा धर्म आधारित है। फिर मनुष्य जो कुछ करे, अत्यन्त श्रद्धाके साथ करे। सच पूछा जाय तो श्रद्धाको सीमामें न बँधनेवाले आत्माका स्वरूप ही माना गया है। श्रीभगवान्ने कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

'अहिंसा' धर्मका एक अन्यतम सिद्धान्त है। धर्मका यह सिद्धान्त सर्वथा पृथक् आधारपर खड़ा है। यह भी कहा गया है कि सत्य, प्रेम और दया—धर्मके तीन मूल सिद्धान्त हैं। अहिंसा और दया प्रायः समानार्थी हैं। अहिंसाका एक पार्श्व प्रेम है और दूसरा पार्श्व दया। दोनों मिलकर अहिंसाका सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं।

प्रेमका अर्थ है—दूसरोंको सुख पहुँचाना और उनके सुखसे प्रसन्न होना। अपने ही सुखसे तृप्त होना पशुके लिये भी सरल है। परंतु दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये प्रयत्न करना और क्रियाशील होना ही सच्चा प्रेम है। अहिंसाका उत्तरार्द्ध हमें दूसरेके दुःखमें दुःखी होनेकी प्रेरणा देता है और इसीका नाम दया है। दूसरोंके लिये आँसू बहाना ही पर्याप्त नहीं है। दया केवल भावमें भरकर द्रवित बनकर रह जानेको नहीं कहा जाता। दयासे अनुप्राणित व्यक्ति दुःखमें पड़े प्राणीकी पीड़ाको अपनी ही पीड़ा समझकर सहायता करनेके लिये दौड़ पड़ेगा। ये दोनों पहलू मिलकर अहिंसाका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। अहिंसाके साथ सत्यको जोड़ देनेपर बिल्कुल पूरा चित्र तैयार हो जायगा। रामका विशेष गुण 'सत्य' बताया गया है और श्रीकृष्ण हैं—'प्रेमके अवतार।' संस्कृत शब्द 'सत्य'की व्युत्पत्ति दो पदोंसे हुई है। 'सत्'—जिसका अर्थ है पृथ्वी, जल और अग्नि और 'त्य'—जिसका अर्थ है वायु और आकाश। इन पाँचों तत्त्वोंमें भगवान्के अतिरिक्त और क्या व्याप्त है? इसी रीतिसे भगवान्को पृथ्वीसे मिलाया गया है।

दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा ही मनुष्यका कर्तव्य है। सेवा दूसरोंका उपकार करनेकी दृष्टिसे नहीं, वरं अपना जीवन-धर्म मानकर करनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिको याद रखना चाहिये कि उसकी गुह्यतम भावना भी उसके एवं दूसरोंके ऊपर प्रभाव डालती है। इसलिये मनुष्यको आत्मनिग्रहका अभ्यास करना चाहिये, जिससे कुविचार मनके बाहर रहें और वहाँ श्रेष्ठ एवं महान् विचारोंको स्थान मिले।

यह भी आवश्यक है कि मनुष्य मनकी भाँति अपने तनको भी निर्मल और स्वच्छ रखे; क्योंकि कहा है 'स्वच्छता दिव्यताकी पहली सीढ़ी है।' मनुष्य अपने विचारोंका पुतला है। वह जो सोचता है, वही बन जाता है। अतएव बुराईके प्रलोभनको कुचल डालना चाहिये। मन चञ्चल है और वायुकी भाँति कठिनतासे वशमें आता है। इसको निरन्तर अभ्यास और वैराग्यके द्वारा नियन्त्रणमें रखना चाहिये। इसका स्वभाव ही चञ्चल है। सबको अपने नित्य-

कर्म प्रतिदिन नियमपूर्वक करने चाहिये और अपने मनको मणिके समान स्वच्छ रखना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि मनुष्यको अपने जीवनके इस उद्देश्यका स्पष्ट ज्ञान हो कि 'भगवान्‌की पूजा ही सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है।' भगवान्‌के धर्मका पालन करते हुए उनका काम करना और प्राणिमात्रकी निःस्वार्थ सेवा करना सबसे ऊँची पूजा है।

जो कुछ भी उत्कृष्ट और उदात्त है, उसका आधार है सत्य। जो कुछ भी कहा जाय, वह सत्य और सुननेमें प्रिय हो। श्रवणकटु बात सत्य होनेपर भी नहीं कहनी चाहिये और श्रुतिप्रिय किंतु मिथ्या वचन भी नहीं बोलना चाहिये। धर्मके एक प्रमुख सिद्धान्त सत्यका यही ठीक-ठीक तात्पर्य है। यही कहा भी गया है—

> सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
> प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

सनातन-धर्मका स्वरूप

(मूल अंग्रेजी लेखक—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीगोवर्धनमठाधीश्वर ब्रह्मलीन स्वामीजी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजीमहाराज)

[अनुवादक—श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा तर्कशिरोमणि]

× × ×

सनातनका अर्थ है 'नित्य'। वैदिक धर्मका नाम 'सनातन-धर्म' अत्यन्त उपयुक्त है। अन्य किसी भी भाषामें 'धर्म'का वाचक कोई शब्द नहीं मिलता। अंग्रेजीमें इसके लिये 'रिलीजन' शब्द है, पर धर्मका भाव 'रिलीजन'में पूरी तरहसे नहीं उतर पाता। 'रिलीजन' शब्द धर्मके उस भावको लिये हुए है, जो बहुत सीमित और संकुचित है; पर सनातन-धर्म इतना विशाल है कि इसमें हमारे इस जन्मके ही नहीं, अपितु पूर्वजन्म और भविष्य-जन्मके सभी विषयों और परिणामोंका पूर्णतया समावेश हो जाता है।

शास्त्रोंमें धर्मकी परिभाषा 'धारणात् धर्मः' की गयी है। अर्थात् धर्म वह है, जो हमें सब तरहके विनाश और अधोगतिसे बचाकर उन्नतिकी ओर ले जाता है। अतः 'रिलीजन'की तरह 'धर्म' शब्द सीमित और संकुचित अर्थवाला नहीं है। उदाहरणार्थ—वेद केवल पारलौकिक सुख-प्राप्तिका मार्ग बताकर ही नहीं रह जाते, अपितु इस लोकमें सर्वाङ्गीण उन्नति और समृद्धिके पथका भी प्रदर्शन करते हैं।

सनातन-धर्मके अर्थ

पहला अर्थ

व्याकरणकी दृष्टिसे 'सनातन-धर्म'में षष्ठी-तत्पुरुषसमास है अर्थात् 'सनातनस्य धर्मः इति सनातनधर्मः।' सनातनका धर्म, सनातनमें लगायी गयी षष्ठी विभक्ति स्वाम्य-स्वामिक-सम्बन्धकी बोधक है। दूसरे शब्दोंमें—जिस प्रकार ईसाई, मुहम्मदी, जरथुस्त तथा बौद्धधर्म अपने साथ ही ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त तथा बुद्धके भी बोधक हैं, उसी प्रकार सनातन-धर्म भी यह बताता है कि यह धर्म उस सनातन अर्थात् नित्य तत्त्व परमात्माद्वारा ही चलाया गया है, किसी व्यक्तिके द्वारा नहीं।

सनातन-धर्मको छोड़कर और सभी धर्मोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—(१) वे धर्म जो पूर्वकालमें थे, पर अब विद्यमान नहीं हैं, (२) वे धर्म जो पूर्वकालमें नहीं थे, पर अब हैं। पर सनातनका अन्तर्भाव इन दोनोंमेंसे किसीमें भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह धर्म अन्य धर्मोंके जन्मसे भी पूर्व विद्यमान था और अब भी विद्यमान है।

—पर भविष्यमें? इस प्रश्नके प्रसङ्गमें हमें 'यज्जन्यं तदनित्यम्' (जो उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य नष्ट हो जायगा)—यह प्राकृतिक नियम ध्यानमें रखना पड़ेगा। इस नियमका कोई अपवाद न अबतक हुआ और न आगे कभी होगा ही। उदाहरणस्वरूप—सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंके विनाश तथा धर्मके संस्थापनके लिये जब भगवान् मानव-शरीरके रूपमें अवतरित होते हैं और अपना कार्य पूरा कर लेते हैं, तब वे चले जाते हैं; इस प्रकार भगवान्‌का अवतरित दिव्य शरीर भी इस प्राकृतिक नियमका अपवाद नहीं है।

दूसरा अर्थ

सनातन-धर्म अनादि और अनन्त है; क्योंकि सृष्टिकी उत्पत्तिके समयसे लेकर सृष्टि-प्रलयतक यह विद्यमान रहता है। यह सनातन इसलिये नहीं है कि यह सनातन ईश्वरद्वारा

स्थापित है, अपितु यह स्वयं भी सनातन या नित्य है। यह प्रलयतक अस्तित्वमें रहेगा, प्रलयके बाद भी यह नष्ट होनेवाला नहीं है, अपितु गुप्तरूपमें तब भी यह अवस्थित रहता है। पुनः सृष्टिके साथ ही यह लोगोंकी रक्षा और उन्नति करनेके लिये प्रकट हो जाता है। व्याकरणकी दृष्टिसे इस दूसरे अर्थका बोधक कर्मधारय समास है, जिसके अनुसार 'सनातनधर्म' इस पदका विग्रह होता है—'सनातनश्चासौ धर्मश्च' अर्थात् सनातनरूपसे रहनेवाला धर्म।

इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे धर्म झूठे हैं। इसके विपरीत हमारा तो यह कथन है कि सभी धर्म किसी-न-किसी रूपमें उस अन्तिम लक्ष्यतक मनुष्यको पहुँचाते ही हैं पर वे किसी व्यक्तिविशेषके द्वारा संस्थापित होनेके कारण समयके साथ नष्ट भी हो जाते हैं; यह सनातन-धर्म ही ऐसा है, जो सृष्टिकालमें सारी रचनाको उन्नतिकी ओर प्रेरित करता है, प्रलयमें सूक्ष्मरूपसे रहता है और अगले कल्पमें पुनः प्रकट हो जाता है।

तीसरा अर्थ

इसमें भी 'सनातन-धर्म' कर्मधारय समासमें है, पर यहाँ 'सनातन' पदमें दूसरे अर्थकी अपेक्षा कुछ और विशेषता है। यहाँ उसका विग्रह होगा—

सदा भवः सनातनः, सनातनं करोति इति सनातनयति, सनातनयतीति सनातनः। सनातनश्चासौ धर्म इति सनातनधर्मः।

यह सनातन केवल इसलिये नहीं है कि यह सनातन परमात्माद्वारा संस्थापित है। यह धर्म सनातन इसलिये भी नहीं है कि यह स्वयंमें अविनश्वर है, अपितु यह सनातन इसलिये है कि इस धर्ममें विश्वास रखनेवाला तथा इस धर्मपर चलनेवाला भी सनातन हो जाता है। यह धर्म अपने अनुयायीको भी अमर बना देता है।

इसको और गहरा समझनेके लिये हमें और राष्ट्रोंकी ओर भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखना पड़ेगा। ग्रीस, रोम, सीरिया, असीरिया, पर्शिया, बेबीलन, माल्डियन, फीनिशिया, मिस्र, निनेवा, कार्थेज तथा दूसरे भी साम्राज्य, जिन्होंने सारी दुनियाको हिला दिया था, आज पृथ्वीकी सतहसे सर्वथा समाप्त हो चुके हैं। उनके पास धनबल, जनबल, सैन्यबल—सभी कुछ था; पर लोगोंको सनातन या अमर बनानेकी शक्ति उन साम्राज्योंके पास नहीं थी। यही उनके सम्पूर्ण विनाशका कारण बना। पर भारतके पास यह शक्ति थी, इसीलिये यह आजतक जीवित रहा। इसमें संशय नहीं कि इसको जीवित रखनेमें सनातन-धर्म एक मुख्य कारण रहा है, जो—

(१) सनातन-तत्त्व अर्थात् परमात्माद्वारा संस्थापित है (पहला अर्थ—सनातनस्य धर्मः, षष्ठीतत्पुरुष समास अर्थात् सनातनका धर्म)

(२) स्वयं भी सनातन है (दूसरा अर्थ—सनातनश्चासौ धर्मः, कर्मधारय समास)

(३) अपने अनुयायियोंको भी सनातन, नित्य तथा अमर बना देता है (तीसरा अर्थ—सनातनयति इति सनातनः, सनातनश्चासौ धर्मः इति सनातनधर्मः)

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस धर्मके अनुयायीके अमरत्वका स्वरूप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर हमें 'सनातन-धर्म' शब्दके चौथे अर्थमें मिलेगा।

चौथा अर्थ

इस चौथे अर्थमें भी तीसरे अर्थकी तरह 'सनातन' में कर्मधारय समास है, अर्थात् 'सनातनयति इति सनातनः' अर्थात् वह धर्म जो हमें सनातन बनाता है सनातनधर्म है। पर यहाँ 'सनातनयति' का अर्थ होगा—'सनातनं परमात्मस्वरूपं प्रापयति इति' अर्थात् जो हमें परमात्मस्वरूपको प्राप्त करवाता है, वह धर्म सनातन-धर्म है। इस धर्मके मार्गपर चलनेवाला अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूपका साक्षात्कार करके परमात्माके साथ एक हो जाता है।

यह सनातन-धर्मका सच्चा स्वरूप है, जिसे अपनाकर प्राचीन भारत बहुत उन्नत था। पर आज जब उसने इस धर्मकी अवहेलना कर दी, तब वह दिनोंदिन अवनतिकी ओर ही चला जा रहा है। जो धर्मशास्त्रको छोड़कर स्वेच्छापूर्वक काम करता है, उसकी अवनति अनिवार्यतः हो जाती है। ऐसे व्यक्तियोंके विषयमें ही भगवान्ने गीतामें कहा है—

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
>
> (१६। २३-२४)

'जो शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाना कार्य

करता है, वह न सिद्धि प्राप्त करता है, न सुख ही प्राप्त करता है और न मोक्ष ही प्राप्त करता है। इसलिये हे अर्जुन! तेरे कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, सुतरां शास्त्रप्रतिपादित विधानको जानकर तदनुसार कार्य कर।'

मनुने कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'हनन किया हुआ धर्म प्रजाको भी मार देता है और रक्षित हुआ धर्म लोगोंकी भी रक्षा करता है।'

सनातन-धर्मका यह स्वरूप इतना उच्च और श्रेष्ठ है कि इसकी तुलनामें संसारका कोई भी धर्म नहीं आ सकता।

धर्मका स्वरूप और माहात्म्य

(पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजका प्रसाद)

शुभाशुभ कर्म-वासना-वासित परमाणु ही धर्म है—यह विवसनों (जैनियों) का मत है। क्षणिक विज्ञान-संतति-वासना ही धर्म है—यह सौगतों (बौद्धों) को अभीष्ट है। योग-ज्ञानादिसे वृत्तियोंके निरोधद्वारा जीवन्मुक्ति धर्म है—यह सांख्ययोगवादियोंका मत है। विहित-प्रतिषिद्ध कर्मोंके आचरण तथा वर्जनद्वारा प्राप्त विशिष्ट गुण धर्म है—यह नैयायिकोंका मत है। अपूर्व ही धर्म है—यह प्रभाकरादि मीमांसकोंका कथन है। वेदाज्ञा-पालन ही धर्म है—यह जैमिनिके अनुयायी मीमांसकोंका मत है। 'बलवदनिष्टा-प्रयोजकत्वे सति श्रेयःसाधनतया वेदप्रमापितत्वमेव धर्मत्वम्'—बलवान् अनिष्टसे रक्षक एवं श्रेयस्कर होनेसे वेदाज्ञा-प्रमाणता ही धर्म है—वस्तुतः यही सबका निष्कर्ष है, ऐसी—विद्वान् आचार्योंकी समन्वयार्थ मान्यता है।

प्रवृत्ति-निवृत्तिके भेदसे यह 'वेदोक्त धर्म' भी दो प्रकारका कहा गया है—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः॥
(ब्रह्मपुराण २३७। ६ ... महाभारत शान्तिपर्व २४१। ६)

—इन्हें ही ज्ञान (सांख्य) योग तथा कर्मयोगसे भी अभिहित किया गया है। सनक, सनन्दन, सनत्सुजात, शुकदेवादि महात्मागण निवृत्ति-धर्मके अनुयायी हैं।* अन्य धर्मात्मागण प्रवृत्तिके अनुयायी हैं। इन दोनों धर्मोंसे रिक्त धर्म-कर्म चाहे महाफलदायक—राज्यैश्वर्यादिदायक भी क्यों न हो, नहीं करना चाहिये; क्योंकि आगे उसका परिणाम शुभावह नहीं होता—

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते॥
(महाभारत शान्तिप० २९३। ८)

ऐसा कर्म पीछे कर्ताकी समूल शाखोपशाखाओंको दग्ध करता हुआ चला जाता है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति।
(मनुस्मृति ४। १७२, महाभारत शान्तिपर्व ९५। १७—१८)

जो यह समझकर कि 'अरे धर्म कहाँ है?', धर्म तथा धर्मात्माओंका उपहास करता है, वह विनाशको ही प्राप्त होता है *—

न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव।
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति॥
(महाभारत शान्तिपर्व ९५। १९। २०)

अधर्मात्मा पुरुष (या देश भी) कभी-कभी रावण, हिरण्यकशिपु, दुर्योधन आदिके समान बढ़ते हैं; पर अन्तमें उनका भीषण विनाश हुए बिना भी नहीं रहता—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥
(मनुस्मृति ४। १७४, महाभारत वनपर्व ९४। ४ तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड १४। २६ इत्यादिका भाव)

अतः धर्मशून्य अर्थ-कामका भी सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये—

* इनके उदाहरणोंको स्पष्ट करनेके लिये महाभारत शान्तिपर्व १४३—१४९, अनुशासनपर्व, अध्याय १ आदिकी कथाएँ भी देखी जा सकती हैं।

* इस सम्बन्धमें स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्डके नन्दभद्र-सत्यव्रत-संवादकी विस्तृत कथा देखनी चाहिये।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।

(मनुस्मृति ४ । १७६, विष्णुपुराण ३ । ११ । ७, कौटलीय अर्थशास्त्र० १ । ७ । ८)

अकेला धर्म ही सर्वत्र सहायक—रक्षक होता है—

धर्म एको मनुष्याणां सहायः परिकीर्तितः ।

(मत्स्यपुराण ११७ । ९)

धर्मस्तमनु गच्छति ।

(मनुस्मृति ४ । २४१-४२)

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।

(नीतिशतक ९९, सु० सि० १ । ५३)

धर्मसे ही अर्थ-काम-मोक्षादि सभी सुख मिलते हैं। धर्म ही सभी पुरुषार्थोंका मूल है। (मनु० चाणक्यसूत्र १-२०) धर्मलेशमें भी जो आन्तरविशुद्ध सात्त्विक सुख—आनन्द उपलब्ध होता है, वह अर्थ-कामादिमें कहाँ है*। अतः सदा धर्ममें ही मन लगाना चाहिये। धर्महीन प्राणीका जीवन तो अत्यन्त ही चिन्त्य है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

(सु० सि० १६९, विक्रमार्क० चरि० १२ । १, गरुडपुराण धर्मसारोद्धार, पञ्चतन्त्र० ३ । ९४)

बुद्बुदा इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु ।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ३२२ । ७, पञ्चतन्त्र ३ । ३ । ९७)

अतः धर्मका ही अभ्यास करना चाहिये ।

धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।
धर्मसेकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥

(महाभारत शान्तिपर्व १९३ । २८)

जो तन-धनादिसे धर्माचरणमें सर्वथा असमर्थ हो, उसे भी कम-से-कम मनसे ही सबके कल्याणकी कामना करनी चाहिये। यह मानसिक धर्म कहा गया है, जो सब धर्मोंका मूल है—

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥

(महाभारत शान्तिपर्व १९३ । ३१)

(प्रेषक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

सुख-शान्तिका एकमात्र उपाय धर्म

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

यूरोप-अमेरिकाके रंगमें रँगा और विज्ञानके चकाचौंधमें फँसा आजका भारतीय युवक भी कहने लगा गया है कि ईश्वर और धर्मके प्रति हमें घृणा हो गयी है, अतएव इस विषयमें हमारे साथ चर्चा न करो। परंतु भाई! तुम तो नींवको भूल रहे हो। जिस ईश्वरसे तुमको घृणा है, वह ईश्वर तो तुम्हारे ही शरीरमें, तुम्हारे अपने हृदयमें सर्वदा विराज रहा है। उसकी कृपासे तुम्हारी आँख देख सकती है और कान सुन सकते हैं। उसकी दयासे तुम्हारी नासिका सूँघ सकती है और जिह्वा स्वाद ले सकती है। उसीके प्रसादसे तुम्हारे हाथ लेन-देन करते हैं और पैर चल-फिर सकते हैं। उसके अनुग्रहसे तुम्हारी बुद्धि निश्चय करती है और मन मनन कर सकता है। अधिक क्या कहें, तुम्हारा जीवन ही उसकी अनुकम्पाके ऊपर आश्रित है। ऐसे ईश्वरसे घृणा होनेपर कैसे काम चलेगा ?

धर्मके विषयमें भी यही बात है। तुम जिस विश्वमें रहते हो, उस विश्वका स्वरूप जितना विशाल है, उससे अनेक-गुना विशाल है स्वरूप धर्मका; और उसके उदरके एक अंशमें तुम्हारा यह विश्व स्थित है। तब फिर ऐसे धर्मसे घृणा रखनेपर तुम्हारा पालन-पोषण कैसे चलेगा ?

धर्मका स्वरूप इतना अधिक विशाल है कि उसको किसी एक व्याख्यामें बाँधा नहीं जा सकता। इस प्रकार

---

* देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः । धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः ।
धने सुखकला काचिद् धर्मे तु परमं सुखम् ॥ (महाभारत शान्तिपर्व २७१ । ५६)
इस विषयमें यहाँकी कुण्डधारकी कथा भी अवश्य देखने योग्य है ।

अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार विभिन्न विचारकोंने धर्मकी अनेकों व्याख्याएँ की हैं, 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति भी विभिन्न प्रकारसे की है। जहाँ हम बैठे हैं, उसी कमरेका एक छायाचित्र यदि कैमरेको ईशान कोणमें रखकर लें तथा दूसरा छायाचित्र नैर्ऋत्य कोणमें रखकर लें तो ये दोनों छायाचित्र एक समान नहीं होंगे। एकमें जहाँ हमारा मुँह दीखेगा, वहाँ दूसरेमें हमारी पीठ दीखेगी। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ खड़े होकर जिस दृष्टिसे धर्मका अवलोकन किया गया, उसीके अनुसार उसकी व्युत्पत्ति करके लक्षण बनाया गया।

अब धर्म-शब्दकी कुछ व्युत्पत्ति देखिये। अन्तिम अर्थ तो सबका एक ही है। परंतु हमने जैसा पहले कहा है, उसके अनुसार जिस कोनेसे हम उसे देखते हैं, वैसा ही वह हमें दीखता है। (१) धिन्वनाद् धर्मः। धिन्वनका अर्थ है धारणा या आश्वासन देना, दुःखसे पीड़ित समाजको धीरज देकर सुखका मार्ग दिखाना। इस प्रकारके आचारका नाम धर्म है। (२) धारणाद् धर्मः। धारण करना, दुःखसे बचाना। श्रीकृष्णभगवान्‌ने जैसे गोवर्द्धनको धारण करके व्रजको बचाया था, उसी प्रकार जिसके आचरणसे समाज अधोगतिकी ओर न जाय और अपने उच्च आसनपर स्थिर रह सके, उसका नाम धर्म है। प्रकृतिका स्वभाव ही जलके समान नीचेकी ओर जानेका है। अर्थात् यदि धर्मका अवलम्बन न किया जाय तो सहज स्वभावसे प्रजा अधोगतिकी ओर घसीटती जाती है। आज धर्मका आश्रय छूट जानेके कारण ही हम दिन-प्रतिदिन गिरते जा रहे हैं, यह प्रत्यक्ष ही है।

मनुभगवान्‌ने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं। उनमें धर्मपालन करनेका सारा स्वरूप आ जाता है। पुराणोंने उसका विस्तार करके धर्मके तीस लक्षण बताये हैं। धर्मके एकाध अङ्गका भी यदि समझदारीके साथ पालन हो तो दूसरे अङ्गोंका पालन अपने-आप हो जाता है। जैसे खाटके एक पायेको खींचनेसे शेष तीन पाये उसके साथ अपने-आप ही खिंच आते हैं, इसी प्रकार धर्मके पालनमें भी होता है। धर्म-पालन समझदारीके साथ होना चाहिये।

केवल अब धर्मकी एक सर्वदेशीय और सर्वमान्य व्याख्या देखिये। वास्तवमें धर्मका ज्ञान चर्चा या इस विषयके ग्रन्थोंके अवलोकनसे ठीक तौरपर नहीं होता। यह तो आचरणमें लानेकी वस्तु है। जैसे-जैसे आचरण धर्ममय होता जाता है, वैसे-वैसे ही धर्मका रहस्य समझमें आता जाता है। बाँचनेसे या चर्चा करनेसे तो केवल ऊपरी ज्ञान होता है, जिसको केवल जानकारी मात्र कह सकते हैं। धर्मकी एक व्याख्या इस प्रकार है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिसके आचरणसे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, उसका नाम धर्म है।

अब अभ्युदय और निःश्रेयसका अर्थ समझना चाहिये। निःश्रेयसका अर्थ स्पष्ट है, इसलिये इसको पहले समझ लीजिये। 'श्रेयस्'का अर्थ है कल्याण। जिस कल्याणसे बढ़कर दूसरा कोई बड़ा या अधिक महत्त्वका कल्याण न हो, उस सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि कल्याणको निःश्रेयस कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ कल्याण 'मोक्ष' कहलाता है; क्योंकि उसको प्राप्त करनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। इस प्रकार निःश्रेयसका अर्थ हुआ मुक्तिकी प्राप्ति या भगवत्प्राप्ति अथवा जन्म-मृत्युरूपी बन्धनसे निवृत्ति। अतएव धर्मका एक लक्षण यह हुआ कि जिसके आचरणसे मोक्षकी प्राप्ति हो।

'अभ्युदय'का अर्थ केवल यही है कि शरीरके निर्वाहके साधन सुगमतासे प्राप्त हों, विलासकी सामग्री या शरीरको लाड़ लड़ानेवाले वैभव नहीं। मनु महाराजने अत्यन्त संक्षेपमें बतलाया है कि धर्मका आचरण कैसे करना चाहिये। यथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतद् धर्मं समासेन चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

पहला है—अहिंसा। हिंसाका स्थूल अर्थ है शरीर और प्राणका वियोग करना; परंतु इसका सूक्ष्म अर्थ है—मनसा, वाचा, कर्मणा किसीको कष्ट देना। अपने शरीरसे किसीको पीड़ा पहुँचाना, वाणीसे मृत्युकी धमकी देना अथवा ऐसी कठोर वाणी बोलना जिससे किसीके मनपर आघात पहुँचे और मनसे किसीका विनाश या बुरा चाहना, यह भी हिंसा ही है। ऐसी किसी भी हिंसासे दूर रहनेका नाम है 'अहिंसाका पालन'।

दूसरा तत्त्व है—सत्य। ऐसा कौन सम्प्रदाय है, जो सत्यकी आवश्यकताको स्वीकार न करता हो। भले ही कदाचित् सत्य वचनपर कोई बल न दे; परंतु असत्यका आचरण करनेके लिये तो कोई भी सम्प्रदाय नहीं कहता। अतएव सत्य अर्थात् सत्यका आचरण और असत्यका त्याग, यह सब सम्प्रदायोंके लिये सामान्य धर्म है।

तीसरा है—अस्तेय। स्तेयका अर्थ है चोरी करना। मालिककी अनुपस्थितिमें या उसकी नजर बचाकर उसकी वस्तु अपने उपयोगके लिये लेना, यह साधारणतः चोरी कहलाता है। उसकी उपस्थितिमें बलपूर्वक छीन लेना 'लूट' कहलाता है। यह चोरी और लूटका बहुत साधारण अर्थ हुआ। परंतु जो व्यापारी एक मन मालका पैसा लेता है और कम तौलता है, अथवा दस गज कपड़ेका पैसा लेकर कम नापकर देता है, बढ़िया मालका पैसा लेकर घटिया देता है या निखालिस चीजमें दूसरी चीज मिलाकर देता है। तथा जो कारीगर पूरा वेतन लेकर निश्चित कामको ईमानदारीसे नहीं करता, जो अधिकारी या नौकर घूस-रिश्वत लेता है या लेनेकी इच्छा करता है—सारांश यह है कि जो लोग अपने व्यवहारमें पूरी ईमानदारी नहीं बरतते, जो अपनी आवश्यकतासे अधिक संग्रह करते हैं तथा जो सेवक अपने ऊपर सौंपा हुआ काम विश्वासपूर्वक नहीं करते, वे सभी चोर-डाकू या लुटेरे हैं। इस प्रकारकी किसी भी चोरीसे दूर रहनेका नाम 'अस्तेय-व्रतका पालन' कहलाता है। इस अस्तेय-सिद्धान्तके विरुद्ध कोई सम्प्रदाय हो सकता है, यह मैं नहीं मानता।

चौथा है—शौच। शौचका अर्थ है पवित्रता। इसमें एक तो है—शरीरकी पवित्रता अर्थात् शरीरको स्वच्छ रखना। इस बातको तो पशु-पक्षी भी समझते हैं; फिर मनुष्यको तो ऐसा करना ही चाहिये, इसमें क्या नयी बात है? दूसरी है मनकी पवित्रता। मनको दुष्ट संकल्पोंसे दूर रखना चाहिये। मनमें किसी भी प्रकारका बुरा विचार आने ही न पाये, उसको ऐसा पवित्र बनाना चाहिये। शौचके विषयमें भी किसी भी सम्प्रदायका कोई विरोध नहीं होता; क्योंकि तन-मनकी पवित्रताके लिये ही उसका निर्माण होता है और इसीके लिये सारे कर्मकाण्डकी योजना बनी होती है।

पाँचवाँ है—इन्द्रियनिग्रह। वास्तविक स्वतन्त्र मनुष्य कौन है?—जिसका अपनी इन्द्रियोंके ऊपर पूरा काबू है, दूसरा कोई नहीं। स्वतन्त्र देशमें रहनेसे शरीर भले ही स्वतन्त्र कहलाता हो; परंतु वह मनुष्य, जो इन्द्रियोंका गुलाम है, वे जैसे चलाती हैं, वैसे ही पशुके समान चलता है तो वह स्वतन्त्र मनुष्य नहीं है बल्कि गुलामसे भी बदतर है। इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह भी प्रत्येक सम्प्रदायमें किसी-न-किसी रूपमें मान्य होना चाहिये और इस कारण कोई भी सम्प्रदाय इन्द्रिय-निग्रहकी शिक्षाका विरोध नहीं करता।

इस विवेचनसे स्पष्ट देखा जाता है कि कोई भी राज्य या संस्था, अथवा समाज या व्यक्ति बिना धर्मके रह ही नहीं सकता। राज्य असाम्प्रदायिक हो सकता है, परंतु वह धर्मनिरपेक्ष या धर्मविहीन हो ही नहीं सकता। राज्यके लिये भी उसके धर्म हैं और जहाँतक उसका पालन होता है, वहाँतक वह 'सुराज्य' कहलाता है। राज्यके धर्म रामायण तथा महाभारतमें विस्तारपूर्वक लिखे हैं, जिसको जान लेना भारती राज्यतन्त्रके प्रत्येक सभ्यके लिये आवश्यक है।

आज जो दुःखके बादल हमारे ऊपर मँडरा रहे हैं, उनको विश्वयुद्ध दूर नहीं कर सकता। ऐटम बम, हाइड्रोजन बम, कोबाल्ट बम अथवा इनसे भी भयंकर शस्त्र उनको दूर नहीं कर सकते। अनेकों प्रकारके कारखानोंकी स्थापनासे दुःख दूर नहीं होता। संतति-नियमनके साधनोंद्वारा भावी प्रजाका विनाश करनेसे भी दुःख दूर नहीं होगा। विपुल धनराशि तथा पुष्कल भोगसामग्री भी दुःखके बादलोंको छिन्न-भिन्न नहीं कर सकेगी। चन्द्र, मङ्गल या शुक्रतक पहुँचनेसे भी दुःखका अन्त न होगा। दुःखके बादलोंको दूर करके सुख-शान्तिकी स्थापना करनेका एकमात्र उपाय है—धर्म। जबतक पुनः धर्मकी संस्थापना नहीं होती, तबतक दूसरे किसी भी उपायसे इन दुःखके बादलोंको दूर करके सुख-शान्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

अंग्रेजोंके आनेके पूर्व हमारे यहाँ ईश्वर और धर्मके लिये पूर्ण स्थान था। उनके आनेके बाद हम उनकी आकर्षक भोगसामग्री देखकर क्षुब्ध हो गये और धीरे-धीरे ईश्वर और धर्मकी ओरसे उदासीन और बेपरवाह होने लगे। हम जैसे-जैसे धर्मविमुख होते गये, वैसे-वैसे ही हमारे दुःख बढ़ते गये। अब दुःखकी कोई सीमा नहीं रह गयी है। आज प्रजा दाने-दानेके लिये मर रही है और अनीति तथा दुराचारका साम्राज्य जम गया है; क्योंकि ईश्वर और धर्मके लिये हमने कोई स्थान नहीं रक्खा है। इन दोनोंकी अवहेलना करके इन दोनोंको पूर्णतः निकाल फेंका है और हम इनका आदर बिल्कुल ही नहीं करते।

हमने देखा कि धर्मकी पुनः स्थापना किये बिना इस भयंकर दुःखसे बचनेका दूसरा कोई इलाज नहीं है। अधर्म और उसके तत्त्व—अनीति, दुराचार आदि बहुत जोर पकड़ेंगे और अपनेसे जब वे काबूमें नहीं आवेंगे तब भगवान् अपने वचनके अनुसार अवतार लेकर धर्मकी स्थापना करेंगे और इस प्रकार दुष्टोंका संहार करके

धर्मकी संस्थापना करेंगे तथा स्वयं अविनाशी होनेके कारण अवतारका काम पूरा होनेपर अदृश्य हो जायँगे ।

यहाँ कुछ ज्ञानलवदुर्विदग्ध मानव प्रश्न करेंगे कि 'क्या भारतवर्ष ही ऐसा पापी है ? और क्या यहीं बहुत अधिक पाप होता है कि जिसका निवारण करनेके लिये भगवान्‌को अवतार लेना पड़ता है ? यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देशोंमें भगवान्‌को क्यों नहीं अवतार लेना पड़ता ? इससे सिद्ध होता है कि पापाचरण केवल भारतवर्षमें ही होता है ।' इसके उत्तरमें इतना ही कहना है कि भगवान् अवतार धारण करते हैं—धर्मकी संस्थापना करनेके लिये ही । भारतके सिवा दूसरे देशोंमें धर्मको स्थान नहीं होता; क्योंकि वहाँ मानव-जीवनके लिये कोई सुन्दर योजना नहीं है । जहाँ धर्म होता है, वहीं जीवन योजनाके अनुसार चलता है । वह योजना है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्विध पुरुषार्थका सम्पादन करनेकी । इस योजनाको पूरी करनेके लिये दूसरे अनेक सिद्धान्त इसके साथ जुड़े हुए हैं । जैसे—(१) कर्मफलका सिद्धान्त, (२) उससे उत्पन्न पुनर्जन्मका सिद्धान्त, (३) उससे निकली हुई चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाका सिद्धान्त, (४) और उसकी भूमिकामें ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंका सिद्धान्त । इससे स्पष्ट हो गया कि उन देशोंमें धर्मको स्थान नहीं है, तब फिर धर्मका ह्रास कैसे होगा ? और फिर उसकी पुनः संस्थापनाके लिये भगवान्‌को अवतार क्यों धारण करना पड़ेगा ?

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

आहार, निद्रा, भय और स्त्रीसङ्ग—ये चार बातें पशुओं और मनुष्योंमें समानरूपसे होती हैं । मनुष्यमें यदि कोई विशेषता है तो वह धर्मकी है । अतएव जिस देशमें अथवा जिस समाजमें धर्म नहीं होता, उसको शास्त्र 'पशु' कहते हैं । पशुके लिये तो ईश्वरने एक ही नियम बनाया है कि जन्म लेना और प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोगकर मर जाना । इन निकृष्ट योनियोंमें जीवकी उन्नतिके लिये कोई साधन नहीं होता, अतएव उनके लिये भगवान्‌को अवतार नहीं लेना पड़ता । उनका जीवन तो भगवान्‌के बनाये हुए नियमके अनुसार चलता ही रहता है और इस कारण भारतवर्षके सिवा दूसरी जगह कहीं भगवान्‌को अवतार धारण करना नहीं पड़ता ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

धर्म अविनाशी तत्त्व है

(एक महात्माका प्रसाद)

धर्म मानवकी खोज है, उपज नहीं । खोज सदैव अविनाशी तत्त्वकी होती है । इस दृष्टिसे धर्म अविनाशी तत्त्व है । भौतिकवादकी दृष्टिसे धर्म प्राकृतिक विधान, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे निज विवेकका प्रकाश तथा श्रद्धापथकी दृष्टिसे प्रभुका मङ्गलमय विधान है । धर्म धारण किया जाता है अर्थात् धर्मकी धर्मीके साथ एकता होती है । धर्मके धारण करनेसे मानवको भयरहित चिर शान्ति मिलती है । धर्म मानवको रागरहित करनेमें समर्थ है । रागरहित होते ही साधक स्वतः योगवित् तथा तत्त्ववित् एवं प्रेमवित् हो कृतकृत्य हो जाता है । इस कारण धर्म सर्वतोमुखी विकासकी भूमि है ।

धर्म सर्वप्रथम मानवको यह प्रेरणा देता है कि विवेक-विरोधी तथा सामर्थ्य-विरोधी कार्य मत करो । सामर्थ्य तथा विवेकके अनुरूप किया हुआ कार्य कर्ताको जन्म-जन्मान्तरके विद्यमान रागसे रहित कर देता है । यह धर्मका बाह्य रूप है । नवीन रागकी उत्पत्ति न हो, इसके लिये धर्म निज अधिकारके त्यागकी प्रेरणा देता है और फिर मानव रागरहित होकर अत्यन्त सुगमतापूर्वक मानव-जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है ।

रागरहित भूमिमें ही योगरूपी वृक्ष लगता है और योगरूपी वृक्षपर ही तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है, जो प्रेमरूपी रससे परिपूर्ण है ।

शान्ति, मुक्ति और भक्ति धर्मसे ही उपलब्ध होती हैं । धर्मात्माके जीवनमें सतत सेवा, त्याग, प्रेमकी त्रिवेणी लहराती है । सेवासे जीवन जगत्‌के लिये, त्यागसे अपने लिये और प्रेमसे सर्वसमर्थ प्रभुके लिये उपयोगी होता है । धर्मके

धारण किये बिना जीवन उपयोगी नहीं होता। अनुपयोगी जीवन किसीको अभीष्ट नहीं है और उपयोगी जीवनकी माँग सदैव सर्वत्र सभीको रहती है।

इस दृष्टिसे धर्मात्मा सभीको स्वभावसे ही प्रिय है। धर्मात्मामें जगत्का चिन्तन नहीं रहता, अपितु जगत् धर्मात्माकी सदैव आवश्यकता अनुभव करता है। कारण कि धर्मात्मासे सभीके अधिकार सुरक्षित रहते हैं और वह स्वयं अधिकार-लालसासे रहित हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। प्रत्येक मानवमें धर्मका ज्ञान विद्यमान है; पर उसकी खोज वीतराग महापुरुष ही कर पाते हैं। रागरहित होनेकी स्वाधीनता मानवको जन्म-जात प्राप्त है। कारण कि उसे उसके रचयिताने विवेकरूपी प्रकाश तथा बुद्धिरूपी दृष्टि एवं भावशक्ति प्रदान की है। धर्म मानवको मिले हुएकी अर्थात् जो प्राप्त है, उसीके सदुपयोगकी प्रेरणा देता है। इस दृष्टिसे धर्मात्मा होनेमें मानव सर्वदा स्वाधीन है। यद्यपि धर्मको धारण करना सहज तथा स्वाभाविक है, फिर भी मानव अपनी ही भूलसे अपनेको धर्मसे च्युत कर लेता है, जो विनाशका मूल है।

अपनी भूलका ज्ञान और उसकी निवृत्ति आवश्यक हो सकती है; पर कब ? जब मानव सब ओरसे विमुख होकर अपनी ओर देखे। अपनी ओर देखते ही उसे अपनी रुचि तथा आवश्यकताका बोध होगा। रुचिकी निवृत्ति और आवश्यकताकी पूर्ति अवश्य होती है—यह अविचल सत्य है। रुचिका उद्गम एकमात्र पराधीनताको स्वीकार करना है। पराधीन प्राणी रुचिमें आबद्ध हो जाता है। पराधीनतासे पीड़ित होनेपर जब मानव स्वाधीनताकी आवश्यकता अनुभव करता है, तब अपने-आप रुचिका नाश होने लगता है। सर्वांशमें रुचिका नाश होते ही स्वाधीनताकी माँग अपने-आप पूरी हो जाती है। स्वाधीन मानव ही धर्मके वास्तविक तत्त्वका अनुभव करता है। पराधीनताको सहन करना ही धर्मसे च्युत होना है। जिसे किसी प्रकारकी पराधीनता सहन नहीं होती, वही जगत्के प्रति उदार तथा प्रभुके प्रति प्रेमी होता है। स्वाधीन होनेकी स्वाधीनता मानवको अपने रचयितासे प्राप्त है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव बलका दुरुपयोग तथा विवेकका अनादर नहीं करता और अपने तथा जगत्के आधार तथा प्रकाशकमें अविचल श्रद्धा रखता है। सर्वाधार सर्वका, प्रकाशक तथा सर्वसमर्थ है; इतना ही नहीं, वह सदैव है, सर्वत्र है और सभीका है। जो उसे स्वीकार नहीं करते, उनका भी वह उतना ही है, जितना उनका है जो उसे स्वीकार करते हैं। पर यह तभी स्पष्ट होता है, जब मानव धर्मको धारणकर रागरहित हो जाय।

निज ज्ञानका आदर मानवको बलके सदुपयोगकी तथा अलौकिक दिव्य चिन्मय अविनाशी जीवनकी प्रेरणा देता है। ज्ञानविरोधी कार्य करते हुए धर्मके तथ्यको जानना सम्भव नहीं है। राग और क्रोधने ही हमें धर्मसे विमुख किया है। दूसरोंके अधिकारकी रक्षा बिना किये रागका नाश नहीं होता और अपने अधिकारका त्याग करनेपर ही मानव क्रोधरहित होता है। 'राग' जड़ता, अभाव तथा नीरसतामें आबद्ध करता है और 'क्रोध' कर्तव्य, निजस्वरूप तथा प्रभुकी विस्मृतिमें हेतु है। अतएव राग तथा क्रोधका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र धर्मके धारण करनेसे ही सम्भव है। कर्तव्यकी स्मृति और उसके पालन करनेकी सामर्थ्य क्रोधरहित होनेपर स्वतः आ जाती है। कर्तव्यनिष्ठ होते ही मानव देहातीत जीवनमें प्रवेश पाता है, जिसके पाते ही जीवन परम प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है। यह विकास धर्मात्माका स्वतः हो जाता है। इस दृष्टिसे धर्मका धारण करना मानवमात्रके लिये अत्यन्त आवश्यक है। धर्मात्मा प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके सभी परिस्थितियोंसे अतीत दिव्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न होता है। अतः प्राणोंके रहते हुए ही वर्तमानमें भूलरहित हो धर्मको धारण करनेका अथक प्रयास करना मानवमात्रके लिये परम अनिवार्य है।

की हुई भूल न दोहरानेका, वर्तमान निर्दोषताको सुरक्षित रखने एवं मानवजीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेका दृढ़ संकल्प तथा व्रत स्वीकार करना आवश्यक है। व्रतके पालन करनेमें आयी हुई कठिनाइयोंको हर्षपूर्वक सहन करनेकी प्रेरणा धर्म देता है। कठिनाइयोंके सहन करनेसे आवश्यक शक्तिका प्रादुर्भाव होता है।

अपने लक्ष्यसे कभी निराश नहीं होना चाहिये, कारण कि लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये ही मानव-जीवन मिला है। लक्ष्यसे निराशा तभी आती है, जब मानव प्रमादसे निज विवेकका अनादर तथा बलका दुरुपयोग एवं सर्व-समर्थ प्रभुमें अश्रद्धा करता है। धर्मात्मा कभी निज विवेकका अनादर तथा बलका दुरुपयोग एवं सर्वाधारमें अश्रद्धा नहीं करता। यह सभीको मान्य है कि प्रत्येक उत्पत्तिके मूलमें उत्पत्तिरहित अनादि अविनाशी नित्य तत्त्व अवश्य है। जो अविनाशी है, वही अनन्त है। जो अनन्त है, वही अखण्ड,

है। उसकी महिमाका कोई वारापार नहीं है; किंतु अपने लक्ष्यकी विस्मृतिसे मानव उसमें अविचल आस्था नहीं कर पाता। भोगकी रुचि, भोगकी माँग, सत्यकी जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा (प्रेमकी भूख) मानवको अपनेमें स्वभावसे प्रतीत होती है। भूलरहित होते ही भोगकी रुचिका नाश हो जाता है, जिसके होते ही योगकी उपलब्धि, जिज्ञासाकी पूर्ति एवं प्रेमकी प्राप्ति स्वतः होती है। योगसे शक्ति, बोधसे मुक्ति तथा प्रेमसे अनन्त रसको पाकर मानव अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। अतः लक्ष्यसे निराश होनेके समान और कोई भूल नहीं है। धर्मात्मा सदैव अपनी ओर देखता है और अपने लक्ष्यको अनुभव-कर भूलरहित हो सफलता प्राप्त करता है। यह ध्रुव सत्य है।

हमारा सच्चा साथी कौन है ? धर्म

(लेखक—परमार्थ निकेतनके संत स्वामीजी श्रीभजनानन्दजी महाराज)

हमारा सच्चा साथी कौन है, इसपर विचार करनेपर ज्ञात होता है कि प्राणीका सच्चा साथी धर्म ही है। कहा भी है—

धनानि भूमौ पशवो हि गोष्ठे
नारी गृहद्वारि सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थात् मनुष्यके पाञ्चभौतिक शरीर छोड़नेपर उसका धन भूमिमें या तिजौरीमें पड़ा रह जाता है। पशु पशुशालामें बँधे रह जाते हैं। परम प्यारी स्त्री शोकाग्निसे विह्वल घरके दरवाजेतक साथ देती है। मित्र तथा परिवारवर्ग श्मशानतक तथा शरीर, जिसका इतना पालन-पोषण किया, चितातक साथ देता है। परलोकमार्गमें केवल एक धर्म ही साथ जाता है।

महाभारतके स्वर्गारोहण-पर्वमें लिखा है कि जब पाण्डव द्रौपदीके साथमें सदेह स्वर्ग जाने लगे, उस समय उनके साथ एक कुत्ता भी चल रहा था। चलते-चलते प्रथम द्रौपदी हिमालयके वर्फमें गलकर गिरने लगीं, तब भीमने युधिष्ठिरसे कहा कि हमलोगोंकी चिरसङ्गिनी परम सुन्दरी द्रौपदी गिर रही है। धर्मराज युधिष्ठिरने पीछेकी ओर बिना देखे हुए ही जवाब दिया कि 'गिर जाने दो, उसका व्यवहार पक्षपातपूर्ण था; क्योंकि वह हम सबसे अधिक अर्जुनसे प्रेम करती थी।' ऐसा कहते-कहते आगे चलते गये। पीछेको देखा भी नहीं; क्योंकि धर्मानुरागीको पीछे नहीं देखना चाहिये—जिस प्रकार मोटर ड्राइवर मोटर चलाते समय पृष्ठभागकी ओर न देखते हुए मोटर चलाता है; क्योंकि ऐसा न करनेसे दुर्घटना होनेका भय रहता है। किंचित् दूर ही चल पाये थे कि महात्मा सहदेव लड़खड़ाने लगे। भीमने कहा—'दादा, परम प्रिय सहोदर सहदेव गिरना चाहते हैं; इन्होंने तो अहंकाररहित होकर सदैव ही हमलोगों-की सेवा की है, ये क्यों गिर रहे हैं ?' युधिष्ठिरने कहा—'भाई सहदेवको विद्वत्ताका अभिमान था, वे अपनेको संसारमें सबसे बड़ा विद्वान् समझते थे।' ऐसा कहते हुए बिना पीछे देखे शेष भाइयोंके साथ आगे चलते रहे। इतनेमें भाई नकुलको लड़खड़ाते हुए देखकर भीमने कहा—'नकुल भी साथ छोड़ना चाहते हैं।' धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—'उसे अपनी सुन्दरताका अभिमान था, इसलिये इसका पतन हुआ'—ऐसा कहते हुए बिना पीछे देखे धर्मराज युधिष्ठिर आगे बढ़ते चले जा रहे थे।

इतनेमें अर्जुनके गिरनेका समय उपस्थित हुआ। भीमने कहा कि 'दादा, गाण्डीव धनुषका धारण करनेवाला श्वेत घोड़ोंवाले रथपर भ्रमण करनेवाला अर्जुन गिर रहा है।' युधिष्ठिरने बिना पीछे देखते हुए ही जवाब दिया—'गिर जाने दो, उसे अपनी शूरवीरताका विशेष अभिमान था।' अन्तमें उस हिमप्रदेशमें महाबली भीम भी गिरने लगे तो उन्होंने पुकारकर कहा—'दादा, मैं भी गिरा जाता हूँ, रक्षा करो।' युधिष्ठिरने कहा—'तू तो बड़ा पेटू था तुझे अपने बलका अभिमान था कि संसारमें मुझसे बढ़कर कोई बली नहीं है; अतः तेरा पतन हो गया। 'संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥' बिना पीछे देखते हुए महाराज युधिष्ठिरने अपना चलना बंद नहीं किया। उन्होंने देखा कि जो कुत्ता प्रारम्भमें हमें मिला था, वह साथ आ रहा है। उसे साथ लेते हुए आगे बढ़ रहे थे कि उन्हें एक रथके साथ महाराज इन्द्रदेवके दर्शन हुए। महाराज इन्द्रने कहा कि 'रथपर सवार होकर सदेह इन्द्रलोकको चलिये।' महाराज युधिष्ठिरने कहा कि 'यह

कुत्ता हमारे साथ आया है; प्रथम इसे रथपर चढ़ाइये, तब मैं चढ़ूँगा।' इन्द्रने कहा—'स्वर्गमें कुत्ता नहीं जा सकता।' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'यदि कुत्ता नहीं जा सकता तो मैं भी नहीं जाऊँगा, क्योंकि यह हमारी शरणमें आया है। सभी साथ छोड़ गये; परंतु इसने साथ नहीं छोड़ा; अतः इसे छोड़कर मैं स्वर्गमें नहीं जाना चाहता। क्योंकि—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

इसके अनुसार शरणागतकी रक्षा न करनेवालेको भी स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा नियम है—

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्त्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे॥

अर्थात् भयभीत भक्त जिसे किसी अन्यका आश्रय न हो, निर्बलताके कारण शरणमें आकर अपने प्राणोंकी रक्षा चाहता है, ऐसे शरणागतकी रक्षा अपने प्राणोंका उत्सर्ग करके भी करना चाहूँगा, ऐसा मेरा परम व्रत है।

जब धर्मराज युधिष्ठिरने इस प्रकार इन्द्रसे कहा, तब जिस धर्मने कुत्तेका रूप धारण किया था, वह मूर्तरूप होकर सामने उपस्थित होकर कहने लगा—'मैं तुम-पर बहुत प्रसन्न हूँ, तुमने अनेक कठिनाइयोंको झेलते हुए भी धर्मका परित्याग नहीं किया।'

अतः धर्म ही हमारा इस लोक तथा परलोकका साथी है। एक कवि कहता है—

भगवान मेरा जीवन, सद्धर्मके लिये हो।
हो जिंदगी तो लेकिन, उपकारके लिये हो॥
सुन्दर स्वभाव मेरा दुश्मनका मन रिझा के।
वह देखते ही कह दे, तुम प्यारके लिये हो॥
इसमें विवेक जागे, हम धर्मको न भूलें।
चाहे हमारी नैया मझधारके लिये हो॥
मन, बुद्धि और सबसे सब आतमा भला हो।
चाहे हमारा यह सिर तलवारके लिये हो॥

नीतिकारने एक श्लोक बहुत सुन्दर लिखा है—

विद्या मित्रं प्रवासे च भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥

अर्थात् परदेशमें मनुष्यके लिये विद्या ही मित्र है, यानी उसके पास कोई दस्तकारी आदि है तो लोग उसका आदर करेंगे। घरमें आज्ञाकारिणी स्त्री मित्र है। रोग होनेपर औषध मित्र होगी तथा मरनेवालेके लिये एकमात्र धर्म ही मित्र है। अतः धर्म ही हमारा सच्चा साथी है। 'धर्माङ्क'के श्रोतागण कहेंगे कि धर्म क्या है तो धर्मको न बताकर धर्मका सार कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सार सुनकर उसको धारण करना चाहिये। धर्मका सार है कि अपने प्रतिकूल आचरणका अन्यके लिये प्रयोग न करे। दूसरोंके साथ वही व्यवहार करो, जो स्वयं चाहते हो। यदि आप चाहते हैं कि हमारी बहिन-बेटीको कोई बुरी निगाहसे न देखे तो आपको भी चाहिये कि आप किसीकी बहिन-बेटीको बुरी निगाहसे न देखें। यदि आप दूसरेका झूठ बोलना पसंद नहीं करते तो आपको भी किसीके साथ झूठ व्यवहार नहीं करना चाहिये। यदि आपको अपनी वस्तुकी चोरी हो जानेपर कष्ट होता है तो आपको भी दूसरोंकी वस्तुको चुरानेका क्या अधिकार है? यदि बाजारसे मिलावटी वस्तुके खरीदनेसे ऐतराज है तो आप भी मिलावटी वस्तु किसीको न दें। अर्थात् जैसा व्यवहार आप दूसरोंसे चाहते हों, वैसा ही व्यवहार दूसरोंके साथ करें। जिस व्यवहारसे आपको कष्ट होता है, वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ न करें।

खेतमें जो आप बोयेंगे, वही आपको मिलेगा। इसी प्रकार गीताजीके अध्याय १३ श्लोक १ के अनुसार सभी प्राणियोंके शरीर खेतके समान हैं। उनके साथ जैसा व्यवहार करेंगे, वैसा ही आपको प्राप्त होगा। यदि आप प्राणिमात्रको सुख देंगे तो आपको उसके बदले-में सुख मिलेगा और यदि दुःख देंगे तो दुःख मिलेगा। यही धर्मका सार है।

चार वेद छः शास्त्रमें बात मिली है दोय।
दुख दीन्हें दुख होत है, सुख दीन्हें सुख होय॥

धर्मचक्रं प्रवर्तताम्

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्यजी महाराज)

धर्मोंका मूल

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों एवं उपनिषदोंमें 'अग्नि'-तत्त्व एवं 'सोम'-तत्त्वकी यज्ञमयी (परस्पर अनुस्यूत) अवस्थाको 'ब्रह्म' शब्दसे अभिहित किया गया है। प्रातिशाख्य (वैदिक व्याकरण) में ब्रह्म-शब्दकी निरुक्ति भी 'बिभर्ति' धातुसे इस प्रकार की गयी है—विभिन्न कार्यमालाओंको धारण करनेके कारण ब्रह्म 'ब्रह्म' शब्दसे अभिहित है। शतपथब्राह्मणमें 'ब्रह्म'-तत्त्वको 'यजुः' तत्त्व तथा 'आकाश'-तत्त्व भी कहा गया है। यही तत्त्व विश्वगत सब द्रव्यों (धर्मियों) एवं सब गुणों (धर्मों) का मूल कारण है। 'ब्रह्म' अथवा 'यजुः' अथवा 'आकाश' तत्त्वके आग्नेय भागसे द्रव्यों (धर्मियों) तथा सौम्य भागसे गुणों (धर्मों) की उत्पत्ति होती है। अधुनातन दार्शनिक एवं तान्त्रिक परिभाषामें गुण-तत्त्व अथवा धर्म-तत्त्वको 'शक्ति'-तत्त्व कहते हैं। अतः गुण, धर्म और शक्ति—तीनों अभिन्न हैं।

धर्म सनातन हैं

तत्तत् पदार्थोंकी स्वरूपनिरूपिका (स्व-स्वरूप-निष्पादिका) सहजा शक्ति (धर्म अथवा गुण) ही तत्तत् पदार्थोंका सनातन धर्म है। यही धर्म तत्तत् पदार्थका रक्षक भी है। इस स्वरूपनिष्पादक धर्मके किसी भी कारणसे अभिभूत अथवा उच्छिन्न हो जानेपर विश्वका कोई भी पदार्थ स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। स्वरक्षक धर्मके अभावमें वह सदाके लिये विलीन हो जाता है। धर्मके इस स्वरूपका दर्शन कराते हुए आप्तजन कहते हैं—'धर्मो हि वीर्यं ध्रियते हि धर्मो धृतो धारयते हि रूपम्' धर्म एक शक्ति है। स्वरूप-लाभ तथा स्वरूपकी रक्षाके लिये पदार्थद्वारा धृत होनेसे वह 'धर्म' है। पदार्थोंद्वारा धृत धर्म ही पदार्थोंका रक्षण करता है, अतः वह विश्वकी प्रतिष्ठा है। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' एवं 'धर्मो रक्षति रक्षितः' आदि आप्त-वचनोंका मूल उपर्युक्त विज्ञान ही है। विश्वगत ये शक्तियाँ पदार्थोंकी सहभाविनी होनेसे नित्य हैं। अतः धर्मोंको नित्य (सनातन) कहा गया है। कदाचित् यदि स्वरूपका निरूपक धर्म तिरोहित अथवा उच्छिन्न हो जाय तो पदार्थ कथमपि अपनेको प्रतिष्ठित नहीं रख सकता—'धर्म एव हतो हन्ति'।

धर्मोंका सामान्य-विशेष रूप

'निर्विशेषं न सामान्यम्, एवं निःसामान्यं न विशेषः' न्यायदर्शनके इन दो नियमोंके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि किसी भी सामान्य धर्मका विकास उसके विशेष रूपमें ही सदा हो सकता है। विशेष धर्मकी स्थिति भी सामान्य धर्मके आश्रय बिना अशक्य ही नहीं, असम्भव है। वृक्षमें विद्यमान वृक्षत्वरूप सामान्य धर्मकी उपलब्धि उसके विशेष रूप आम्रत्व, वटत्व, शिंशपात्व एवं निम्बत्व आदि रूपोंमें ही होगी। आम्रत्व, वटत्व एवं निम्बत्व आदि विशेष धर्मोंकी उपलब्धि भी सामान्य धर्म—वृक्षत्वसे आस्कन्दित स्वरूपमें ही होगी। अतः धर्मोंका सामान्य एवं विशेष उभयात्मक रूप है।

मानवताके विशेष रूप

प्रकान्त न्यायदर्शनके नियमोंके अवलम्बनपर विचार, विवेक, सुमति, २० प्रकारकी मर्यादाएँ, शम-दमादि गुण, स्पर्धा-असूयादि-दोषाभाव, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ह्री (अकार्यसे निवृत्ति), विद्या, सत्य (भूतहितकारी क्रिया), अक्रोध, अनसूया (परगुणोंसे प्रसन्न होना), माङ्गल्य (विश्वकी कल्याणकामना), अनायास (किसीको कष्ट न पहुँचाना), अकार्पण्य, अस्पृहा, दान, रक्षा, सेवा, हितवादिता, स्वाध्याय, माधुर्य, मधुरभाषण, श्रद्धा, आस्तिक्य, अदम्भ, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, विनय, एकपत्नीव्रत, पातिव्रत्य, गुरुसेवा, राष्ट्रसेवा, अभय, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व, पितृत्व, मातृत्व, पतित्व, पत्नीत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व, सेवकत्व, सेनापतित्व, सैनिकत्व, राजत्व, उपासकत्व, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, ईश्वरप्रणिधान, गार्हस्थ्य एवं संन्यास आदि मानवताके विशेषरूप हैं। मानवताका जब भी दर्शन होगा, तब उसके विशेषरूप पितृत्व, मातृत्व, करुणा, मैत्री एवं मुदिता आदिके रूपोंमें ही होगा। अपने विशेष रूपोंसे अनवच्छिन्न मानवता कदापि क्वचिदपि उपलब्ध नहीं होगी। मानवताको छोड़कर उसके विशेष रूपों—दया, क्षमा, शौच एवं अनसूया आदिके दर्शन भी कहीं भी नहीं होंगे।

मानवताके विशेष रूप सनातन और विश्व-व्याप्त हैं

मानवताके विशेष रूप तुष्टि, पुष्टि, शान्ति, सम्पत्ति, धृति, क्षमा, रति, मुक्ति, दया, प्रतिष्ठा, कीर्ति एवं क्रिया आदि विश्वात्मक प्रकृतिके अंश होनेसे सनातन एवं विश्वमें व्याप्त हैं। प्रकृतिकी कौन-सी कला किस रूपमें विश्वगत जड़-चेतन पदार्थोंकी रक्षा करती है—इसका सुन्दर विवेचन ब्रह्मवैवर्तपुराणके प्रकृतिखण्डमें उपलब्ध है। पुराणका कहना है कि प्रकृतिकी 'पुष्टि'शक्ति (धर्म) विश्वके पदार्थोंकी क्षीणतासे रक्षा करती है। तुष्टि-धर्म (शक्ति) विश्वके पदार्थोंकी स्वल्प-स्थितिसे रक्षा करता है। 'सम्पत्ति'शक्ति विश्वके पदार्थोंकी दारिद्र्य (दुर्गति)से रक्षा करती है। 'धृति'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी विकृतियोंसे रक्षा करता है। 'क्षमा'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी रोष एवं उन्मादसे रक्षा करता है। 'रति'-कला विश्वके पदार्थोंकी उद्वेग (अरति)से रक्षा करती है। 'मुक्ति'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी अनैश्वर्यसे रक्षा करता है। 'दया'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी निष्ठुरतासे रक्षा करता है। 'कीर्ति'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी संकोचसे रक्षा करता है। 'प्रतिष्ठा'-कला विश्वके पदार्थोंकी उच्छेदसे रक्षा करती है। 'मैत्री-कला' विश्वके पदार्थोंकी द्वेषसे रक्षा करती है। 'मुदिता'-कला विश्वके पदार्थोंकी खेदसे रक्षा करती है। 'उपेक्षा'-कला विश्वके पदार्थोंकी कलहसे रक्षा करती है।

सनातन धर्मोंका विश्वकी रक्षामें सहयोग

सनातन-धर्मके पालनका फल ब्रह्मवैवर्तके आधारपर कुछ अंशोंमें ऊपर निर्दिष्ट है। अन्यान्य पुराण भी अपनी भाषामें सनातन-धर्मके नियमोंके पालनसे विश्व-रक्षामें सहयोगका वर्णन कर रहे हैं। उनका कहना है कि विश्वव्याप्त धर्मकी १३ पत्नियाँ (शक्तियाँ) हैं। मानवोंमें इनका पूर्णरूपेण विकास होनेपर विश्वमें सुख, समृद्धि एवं शान्तिकी वर्षा होती है। धर्मकी १३ पत्नियों (शक्तियों)के नाम तथा उनके मानवमें विकासका फल इस रूपमें पुराणोंमें उपलब्ध है—

श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥
श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥
योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम्॥
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी।

धर्मकी पत्नी (शक्ति) श्रद्धासे विश्वमें शुभ (कल्याण) का संचार होता है। कल्याणकी प्रतिष्ठासे विश्वमें विद्यमान अकल्याणका नाश होता है। धर्मकी पत्नी मैत्रीसे विश्वमें प्रसाद (प्रसन्नता)का संचार होता है। प्रसन्नताका संचार उद्वेगको नष्ट कर देता है। 'दया'शक्तिसे विश्वमें अध्यात्म और आधिदैवतमें अभयका संचार एवं भयका विनाश होता है। 'शान्ति'-शक्तिसे पिण्ड एवं ब्रह्माण्डमें सुखका संचार होता है। शान्ति और सुखके संचारसे अशान्ति और दुःख नष्ट हो जाते हैं। 'पुष्टि'शक्तिसे विश्वमें मुद् (आनन्द) का संचार होता है। 'क्रिया' शक्तिसे विश्वमें उद्योगका संचार तथा आलस्यका विनाश होता है। 'उन्नति'-शक्तिसे विश्वमें दर्प (उत्साह) का संचार तथा अनुत्साहका विनाश होता है। 'बुद्धि'-शक्तिसे विश्वमें इष्ट (सुख) की प्राप्ति तथा अनिष्टका विनाश होता है। धर्मकी पत्नी 'मेधा'से विश्वमें स्मरणका संचार तथा अपस्मारका विनाश होता है। धर्मकी पत्नी 'तितिक्षा'-शक्तिसे विश्वमें क्षेमका संचार तथा अक्षेमका विनाश होता है। धर्मकी पत्नी 'ह्री' से विश्वमें विनयका संचार तथा औद्धत्यका विनाश होता है। धर्मकी शक्ति 'मूर्ति'से विश्वमें सब गुणोंकी उत्पत्ति होती है। मूर्ति माताने ही पिण्डावच्छेदेन नर तथा ब्रह्माण्डावच्छेदेन नारायणको जन्म दिया है। जिस मानवमें 'मूर्ति'-शक्तिका विकास होगा, उसके सब दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं।

ये सब नियम यम और नियम-भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। इनमें यमोंका पालन परमावश्यक है। केवल नियमोंका पालन यमोंके पालनके बिना व्यर्थ हो जाता है।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥
(मनु० ४)

धर्म और मत

विश्वव्याप्त अशान्ति, वैमनस्य एवं परस्पर अविश्वासके अनेक कारणोंमें धर्म और मतमें अभेदग्रह भी अन्यतम कारण है। त्रिविक्रम तीर्थने परानन्दसूत्रमें धर्म और मतके भेदका स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है कि 'मतका विषय—ईश्वर, प्रकृति, जीव और मोक्ष—ये चार पदार्थ ही हैं। मतका सम्बन्ध उपासना-मार्गसे है। उपासनाका सम्बन्ध मनसे है। मनके त्रिगुणात्मक होनेसे उपासनामें भेद हो जाना स्वाभाविक है। धर्मके नियम संस्कारक होनेसे प्रकृतिके नियमोंसे सम्बद्ध

रखते हैं, जो सभी मतके उपासकोंके लिये आवश्यक हैं। मैत्री, दया, तुष्टि एवं तितिक्षा आदि सभी उपासकोंके लिये आवश्यक है। धर्म-नियमोंके अनुकूल मत ग्राह्य एवं उपकारक है। धर्मविरोधी मत अग्राह्य एवं विनाशक है।''

किसी भी मतद्वारा ईश्वरके उपासकके लिये आठ प्रकारके सामान्य धर्मोंका पालन करना भर्तृहरिने आवश्यक माना है। अहिंसा, अस्तेय, सत्य, दान, एकपत्नीव्रत, संतोष, विनय एवं दया—इनका पालन अनिवार्य है। व्यष्टि और समष्टिके सुख, शान्ति एवं समृद्धिके लिये विश्वमें धर्म-चक्रका प्रवर्तन परम आवश्यक है। विश्व-कल्याणके लिये 'धर्मचक्रं प्रवर्तताम्'में सहयोग देना महती सेवा है।

धर्म-अनुशीलन

(अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज)

अनन्त अपौरुषेय वेदने 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' कहकर धर्मको विश्वकी—जगत्की प्रतिष्ठा बताया है। जगत्में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें धर्म विद्यमान न हो; ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसमें धर्मकी सत्ता न हो। धर्मकी यह व्यापकता स्वयं धर्म-शब्दसे प्रकट है। इसकी व्युत्पत्ति है—(१) 'धरति इति धर्मः' अर्थात् जो धारण करता है, वह धर्म है। (२) 'ध्रियते अनेन इति धर्मः' अर्थात् जिसके द्वारा धारण किया जाय, वह धर्म है।

धर्मका यह धारण करनेका कार्य प्रकृतिके कण-कणमें निरन्तर चलता रहता है। प्राणिमात्रकी नैसर्गिक प्रगति इसीके अधीन होती रहती है। प्रकृतिकी सर्वोत्कृष्ट कला-कृति मानवमें इसकी अभिव्यक्ति मानवताके रूपमें होती है और इसीके बलपर मानव अभ्युदयसे लेकर श्रेयतक सम्पादन करनेमें सफल होता है।

विश्वव्यापी जीवनके प्रवाहमें धर्मका अन्वेषण करनेपर दो तथ्य उपलब्ध होते हैं—(१) गति और (२) स्थिति। गतिका परिचय जड-चेतन-संयोगमें मिलता है। जगत्की गमनशीलता इसी संयोगपर निर्भर करती है। गतिके नितान्त अभावका नाम स्थिति है। जड प्रकृतिमें उसका धर्म रहता है। प्रकृतिको इसका ज्ञान नहीं होता। कारण, प्रकृति जड है। चेतन अपने धर्मभूत ज्ञानके सहारे अपने स्वरूप एवं अपने धर्मका अनुभव कर सकता है। यही अनुभूति उसकी स्वाभाविक स्थिति है। धर्म-शास्त्रकारोंने गति और स्थितिको प्रवृत्ति और निवृत्तिकी संज्ञा दी और निवृत्तिकी चरमावस्थामें वास्तविक स्थितिका अनुभव किया। इस प्रकार एक ही धर्मके दो रूप हो गये—एक प्रवृत्तिपरक और दूसरा निवृत्तिपरक।

अनन्त अपौरुषेय वेदके द्वारा ऋषियोंने धर्मके इन दोनों रूपोंका ज्ञान प्राप्त किया। वेद चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्व-वेद। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन चार विभागोंमें वेदकी अक्षरराशि विभक्त है। ऋषियोंने (१) शिक्षा, (२) व्याकरण, (३) निरुक्त, (४) छन्द, (५) ज्योतिष और (६) कल्प—इन छः अङ्गों एवं (१) धर्मशास्त्र, (२) पुराणेतिहास, (३) न्याय और (४) मीमांसा—इन चार उपाङ्गोंके द्वारा वेदवाङ्मयको अलंकृत किया है।

साङ्गोपाङ्ग वेद एवं तत्प्रतिपादित धर्मकी अविच्छिन्न परम्परा आज भी धराधलपर विद्यमान है। भारतदेशको, जो कि विश्वका हृदय है, इसे सुरक्षित रखनेका गौरव प्राप्त है। धर्मनिष्ठ समाजने वंशपरम्परा तथा गुरुपरम्परा दोनों ही प्रकारसे इसे अक्षुण्ण रक्खा है। वंशतः जहाँ हम आदि मानवसमाजके उत्तराधिकारी हैं, वहाँ गुरुपरम्परातः हमने गुरुपरम्परागत उपदेशको जीवित रक्खा है। कहना न होगा कि वेद और धर्म दोनोंका सम्बन्ध गुरुपरम्परागत उपदेशसे है। गुरुपरम्परागत उपदेशको ही सम्प्रदाय कहते हैं। वेदकी जितनी शाखाएँ हैं, वेदके उतने ही सम्प्रदाय हैं। ये सम्प्रदाय श्रौत हैं। धर्मशास्त्रोंको स्मृति कहते हैं। इनकी भी अलग-अलग परम्पराएँ हैं। पुराणों और आगमोंको भी स्मृतिकी कोटिमें गिन लिया जाता है। इनकी भी अलग-अलग परम्पराएँ हैं। उपनिषदोंमें अलग-अलग ब्रह्मविद्याएँ मिलती हैं। प्रत्येक ब्रह्मविद्याकी अपनी परम्परा है। इन समस्त परम्पराओं एवं सम्प्रदायों-की गणना धर्मके अन्तर्गत होती है। इस युगके आरम्भ

होनेके पूर्व ही महर्षि वेदव्यासने वेदोंको व्यस्त तथा वेदान्तको सूत्रबद्ध करके धर्मके प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक समस्त सम्प्रदायोंका सामञ्जस्य स्थापित किया था। ऐसा करनेमें उन्होंने जिस मीमांसा-पद्धतिका आश्रय लिया था, उसमें कर्म-मीमांसा और दैवत-मीमांसाके बाद उनके सूत्रग्रन्थको ब्रह्ममीमांसाका पद मिला था। कर्ममीमांसाके सूत्रकार थे महर्षि जैमिनि, दैवत-मीमांसाके सूत्रकार थे महर्षि काशकृत्स्न। जैसा कि कहा है—

कर्मदेवता ब्रह्मगोचरा सा त्रिधोद्धभौ सूत्रकारतः।
जैमिनेर्मुनेः काशकृत्स्नतः बादरायणादित्यतः क्रमात्॥

महर्षि जैमिनिने धर्ममीमांसाके बारह अध्यायोंमें वेद-विहित कर्मकी मीमांसा की। महर्षि काशकृत्स्नने दैवत-मीमांसाके चार अध्यायोंमें क्रमशः देवताओंके स्वरूप, उनके भेद, उनकी उपासना तथा उनकी उपासनाके फलकी मीमांसा की। महर्षि बादरायण व्यासने चार अध्यायोंमें ब्रह्मकी मीमांसा की। कर्म साध्य-धर्म है और ब्रह्म सिद्ध-धर्म है। दैवत-मीमांसा साध्य-धर्मको सिद्ध-धर्मसे जोड़नेवाली कड़ी है। इस प्रकार बीस अध्यायके मीमांसा-शास्त्रको एक शास्त्र मानकर महर्षि बोधायन, टङ्कमुनि एवं आचार्य द्रमिडने कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्डके सामञ्जस्यका प्रतिपादन किया। जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यने इसी परम्पराका अनुसरण किया है।

वैदिक कर्मकाण्डका सम्बन्ध है देवताओंसे। देवताओंके अन्तर्यामी हैं परब्रह्म। इस प्रकार कर्मकाण्डका पर्यवसान होता है दैवतकाण्डमें और दैवतकाण्डका पर्यवसान होता है ब्रह्मकाण्डमें। यह सामञ्जस्यकी एक पद्धति है। महर्षि वेदव्यासके पिता महर्षि पराशरने—

कव्यं यः पितृरूपधृग्विधिहुतं हव्यं च भुङ्क्ते विभुः।
देवत्वे भगवाननादिनिधनः स्वाहास्वधासंज्ञिते॥

—कहकर इसी पद्धतिका प्रतिपादन किया है। उनके कथनका आशय यह है कि अनादिनिधन विभु भगवान् श्रीहरि स्वधासंज्ञक कव्यको पितृरूपसे तथा स्वाहासंज्ञक हव्यको देवरूपसे ग्रहण करते हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

अर्थात् मैं समस्त यज्ञोंका भोक्ता एवं प्रभु हूँ, कहकर भगवान् श्रीकृष्णने इसका अनुमोदन किया है।

पुराणोंने विभिन्न सम्प्रदायोंके प्रतिष्ठापक आचार्योंको अवतारपुरुष बताकर एक दूसरी पद्धति प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ जैसे—

शंकरः शंकरः साक्षाच्छेषो रामानुजः स्वयम्।
मध्वाचार्यः स्वयं ब्रह्मा⋯⋯⋯⋯⋯⋯⋯॥

अर्थात् श्रीशंकराचार्य साक्षात् शंकर थे। श्रीरामानुजाचार्य शेषके अवतार थे। पितामह ब्रह्माने मध्वाचार्यके रूपमें अवतार ग्रहण किया था।

पद्धति कोई भी क्यों न हो, अभीष्ट है धर्मके अन्तर्गत आनेवाले सम्प्रदायोंका सामञ्जस्य। साङ्गोपाङ्ग वेदके गुरुपरम्परागत उपदेशसे सम्बन्ध होनेके कारण यह सामञ्जस्य स्वतःसिद्ध है।

वास्तवमें लोकसे परलोकतक, व्यवहारसे परमार्थतक, व्यक्तिसे समाजतक ऐसा कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं जो पुरुषार्थ-चतुष्टयके अन्तर्गत न आता हो। हमारे धर्मशास्त्रकारोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके रूपमें पुरुषार्थ-चतुष्टयको मानव-जीवनका लक्ष्य निर्धारित किया। अर्थ और कामको धर्म-नियन्त्रितकर उन्होंने मानवके लिये धर्ममय जीवनका विधान किया। प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी ओर इस आधारपर उन्होंने जीवनकी व्याख्या की और मानवको परम पुरुषार्थकी ओर अभिमुख होनेकी प्रेरणा दी। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें साध्य-धर्मका अनुष्ठान और सिद्ध-धर्मका चिन्तन करता हुआ साधक अपने धर्मभूत ज्ञानको पूर्णरूपसे विकसितकर अपने स्वरूपगत धर्मको अनुभव करनेमें समर्थ होता है।

जाननेकी इच्छा आनन्दकी आकाङ्क्षा और अमरत्वकी कामनाको लेकर आरम्भ हुई। जीवनयात्रामें धर्मभूत ज्ञान व्यक्तिको सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वशेषी, सर्वात्मा भगवान्‌की ओर अभिमुख करता है। इस आभिमुख्यकी पूर्ति आत्मसमर्पण-यज्ञमें होती है, जिसके सम्पन्न होनेपर आनन्दसिन्धु भगवान् चेतनबिन्दुमें सदाके लिये अनन्त आनन्दानुभूतिरूप धर्मकी प्रतिष्ठा कर देते हैं।

धर्म

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

विशालविश्वस्य विधानबीजं
वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः ।
वसुंधरावारिविभावह्नि-
वायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे ॥

धर्म क्या है ?—'ध्रियते येन स धर्मः' । जिसने इस विश्व-ब्रह्माण्डको धारण किया है, वह धर्म है ।

ऋग्वेदमें लिखा है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥

(ऋक्-संहिता १ । २२ । १८)

अर्थात् परमेश्वरने आकाशके बीचमें त्रिपाद्-परिमित स्थानमें त्रिलोकका निर्माण करके उनके भीतर धर्मों (जगन्निर्वाहक कर्मसमूहों) को स्थापित किया ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

(ऋग्वेद १० । ९० । १६)

'यज्ञके द्वारा यज्ञपुरुषकी देवताओंने पूजा की थी, वह प्राथमिक धर्म था ।' देवलोककी प्रेरणासे मनुष्य-लोकमें यज्ञ प्रवर्तित हुआ ।

ईशोपनिषद्में लिखा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

(१५)

'ज्योतिर्मय पात्रके द्वारा सत्यका (अर्थात् आदित्य-मण्डलस्थ व्याहृति-अवयव पुरुषका) मुख (मुख्य-स्वरूप) आवृत है । हे जगत्के परिपोषक सूर्यदेव ! सत्यस्वरूप तुम्हारी उपासनाके फलसे सत्यस्वरूपकी मेरी उपलब्धिके लिये उस आवरणको हटा दो ।'

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।

(कठ० उ० १ । १ । २१)

नचिकेता आत्मज्ञानकी प्राप्तिके अधिकारी हैं या नहीं—यह परीक्षा करनेके लिये यमराज कहते हैं—

'इस तत्त्वके विषयमें सृष्टिकालमें देवगणको भी संदेह हुआ था; क्योंकि यह आत्माख्य धर्म सूक्ष्म होनेके कारण सुविज्ञेय नहीं है ।' इस मन्त्रसे धर्म 'आत्मा'के नामसे कथित हुआ है ।'

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।

(कठ० १ । २ । १३)

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको श्रवण करके, 'मैं ही आत्मा हूँ'—इस प्रकार उसको सम्यक् ग्रहण करके, पश्चात् आत्मज्ञानरूपी श्रेष्ठ धर्मकी सहायतासे प्राप्त उस आत्माको देहादिसे पृथक् उपलब्ध करता है ।

यहाँ तत्त्वज्ञानको ही धर्म कहा है ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।

(कठ० १ । २ । १४)

इस मन्त्रमें शास्त्रीय अनुष्ठानको धर्म कहा है ।

यथोदकं दुर्गे वृष्टम् ।

(कठ० २ । १ । १४)

''दुर्गम पर्वत-शिखरपर वर्षित वृष्टिधारा जिस प्रकार निम्नतर पहाड़ी प्रदेशमें फैल जाती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति 'धर्मान्' अर्थात् सब प्राणियोंको……।'' इस मन्त्रमें उपनिषद्-माताने धर्म शब्द प्राणीके अर्थमें प्रयुक्त किया है ।

सत्यं वद । धर्मं चर ।

(तैत्तिरीय० २ । ११ । १)

'सत्य बोलो । धर्म (अनुष्ठेय कर्म) का आचरण करो ।' इस स्थलमें 'धर्म' शब्द अनुष्ठेय कर्मके अर्थमें है ।

स य एतदेवं विद्वान्—

(छान्दोग्योपनिषद् २ । १ । ४)

'जो कोई इस प्रकार जानकर साधुगुण-विशिष्ट रूपमें सामकी उपासना करता है, उसके पास सारे उत्तम धर्म (पुण्यसमूह) अतिशीघ्र आ जाते हैं और उसके भोग्य रूपमें अवस्थान करते हैं ।' यहाँ धर्म-शब्द पुण्य अर्थमें आया है ।

स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं—

(बृहदारण्यक १ । ४ । १४)

'वे तब भी सक्षम न हुए, उन्होंने श्रेयःस्वरूप, सबके लिये कल्याणप्रद धर्मकी सृष्टि की।' यह धर्म ही क्षत्रियका क्षत्रिय अर्थात् नियन्ता है। अतएव धर्मसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। राजाकी सहायतासे जैसे कोई दूसरेको जीत लेता है, उसी प्रकार धर्मकी सहायतासे दुर्बल मनुष्य सबको जीतनेकी कामना करता है। वह धर्म ही सत्य है। इसी कारण जब कोई सत्य बोलता है, तब ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह धर्म कहता है और धर्म बोलनेपर कहते हैं कि यह सत्य कहता है; क्योंकि धर्म ही यह दोनों हो जाता है।

श्रुतिमाता धर्मस्वरूपा है। धर्म आत्मा है, धर्म तत्त्वज्ञान है, धर्म प्राणी है, धर्म शास्त्रविधिरूप है, धर्म पुण्य है, धर्म सत्य है। दृष्ट-अदृष्ट रूपमें धर्म ही कार्य उत्पादन करता है, इत्यादि बातें कही गयीं।

नचिकेताने यमसे कहा, 'आपने धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य-कारणसे पृथक् तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानसे भी पृथक् जिस वस्तुको प्रत्यक्ष किया है, उसे मुझको कहें।' (कठोपनिषद् १। २। १४) यमने कहा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ० १। २। १५)

'जिसको सारे वेद परम वाञ्छित बतलाते हैं, निखिल तपस्या जिसकी प्राप्तिका उपाय है, मनुष्य जिसको प्राप्त करनेके हेतु ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, वह परम ईप्सिततम वस्तु पुरुषोत्तम ॐकार है।'

पर और अपर ब्रह्म इस ॐकारको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करेगा, इसके द्वारा उसे पायेगा। यह सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है। पर और अपर ब्रह्म—दोनोंका यही आश्रय है। जो इस ॐकारकी उपासना करेगा, वह ब्रह्मलोकमें पूजित होगा। (कठोपनिषद् १। २। १६-१७)

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥

(प्रश्नोपनिषद् ५। २)

'हे सत्यकाम! ये जो पर और अपर ब्रह्म हैं, वे दोनों ॐकारस्वरूप हैं। इसी कारण ज्ञानवान् व्यक्ति ॐकारका अवलम्बन करके अपने अभिलषित पर या अपर ब्रह्म ॐकार-को आत्मस्वरूपमें प्राप्त करता है।'

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्-भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।

(माण्डूक्योपनिषद्)

'ॐ—यह अक्षर (वर्ण) ही जगत् तथा भूः-भुवः-स्वः-रूप त्रिभुवन—सब कुछ है। इसकी सुस्पष्ट व्याख्या यह है कि अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् जो कुछ है, सब ॐकार ही है। इससे अतिरिक्त जो कुछ त्रिकालातीत है, वह भी ॐकार ही है।'

ॐकारके सिवा और कुछ नहीं है। स्थावर-जङ्गम—सब कुछ ॐकार है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज—समस्त प्राणियोंके रूपमें तथा नद-नदी, पर्वत, लौह आदि स्थावररूप बनकर वही विराजमान हो रहा है। यह ॐकार ही परमार्थके साररूप अद्वैत ब्रह्म है।

परमार्थसारभूतं यदद्वैतमशेषतः।

धर्म इस ॐकारका ही नाम है।

उक्थमुक्थकरश्चोक्थी ब्रह्मक्षत्रविवर्जितः।
धर्मोऽधर्महरो धर्म्यो धर्मी धर्मपरायणः॥५४॥

(ॐकारसहस्रनाम, प्रणवकल्प)

बीस संहिताएँ तथा मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ, प्रजापति, लघुशङ्ख, औशनस, बृहद् यम, लघु यम, अरुण, अत्रि, आङ्गिरस, उत्तराङ्गिरस, कपिल, लघ्वाश्वलायन, वृद्ध हारीत, लोहित, दाल्भ्य, कण्व, बृहत्पराशर और नारद—ये स्मृतियाँ हैं। इन सबका नाम धर्मशास्त्र है। श्रीमनुभगवान्‌ने मनु-संहिताके प्रथम अध्यायमें आत्मज्ञानको ही प्रकृष्ट धर्म बतलाया है। उसको प्राप्त करनेके लिये उपनयन आदि संस्कार आवश्यक हैं, यह बतलानेके पहले धर्मका लक्षण बतलाते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(मनु० २। १)

'जो धर्म राग-द्वेषविहीन साधुचरित विद्वानोंके द्वारा अनुष्ठित होता है तथा जिसको हृदय अनुमोदन करता है (जिससे हृदयमें किसी प्रकारकी विमति नहीं आती), उस धर्मको सुनो।'

धर्मका मूल अथवा प्रमाण—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० २। ६)

'सारे वेद, वेदज्ञोंकी स्मृतियाँ, उनके शील (ब्रह्मण्यता आदि तेरह गुण), साधुजनके आचार तथा आत्मतुष्टि—ये कतिपय धर्मके मूल या प्रमाण हैं।'

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥
(मनु० २ । १०)

'वेदोंका नाम है श्रुति, धर्मशास्त्रोंका नाम है स्मृति। सब विषयोंमें इन दोनों शास्त्रोंके विरुद्ध तर्कके द्वारा मीमांसा अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि श्रुति और स्मृतिसे धर्म स्वयं प्रकाशित हुआ है।'

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
(मनु० २ । १२)

'वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतुष्टि—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण (प्रमाण) ऋषियोंने निर्देश किये हैं।'

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
(मनु० २ । १३)

'यथार्थ धर्मका ज्ञान उनको ही होता है, जो अर्थ और काममें आसक्त नहीं होते और धर्मकी जिज्ञासा करनेवालोंके लिये वेद ही प्रकृष्ट प्रमाण है।'

सत्ययुगमें एक प्रकारका धर्म था, त्रेतायुगमें दूसरे प्रकारका, द्वापरमें अन्य प्रकारका और कलियुगमें और ही प्रकारका धर्म है। जैसे-जैसे युगका ह्रास होता जाता है, उसी प्रकार धर्मका भी ह्रास होता है। (मनु० १ । ८५)

सत्ययुगमें धर्म तपस्याप्रधान होता है, त्रेतामें ज्ञान-प्रधान होता है, द्वापरमें यज्ञप्रधान होता है तथा कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है। (मनु० १ । ८६)

वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, गुणधर्म, नैमित्तिक धर्म, पुरुष-धर्म, स्त्री-धर्म आदि सब धर्मोंके विषयमें भगवान् मनु आदि संहिताकारोंने लिखा है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥
(मनु० १२ । १०६)

'वेद और वेदमूलक स्मृति आदि शास्त्रोंके उपदेशका जो अविरोधी तर्कके द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्मके स्वरूपको जान सकता है।'

चारों आश्रमोंके साधारण धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनु० ६ । ९२)

"धृति (धैर्य) अर्थात् संतोष, क्षमा अर्थात् सामर्थ्य रहते हुए भी अपकारीका अपकार न करना, दम अर्थात् विषयोंका संसर्ग होनेपर भी मनको निर्विकार रखना, अस्तेय अर्थात् काय, वचन और मनसे परद्रव्यको न चुराना, शौच अर्थात् शास्त्रानुसार मिट्टी-जल आदिके द्वारा देहशुद्धि, इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् यथेच्छ विषयभोगसे हटाकर अलौकिक विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्र-सम्मत मार्गसे इन्द्रियोंको ले चलना, धी अर्थात् आत्मविषयिणी बुद्धि—'मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ'—इस प्रकारकी बुद्धि, विद्या अर्थात् आत्मज्ञान जिससे हो उस ब्रह्मविद्याका अनुशीलन, सत्य अर्थात् यथार्थ कथन और प्राणियोंका हित-साधन, अक्रोध अर्थात् क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी क्रुद्ध न होना—इन दसोंका नाम धर्म है।" इनमें जो सम्यक् प्रतिष्ठित है, वही धार्मिक है। उसीको परम गतिकी प्राप्ति होती है।

सर्वसाधारणके अनुष्ठेय धर्म—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतत् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥
(मनु० १० । ६३)

'अहिंसा, सत्यवचन, परद्रव्य अपहरण न करना, शुचिता तथा इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् इन्द्रियोंका संयम—इनको सर्वसाधारण चारों वर्णोंके धर्म तथा संकीर्ण जातिके धर्मके रूपमें अनुष्ठेय बतलाते हुए भगवान् मनुने निर्देश किया है।' विष्णुसंहितामें लिखा है—

'क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरु-सेवा, तीर्थ-दर्शन, दया, ऋजुता, निर्लोभता, देव-ब्राह्मणोंकी पूजा और अनसूया—ये साधारण धर्म हैं। ये सब धर्म चारों वर्णोंके हैं।'

जैमिनिकृत मीमांसादर्शनका प्रथम सूत्र है—'अथातो धर्मजिज्ञासा।' अर्थात् धर्मकी मीमांसा ही मीमांसादर्शनका मूल है, ऐसा जान पड़ता है। धर्म क्या है? उसका क्या लक्ष्य है? किस कर्मके करनेसे धर्म होता है और किस कर्मके करनेसे धर्म नहीं होता? इसका उत्तर देनेके पहले धर्मका एक लक्षण करना आवश्यक है। धर्म-जिज्ञासाका अर्थ

है—धर्मको जाननेकी इच्छा। धर्मको जाननेकी आवश्यकता क्या है तथा धर्मके कौन-कौन-से साधन हैं? प्रसिद्ध धर्म क्या है और अप्रसिद्ध धर्म क्या है? एक आदमी धर्मका लक्षण एक प्रकारसे करता है और दूसरा दूसरे प्रकारसे करता है। इन सब बातोंकी मीमांसा करके जैमिनिने धर्मके लक्षणमें यह सूत्र लिखा है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

'क्रियामें प्रवर्तित करनेवाले शास्त्र-वचनका नाम 'चोदना' । अर्थात् आचार्यसे प्रेरित होकर जो यज्ञ आदि किये जाते हैं, उसीका नाम धर्म है।' आचार्यके उपदेशके अनुसार किया जानेवाला यज्ञ आदि ही धर्म है। जो कार्य मनुष्यके कल्याणके लिये होता है, उसका नाम धर्म है। अर्थात् जिस कर्मका अनुष्ठान करनेसे मङ्गल होता है, वही धर्म है तथा जिससे भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट अर्थ अवगत करनेमें समर्थ हो सकते हैं, उसका नाम धर्म है। जो कुछ श्रेयस्कर अर्थात् मङ्गलजनक है, उसका नाम धर्म है।

य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।

(विश्वकोषमें मीमांसा १। २ सूत्रभाष्य)

धर्मका लक्षण—

पात्रे दानं मतिः कृष्णे मातापित्रोश्च पूजनम्।
श्रद्धा बलिर्गवां ग्रासः षड्विधं धर्मलक्षणम्॥

(शब्दकल्पद्रुममें पाद्मोत्तरखण्ड)

'सुपात्रको दान देना, कृष्णमें मति, माता-पिताकी पूजा, श्रद्धा, प्राणियोंके आहारके लिये द्रव्य-दान, गोग्रास प्रदान करना—ये छः प्रकार धर्मके लक्षण हैं।'

धर्मका अङ्ग—

ब्रह्मचर्येण सत्येन तपसा च प्रवर्तते।
दानेन नियमेनापि क्षमाशौचेन वल्लभ॥
अहिंसया सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तते।
एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रसूचयेत्॥

(पाद्म, भूमिखण्ड)

'ब्रह्मचर्य, सत्य और तपस्या, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, सुशान्ति तथा अस्तेयके द्वारा धर्म सूचित होता है।'

धर्मका मूल—

अद्रोहोऽप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं ततः सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्॥

(मत्स्यपुराण)

'अद्रोह, अलोभ, बाह्येन्द्रिय-निग्रह, प्राणिमात्रके प्रति दया, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, क्षमा और धैर्य—ये सनातन-धर्मके दुर्लभ मूल हैं।'

देवताओंके धर्म वामनपुराणमें इस प्रकार कहे गये हैं—'सुकेशी नामक एक राक्षसने ऋषियोंसे यह प्रश्न किया था कि जगत्में श्रेय क्या है? ऋषियोंने बतलाया कि 'इह और परलोकमें धर्म ही श्रेय है। साधुजन इस श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेनेके कारण ही जगत्में पूज्य हैं और धर्म-मार्गपर चलनेसे सब सुखी हो सकते हैं।' सुकेशीने पूछा कि 'धर्मका लक्षण क्या है? और क्या करनेसे धर्म होता है?' ऋषियोंने कहा—'याग-यज्ञादि क्रिया, स्वाध्याय, तत्त्वज्ञान, विष्णु-पूजामें रति, विष्णुकी स्तुति देवताओंका परम धर्म है। बाहुद्वारा पराक्रम तथा संग्राममें सत्कार्य, नीतिशास्त्रकी निन्दा और शिवभक्ति दैत्योंका परम धर्म है। योगानुष्ठान, स्वाध्याय, ब्रह्मज्ञान, विष्णु और शंकरकी भक्ति दैत्योंका धर्म है। नृत्य-गीत आदिकी अभिज्ञता और सरस्वतीकी दृढ़ भक्ति गन्धर्वोंके धर्म हैं। पौरुषके कार्यमें अभिज्ञता, भवानी और सूर्यकी भक्ति तथा गान्धर्व विद्या—ये विद्याधरोंके धर्म हैं। समस्त मन्त्र-शास्त्र-विद्यामें निपुणता किंपुरुषोंका धर्म है। योगाभ्यासमें सदा अनुरक्ति, सब स्थानोंमें इच्छानुसार गमनागमन, नित्य ब्रह्मचर्य और जपसम्बन्धी ज्ञान पितरोंके धर्म हैं। धर्मज्ञान ऋषियोंका धर्म है। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दम, यजन, सरलता, क्षमा, जितेन्द्रियता, शौच, मङ्गलकार्यमें श्रद्धा, देव-भक्ति मानवोंके धर्म हैं। धनाधिपतित्व, भोग, स्वाध्याय, शंकरोपासना, अहंकार और मदसे रहित होना—ये गुह्यकोंके धर्म हैं। परदारा-अभिलाषा, परकीय अर्थके लिये लोलुपता, वेदाभ्यास और शंकर-भक्ति राक्षसोंके धर्म हैं। अविवेकता, अज्ञान, अशुचिता तथा आमिष-भक्षणमें रति—ये पिशाचोंके धर्म हैं' (वामनपुराण ११ अध्याय)

मत्स्यपुराण २। १० के अनुसार एक देवता ब्रह्माके दक्षिण स्तनसे उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार दक्ष प्रजापतिने धर्मदेवको १३ कन्याएँ दानमें दी थीं। उनसे धर्मदेवकी अनेक संतान उत्पन्न हुईं। उन श्रद्धाके गर्भसे सत्य, मैत्रीके गर्भसे प्रसाद, दयाके गर्भसे अभय, शान्तिके गर्भसे यम, तुष्टिके गर्भसे हर्ष, पुष्टिके

गर्भसे गर्व, क्रियाके गर्भसे योग, उन्नतिके गर्भसे दर्प, बुद्धिके गर्भसे अर्थ, मेधाके गर्भसे स्मृति, तितिक्षाके गर्भसे मङ्गल, लज्जाके गर्भसे विनय और मूर्तिके गर्भसे नर-नारायण उत्पन्न हुए।

धर्मकी उत्पत्ति—

अथोत्पत्तिं प्रवक्ष्यामि धर्मस्य महतो नृप।
माहात्म्यं च तिथिं चैव तन्निबोध नराधिप॥
सर्वं ब्रह्माव्ययः शुद्धः परात्परसंस्थितः।
स सिसृक्षुः प्रजास्त्वादौ पालनं च व्यचिन्तयत्॥

—इत्यादि

(वराहपुराण)

"हे राजन्! अब धर्मकी उत्पत्ति और उसकी तिथि तथा माहात्म्य बतलाऊँगा, ध्यानपूर्वक श्रवण करो। प्रजाकी सृष्टि करनेकी अभिलाषासे परात्पर ब्रह्माजी अत्यन्त चिन्तनसे युक्त हुए। उनके चिन्तनसे उनके दक्षिण अङ्गसे श्वेत-कुण्डलधारी तथा श्वेत माल्य और अनुलेपन आदिसे युक्त एक पुरुष प्रकट हुआ। ब्रह्माने उसको देखकर कहा, 'तुम चतुष्पाद वृषाकृति हो, तुम ज्येष्ठ होकर प्रजा-पालन करो'—इतना कहकर वे शान्त हो गये। वही धर्म सत्ययुगमें चतुष्पाद, त्रेतामें त्रिपाद, द्वापरमें द्विपाद और कलिमें एक पादद्वारा प्रजावर्गका पालन करता है। वह ब्राह्मणोंकी पूर्णरूपसे, क्षत्रियकी त्रिपादसे, वैश्यकी द्विपादसे और शूद्रकी एक पादसे रक्षा करता है। गुण, द्रव्य, क्रिया और जाति—ये चार पाद हैं। वह वेदमें त्रिश्रृङ्गके नामसे अभिहित होता है। उसका आद्यन्त ॐकार है, दो सिर और सात हाथ हैं। उदात्तादि तीन स्वरोंके द्वारा बद्ध है। ब्रह्माने यह भी कहा कि 'धर्मदेव, आजसे त्रयोदशी तुम्हारी तिथि होगी; इस तिथिमें तुम्हारे उद्देश्यसे जो उपवास करेगा, वह पापसे मुक्त हो जायगा।'"

वामनपुराणमें लिखा है कि धर्मके अहिंसा नामक भार्यासे चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें योगशास्त्रविशारद ज्येष्ठ पुत्र सनत्कुमार थे, द्वितीय पुत्र सनातन थे, तृतीय सनक और चतुर्थ सनन्दन थे। परंतु दूसरे पुराणोंमें ये लोग ब्रह्माके मानसपुत्र कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें चतुष्पादकी कथा इस प्रकार वर्णित है—

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद् यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः॥

(श्रीमद्भागवत १।१७।२४-२५)

'सत्ययुगमें तपस्या, शौच, दया और सत्यरूप तुम्हारे चार पाद थे। विस्मय, विषय-सङ्ग और गर्वके द्वारा उनमेंसे तीन पाद टूट गये हैं। अब सत्यरूप तुम्हारा एक पाद अवशिष्ट है। तुम इसीके आश्रयसे किसी प्रकार अवस्थित रह सकोगे, ऐसा सोच रहे हो; किंतु यह दुरंत कलि असत्यसे परिवर्द्धित होकर तुम्हारे उस पादको भी भग्न करनेके लिये उद्यत हो रहा है।'

धर्मका आधारस्थान—

(ब्रह्मवैवर्त-पुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अ० ३२)

सारे वैष्णव, यति, ब्रह्मचारी, पतिव्रता नारी, प्राज्ञ व्यक्ति, वानप्रस्थी, भिक्षु, धर्मशील नृप, सद्वैद्य, द्विज-सेवा-परायण शूद्र तथा सज्जनोंके संसर्गमें रहनेवाले लोग—इन सब लोगोंमें धर्म सर्वदा सम्पूर्णरूपसे अवस्थित रहता है। तथा अश्वत्थ, वट, बिल्व, चन्दन, देवपूजाके योग्य पुष्पोंवाले वृक्ष, देवालय, तीर्थस्थान, वेद-वेदाङ्ग श्रवण करनेवाले व्यक्ति, जहाँ वेदपाठ होता हो, श्रीकृष्णके नाम-गुण जहाँ कीर्तित होते हों, व्रत-पूजा, तप तथा विधिपूर्वक यज्ञके साक्षी स्थल, दीक्षा, परीक्षा, शपथके स्थान, गोष्ठ, गोष्पद-भूमि तथा गोगृह—इन सब स्थानोंमें धर्म अवस्थित रहता है तथा इन सब स्थानोंमें धर्म निस्तेज नहीं होता।'

हेमाद्रि, व्रत-खण्डमें उद्धृत भविष्यपुराणके अनुसार 'वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, वर्णाश्रमधर्म, गौणधर्म और नैमित्तिक धर्म—ये पाँच प्रकारके धर्म हैं। एक वर्णका आश्रय लेकर जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्ण-धर्म कहते हैं—जैसे उपनयन आदि। आश्रमको आश्रय करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको आश्रम-धर्म कहते हैं—यथा भिक्षा तथा दण्डादि-धारण। वर्णत्व और आश्रमत्वको अधिकार करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्णाश्रम-धर्म कहते हैं—जैसे मौञ्जी-मेखलादि-धारण। जो धर्म गुणके द्वारा प्रवर्तित होता है, उसे गुण-धर्म कहते हैं—जैसे नियमपूर्वक प्रजापालन आदि। किसी निमित्तको आश्रय करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको नैमित्तिक धर्म कहते हैं—जैसे प्रायश्चित्त-विधि आदि।

विश्वामित्रके द्वारा कथित धर्मका लक्षण—

यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः।
स धर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते॥

'आगमतत्त्वको जाननेवाले आर्यलोग जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं तथा जिसकी प्रशंसा करते हैं, उसको धर्म कहते हैं और जिन कर्मोंकी निन्दा करते हैं, उनको अधर्म कहते हैं।' प्रवृत्ति और निवृत्तिजनक दो प्रकारके वैदिक कर्मोंका भगवानने सृष्टिके आदिमें निर्देश किया था। इनमें प्रवृत्तिलक्षण जो कर्म हैं, उनको धर्म कहते हैं। ये धर्म गुणभेदानुसार तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जिन कर्मोंमें किसी प्रकारकी फलकामना नहीं होती, ये ही कर्म हमारे कर्तव्य-कर्म हैं, इस प्रकारकी बुद्धिसे जो कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनको सात्त्विक कर्म कहते हैं। सात्त्विक धर्मका अनुष्ठान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्षके निमित्त संकल्प करके जो कार्य अनुष्ठित होते हैं, उनको राजसधर्म कहते हैं। कर्ममें विधिकी अपेक्षा न करके केवल कर्म-बुद्धिसे जो कार्य अनुष्ठित होता है, उसको तामस धर्म कहते हैं।

'मनुष्यके लिये जो कर्तव्य या आचरणीय कहा गया है, वही धर्म है। स्मृतिशास्त्रसे धर्मका यह अर्थ प्राप्त होता है।'

'पुराण-शास्त्रमें धर्मका एक अर्थ नहीं देखनेमें आता, अनेक स्थलोंमें धर्म-शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है।'

'मनोवृत्तियोंको धर्म कहा गया है—जैसे दया-धर्म, सत्य-धर्म, अहिंसा परम धर्म, क्रोध अपकृष्ट धर्म इत्यादि।'

'इन्द्रियोंके कार्य भी धर्म-नामसे कथित होते हैं—जैसे चक्षुका धर्म है दर्शन, नासिकाका धर्म है आघ्राण, मनका धर्म है चिन्तन—आदि।'

'कर्तव्यका नाम भी धर्म है, जैसे पिताका धर्म, पुत्रका धर्म, पत्नीका धर्म इत्यादि।'

'गुणोंकी क्रियाको भी धर्म कहते हैं—जैसे शीतका धर्म है संकोचन, तापका धर्म है सम्प्रसारण इत्यादि।'

'वृत्त्यनुकूल कार्यको भी धर्म कहते हैं—जैसे चौरधर्म, याजकका धर्म, कृषकका धर्म, व्यवसायीका धर्म इत्यादि।'

कतिपय विशिष्ट व्यापारोंकी समष्टिको भी धर्म कहा जाता है—जैसे जागतिक धर्म, लौकिक धर्म, सामाजिक धर्म, कौलिक धर्म, दैहिक धर्म और मानसिक धर्म आदि।'

अहिंसालक्षणो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा।

(महाभारत)

'धर्म अहिंसालक्षण है और अधर्म हिंसालक्षण है।' 'को धर्मः? भूतदया।' अर्थात् प्राणिवर्गके ऊपर दया करना ही धर्म है।

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जन-
सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये॥

(श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ११२)

'दान, तपस्या, तीर्थसेवा और जप—ये अहिंसाके समान पुण्यजनक नहीं हैं। अतएव उत्तम-धर्मपरायण मुमुक्षु पुरुष सुधर्मकी दृढ़ता बढ़ानेके लिये पर-पीड़नरूप हिंसा न करे।'

जैसे वक्रगामिनी नदी सागरमें मिलती है, उसी प्रकार सारे धर्म अहिंसक पुरुषका आश्रय लेते हैं। काष्ठस्थित अग्निके समान स्थावर-जङ्गममें व्याप्त भगवान्‌की उपेक्षा करनेवाले हिंसक पुरुषका धर्म आश्रय नहीं करता। (वही, ११२)

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(श्रीमद्भागवत)

'वेदमें जो कुछ कहा गया है, वह धर्म है; उसके विपरीत सब कुछ अधर्म है।'

विहितक्रियया साध्यो धर्मः पुंसो गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते॥

(धर्मदीपिका)

'शास्त्र-विहित क्रिया-साध्य गुणका नाम धर्म है, प्रतिषिद्ध-क्रिया-साध्य गुणका नाम अधर्म है।'

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

(हितोपदेश, मित्रलाभ)

'मनुष्यका धर्म ही एकमात्र सुहृद् है, मृत्युके पश्चात् और कोई उसका अनुगमन नहीं करता, एकमात्र धर्म ही अनुगमन करता है।'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म ही प्रथम प्रधान पुरुषार्थ है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'उत्तम रूपसे अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म कुछ अङ्गहीन भी हो तो श्रेष्ठ है। स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेय है; क्योंकि

उससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। परधर्म भयानक है, क्योंकि वह नरकमें ले जाता है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिकदर्शन)

'जिससे सम्यक् सांसारिक उन्नति और मोक्ष अर्थात् परमार्थकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। धर्मशब्दका पर्याय है पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृष (अमरकोष), न्याय, स्वभाव, आचार, उपमा, क्रतु, अहिंसा, उपनिषद्, धनु, यम, सोमप (मेदिनी कोष), सत्सङ्ग, अर्हन (हेमचन्द्र)।

धर्मके अनन्त लक्षण हैं। श्रुति-स्मृतिमें धर्मके जो लक्षण कहे गये हैं, उनको एकत्रित करना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। स्थूलरूपमें, जिससे सांसारिक उन्नति और परमार्थकी प्राप्ति होती है, वही धर्म है।

भारतके नर-नारीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार है, इसका उपाय शास्त्र है। जो दृढ़तापूर्वक शास्त्रका अवलम्बन करता है, वह जीवन-संग्राममें विजयी होकर निश्चय ही श्रीभगवान्‌को प्राप्त होता है। आज कलियुगके मोहान्धकारमें पड़कर अधिकांश लोग पथभ्रष्ट हो रहे हैं। ऐहिक सुखके सिवा और भी कुछ है, इसे वे नहीं जानते। शास्त्रानुकूल आचार-धर्मका त्याग करनेके कारण अशान्तिरूपी अनलकी ज्वाला चतुर्दिक् प्रज्वलित हो रही है। भयंकर कलिने समस्त शास्त्रीय धर्मको ग्रसित कर लिया है। शास्त्रानुकूल आचार-पालन करनेकी सामर्थ्य भी मनुष्यमें नहीं है। केवल भोग-ही-भोग है। अशास्त्रीय भोग रोगरूप होकर दारुण संताप दे रहा है। इस अधर्मके महाप्लावनसे कैसे मानवकी रक्षा होगी? आज धर्मकी उपेक्षा हो रही है, पद-पदपर धार्मिक लोग लाञ्छित हो रहे हैं, क्या होगा? क्या होगा?

भय नहीं है, भय नहीं है। श्रीभगवान् कह रहे हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका प्रादुर्भाव होता है, तब-तब मैं अपनेको सृजन करता हूँ। साधुजनकी रक्षा और दुष्कर्मी लोगोंके विनाश तथा धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें (तत्तत् कालमें) अवतीर्ण होता हूँ।'

हे स्वधर्म और शास्त्रीय आचारके पालक सज्जनवृन्द! आपलोग भयभीत न हों। भगवान् हैं—वे धर्म और धार्मिक लोगोंकी रक्षाके लिये इस मृत्युलोकमें अवतीर्ण होते हैं।

काय-मन-वचनसे उनका आश्रय लेनेपर मनुष्यके सारे दुःख निवृत्त होंगे ही। उनके श्रीमुखकी वाणी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६५-६६)

'हे पार्थ! तुम मद्गतचित्त हो जाओ, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी प्रीतिके लिये यज्ञादिका अनुष्ठान करो तथा मुझको नमस्कार करो; इससे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे—तुमसे मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। तुम सारे धर्माधर्मका त्याग करके एकमात्र मेरे शरणापन्न हो जाओ। (सब प्रकारके कर्मोंका त्याग करनेसे पीछे कहीं पाप न हो, इस भयसे) तुम शोक न करना, मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।'

वे ही श्रीशुकके रूपमें श्रीमद्भागवतमें कलिकालमें संसारसे उत्तीर्ण होनेका उपाय बतला रहे हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भागवत १२। ३। ५१—५२)

'दोषोंकी खानि कलियुगका एकमात्र महान् गुण यह है कि केवल हरिकीर्तनके द्वारा मानव सर्वसङ्ग-विनिर्मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होता है। सत्ययुगमें निर्विकल्प समाधियोगसे विष्णुका ध्यान करके, त्रेतामें नाना प्रकारके यज्ञोंके द्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके, द्वापरयुगमें काय-मन-वचनसे विष्णुकी परिचर्या करके जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें भगवान् श्रीहरिके नाम-संकीर्तनसे प्राप्त होता है और वह फल है श्रीभगवत्साक्षात्कार—ईश्वरदर्शन।'

विष्णुपुराणमें श्रीव्यासजी कहते हैं—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे यच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपुराण ६। २। १६-१७)

—ऋग्वेदके इस मन्त्रमें वैष्णव-साधनाका मूल स्रोत प्राप्त होता है। 'हे विष्णु! तुम्हारी अनन्त महिमाको हम कितना-सा जानते हैं और क्या कह सकते हैं! तुम्हारे नामकी महिमाको जानकर नाम-भजन ही हम करते हैं। इसीसे हमको सुमति प्राप्त होगी।'

संहिता, उपनिषद्, ब्राह्मण, सूत्र, पञ्चरात्र, पुराण, तन्त्र आदि सब शास्त्रोंमें विष्णु, वैष्णव और धर्मकी बातें भरी पड़ी हैं। मनु, अत्रि, विष्णु आदि स्मृतियाँ विष्णु, नारायण, अच्युतकी नाम-महिमा, वैष्णवके धर्माचार तथा सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनचर्याकी विस्तृत प्रयोगपद्धति विश्लेषणपूर्वक प्रदर्शित करती हैं।

शाण्डिल्यविद्या और सूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, महाभारतके नारायणीय और पाञ्चरात्रिक व्यूहविचार, गौतमीय तन्त्र तथा तापनी श्रुतिके समन्वयसे वैष्णवधर्मका जो विस्तार हुआ है और जिस वैचित्र्यका विकास हुआ है, वह एक विराट् साहित्य है।

इसको कोई पाञ्चरात्रिक कहते हैं तो कोई पौराणिक साहित्य, कोई तान्त्रिक कहते हैं तो कोई अवैदिक और कोई बौद्ध-प्रभाव बतलाते हैं। पता नहीं, क्या-क्या कहते हैं।

वैष्णव कहते हैं कि अनादि वैष्णवधर्म काल-कलन-धर्मा युगधर्मप्रवर्तक सार्वजनिक मानव-धर्म है। श्रीविष्णुके चरणाश्रित भक्तोंके लिये यह धर्म नित्य है। देवर्षि नारद, व्यास, वाल्मीकि, श्रीशुक आदिने साधनासे, चिन्तनसे, भावनासे, प्रेरणासे सुरसरिकी धाराके समान सर्वलोकपावन वैष्णवधर्मको मानवके हृदयाङ्गणमें अवतरित किया है। वेद-प्रतिपाद्य यह धर्म पाशुपत आदि धर्मोंके समान शून्यवादपर आश्रित मतवादसे पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र है। सौर, शाक्त, शैव और गाणपत्य निगमसे नियन्त्रित साधनाका जो क्रम समस्त भारतमें फैला हुआ है, उसमें सर्वत्र विष्णु, नारायण, यज्ञेश्वरको मुख्य स्थान प्राप्त है।

स्मार्त, वैदिक, वेदान्ती, तान्त्रिक या पौराणिक—सभी विष्णुभगवान्‌का नामस्मरण करके पवित्र होते हैं, विष्णु-भगवान्‌का नामस्मरण करके आचमन करते हैं, यज्ञेश्वरकी पूजा करके अन्य किसी पूजामें लगते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य या निष्काम कर्म विष्णुको समर्पित होनेपर ही पूर्ण फल प्रदान करते हैं; अन्यथा मन्त्रतः या तन्त्रतः कोई-न-कोई छिद्र—दोष रह जानेके कारण सम्यक् रूपसे अनुष्ठित नहीं माने जाते।

जलचर, थलचर, नभचर प्राणिसमूह तथा मानव—सबमें सर्वत्र एक विष्णु ही गुहाशय-रूपमें प्रविष्ट हैं। स्थावर-जङ्गम उन्हींके ही रूप हैं—विष्णुभक्त इस रूपका दर्शन करके उन्हें प्रणाम करते हैं।

> सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
>
> (श्रीमद्भागवत ११।२।४५)

> स्थावर जङ्गम देखे ना देखे तार मूर्ति।
> जाहाँ जाहाँ दृष्टि पड़े ताहाँ इष्ट स्फूर्ति॥

परम देवताके मर्त्यलोकमें अवतरणका संदेश वैष्णव-धर्मकी ही देन है। संसारके अन्य किसी धर्मदर्शनमें इस प्रकार सुस्पष्ट भाषामें स्वयं भगवान्‌के अवतारकी बात नहीं है। वैष्णवलोग भगवान्‌की अनन्त लीला, अनन्त धाम, अनन्त प्रकाश और अनन्त महिमाके सम्बन्धमें संदेहरहित विश्वास-का परिचय देकर प्राकृत लोकोंमें उसके दर्शनार्थ उदग्रदृष्टि होते हैं। वे सहस्रभुजावाले हैं, अष्टभुज हैं, चतुर्भुज हैं तथा द्विभुज भी हैं। अनेक रूपोंमें उनकी आराधना होती है। श्री, भू, लीला आदिसे परिसेवित श्रीनारायणरूपमें, श्रीराम-जानकी युगलसरकारके रूपमें, फिर गोपालकृष्ण, गोपीजनवल्लभ, राधा-श्यामसुन्दर स्वरूपमें आराधित हैं। यह साधनाका क्रम अनादि कालसे चला आ रहा है। इसको ऐतिहासिक विचारसरणिमें लाकर जो इसे किसी देश-कालमें या किसी मानव-समाजके द्वारा सृष्ट बतलाया जाता है, उसे वैष्णवगण नहीं मानते। श्रीभगवान्‌का रूप नित्य है, पार्षद नित्य हैं, धाम नित्य है और उनकी लीला नित्य है। समय-समयपर उसका प्राकट्य और अप्राकट्य, आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

प्राकृत विश्वरचनाके पूर्वाह्णमें ही परम पुरुषकी तपस्या, कामना, ईक्षणकी बात, श्रीभगवान्‌के आविर्भावके सम्बन्धमें कल्पान्तर-कथा तथा पुराणसंहितामें नित्य आविर्भावकी सूचना मिलती है। सृष्टिके प्राक्-कालमें मनु-शतरूपाकी तपस्यामें श्रीभगवान्‌का आविर्भाव, श्रीभगवान्‌के नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति, प्रलयपयोधिमें श्रीकृष्णका प्रवाहित होना आदिमें अनन्त देवकी अनन्त लीलाओंके संकेत मिलते हैं। वैष्णवगण लीलाकैवल्यवादके ऊपर सृष्टि आदि व्यापार तथा जीवोंके परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके सम्बन्धमें अपने विचारोंको प्रतिष्ठापित करते हैं। श्वेतद्वीपसे कालिन्दी-कूलके निकुञ्ज-योगपीठतक और क्षीरोदसागरसे कारण-समुद्रपर्यन्त सर्वत्र श्रीभगवान् अपने नित्य पार्षद भक्तोंके

द्वारा परिवेष्टित होकर साधक वैष्णवोंको अभीष्ट प्रदान करते हैं।

विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः।

—लिङ्गपुराणके इस वाक्यके अनुसार श्रीविष्णुके आराधक वैष्णव हैं। और भी विशेषरूपसे कहा गया है—

गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः॥

वैष्णव दीक्षा लेकर श्रीविग्रहकी सेवा करे। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुसे कुलीन ग्रामवासी पूछते हैं—'वैष्णव कौन है?' प्रभु पहले कहते हैं—

जाँर मुखे एक बार सुनि कृष्णनाम।
सेइ वैष्णव ताँर करिओ सम्मान॥

दूसरे वर्ष भी ग्रामवासियोंने वैसा ही प्रश्न फिर किया। इस बार गौराङ्गने कहा—

कृष्ण नाम निरन्तर जाँहार वदने।
सेइ वैष्णव श्रेष्ठ, भज ताँहार चरणे॥

तृतीय वर्ष पुनः यही प्रश्न करनेपर महाप्रभुने उनसे कहा—

जाँहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम।
ताँहारे जानिओ तुमि वैष्णव-प्रधान॥

इस प्रकारसे भागवतगणका तारतम्य शास्त्रमें वर्णित है। वैष्णव निरभिमानी होते हैं। वर्णाश्रमके कारण उच्च या नीचका कोई विरोध उनमें नहीं होता। वे लोग कुल-गौरव, विद्या या धनके गौरवको तुच्छ जानकर सब अवस्थाओंमें अपनेको सबका सेवक समझते हुए सबका सम्मान करते हैं। ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेकर भी आभिजात्यहीन वैष्णव जानते हैं कि भजनके प्रभावसे हीन कुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी सर्वपूज्य हो जाते हैं। अन्तर्निहित गुणोंके परमोत्कर्षका आविष्कार ही वैष्णव-जीवनकी सार्थकता है। वैष्णवका देह भगवान्‌का रथ है, हृदय उनका सिंहासन है, प्रत्येक अङ्गमें हरिमन्दिर है, पदचारण परिक्रमा है, वाणीमें नाममन्त्र है, दृष्टिमें प्रेम है, व्यवहारमें पूजा है, दर्शनमें पवित्रता है और सेवामें भगवत्सांनिध्य है। सत्यनिष्ठा, शौर्य, निर्भीकता, दैन्य, कारुण्य उनके अङ्गके भूषण हैं। प्राचीन वैष्णवोंका नाम-स्मरण करके मैं उनको प्रणाम करता हूँ—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

देवर्षि नारद भक्तिप्रवर्तक गुरु हैं और प्रह्लाद शिष्य हैं। श्लोकमें प्रह्लादका नाम सर्वप्रथम उल्लेख करना तात्पर्यपूर्ण है। भक्तिकी प्रबलतासे गुरु-शिष्यमें शिष्यका नाम ही अधिक आदरणीय माना गया है, दैत्यकुलमें जन्म लेनेपर भी इसमें बाधा नहीं आयी। भक्तिनिष्ठा, सदाचार, विश्वास, ज्ञान, परिचर्या, प्रेम, शुश्रूषा, चारित्रिक दृढ़ता, त्याग, संयम, निर्भरशीलता, सूक्ष्मदृष्टि, शरणागति आदि सद्वृत्तियाँ भक्तोंका आश्रय लेकर नित्य समुज्ज्वल हो रही हैं।

वैष्णव-साधना सार्वजनिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। सब लोग परम पुरुषोत्तमकी सेवाके अधिकारी हैं। अतएव वैष्णव भाव अनुशीलनके योग्य हैं। दूसरी साधनाओंमें योग्य और अयोग्यका विचार होता है। जो अयोग्य माना जाता है, उसका प्रवेश निषिद्ध होता है। वैष्णवका द्वार पतित, अधम, अयोग्य—सभीके लिये खुला है। जिस दिन भगवान्‌का नाम ग्रहण किया, उसी दिनसे वैष्णव-साधना आरम्भ हो गयी। जितना जो कुछ होता है, सब जमा होता जाता है, जरा-सा भी नष्ट नहीं होता। अति अल्प साधनासे बहुत लाभ होता है। जिस दिन तनिक भी भक्त-सङ्ग हुआ, जिस दिन साधुका चरणस्पर्श प्राप्त हुआ, नामकी ध्वनि कानमें पहुँची, उसी दिनसे भक्तिका आभास पाकर भगवान् संतुष्ट हो गये। बलदेव विद्याभूषणकी भाषामें—

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने
धर्माध्यक्षे विश्वनिस्तारनाम्नि।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे
तत्त्वे तस्मिन् नित्यमास्तां रतिर्नः॥

वैष्णव विश्वासमय जीवन यापन करते हैं। विश्वास भगवान् अपने भक्तको वञ्चित नहीं करते। अति अल्प-साधनसे ही उनकी प्रीति प्राप्त होती है। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'—यदि पत्र, पुष्प, फलके आहरणमें श्रम होता हो तो अनायास लब्ध जलसे भी उनकी पूजा हो जाती है। 'जलस्य चुलुकेन वा'—एक चुल्लू जलके प्रदान करनेपर भी श्रीभगवान् भक्तके सामने ऋणी होकर आत्मविक्रय करते हैं।

कृष्णके तुलसी जल देय जेइ जन।
तार ऋण शोधिवारे कृष्ण करेन चिन्तन॥

तुलसी जळेर मत घरे नाहि धन।
अतएव आम बेचि करे ऋणेर शोधन॥

वैष्णवशरीरमें विष्णुभगवान्‌की गुणावली संक्रमित होती है। वैष्णव क्षमाशील, हिंसारहित, सहिष्णु, सत्यप्रिय, निर्मल, समभाव, निरुपाधि, कृपालु, अक्षुब्ध, स्थिरबुद्धि, संयतेन्द्रिय, कोमलस्वभाव, पवित्र, अकिंचन, कामनारहित, मिताहारी, शान्त, शरणागत, अप्रमत्त, गम्भीराशय, निरभिमान, सम्मानकारी, बन्धुभावापन्न, करुणस्वभाव तथा सत्यद्रष्टा होते हैं। श्रीमद्भागवतकी भाषामें (११।११।२९–३१)—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामाक्षुभितधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

हिमालयके उत्तुङ्ग गिरिशिखरपर स्थित बदरिकाश्रमकी वैष्णवीधारासे अभिपुष्ट भावप्रवाह पुराण-संहिता, ब्रह्मसूत्रको वाहन बनाकर नीचे उतर रहा है पुण्य भारतके प्राङ्गणमें। मनुने (१।१०) कहा है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

नारायण-नामका तात्पर्य निखिल जीवका परम आश्रय है। उसी नारायणके चरणोंका आश्रय लेकर वैष्णव-भावधारा फैल गयी है—उत्तरभारतको प्लावित करके दक्षिणमें सुदूर सागर-तटतक मानवमात्रके कल्याणके लिये भक्ति-बीजका वपन करनेके लिये। उसीके फलस्वरूप अगणित आळ्वार संत, साधकचूडामणि तथा शाश्वत भावनाके प्रतीक परम आचार्योंका अभ्युदय हुआ है।

प्राचीन दार्शनिक मतवादोंकी अभिनव योजना करके वैष्णव-दर्शन समृद्ध हुआ है। परमाणुवादी वैशेषिकका 'विशेष', सांख्यदर्शनका 'तत्त्वसंख्यान', परम नैयायिकोंका युक्तियुक्त 'अनुमान', योगसाधकोंका 'योग', पूर्वमीमांसकोंका 'देवतास्वरूप' और वेदान्तियोंका 'सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजन'—ये सभी वैष्णव-जिज्ञासामें यथायोग्य मर्यादासे युक्त स्थान प्राप्त कर समन्वित हो गये हैं। विभिन्न प्रकारके मतवादोंमें परस्पर मतभेद होनेपर भी वैष्णव आचार्य एक अभिन्न परम पुरुषोत्तमके संधानमें प्रवृत्त हुए हैं।

श्रीरामानुज, निम्बार्क, मध्व, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, बलदेव विद्याभूषण आदि आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य करके दार्शनिक विचारको प्रतिष्ठित किया है। प्रधानतः उनके भाष्योंमें अनात्मा जड-जीव और जीवात्मा, परमात्मा परमेश्वर और उनके नित्य पार्षद भक्तोंको लेकर विचार किया गया है। इससे सृष्ट जगत्, स्रष्टा परमेश्वर और आराधक जीवका सम्बन्ध-निरूपण करनेमें विभिन्न प्रकारके मतवाद प्रकट हुए हैं। श्रीरामानुजका विशिष्टाद्वैत, श्रीनिम्बार्कका द्वैताद्वैत, श्रीमध्वका द्वैत, श्रीवल्लभका शुद्धाद्वैत और श्रीबलदेवका अचिन्त्यभेदाभेदवाद वैष्णवगणके लिये विचारणीय हैं। इनके विषयमें आलोचना करनेका यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो देखना है कि आचार्य रामानुज परम धर्मके सम्बन्धमें, शरणागतिके विषयमें क्या कहते हैं—

श्रीमन्नारायण अशरणशरण्य अनन्यशरणं त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।

सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'जिसका कोई नहीं, हे नारायण! एकमात्र तुम्हीं उसके हो। मेरा और कोई नहीं, और कुछ भी नहीं है। तुम्हारे पदयुगलमें मैंने शरण ले ली है।'

आचार्य निम्बार्क भी कहते हैं—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्॥

'ब्रह्मादि देवगणके द्वारा वन्दित श्रीकृष्ण-पदारविन्दके सिवा और कहीं भी गति नहीं देखनेमें आती।'

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—

श्रीमन्तं तमुपास्महे.... सुमनसामिष्टप्रदं विट्ठलम्।

'साधुजनके मङ्गलायतन श्रीमान् विठ्ठलदेवकी मैं उपासना करता हूँ।'

श्रीवल्लभाचार्यने 'श्रीकृष्णः शरणं मम, दासोऽहं श्रीकृष्ण तवास्मि' कहकर सम्यक् शरणागतिका उपदेश दिया है। बलदेव विद्याभूषण प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

समुद्धृत्य यो दुःखपङ्कात् स्वभक्तान्
नयत्यच्युतश्रीसुखे धाम्नि नित्यम्।
पिधाय गाढरागात् द्विकार्थं विमोक्तुं
न चेत्कल्पसावेव सुजैर्निषेव्यः॥

'जो अपने भक्तोंको दुःखपङ्कसे उद्धार करके

चिदानन्दमय निज नित्यधाममें बुला लेते हैं तथा प्रगाढ़ अनुरागवश उनको क्षणमात्रके लिये भी छोड़ना नहीं चाहते, पण्डित लोगोंको उन्हीं अच्युतकी आराधना करनी चाहिये ।'

श्रीरामानुजाचार्यके आराध्य शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज श्रीविष्णु भगवान् हैं, और सभीके आराध्य द्विभुज श्रीकृष्ण गोविन्द गोपाल हैं । श्रीरामानन्द द्विभुज श्रीरामके उपासक हैं । तुलसीदासजी भक्ति-भावसे कहते हैं—

> अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल ।
> तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल ॥

सर्वाङ्गमें हरिमन्दिर-रचना, चक्रादि चिह्न नामाङ्कन-धारण, तुलसीमाला, कण्ठी, नामजप-माला आदि धारण, महाप्रसाद-भोजन, आमिषत्याग, तुलसी-सेवन, धाममें वास, श्रीगुरु और विग्रहकी सेवा, नित्य भागवत-रामायण आदि शास्त्रोंका पाठ तथा श्रवण, स्तुति-पाठ, वैष्णवाचारका पालन, नाम-संकीर्तन सभी सम्प्रदायोंमें नित्य-कर्त्तव्य माने गये हैं । भक्तिके चौसठ अङ्ग हैं, परंतु कम-से-कम नौ अङ्ग, अथवा किसी भी एक अङ्गके साधनसे भी जीव कृतार्थ हो सकता है । श्रीरामानुजाचार्यने जिस प्रकार शरणागतिको प्रधानता प्रदान की है, व्रजवासीगणने उसी प्रकार सेवा-सुखकी प्रधानता स्वीकार की है । पुष्टिमार्गका अवलम्बन करनेवाले श्रीवल्लभाचार्यके अनुयायी प्रीतिपूर्वक श्रीविग्रह और गुरुकी सेवा करते हैं । श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे परिपुष्ट श्रीरूप-सनातन आदि वैष्णव-गुरुजनोंने बंगाल, श्रीक्षेत्र तथा श्रीवृन्दावनको एक अखण्ड प्रेम-सूत्रमें ग्रथितकर भारतके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्ततक श्रीहरिनाम-संकीर्तनको ही कलियुगमें एकमात्र साधन और साध्यके सिद्धान्तके रूपमें प्रचारित किया है ।

श्रीमद्भागवत (११ । ५ । ३२)का सिद्धान्त है—

> कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
> यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

> संकीर्तन प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य ।
> संकीर्तन यज्ञे तॉरे भजे सेइ धन्य ॥

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने स्वयं कीर्तन करके शिक्षा दी है—

> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

> कलिकाले नामरूपे कृष्ण अवतार ।
> नाम हैते सर्वजगत् हय त निस्तार ॥

स्वरूप दामोदरके प्रश्नके उत्तरमें गम्भीरामें अवस्थानके समय श्रीमहाप्रभुने कहा था—

> शुन स्वरूप रामराय नामसंकीर्तन कलौ परम उपाय ।
> संकीर्तन यज्ञे कलौ कृष्ण आराधन ।
> सेइ त सुमेधा पाय कृष्णेर चरण ॥

विष्णु-मन्दिर-निर्माण, देवताप्रतिष्ठा, प्राकार-विमान आदिकी संख्या, उच्चता, विस्तार आदिके सम्बन्धमें भारतीय स्थापत्यमें विराट् साहित्य विद्यमान है । शास्त्रानुमोदित देश-काल आदिका विचार करके देवताकी प्रतिष्ठा और अर्चनाके प्रवर्तनमें कितने नये-नये तीर्थोंकी सृष्टि वैष्णवोंने की है, इसकी गणना कौन कर सकता है ? मन्दिरमय भारतवर्षमें विष्णुमन्दिरोंकी संख्या सर्वापेक्षा अधिक है, यह कहनेमें अत्युक्ति नहीं है । आधुनिक मन्दिरोंमें प्राचीन गोपुरोंमें अवस्थित देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ प्रायः लुप्त हो रही हैं और उनके स्थानमें अधिकार कर लिया है मन्दिरकी दीवालोंपर साधु-संत महापुरुषोंके चित्रोंने । किसी-किसी मन्दिरकी दीवालमें गीता-भागवतके श्लोक भी उत्कीर्ण देखे जाते हैं । ये सब मन्दिर आगे साधकोंको शास्त्रानुशीलनके लिये प्रेरणा प्रदान करेंगे—यह आशा की जाती है । उत्तरमें बदरीनारायण, दक्षिणमें विठोबा, तिरुपति, विष्णुकाञ्ची, वरदराज, पश्चिममें सुदामापुरी, बेट द्वारका, समुद्रके तटपर पुरुषोत्तम नीलाचलनाथ, मध्यभारतमें अयोध्यामें श्रीराम, मथुरा-वृन्दावनमें श्रीकृष्ण तथा उन्हींके विशेष आविर्भाव नदियामें श्रीकृष्णचैतन्य हैं । इस वैष्णव-भावधाराके उच्छ्वासमें केवल धर्म और धार्मिक ही नहीं, बल्कि कितने गुणी, ज्ञानी, शिल्पकार और कवियोंकी मानसिक शक्तिका—मनोराज्यका विकास हुआ है, इसका इतिहास कौन लिखेगा ? भारतीय साहित्यको वैष्णव कवियोंने जिस प्रकार संजीवित, सरसित और समृद्ध बनाया है, उसके प्रभावने भारतकी प्रत्येक भाषाके ऊपर अपनी छाप लगा दी है । दिल्लीके समीप सूरदास; महाराष्ट्रमें ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम; गुजरातमें नरसी मेहता, राजस्थानमें मीराँबाई, असम प्रदेशमें शंकरदेव, बङ्गालमें जयदेव-चण्डीदास, गोविन्ददास; मिथिलामें विद्यापति, उड़ीसामें जगन्नाथदास—और भी कितने वैष्णव कवियोंके काव्य, पद, पदावली, दोहा, सोरठा, ओवी

और अभङ्गोंके द्वारा परमदेवताकी महिमाका वर्णन हुआ है, उसकी सीमा नहीं है।

वैष्णव-शास्त्र-मन्थन करके जो विभिन्न मतवादोंकी समालोचना तथा सिद्धान्तोंके प्रचारके द्वारा भक्तिमें रुचि उत्पादन करते हैं, वे मानव-समाजके परम बन्धु हैं। उनको प्रादेशिकताका विषवाष्प कभी स्पर्श नहीं करता, भाषाकी सीमामें उनकी भावधारा अवरुद्ध नहीं रहती, देशाचारका रूपान्तर उनके हृदयमें भावान्तरकी सृष्टि नहीं करता। भक्तिकी कथा—चाहे वह संस्कृत, हिंदी, मराठी, गुजराती, तमिळ, उड़िया, बंगाली, असमिया आदि किसी भी भाषामें हो—हरिकथा वैष्णवके लिये परम आदरणीय है। वैष्णव भाषाका विरोध नहीं करता। एकनाथ महाराज कहते हैं—

> आतां संस्कृता किंवा प्राकृता भाषा झाली जे हरिकथा।
> ते पावनचि तत्त्वता सत्य सर्वथा मानली॥

संस्कृत या जो कोई प्राकृत भाषा हो, हरिकथा उसका गौरव है। साधुगण इस प्रकार सभी भाषाओंको सम्मान प्रदान करते हैं। भाषाकी सम्पत्ति है—हरिकथा, वैष्णवोंकी सम्पत्ति है—हरिनाम-हरिभक्ति। वैष्णव-साहित्यमें भक्त-जीवनकी कल्पना, कहानी और प्रीतिके आनन्दने मर्त्य-जगत्में अमृतधामको प्रतिष्ठित किया है। ब्रजलीला संकीर्तन-मण्डलमें आस्वादनीय हो गयी है। वैष्णवगण सम्मिलित स्वरमें हरिनाम-संकीर्तन करके नित्यधामके माधुर्यके रसमें मग्न हो जाते हैं। वैष्णवधर्म इस प्रकार प्राकृत लोकमें भी चिन्मयराज्यका विस्तार करता है अनुरागीके अनुरागसे। अतएव प्रबोधानन्द सरस्वतीकी भाषामें प्रार्थना है—

> दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
> कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि।
> हे साधवः सकलमेव विहाय दूराद्
> गौराङ्गचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम्॥
> (श्रीचैतन्यचन्द्रामृत)

'दाँतोंमें तृण दबाकर चरणोंमें गिरकर शतबार विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ—हे साधुगण! और सब कुछ दूरसे ही त्यागकर श्रीगौराङ्गचन्द्रके चरणोंमें अनुरागी हो।'

धार्मिक एकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामदासजी महाराज)

संसारमें अनेक धर्म, नाना मत और अगणित सम्प्रदाय हैं। प्रत्यक्षतः उन सबका उद्देश्य एक ही है—मानव-हृदयमें परस्पर एक आध्यात्मिक सम्बन्धके बोधको—मानवमात्रके प्रति भ्रातृभावना एवं भगवान्‌के प्रति पितृभावना अथवा मातृ-भावनाको जगा देना। परंतु वास्तविक स्थिति क्या है? एकता, प्रेम और भ्रातृत्वका पोषक बननेके स्थानपर वे मनोमालिन्य भड़काने तथा मानव-मानवके बीच पारस्परिक सम्बन्धोंको तोड़नेमें व्यस्त हैं और आश्चर्यकी बात है कि यह सब होता है भगवान्‌के नामपर।

बड़े-बड़े आचार्य, जिन्होंने भगवान्‌के प्रकाशको मनुष्योंके हृदयतक पहुँचाया, किसी एक धर्म, समाज, मठ या मन्दिरके होकर नहीं रहते थे। सारा संसार ही उनके लिये मन्दिर था और उनके भगवान् सभी प्राणियों तथा जीवोंके हृदयमें विराजमान रहते थे। इसीलिये उनका स्नेह मनुष्य-कृत मतों और वर्गोंपर विशेष ध्यान दिये बिना सबके ऊपर समानरूपसे बरसता था। वायुकी भाँति उन्मुक्त था उनका प्रेम, सूर्यके प्रकाशके समान विश्वव्यापिनी थी उनकी दृष्टि और मानव-जातिके प्रत्येक व्यक्तिके लिये समान थी उनकी सेवा।

पार्थिव प्रभुता और गौरव प्राप्त करनेके लिये संसारमें संघर्ष, संगर और संग्राम मच रहा है। इन उद्देश्योंके पीछे दौड़नेवाले जन वास्तवमें अपनी अधःप्रकृति अथवा अपने अधम अन्तःकरणकी प्रेरणाओंके शिकार बन रहे हैं। किंतु उनके विषयमें क्या कहा जाय, जो उपद्रव, हिंसा तथा दुःखकी सृष्टि किया करते हैं और वह भी उन भगवान्‌के नामपर जो पूर्ण प्रेम, करुणा और शान्तिके स्वरूप हैं?

पुनः कुल, वैभव, मर्यादा और जातिके अभिमानियोंमें जिस प्रकारकी बड़प्पनकी भावना व्याप्त रहती है, वैसी ही बात संसारके महान् आचार्योंके अनुयायियोंमें भी देखी जाती है। वे कहते हैं, 'केवल मेरे गुरु ही पूर्णावस्थाको प्राप्त हैं और आपकी मुक्ति केवल उनके ही अनुसरणसे प्राप्त हो सकती है। मेरा ही धर्म सच्चा धर्म है और अन्य धर्म मिथ्या हैं,

केवल मैं ही सच्चा मानव हूँ, शेष सब अनीश्वरवादी और धर्म-विरोधी हैं !' जबतक धर्मधुरंधर कहे जानेवालोंमें इस प्रकारकी भावना अपना अड्डा जमाये हुए है, संसारमें एकता, एकस्वरता और शान्ति लानेकी अपेक्षा वे केवल वैमनस्य और विद्रोहका ही विस्तार करते हैं।

भगवान्‌की धारणा ही सार्वभौम समन्वय और शान्तिके सिद्धान्तपर आधारित है। भगवान् और मानवताका सच्चा सेवक है वह, जिसने इस सत्यको हृदयंगम कर लिया है, जो भगवत्प्रेमकी एकसूत्रमें बाँधनेवाली शक्तिको जानकर अपने साथी सभी मानव-समाजको भगवान्‌के एक परिवारका सदस्य मानता है। वह सबमें भगवान्‌के दर्शन करता है। इसी स्थितिमें उसके हृदयमें पावन प्रेमकी बाढ़ आ जाती है। इसी स्थितिमें दिव्य ज्योतिसे उसकी आँखें चमकने लगती हैं और अन्तर्यामी भगवान्‌के चरणोंपर उसका जीवन न्योछावर हो जाता है। सम्प्रति इसी प्रकारके आध्यात्मिक जागरणकी आवश्यकता है। मनुष्यको अपने हृदयको शुद्ध करके उसे दिव्य प्रेमसे ओत-प्रोत कर लेना चाहिये और उसकी जीवनसरिताकी आनन्दमयी धारा दुःखाक्रान्त मानवताकी सेवामें अनायास प्रवाहित होती रहनी चाहिये।

नामकरण, नामोल्लेख, संस्था और समाजकी महत्ता गौणस्थानीय है। दैवी सत्ता जिसे चाहे भगवान्, सत्य या वास्तविकता कहें, उसके द्वारा हमारी आत्मा इस प्रकार अभिभूत हो जानी चाहिये कि हम उसकी सत्तामें विलीन हो जायँ और उसीके नाना स्वरूप बन जायँ। भगवान् श्रीकृष्ण, बुद्ध एवं अन्यान्य महापुरुषोंको महान् आदर्श मानकर केवल दूरसे उनकी पूजा कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। हमको अपने जीवनको इस प्रकार रूपान्तरित करना होगा कि हम भी उनके समीप पहुँच जायँ, उनकी ऊँचाईतक उठ जायँ और अपने यथार्थ, दिव्य एवं अमर स्वरूपको पहचान लें।

भीतरसे तो प्रत्येक आत्मा भगवान्‌के प्रकाश और आनन्दमें स्नान कर रहा है। इस महिमाको यदि हम जान लें तो हम संसारमें शान्ति और सद्भावनाको बुला सकते हैं, अन्यथा नहीं। मानव-हृदयको स्पर्श करनेवाला, ऊँचा उठानेवाला और रूपान्तरित कर देनेवाला ज्वलन्त उदाहरण बने बिना कोरे उपदेशोंसे कुछ उपकार होनेका नहीं।

युद्धोंके कारण संसार एक भयानक यन्त्रणाके कालको पार कर रहा है। इस समय हम सबके लिये शोभाकी वस्तु यही है कि हम अपने क्षुद्र विरोधोंको जलमग्न करके एक साथ विश्वनियन्ता भगवान्‌की ओर अपना हृदय उठाकर संसारमें शान्ति और सद्भावनाके लिये उनसे प्रार्थना करें। भगवान् और उनकी लीलाको सम्पूर्णरूपसे जान लेना हमारे अधिकारके बाहरकी वस्तु है। उनके विषयमें जो सीमित और अपूर्ण धारणाएँ हम बनाते हैं, उन्हें लेकर हमें लड़ना नहीं चाहिये। हम इतना जानते हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान्, सर्वसुहृद् और सर्वकरुणाकर हैं। हमें चाहिये कि हम अपने हृदयका द्वार मुक्त कर दें, जिससे उनकी शक्ति और कृपा हमारे भीतर जाग उठे। हमें चाहिये कि हम अपनी इच्छाको उनके चरणोंमें विलीन कर दें, जिससे वे हमको अपना यन्त्र बना सकें। हमारी क्षुद्र सत्ता उनके जाज्वल्यमान स्वरूपमें समा जाय। उनके नामपर हम संसारके सब लोगोंको प्यार करें। दुःख और शोकमें पड़े हुए सब लोगोंके प्रति दया और सहानुभूतिसे हमारा हृदय द्रवित हो उठे। हम उनके ऊपर भगवान्‌के वरदानका आह्वान करें। उनके दिव्य गुणोंको उत्तराधिकारमें प्राप्तकर हम भगवान्‌की सच्ची संतान बनें।

परमात्माका संदेश

संसार प्रसव-पीड़ासे तड़प रहा है—
एक नया जन्म देनेके लिये, एक नयी सृष्टि रचनेके लिये।
जीर्ण परम्पराएँ, रीते आचार, शीर्ण मान्यताएँ—
सब भूसेकी ढेरियाँ हैं।
जल रही हैं ज्वालामें महान् विप्लवके।
कालपुरुष चल पड़ा है विनाश करनेके लिये।
और करनेके लिये फिरसे निर्माण
अद्भुत सुविशाल प्रासाद
साथ-साथ शान्तिका—
अरे, एक ऐसी मानव-जातिका, जो गुँथी होगी एकताके सूत्रोंमें, मानकर—सबका आधार है सच्चा सनातन, एक मूलस्रोत सकल प्राणिमात्रका।
संदेश परमात्माका—सारी मानवता मुझमें समायी हुई, मुझमें सतजीवन है।
जीवनको बाँटो मत, काटो मत—मैंने है जन्म लिया फिरसे एक नयी चेतनामें।
इस बदले हुए इसको स्वीकार करो''' सच्चे बनो और सार्वभौम!

हमारा धर्म

(श्रीअरविन्द)

हमारा धर्म सनातन-धर्म है। यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्म-रत है। हमारा धर्म त्रिविध है। भगवान्‌ने अन्तरात्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत्में—इन्हीं तीन धामोंमें प्रकृतिसृष्ट महाशक्तिचालित विश्वके रूपमें अपने-आपको प्रकट किया है। इन्हीं तीन धामोंमें उनके साथ युक्त होनेकी चेष्टा करना सनातन-धर्मका त्रिविधत्व है। हमारा धर्म त्रिमार्गगामी है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन तीन स्वतन्त्र या सम्मिलित उपायोंसे उस युक्तावस्थाको मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इन तीन उपायोंसे आत्मशुद्धि करके भगवान्‌के साथ युक्त होनेकी इच्छा करना ही सनातन-धर्मकी त्रिमार्गगामी गति है। हमारा धर्म त्रिकर्मरत है। मनुष्यकी सभी प्रधान वृत्तियोंमें जो तीन वृत्तियाँ ऊर्ध्वगामिनी, ब्रह्म-प्राप्ति-फलदायिनी हैं, वे हैं—सत्य, प्रेम और शक्ति। इन्हीं तीन वृत्तियोंके विकासके द्वारा मानव-जातिकी क्रमोन्नति साधित होती आ रही है। सत्य, प्रेम और शक्तिके द्वारा त्रिमार्गमें अग्रसर होना ही सनातन-धर्मका त्रिकर्म है।

सनातन-धर्मके अंदर बहुत-से गौण-धर्म निहित हैं, सनातनका अवलम्बन करके महान् और क्षुद्र नाना प्रकारके परिवर्तनशील धर्म अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। सभी प्रकारके धर्म-कर्म स्वभावसृष्ट होते हैं। सनातन-धर्म जगत्‌के सनातन स्वभावपर आश्रित है और ये नाना प्रकारके धर्म नानाविध आधारगत स्वभावके फल हैं। व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादि नाना प्रकारके धर्म हैं। ये सब अनित्य होनेके कारण ही उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं हैं, बल्कि इन्हीं अनित्य परिवर्तनशील धर्मोंके द्वारा सनातन-धर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्ति-धर्म, जाति-धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युग-धर्म इत्यादिका परित्याग करनेसे सनातन धर्मकी पुष्टि नहीं होती, बल्कि अधर्मकी ही वृद्धि होती है तथा गीतामें जिसे संकर कहा गया है—सनातन प्रणालीका भङ्ग और क्रमोन्नतिकी विपरीत गति—वह वसुन्धराको पाप और अत्याचारसे दग्ध करता है। जब उस पाप और अत्याचारकी अतिरिक्त मात्रासे मनुष्यकी उन्नतिकी विरोधिनी धर्मनाशिनी आसुरिक शक्तियाँ वर्द्धित और बल-शाली होकर स्वार्थ, क्रूरता और अहंकारसे दसों दिशाओंको आच्छन्न कर देती हैं, जगत्में अनीश्वर ईश्वरका रूप ग्रहण करना आरम्भ करता है, तब भारतसे पृथिवीका दुःख कम करनेके लिये भगवान्‌के अवतार या विभूति मानव-शरीरमें प्रकट होकर पुनः धर्मपथको निष्कण्टक बनाते हैं।

सनातन-धर्मका ठीक-ठीक पालन करनेके लिये व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रित धर्म और युग-धर्मका आचरण सर्वदा रक्षणीय है। परंतु इन नानाविध धर्मोंमें क्षुद्र और महान्—दोनों प्रकारके रूप हैं। महान् धर्मके साथ क्षुद्र धर्मको मिलाकर और संशोधितकर उसका पालन करना श्रेयस्कर है। व्यक्तिगत धर्मको जाति-धर्मके क्रोडमें रखकर उसका आचरण नहीं करनेसे जाति नष्ट हो जाती है एवं जातिधर्मके लुप्त हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मका क्षेत्र और सुयोग नष्ट हो जाता है। यह भी धर्मसंकर है—जिस धर्म-संकरके प्रभावसे जाति और संकरकारीगण दोनों अतल नरकमें निमग्न होते हैं। सबसे पहले जातिकी रक्षा करनी चाहिये; तभी व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति निरापद बनायी जा सकती है। वर्णाश्रित धर्मको भी युग-धर्मके साँचेमें ढालकर यदि उसे गठित न किया जाय तो महान् युग-धर्मकी प्रतिकूल गतिसे वर्णाश्रित धर्म चूर्ण-विचूर्ण और नष्ट हो जाता है और उसके फलस्वरूप समाज भी चूर-चूर और नष्ट हो जाता है। क्षुद्र सदा ही महान्‌का अंश और सहायक होता है; इस सम्बन्धकी विपरीत अवस्थामें धर्म-संकरसम्भूत घोर अनिष्ट होता है, क्षुद्र धर्म और महान् धर्मके बीच विरोध होनेपर क्षुद्र धर्मका परित्याग करके महान् धर्मका आचरण करना ही मङ्गलप्रद होता है।

हमारा उद्देश्य है—सनातन-धर्मका प्रचार करना और सनातन-धर्माश्रित जाति-धर्म और युग-धर्मका अनुष्ठान करना। हम भारतवासी आर्यजातिके वंशधर हैं, आर्य-शिक्षा और आर्य-नीतिके अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुल-धर्म और जाति-धर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्य-शिक्षाके मूल तत्त्व हैं तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति और विनय आर्य-चरित्रके लक्षण हैं। मानवजातिको ज्ञान प्रदान करना, जगत्में उन्नत उदार चरित्रका निष्कलङ्क आदर्श रखना, दुर्बलकी रक्षा करना, प्रबल अत्याचारीको दण्ड देना आर्य-जातिके जीवनका उद्देश्य है। उसी उद्देश्यको सिद्ध करनेमें

उसके धर्मकी चरितार्थता है। हम धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्मसंकर होकर और भ्रान्तिसंकुल तामसिक मोहमें पड़कर आर्य-शिक्षा और आर्य-नीतिसे रहित हो गये हैं। हम आर्य होकर शूद्रत्व और शूद्रधर्मरूप दासत्वको अङ्गीकारकर जगत्में हेय, प्रबल-पद-दलित और दुःख-परम्परा-प्रपीड़ित हो रहे हैं। अतएव यदि हमें जीवित रहना हो, यदि अनन्त नरकसे मुक्त होनेकी लेशमात्र भी अभिलाषा हो तो अपनी जातिकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है और जाति-रक्षाका उपाय है आर्य-चरित्रको पुनः अपने अंदर गठित करना। हमारा पहला उद्देश्य है अपनी समस्त जातिको, विशेषकर युवक-सम्प्रदाय-को ऐसी उपयुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्यभावोद्दीपक कार्य-प्रणाली देना, जिससे जननी जन्मभूमिकी भावी संतान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानव-प्रेमपूर्ण भ्रातृभावकी भावुक, साहसी, शक्तिमान् और विनीत हो। जबतक हम इस कार्यमें सफल नहीं होते, तबतक सनातन-धर्मका प्रचार करना केवल ऊसर क्षेत्रमें बीज बोनेके समान है।

जाति-धर्मका पालन करनेसे युग-धर्मकी सेवा करना सहज हो जाता है। यह युग शक्ति और प्रेमका युग है। जब कलिका आरम्भ होता है, तब ज्ञान और कर्म भक्तिके अधीन और सहायक होकर अपनी-अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करते हैं, सत्य और शक्ति प्रेमका आश्रय लेकर मानव-जातिके अंदर प्रेमका विकास करनेकी चेष्टा करते हैं। बौद्ध-धर्मकी मैत्री और दया, ईसाई-धर्मकी प्रेमशिक्षा, मुसलमान-धर्मका साम्य और भ्रातृभाव, पौराणिक-धर्मकी भक्ति और प्रेमभाव इसी चेष्टाके फल हैं। कलियुगमें सनातन-धर्म मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातृभावकी सहायता लेकर मनुष्य-जातिका कल्याण साधित करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मके द्वारा गठित आर्य-धर्ममें ये ही शक्तियाँ प्रविष्ट और विकसित होकर प्रसारित होने और अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेका मार्ग खोज रही हैं। शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं—कठिन तपस्या, उच्चाकाङ्क्षा और महत्कर्म। जब यह जाति तपस्विनी, उच्चाकाङ्क्षिणी, महत्कर्मप्रयासिनी होगी, तब यह समझना होगा कि जगत्की उन्नतिके दिन आरम्भ हो गये हैं, धर्म-विरोधिनी आसुरिक शक्तियोंका ह्रास और दैवी शक्तियोंका पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। अतएव इस प्रकारकी शिक्षा भी वर्तमान समयके लिये आवश्यक है।

युग-धर्म और जाति-धर्मके साधित होनेपर सारे जगत्में सनातन-धर्म अबाधरूपसे प्रचारित और अनुष्ठित होगा। पूर्वकालसे विधाताने जो निर्दिष्ट किया है, जिसके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें भविष्यवाणी की गयी है, वह भी कार्यमें अनुभूत होगा। समस्त जगत् आर्यदेशसम्भूत महाज्ञानियोंके पास ज्ञान-धर्मका शिक्षार्थी बनकर, भारत-भूमिको तीर्थ मानकर अवनत-मस्तक होकर इसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। उसी दिनको ले आनेके लिये भारतवासियोंका जागरण हो रहा है, आर्यभावका पुनरुत्थान हो रहा है। ('धर्म' पत्रिकासे)

(प्रेषक—श्रीचन्द्रदीपनारायणजी त्रिपाठी, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी)

स्वधर्म

(लेखक—श्रद्धेय संत श्रीविनोबा भावे)

स्वधर्मका स्वरूप और उसका पालन

स्वधर्म कितना ही विगुण हो, तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिये; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। इसमें अभिमानका कोई प्रश्न नहीं है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें और छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है न छोटा। वह हमारे ब्योंतका होता है।

× × ×

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण नहीं है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढ़ता रहता हूँ। सूर्य मुझे वन्दनीय भी है। परंतु इसलिये यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोड़कर उनके पास जाना चाहूँगा, तो जलकर खाक हो जाऊँगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिल्कुल तुच्छ हो, वह स्व-प्रकाशी न हो; तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करनेकी सामर्थ्य मुझमें न आ जायगी, तबतक सूर्यसे दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोंसे यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमें रहने चलो' तो क्या मछलियाँ उसे मंजूर करेंगी? मछलियाँ तो पानीमें ही जी सकती हैं, दूधमें मर जायँगी।

× × ×

यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है। स्वधर्मको कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता।

जिन माँ-बापकी कोखसे मैं जनमा हूँ, उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है और जिस समाजमें मैंने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका भी धर्म मुझे क्रमसे अपने-आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जनमता है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिये तैयार रहता है; क्योंकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिये होता है।

× × ×

स्वधर्म हमें इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिये। परंतु अनेक प्रकारके मोहोंके कारण ऐसा नहीं होता, अथवा बड़ी कठिनाईसे होता है; और हुआ भी तो उसमें विष—अनेक प्रकारके दोष मिल जाते हैं। स्वधर्मके मार्गमें काँटे बिखेरनेवाले इन मोहोंके बाहरी रूपोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है। फिर भी जब हम उनकी छानबीन करते हैं, तो उन सबकी तहमें एक ही बात दिखायी देती है—संकुचित और छिछली देह-बुद्धि।

× × ×

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना—ये कर्म ही हैं; परंतु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएँ सूचित नहीं होतीं। कर्मसे वहाँ मतलब स्वधर्माचरणसे है। परंतु इस स्वधर्माचरण-रूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिये और भी एक वस्तुकी सहायता जरूरी है। वह है काम और क्रोधको जीतना। चित्त जबतक गङ्गाजलकी तरह निर्मल और प्रशान्त न हो जाय, तबतक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त-संशोधनके लिये जो-जो कर्म किये जायँ, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है। 'कर्म', 'विकर्म' और 'अकर्म'—ये तीन शब्द चौथे अध्यायमें बड़े महत्त्वके हैं। 'कर्म'का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी—स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है। ऊपरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं; परंतु सिर झुकानेकी उस ऊपरी क्रियाके साथ ही भीतरसे मन भी न झुकता हो, तो वाह्य क्रिया व्यर्थ है। अन्तर्बाह्य—भीतर और बाहर—दोनों एक होना चाहिये। बाहरसे मैं शिव-पिण्डपर सतत जल-धारा गिराते हुए अभिषेक करता हूँ। परंतु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिन्तनकी धारा भी अखण्ड न चलती रहती हो, तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही ? फिर तो वह शिव-पिण्ड भी पत्थर और मैं भी पत्थर ही। पत्थरके सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे वाह्य कर्मके साथ अंदरसे चित्त-शुद्धिरूपी कर्मका भी संयोग होता है।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म' पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द-प्रयोगमें 'असहयोग'की बनिस्बत 'अहिंसात्मक' विशेषणको ही अधिक महत्त्व है। अहिंसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलम्बन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है, तो उसे धोखा समझना चाहिये।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्मका ही आचरण करते हैं। जो लोग गरीब, कंगाल, दुखी और मुसीबतमें होते हैं, तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परंतु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिये कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गये हैं। लोक-सेवा करते हुए यदि मनमें शुद्ध भावना न हो, तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी सम्भावना है। अपने कुटुम्बकी सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतना सब लोक-सेवामें भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आज-कलकी लोक-सेवा-मण्डलियोंके जमघटमें भी हो जाता है।

× × ×

यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय—ऐसा कोई प्रश्न करे, तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्यके जन्मके साथ ही स्वधर्म भी जनमता है। बच्चेको जैसे अपनी माँकी तलाश नहीं करनी पड़ती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको तलाशना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी, हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन माँ-बापके यहाँ मैंने जन्म लिया है, उनकी सेवा, जिन पास-पड़ोसियोंके बीच जनमा हूँ, उनकी सेवा

ये कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर ऐसी वृत्तियाँ तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अतः भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना, यह धर्म मुझे स्वतः प्राप्त हो गया है। इस प्रकार यह सेवारूप, भूतदयारूप स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहाँ कहीं स्वधर्मकी खोज हो रही हो, वहाँ निश्चित समझ लेना चाहिये कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

× × ×

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है, उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता और धर्म दोनों हैं। इस स्वधर्मको छोड़नेसे काम नहीं चल सकता। जो माँ-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे माँ-बाप रहेंगे। यदि मैं यह कहूँ कि वे मुझे पसंद नहीं हैं, तो कैसे चलेगा। माँ-बापका पेशा स्वभावतः ही लड़केको विरासतमें मिलता है। जो पेशा पूर्वापरसे चला आया है, वह यदि नीति विरुद्ध न हो, तो उसको करना, उसी उद्योगको आगे चलाना चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्त-व्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है। परंतु यदि वह ठीक ढंगपर लायी जा सके, तो बहुत अच्छा होगा; नहीं तो आज शुरूके पचीस-तीस साल तो नये धंधे सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिये सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरूके पचीस सालतक तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो जीना और सीखना, ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गयी हों। जहाँ जीनेका सम्बन्ध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे? हिंदुस्तानकी औसत उम्र तेईस साल है और पचीस सालतक तो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नया काम-धंधा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं, तब नया काम-धंधा शुरू होता है। इससे उमंग और महत्त्वके वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जन-सेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चली जाती है। जीवन कोई खेल नहीं है। पर दुःखकी बात कि जीवनका पहला अमूल्य अंश तो काम-धंधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिये वर्ण-धर्मकी युक्ति निकाली है।

साधकके लिये स्वधर्मका हल

सारांश यह कि तामस और राजस कर्म तो बिल्कुल छोड़ देने चाहिये और सात्त्विक कर्म करने चाहिये। इसके साथ ही यह विवेक रखना चाहिये कि जो सात्त्विक कर्म सहज और स्वाभाविक रूपसे सामने आ जायें, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नहीं हैं। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुड़ाना चाहोगे, तो दूसरे दोष पल्ले आ पड़ेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसी ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुन्दर बनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भयानक और भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेके कारण नहीं छोड़ने चाहिये। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है।

और एक बात कहनी है। जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हों, उनके बारेमें तुम्हें ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो। उतने ही कर्म करो, जितने सहजरूपसे प्राप्त हों। उखाड़-पछाड़ और दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मोंके चक्करमें मत पड़ो। जिन कर्मोंको खास तौरपर जोड़-तोड़ लगाकर करना पड़ता हो, वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, उनसे दूर रहो। उनका मोह न करो। जो कर्म सहज प्राप्त हैं, उन्हींके फलका त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभमें कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे, तो फिर फल-त्याग कैसे होगा? उससे तो सारा जीवन ही एक फजीहत हो जायगी। फलकी आशासे ही वह इन पर-धर्मरूपी कर्मोंको करना चाहेगा और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमें कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्त-पर उस कर्मकी आसक्ति चिपट जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे, तो उसे भी दूर करना चाहिये। इन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहोगे, तो उसमें भी राजसता और तामसता आ जायगी। इसलिये तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक और सहज-प्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनते हैं। मेरी वृत्तिके अनुकूल और अनुरूप क्या है और कौन-सा कर्तव्य मुझे आकर प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित

करते समय देखना होता है। तुममें 'तुमपन'-जैसी कोई चीज है और इसलिये तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमें ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिये। बकरी अगर गाय बनना चाहे, तो यह उसके लिये सम्भव नहीं। वह स्वयं प्राप्त बकरीपनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिये उसे शरीर छोड़ना पड़ेगा। नया धर्म और नया जन्म ग्रहण करना होगा; परंतु इस जन्ममें तो उसके लिये बकरीपन ही पवित्र है। बैल और मेंढकीकी कहानी है न? मेंढकीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल-जितनी होनेका प्रयत्न करेगी, तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना उचित नहीं होता। इसीलिये पर-धर्मको भयावह कहा है।

('गीता-प्रवचन'से संकलित)

मानव-धर्मका संक्षिप्त स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदय)

कोई भी मनुष्य बाजारमें जाता है और कुछ लेने लगता है तो इसका विचार करता है कि वह पदार्थ अपने सच्चे गुण-धर्मोंसे युक्त है या नहीं; और जो पदार्थ सच्चे गुणधर्मोंसे युक्त है, वह उसीको लेता है। एक साधारण मनुष्य इतनी दक्षता बरतता है। परंतु मनुष्यको पास करनेमें वह इतनी कसौटी नहीं लगाता। मनुष्यके पास इतने पदार्थ जन्मसे प्राप्त हुए हैं—

१—शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये ३ शरीर)
२—इन्द्रिय (पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय)
३—मन (विचार और मनन करनेका साधन)
४—बुद्धि (ज्ञान-संग्रह-स्थान)
५—आत्मा (संचालक नेता)
६—परमात्मा (विश्वका संचालनकर्ता)

प्रत्येक मनुष्यके पास इतने साधन और संचालनके तत्त्व हैं; प्रत्येक मनुष्य इनका योग्य उपयोग करेगा तो निस्संदेह उसका महत्त्व बढ़ेगा। परंतु मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको हीन कर्मोंमें प्रयुक्त करता है और फँसता रहता है। यही साधारण मनुष्यका दोष है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मन और बुद्धिको आत्मज्ञान प्राप्त करने और परमात्माका गुण-चिन्तन करनेके पवित्र कार्यमें लगाये और अपने-आपको कृतकार्य बनाये।

ऊपर कहे हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा—ये प्रत्येकके पास होते हैं और एकके अंदर दूसरे होते हैं। शरीरके अंदर इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंके अंदर उनका संचालन करनेवाला मन होता है। मनके अंदर बुद्धि—ज्ञानशक्ति होती है। बुद्धिके अंदर आत्मा (जीवात्मा) होता है और जीवात्माके अंदर परमात्मा सर्वाधाररूपसे रहता है।

प्रत्येक मनुष्यके अंदर ये होते ही हैं। इनका ऐसा अस्तित्व किसी मनुष्यके अंदर नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। मनुष्यको अपने अंदर इनको देखना चाहिये और अन्तर्यामीको यथार्थतः जाननेका यत्न करना चाहिये। विश्वमें मुख्यतः जानने योग्य यही वस्तु है।

इसीको 'आत्मा' अथवा 'जीवात्मा' कहते हैं। 'आत्मा'का अर्थ (अत=सातत्यगमने) सतत संचलन करनेवाला है। इसका अनुभव सबको प्राप्त हो सकता है। इस शरीरमें रहकर यह सतत हलचल करता है। इस हलचलपर ही इसकी उन्नति अवलम्बित रहती है।

यदि इसने अच्छे कार्य किये तो इसकी उन्नति होगी और बुरे कार्य किये तो अवनति होगी। अतः इस आत्माको सदा अच्छे कार्यमें ही दत्तचित्त रहना चाहिये। बुरे कर्मोंमें लगाना कदापि उचित नहीं।

मनुष्यमें कर्मशक्ति है; अच्छे या बुरे कर्म यह सदा करता रहता है। अतः वह नियम करे कि मैं सदा अच्छे-से-अच्छे ही कार्य करूँगा, कभी बुरे कार्यमें मैं नहीं फँसूँगा।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(श्रीमद्भगवद्गीता)

जनकादि श्रेष्ठ पुरुषोंको श्रेष्ठ कर्म करनेसे ही सिद्धि प्राप्त हुई थी।

श्रेष्ठ कर्म करना, श्रेष्ठ विचार करना, श्रेष्ठ तत्त्व (परमात्म-तत्त्व) का मनन करना, उसीका ध्यान करना, उसीमें तल्लीनता प्राप्त करना। यही मनुष्य-उन्नतिका उत्कृष्ट साधन है। यही धर्म है।

जो यह करेगा, वही सच्चा आनन्द प्राप्त करेगा।

धर्मके लक्षण

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी विदेह महोदय)

वेदोपदेश

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ (अ० १२ । ५ । ७)

(ओजः च तेजः च सहः च बलं च वाक् च इन्द्रियं च श्रीः च धर्मः च ॥)

धर्मकी परिभाषा

ज्ञानियोंने धर्मकी विविधरूपेण परिभाषाएँ की हैं। उन सबका अनुशीलन और मनन करनेके उपरान्त मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि साररूपमें धर्मकी परिभाषाके तीन प्रमुख अङ्ग हैं—

(१) परमात्माको सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर पापसे बचना।

(२) कर्मनिष्ठा अथवा कर्तव्यपरायणता।

(३) लोकहित अथवा विश्वसेवा।

ये तीनों परिभाषाएँ वेदकी एक-एक सूक्तिमें संनिविष्ट हैं—'वायुमारोह धर्मणा' धर्मके द्वारा वायुपर आरोहण कर—(वायुं) वायुपर (आरोह) आरोहण कर (धर्मणा) धर्मके द्वारा।

वायुका धात्वर्थ है सुगति और सुगन्धकी कामना। सुगतिमें ही वास्तविक सुगन्धका निवास है। कुगति ही दुर्गन्ध है। सुगति (सु-गत) ही सुगन्ध है। गतिसे तात्पर्य कर्म, कृति, चेष्टा है। जिसकी प्रत्येक कृति और चेष्टा 'सु' है, उसकी यशः-सुगन्ध संसारमें व्यापती चली जाती है। परमात्माको सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर पापमुक्त अथवा निष्पाप और निर्दोष रहना, निष्ठापूर्वक कर्तव्यका पालन करना, लोकहितमें निरत रहना—इन तीनोंका समन्वय ही सुगति है और सुगति ही सुगन्धकी सम्पादिका है। इस व्याख्याके प्रकाशमें उपर्युक्त सूक्तिका स्पष्टार्थ है—'धर्मके द्वारा सुगति और सुगन्धपर आरोहण कर।' धर्म सुगति और सुगन्धपर आरोहण कराता है।

इस सूक्तिका एक और भी बड़ा गहन और सुन्दर आशय है। अतिशय हल्की वस्तु वायुपर आरोहित होकर आकाशमें ऊँची चढ़ जाती है। जिस प्रकार हल्की पतङ्ग डोर (डोरे) के आश्रयसे आकाशमें ऊँची चढ़ती है, उसी प्रकार धर्मके आश्रयसे आत्मा ऊँचा चढ़ता हुआ विष्णुके परमोच्च धाममें प्रवेश करता है। धर्म मानवके जीवनको इतना हल्का कर देता है कि वह चाहे जितना ऊँचा चढ़ सकता है। अधर्म वह भारी पत्थर है कि उससे जो बँध जाता है, वह उसे डुबा देता है। लाखों-करोड़ों मन धर्म भी अतिशय हल्का करके ऊपर-ही-ऊपर चढ़ाये लिये चला जाता है। उसके विपरीत अधर्मका एक कण भी इतना भारी होता है कि वह सर्वतः, सर्वान्ततः, सर्वथा डुबा देता है। धर्म वायु (सुगति और सुगन्ध) पर आरोहित करके ऊँचा उठाता और ऊपर चढ़ाता है।

(२)

धर्मके लक्षण

(१) 'यत्र धर्मश्च तत्र ओजश्च।' जहाँ धर्म होता है वहाँ ओज होता है। ओज धर्मका पहला लक्षण है। धर्मात्मा व्यक्ति ओजस्वी हो जाता है। वह उमंग, उत्साह और जोश-खरोशसे सदैव भरपूर भरा रहता है। उत्साहहीनता, शिथिलता, प्रमाद—ये तीन दुरित अधर्मके सहचारी हैं। धर्मका ओज अदम्य और अक्षय है—जो न दबाये दबता है न छिपाये छिपता है। धर्मके ओजसे ओजित व्यक्तिमें अमित कर्मक्षमता और अपार साधना-निरतता सदैव निहित रहती है। जिसके जीवनमें ओज नहीं है, समझ लीजिये कि उसमें धर्म नहीं है, धर्माभास भले ही हो।

(२) 'यत्र धर्मश्च तत्र तेजश्च।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ तेज होगा। धर्मका तेज वह तेज है, जिसके सामने सूर्यका तेज भी फीका पड़ जाता है। जिसके जीवनमें धर्म निहित होता है, निस्संदेह वह तेजःपुञ्ज होता है। उसके रोम-रोम और कण-कणसे तेजकी तेजोमयी किरणें फूटती रहती हैं। भगवान् शंकराचार्य और महर्षि दयानन्दके तेजके सामने बड़े-बड़े शूर-सामन्त और बड़े-बड़े राजे-महाराजे नतमस्तक क्यों हो जाते थे? आचार्य और महर्षिका वह तेज धर्मका ही तेज था। विभीषणकी धर्मवती पुत्री कलाने अपने ताऊ रावणसे पूछा, 'वंदिनी सीताके सामने आप इतने निस्तेज क्यों हो जाते हैं?' 'सीता धर्मके तेजसे इतनी तेजस्विनी है कि उसके सामने सूर्यका तेज भी शिथिल पड़ जाता है।' रावणने उत्तर दिया। 'जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।' इस उक्तिमें धर्मके उसी तेजका संकेत है,

जिसका उल्लेख यहाँ वेदमाताने किया है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् धर्म थे। इसीलिये वे तेजोऽवतार थे, तेजके साक्षात् अवतार थे—उस तेजके, जिसके अभिमुख पृथिवी थर-थर काँपती थी।

(३) 'यत्र धर्मश्च तत्र सहश्च।' जहाँ धर्म है, वहाँ सह (सहनशक्ति, सहनशीलता, धैर्य) है। 'सह' और 'धैर्य' शब्द पर्यायवाची हैं। जरा धर्मात्माओंके जीवनचरित्रों-का अवलोकन तो कीजिये। आप देखेंगे कि धर्मने उन्हें कैसा सहनशील अथवा धैर्यका धनी बना दिया था। सहका अर्थ है ध्रुव—धैर्यके साथ मुकाबला करके परास्त करनेकी शक्ति। 'सह' ही है, जिससे मनुष्य धीर कहलाता है। जहाँ धर्म होगा, वहाँ सह अवश्य होगा। हो नहीं सकता कि धर्म हो और सह न हो। धर्मात्मा सहके अवलम्बसे बड़ी-बड़ी घाटियोंको पार करते हैं, बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंका मुकाबला करके उनका मुँह फेर देते हैं। धर्मात्माओंका सह ही है जो षड्विकारों और वासनाओंको परास्त करके उन्हें अपने जीवन-सदनसे निकाल बाहर करते हैं। धर्मात्माओंके सहकी महिमा अपार है।

(४) 'यत्र धर्मश्च तत्र बलं च।' जहाँ धर्म है, वहाँ बल है। धर्मका बल ही बल है, सच्चा बल है, ठोस बल है; और सारे बल झूठे बल हैं, थोथे बल हैं। धर्मका ही बल है, जो महाबली मृत्युसे खम ठोककर भिड़ जाता है। धर्मका ही बल है, जो अत्याचारों और अत्याचारियोंकी जड़ोंको खोदकर फेंक देता है। धर्मका ही बल है, जो अन्यायों और अन्यायियोंको नष्ट-विनष्ट करके ही दम लेता है। धर्मका बल वह बल है, जिससे बलवान् होकर अपर्याप्त सैनिक और अस्त्रोंसे पर्याप्त सैनिकों तथा शस्त्रोंपर विजय प्राप्त की जाती है। धर्मके बलमें ब्राह्मबल निवास करता है। इसीसे धर्मका बल अजेय है।

(५) 'यत्र धर्मश्च तत्र वाक् च।' जहाँ धर्म होता है, वहाँ वाक् (वचन) का परिपालन होता है।

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु बचन न जाई॥

धर्म वचनसे फिरना नहीं जानता। धर्मात्माओंके मुख-से जो वचन निकलता है, वह धर्मरूप होता है। इसीलिये धर्मात्मा अपने वचनसे कभी कदापि फिरा नहीं करते। वे तो अधर्मात्मा होते हैं, जो अगर-मगर और किंतु-परंतु-की ओटमें हालात और परिस्थितियोंका बहाना बनाकर अपने मुखसे निकाली बातसे डिग जाते हैं।

(६) 'यत्र धर्मश्च तत्र इन्द्रियं च।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ जितेन्द्रियता अवश्य होगी। महर्षि चाणक्य कहते हैं, 'जितेन्द्रियता धर्मका मूल है।' जितेन्द्रियताके अभावमें धर्म एक क्षणके लिये भी नहीं टिकता। जिस राष्ट्रके नागरिकों-में इन्द्रियसंयम, इन्द्रियनिग्रह, जितेन्द्रियता नहीं होती, उस राष्ट्रमें धर्मका नहीं, अधर्मका राज्य होता है। जितेन्द्रियता धर्मके मूलोंका सिञ्चन करती है तो धर्म जितेन्द्रियताका सम्पादन तथा संरक्षण करता है।

(७) 'यत्र धर्मश्च तत्र श्रीः च।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ श्रीः (शोभा, सुन्दरता) अवश्य होगी। धर्मका सौन्दर्य सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य है। तभी तो लोग धर्मात्माओंका दर्शन करने आते हैं और उनके दर्शन करके कृतकृत्य हो जाते हैं। धर्मकी श्रीमें स्वयं भगवान्का निर्विकार सौन्दर्य निखरता है। इसीलिये तो कहा गया है, 'धर्मात्माओंके पुण्य-दर्शनमें ही निराकार भगवान्का निराकार सौन्दर्य साकार होता है।'

धर्मका तेजस्वी रूप

(लेखक—श्रद्धेय आचार्य श्रीतुलसी महोदय)

धर्म केवल बौद्धिक उपलब्धि ही नहीं है, वह मनुष्यकी स्वाभाविक एषणा है। आत्मा है; पर वह शरीर और कर्मके आवरणसे आवृत है, इसलिये अज्ञात है। आवरणसे चैतन्य ढका हुआ है, पर उसका अस्तित्व विस्मृत नहीं है। सूर्य बादलसे ढका हुआ है, पर वह अस्त नहीं है। दिन और रातका विभाग करनेमें वह क्षम है। यह अस्तित्वकी स्मृति ही धर्मकी स्वाभाविक एषणा है। आवरणके तारतम्यके कारण कुछ लोगोंमें धर्मकी एषणा अव्यक्त होती है और कुछ लोगोंमें व्यक्त। अपने आपको नास्तिक माननेवाले भी धर्मकी एषणासे मुक्त नहीं होते।

मनुष्य हर प्रवृत्तिके बाद विराम चाहता है। वह क्या है? अन्तरकी ओर गति। शरीर, वाणी और मनकी प्रवृत्ति मनुष्यको बाहर जगत्में ले जाती है। किंतु कुछ समय बाद मन लौटकर भीतरकी ओर जाना चाहता है। वाणी मौन होना चाहती है और शरीर शिथिल। शरीरकी शिथिलता, वाणीका मौन और मनका अन्तरमें

विलीन होना ध्यान है और यही आत्माका स्वाभाविक रूप है और यही धर्म है।

धर्म है आत्मासे आत्माको देखना, आत्मासे आत्माको जानना और आत्मासे आत्मामें स्थित होना।

धर्मका अर्थ है द्रव्यका स्वभाव। जो आत्माका स्वभाव है, वह धर्म है। जो आत्माका स्वभाव नहीं है, वह धर्म नहीं है। धर्मका अर्थ है वस्तुका स्वरूप।

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद् वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः॥

यह विश्व पर्यायोंसे शून्य होता रहता है। पर्याय या अवस्थाके नष्ट हो जानेपर भी वह स्वरूपद्वारा धृत रहता है। इसलिये वस्तुका स्वरूप धर्म कहलाता है।

आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्तिके साथ जो एकरसता है, वह धर्म है। आत्माकी मोह, क्षोभ आदि भावोंसे रहित जो परिणति है, वह धर्म है।

धर्मकी विभिन्न परिभाषाएँ हैं, पर उन सबका सार है—स्वरूपमें स्थित रहनेका अभ्यास। धर्मकी यह परिभाषा जितनी आन्तरिक है, उतनी ही तर्कसंगत। अपने आपको अधार्मिक माननेवाला भी धर्मकी इस परिभाषासे विरक्त नहीं है। धर्मके प्रति जो विरक्ति है, वह उस धर्मके प्रति है, जिसमें आन्तरिकताका स्पर्श नहीं है। जहाँ आचारकी गौणता और उपासनाकी प्रधानता है, वहाँ सहज ही बौद्धिक द्वन्द्व होता है और वह व्यक्तिको धर्मविमुख बना देता है।

क्या घृणा करनेवाला व्यक्ति धार्मिक है? एक ओर उपासना और दूसरी ओर घृणा। क्या यह योग किसी बुद्धिवादी व्यक्तिको धर्मकी ओर आकृष्ट करनेवाला है?

क्या शोषण करनेवाला व्यक्ति धार्मिक है? एक ओर दया और दूसरी ओर शोषण। क्या यह योग किसी विचारशील व्यक्तिको धर्मकी ओर आकृष्ट करनेवाला है?

धार्मिक सबके साथ प्रेम करता है, इसलिये वह घृणा नहीं कर सकता। धार्मिक व्यक्ति सब जीवोंको आत्मतुल्य मानता है, इसलिये वह किसीका शोषण नहीं कर सकता। जो घृणा और शोषण करता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता।

धर्मकी रुचि और उसका आचरण—ये दो भिन्न पहलू हैं। जो लोग अपने आपको धार्मिक मानते हैं, उनमें अधिकांश धर्मरुचि मिलेंगे, धार्मिक बहुत कम। जो लोग अपने आपको अधार्मिक मानते हैं, उनमें भी कुछ लोग धार्मिक मिलेंगे।

एक विचारगोष्ठीकी सम्पन्नतापर एक दैनिकपत्रके सम्पादकने कहा—आपने धर्मकी जो व्याख्या की है, उसके अनुसार मैं भी अपने आपको धार्मिक कह सकता हूँ।

धार्मिकता अन्तःकरणकी पवित्रता है। वह धर्मकी रुचि होनेमात्रसे प्राप्त नहीं होती, उसकी साधनासे प्राप्त होती है। साधना करनेवाले धार्मिक बहुत कम हैं। अधिकांश धार्मिक सिद्धि चाहनेवाले हैं। वे धर्मको इसलिये नहीं चाहते कि उससे जीवन पवित्र बने; किंतु वे उसे इसलिये चाहते हैं कि उससे भोग मिलें। आजका धर्म भोगसे इतना आक्रान्त है कि त्याग और भोगके बीच कोई रेखा ही नहीं जान पड़ती। धर्मका क्रान्तकारी रूप तब होता है, जब वह जन-जनको भोग-त्यागकी ओर अग्रसर करे। आज त्याग भोगके लिये अग्रसर हो रहा है। यह वह कीटाणु है, जो धर्मके स्वरूपको विकृत बना डालता है। मैं मानता हूँ—धर्म जीवनकी अनिवार्य अपेक्षा है। जहाँ उसकी पूर्ति नहीं होती, वहाँ जीवनमें एक अभावकी पूर्ति कभी नहीं होती। वह है मानसिक संतुलनका अभाव। मानसिक संतुलनका अभाव अर्थात् शान्तिका अभाव। शान्तिका अभाव अर्थात् सुखानुभूतिका अभाव। पदार्थ सुखके हेतु हैं, उनसे सुखकी अनुभूति नहीं होती। सुखकी अनुभूति मन और मन-संयुक्त इन्द्रियोंको होती है। वह तभी होती है, जब मन संतुलित और शान्त होता है।

वैज्ञानिक साधनोंके विकाससे पदार्थका विस्तार हुआ है, पर उससे मनुष्यके सुखका विस्तार हुआ है—यह कहना सरल नहीं है।

पदार्थ-विस्तार और सुखानुभूति—ये दो विकल्प हैं। कभी मनुष्य पदार्थ-विस्तारको प्राथमिकता देता है, सुखानुभूतिको दूसरा स्थान। कभी मनुष्य सुखानुभूतिको प्राथमिकता देता है और पदार्थ-विस्तारको दूसरा स्थान। प्रथम विकल्पमें त्याग संग्रहसे प्रभावित होता है और दूसरे विकल्पमें संग्रह त्यागसे प्रभावित होता है। वर्तमान युग इसी समस्यासे आक्रान्त है। आज त्याग संग्रहसे प्रभावित है।

मैं देखता हूँ जहाँ त्याग और भोगकी रेखाएँ उलझ जाती हैं, धर्म अर्थसे संयुक्त होता है, वहाँ धर्म अधर्मसे अधिक भयंकर बन जाता है। यदि हम चाहते हैं धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो तो हम उसके विशुद्ध रूपका अध्ययन करें।

हम उस युगमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठाकी बात कर रहे हैं, जिस युगका नाम उपलब्धियोंकी दृष्टिसे वैज्ञानिक, शक्तिकी दृष्टिसे आणविक और शिक्षाकी दृष्टिसे बौद्धिक है। क्या अबौद्धिक, अवैज्ञानिक और शक्तिहीन पद्धतिसे धर्मका उत्कर्ष सम्भव है? आज ऐसे धर्मकी आवश्यकता है, जो

बुद्धिसे प्रचारित हो, विज्ञानसे प्रतिहत न हो और शक्तिसे हीन न हो।

उपासनात्मक धर्म अनावश्यक नहीं है, पर केवल उपासनात्मक धर्म पर्याप्त भी नहीं है। वह ज्ञान, दर्शन और आचारसे सम्बद्ध होकर ही युगकी चुनौतीका सामना कर सकता है।

शाश्वत सत्यके साथ सामयिक मान्यताओं और सामाजिक विविध विधानोंका योग भी धर्मतक पहुँचनेमें बाधा है।

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बन्धनसे मुक्त किंतु समाज, राजनीति और आर्थिक क्षेत्रको प्रभावित करनेवाला धर्म ही वास्तवमें प्रभावशाली हो सकता है। धर्मसे आत्मोदय होता है, यह उसका वैयक्तिक स्वरूप है। उसका प्रभावशाली होना उसका सामाजिक स्वरूप है। ये दोनों रूप आज अपेक्षित हैं। ये शाश्वत और परिवर्तनकी मर्यादाको समझनेसे ही प्राप्त हो सकते हैं।

धर्मकी महत्ता

(लेखक—महामहिम डा० श्रीसर्वपल्ली राधाकृष्णन् महोदय—राष्ट्रपति)

(१)

हिंदूधर्मकी आधार-शिलाएँ*

हिंदूलोग केवल एक परमात्माको मानते हैं, यद्यपि उनके नाम अनेक हैं। नाना जातियोंके होते हुए भी व्यवस्थाकी भूमिपर उनका समाज एक है। समस्त जन-समाजमें अनेक जातियाँ और उपजातियाँ हैं; किंतु सब किसी एक भावनासे परस्पर गुँथी हुई हैं। यद्यपि कई प्रकारके विवाहोंकी आज्ञा दी गयी है तथापि आदर्श लक्ष्य एक ही बनाया गया है। अगणित विभिन्नताओंके भीतर उद्देश्यकी एकता वर्तमान है।

अनवरत प्रवाहवाला संसार ही सब कुछ नहीं है। इसकी नियमाधीनता और पूर्णताकी ओर प्रवृत्ति यह सूचित करती है कि इसका आधार कोई आध्यात्मिक सत्ता है, जिसका पर्यवसान किसी एक विशेष वस्तु अथवा वस्तु-समूहमें ही नहीं हो जाता। भगवान् संसारमें हैं, यद्यपि संसारके रूपमें नहीं। विकासप्रणालीके महत्त्वपूर्ण स्थलोंतक ही उनकी सृष्टि-प्रक्रिया सीमित नहीं है। केवल जीवन अथवा चेतनताकी सृष्टि करनेके लिये ही वह हस्तक्षेप नहीं करता वरं निरन्तर क्रियाशील रहता है। प्रकृति और प्रकृत्युत्तर तत्त्वकी पृथक् सत्ता नहीं है। जीवनके प्रति हिंदू-भावनाकी यह मान्यता है कि दृश्य और क्षणभङ्गुर जगत्के असंख्य नाना रूप अदृश्य और अनन्त आत्माके द्वारा पोषित, आधारित और ओतप्रोत हैं।

बुराई, भूल और कुरूपता अन्तहीन नहीं हैं। भलाईका जितना रास्ता चलकर आना है, बुराईका वही नाप है। कुरूपता सुन्दरताके आधे रास्तेपर है। भूल सत्यके मार्गका एक पड़ाव है। इन सबको पार करना है। कोई भी मत इतना सर्वथा भूलोंसे भरा नहीं है, न कोई व्यक्ति इतना सोलह आना बुरा है कि उसका पूर्ण बहिष्कार कर दिया जाय। यदि एक भी मानव जीव अपने दिव्य गन्तव्य स्थानतक नहीं पहुँच पाता, तो उस सीमातक विश्वकी असफलता माननी चाहिये। संसारमें प्रत्येक जीव दूसरेसे भिन्न है। इसलिये सबसे अधिक दुष्टात्माके विनाशका भी अर्थ है, भगवान्की योजनामें एक रिक्त स्थल। नरक नामकी वस्तु नहीं है; क्योंकि इसका तो अर्थ हुआ कम-से-कम एक जगह है जहाँ भगवान् नहीं हैं और ऐसे भी पाप हैं, जो उनके प्रेमको भी चित कर देते हैं। यदि भगवान्का असीम प्यार कल्पनामात्र नहीं है तो सार्वभौम मुक्ति निश्चित बात है। परंतु जबतक ऐसी स्थिति नहीं आ जाती, हम लोगोंमें प्रमाद और अपूर्णता बनी रहेगी। निरन्तर विकासोन्मुख विश्वमें बुराई और भूल अवश्यम्भावी हैं, यद्यपि क्रमशः उनका ह्रास होता रहेगा।

धर्मके क्षेत्रमें हिंदूधर्म आध्यात्मिक जीवनको अपना आधार मानता है। वह कहता है कि ईश्वरसम्बन्धी धार्मिक अनुभूतियाँ कभी एक-सी नहीं हो सकतीं। ब्रह्मविद्याके इतिहासमें एकके बाद दूसरे रूपककी परम्परा अन्तमें बोल पड़ती है कि मनुष्य और संसारके जीवनमें केन्द्रिय सत्ता भगवान् है। मेरे उद्यानके वृक्ष भगवान्के लगाये हुए हैं और मेरे पड़ोसीके बगीचेका निरर्थक घास शैतानका लगाया हुआ है, अतएव उसका हमको किसी भी मूल्यपर नाश कर ही देना चाहिये—हिंदू-धर्म ऐसी द्वन्द्वात्मक मनोवृत्तिको स्वीकार नहीं करता। इस सिद्धान्तपर कि सर्वश्रेष्ठ श्रेष्ठका शत्रु नहीं है, हिंदूधर्म सब प्रकारकी मान्यताओंको स्वीकार करके उनको ऊपर उठा लेता है। भूलका उपचार मारना-काटना नहीं, बल-प्रयोग या दण्डविधान नहीं, वरं प्रकाशका मौन विकिरण है।

धर्मके व्यावहारिक क्षेत्रमें हिंदू-धर्म दो प्रकारके लोगोंको जानता है—एक तो वे जो भगवान्का साक्षात्कार करना चाहते हैं। दूसरे वे जो तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्यको जाननेके

* द हिंदू व्यू आव लाइफसे संकलित।

प्रयासमें ही प्रसन्न रहते हैं। कुछको कर्ममें शान्ति मिलती है, तो कुछको अकर्ममें। एक व्यापक धर्म सबको अपने-अपने मार्गसे चलाकर एक ही मंजिलपर पहुँचा देता है; क्योंकि सभी तो अपने हाथोंमें भिन्न-भिन्न उपहार लिये हुए एक ही देवीकी उपासना कर रहे हैं। अपनी विशेषताको हमें एकमात्र और सर्वाधिक महत्त्व नहीं प्रदान करना चाहिये। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, संन्यास आदि किसी भी अवस्थामें पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। सदा एकरूप रहनेवाला दृष्टिकोण अनुचित है। एक महात्माके संतत्वका यह अर्थ नहीं है कि उसके आगे पतिव्रता पत्नीकी अचल निष्ठा अथवा अबोध शिशुकी सरलता निरर्थक है। पूर्णता, चाहे वह किसी जातिकी हो, दिव्य वस्तु है। भगवान् कहते हैं— 'जो कुछ भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त है, उस-उसको मेरे तेजके अंशमात्रसे उत्पन्न हुआ जानो।'*

(२)

मानव-जीवनका सारतत्त्व धर्म †

हम यदि शास्त्रके अनुसार धर्मके यथार्थ मार्गपर चलते रहें तो निश्चय ही हमारी विजय होगी। आज देश आदर्शोंकी हत्या करनेवाले संघर्षसे आच्छन्न है। इस समय हमें चाहिये कि हम विवेक तथा सद्बुद्धि प्रदान करनेवाले लोगोंका आश्रय लें।

जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। धर्म और विजयको एक दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। धर्म ही सत्-असत्का निश्चय करनेवाला विवेक है और धर्म ही सद्बुद्धिरूपी प्रकाश है। जबतक हम धर्मपर अटल-स्थिर रहते हैं, तबतक हमारा कोई भी अकल्याण नहीं होता।

धर्म ही मानव-समाजको एक सूत्रमें बाँधनेवाली परम वस्तु है। वास्तवमें जिसकी सहायतासे मानव-समाज एक सूत्रमें बँधता है, वही धर्म है और जिससे मानव-समाजका विघटन होता है, वह अधर्म है। मानव-जीवनका सारतत्त्व धर्म ही है।

धर्मका संदेश

(लेखक—माननीय श्रीलालबहादुरजी शास्त्री, प्रधान मन्त्री)

इस समय देश और कालकी पुकार है क्रियाशील होनेकी, कठोर परिश्रम करनेकी। अपनी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनानेका जो हमारा संकल्प है, वह तभी पूरा हो सकता है।

कर्मको प्रधानता देते हुए भी हम धर्मको भूल नहीं सकते। कर्म जहाँ शरीर है, वहाँ धर्म उसकी आत्मा है। धर्म जीवनको विश्वास और दिशा प्रदान करता है। इसके सहारे हम जीते हैं। हर बड़े कामके पीछे धर्मका आधार होता है। धर्म, चाहे वह कोई भी धर्म क्यों न हो, हमारे जीवनको पूर्णता और संतोष प्रदान करता है। हमारे आध्यात्मिक अस्तित्वके लिये धर्म वैसा ही आवश्यक है, जैसा पार्थिव अस्तित्वके लिये कर्म।

धर्मका स्वरूप

(लेखक—महामहिम डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी, राज्यपाल, राजस्थान)

धर्मके विषयमें कुछ लिखनेके पहिले हमको इस शब्दकी परिभाषा निश्चित कर लेनी चाहिये। इस समय पण्डित-अपण्डित दोनों ही इसको विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त करते हैं और अब आजकल सरकारने अराजकतापर अपनी छाप लगाकर लिखने-बोलनेवालेका काम और भी कठिन कर दिया है।

पूर्वमीमांसाकार जैमिनिके अनुसार—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' वेद जिसकी चोदना—घोषणा करे, वह धर्म है। यह वाक्य निर्णय करनेका बोझ मनुष्यसे हटाकर वेदपर डाल देता है। जिस आचरणका समर्थन वेद करे, वह धर्म है; जो वेदकी दृष्टिसे निषिद्ध हो, वह अधर्म है। अधर्मकी यह परिभाषा दी तो नहीं है, परंतु अर्थापत्तिसे यही निष्पन्न होता है।

इस परिभाषामें अव्याप्तिदोष आता है, कम-से-कम ऐसी आशङ्का होती है। पृथिवीपर करोड़ों ऐसे व्यक्ति हैं, जो वेदको प्रमाण नहीं मानते। यदि यह परिभाषा स्वीकार कर ली जाय तो हम ऐसे लोगोंके आचरणके सम्बन्धमें कुछ कहनेके अधिकारको परित्याग कर देते हैं। उनका आचरण हमारी दृष्टिमें न धर्म होगा न अधर्म, या फिर उनके कामोंको अपनी कसौटीपर हठात् कसेंगे। वह वेदको मानते नहीं, परंतु हम उनके व्यवहारकी धर्माधर्मरूपताको वेदके अनुसार

* भगवद्गीता १० । ४१ ।

† पूनामें 'धर्मशास्त्रके इतिहास' के प्रकाशनपर व्यक्त विचार।

निर्णय करेंगे । इससे अर्थविक्लवता और बढ़ेगी । कलहमें वृद्धि होगी और हम करोड़ों मनुष्योंको प्रभावित करने तथा उनके आचरणमें सुधार करनेके अवसरको खो बैठेंगे । यह काम अच्छा है या बुरा ?—विवाद यहाँसे हटकर इस मञ्चपर आ जायगा कि वेदमें सार्वभौम प्रामाणिकता होनेकी क्षमता है या नहीं । इस प्रश्नका ऐसा उत्तर मिलना, जो सबके लिये संतोषजनक हो, बहुत कठिन है ।

इस प्रसङ्गमें ईश्वरका नाम लेना भी उलझनको बढ़ाता है । जो काम ईश्वरको सम्मत हो, वह धर्म है—ऐसा कहना भी विवादको कम नहीं करता । पहिले तो ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करना होगा । फिर, यदि ईश्वरका होना मान भी लिया जाय तो उसकी इच्छा कैसे जानी जाय ? वेद, कुरान और बाइबिल—तीनों ही अपनेको ईश्वरके अभिप्रायका अभिव्यञ्जक बताते हैं; परंतु कई विषयोंमें आपसमें मतभेद है । यह कैसे जानें कि ईश्वर किस बातको पसंद करता है ।

ऐसा लगता है कि यदि धर्मके सम्बन्धमें कुछ निश्चय करना है तो यह दायित्व हमको अपने ऊपर ही लेना होगा । इस बोझको ईश्वर या वेद या किसी अन्य ग्रन्थपर नहीं डाला जा सकता और हम इस दायित्वको तभी निबाह सकते हैं, जब इस प्रश्नको मनुष्यमात्रकी दृष्टिसे देखें । यदि किसी एक समुदायके सामने रखकर विचार किया गया तो वह एकदेशीय और अपूर्ण, सम्भवतः पक्षपातपूर्ण होगा ।

पुराने वाङ्मयमें एक ऐसी परिभाषा मिलती है, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे किसी सम्प्रदाय-विशेषका चर्चा नहीं मिलता । वैशेषिक-दर्शनमें कणादने कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

धर्म वह है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है ।

इस परिभाषाके अतिरिक्त मनुकी दी हुई परिभाषा भी इस दृष्टिसे निर्दोष है । उनके शब्द हैं—धारणाद्धर्मः—जो जगत्को धारण करता है, वह धर्म है ।

जिन दो परिभाषाओंको हमने अपेक्षया निर्दोष माना है, उनमें किसी सम्प्रदायविशेषकी मान्यताओंको आधार नहीं माना गया है और न किसी आध्यात्मिक या धार्मिक सिद्धान्तको पहिलेसे स्वीकार कर लेना आवश्यक ठहराया गया है; परंतु दोनोंमें ही मतभेद और वैचारिक स्तरपर घोर संघर्षके लिये पर्याप्त अवकाश है । अभ्युदयकी कसौटी क्या है ? अभ्युदय किन बातोंसे होता है ? निःश्रेयस क्या है ? जगत्को कौन-सी बातें धारण करती हैं ? जबतक इन बातोंपर ऐकमत्य न हो, तबतक परिभाषाके शब्दोंको निर्विवाद और सार्वभौम कहना निरर्थक है ।

विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निःश्रेयसका विषय हमको इतने गहरे शास्त्रार्थमें डाल देगा कि मूल प्रश्नका निर्णय करना कठिन हो जायगा । इस बातको ध्यानमें रखनेसे मनुकी दी हुई परिभाषा सबसे अधिक समीचीन लगती है । यह अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे मुक्त है । अतः मैं तो यही मानकर चलता हूँ कि 'धारयतीति धर्मः । यो लोकान् धारयति, येन मानवसमाजो धृतः स धर्मः ।'

परिभाषा तो हुई पर अभी इसके शब्दोंको अर्थ पहिनाना है । समाजका धारण कैसे, किन बातोंसे हो सकता है—यह निश्चय करना होगा । पहिले तो यह देखना चाहिये कि स्वयं मनुकी इस सम्बन्धमें क्या राय है ? धारणाद्धर्मं इत्याहुः—कहते समय उनकी बुद्धिमें क्या था ? इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है । उनका 'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः' इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध है । उन्होंने अहिंसादि दस बातोंका उल्लेख करके इनको 'दशकं धर्मलक्षणम्' बताया है और इनको सार्ववर्णिक—सब वर्णोंद्वारा पालनीय कहा है । इससे मिलती-जुलती भाषामें पद्मपुराणके भूमिखण्डमें धर्मके ये दस अङ्ग गिनाये गये हैं—ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेय । मत्स्यपुराण सनातन-धर्मके ये मूल गिनाता है—अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, क्षमा और धृति ।

इसी प्रकारकी सूचियाँ दूसरे ग्रन्थोंमें भी मिलेंगी । सब सूचियाँ कुल एक दूसरेसे नहीं मिलतीं, परंतु कई बातें सबमें मिलती हैं । अतः ऐसा मानना चाहिये कि जो बातें समानरूपसे सभी सूचियोंमें विद्यमान हैं, वह सभी आचार्योंके मतमें धर्मके अङ्ग हैं । शेषके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है ।

जो समानांश है, उसपर दृष्टि डालनेसे भी कुछ बड़े शिक्षाप्रद और रोचक तथ्य सामने आते हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य—ये चार नाम हर सूचीमें मिलते हैं । अपरिग्रह भी मिलता है, परंतु भिन्न-भिन्न नामोंसे । इनके अतिरिक्त शौच, दया, क्षमाके नाम आते हैं । हमको यह भूलना न चाहिये कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको पतञ्जलिने योगके अङ्गोंमें प्रथम स्थान दिया है और इनके सम्बन्धमें उनका कहना है कि ये पाँचों देश-काल-समयाद्यनवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत है अर्थात् इनके पालन करनेमें कहीं किसी अपवादके लिये स्थान नहीं है । इनका हर जगह और हर समय पालन करना चाहिये, सबके साथ पालन करना चाहिये और सबको पालन करना चाहिये । इनका महत्त्व पतञ्जलिकी दृष्टिमें यहाँतक है कि उन्होंने इनको स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानकी अपेक्षा भी प्राथमिकता दी है और उनका ऐसा करना उचित भी था । यह ऐसे गुण हैं जिनको ईश्वर-

की सत्ताको स्वीकार न करनेवाले नास्तिक और आस्तिक सभी एक स्वरसे मानते हैं। प्राचीन कालसे ही सभी आर्य ग्रन्थ इन गुणोंका: इनमें भी सर्वोपरि सत्य और अहिंसाका स्तुतिगान करते आये हैं। स्वयं वेदका कहना है—

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

—सत्यकी ही विजय होती है; असत्यकी नहीं। सत्यसे ही वह देवयानमार्ग बिछा हुआ है; जिससे आप्तकाम ऋषि-लोग उस स्थानको पहुँचते हैं; जहाँ सत्यका परम भंडार है।

मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

—किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

फारसीमें एक महात्माने कहा है—

रास्ती मूजिबे रज़ाए खुदास्त।
कस न दीदम कि गुम शुद अज़ रहे रास्त॥

—सचाई ईश्वरके प्रसन्न करनेका साधन है। मैंने किसी ऐसे व्यक्तिको नहीं देखा कि जो सत्पथपर चलकर पथभ्रष्ट हो गया हो। और—

मबाश दरपये आज़ार व हरचे ख़्वाही कुन
कि दर तरीक़ते मा गैर अज़ीं गुनाहे नेस्त।

—किसीको सताओ मत और जो तुम्हारे जीमें आवे, करो; क्योंकि मेरे धर्ममें इसके सिवा और कोई पाप नहीं है।

अस्तु; ऐसा मानना अनुचित न होगा कि जिन बातोंकी सब लोग प्रशंसा करते हों; जो सबकी दृष्टिमें धर्मके अंग और अङ्ग या लक्षण हैं; वे धर्मके सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। और बातें अधर्म नहीं हैं, धर्मके विरुद्ध नहीं हैं; परंतु उनका स्थान गौण है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि मनु आदि; जो धर्मके विषयमें प्रमाण हैं; किसी विशेष पूजा-पाठको सार्वभौम धर्ममें नहीं गिनते। एक तो यह विवादका विषय हो सकता है कि कोई भी ऐसी सत्ता है या नहीं जो उपास्य है। फिर उपासनाकी प्रक्रियामें भेद हो सकते हैं। इसलिये उपासनाको गौण स्थान देना ही चाहिये। जो लोग यह चाहते हैं कि संसारमें धर्मका पुनः प्रचार और प्रसार हो, उनको चाहिये कि अहिंसा आदि यमोंके प्रचार और प्रसारके लिये प्रयत्न करें। यदि इनका ह्रास रहा तो कोई पूजा-पाठ धर्मका उद्धार नहीं कर सकता।

आज जगत्‌में अँधेर मचा है। सारे जगत्‌की बातको छोड़ दें। हम अपने देशको लें। पहलेसे लगे ही हम कुछ नैतिकताको ओर बढ़ गये हों; अथवा कुछ कमी आ गयी हो, फिर भी पूजापाठपर पर्याप्त धन व्यय होता है। नये मन्दिर बनते ही जाते हैं। उनमें भोग-पूजाके लिये प्रबन्ध होता ही है। मन्दिरोंमें आना-जाना होता ही रहता है। कण्ठी-माला धारण किये हुए साधु-महात्मा देख ही पड़ते हैं। हमलोग भी किसी-न-किसी प्रकारका जप आदि कर ही लेते हैं। फिर भी भ्रष्टाचारकी शिकायत चारों ओर सुन पड़ती है। इसका बड़ा भारी कारण यह है कि हम धर्मके स्वरूपको भूल गये और 'अन्यस्मिन्'—जो वहाँ नहीं है, उसको वहाँ ला बैठाया है। धर्मका मूल पूजा-पाठमें नहीं है, यमोंके पालनमें है; परंतु हम उसे पूजा-पाठमें देखते हैं। यदि कोई व्यक्ति कभी मन्दिरमें पूजा करने न जाय, वहाँ जो भजन आदि या जो गाना होता है; उसमें सम्मिलित न हो; तो उसके ऊपर अँगुली उठ सकती है। परंतु यह कोई नहीं देखता कि उसके आचरणमें सत्यका क्या स्थान है और उसके व्यवहारमें हिंसा कितनी है। जो मन्दिर बनवाता है, उसकी प्रशंसा होती है; परंतु यह कोई नहीं पूछता कि मन्दिर बनवानेके लिये उसके पास धन कहाँसे आया। भगवान् व्यासकी यह उक्ति ऐसे अवसरोंपर लोग भूल जाते हैं—

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

—दूसरेके मर्मका छेदन किये बिना, अकरणीय कामोंके किये बिना, जिस प्रकार मछुआ एक अपने पेटके लिये सैकड़ों छोटी मछलियोंका हनन करता है; उसी प्रकार दूसरोंको आघात किये बिना बहुत धन प्राप्त नहीं हो सकता।

व्यास भी विष्णुके अवतार माने जाते हैं। परंतु जब कोई विष्णुकी पत्थरकी मूर्ति और उसके लिये पत्थरका मन्दिर बनवाता है तो व्यासरूपी विष्णुकी इस उक्तिको हम हृदयसे भुला देते हैं। फिर हमको इस बातकी शिकायत करनेका कोई अधिकार नहीं है कि धर्मका ह्रास हो रहा है। धर्म जिन बातोंमें है, उनको बढ़ावा देना चाहिये। यदि कोई धर्माचरणसे च्युत होता है तो उसको इसके लिये दण्ड मिलना चाहिये। सरकार दण्ड दे या न दे, समाजको; अहिंसासत्यवादियोंको, समाजके धर्मप्रिय सदस्योंको; उसे दण्ड देना चाहिये। कुछ नहीं तो उससे खुलकर सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहिये। यदि हम धर्मसे सचमुच प्रेम रखते हैं तो उसका यही उपाय है। यमोंसे अन्यत्र धर्मको ढूँढ़ना आत्मवञ्चना है और हमको यह न भूलना चाहिये कि आत्मवञ्चना परवञ्चनाकी पहली सीढ़ी है।

एक बात और। मैंने जो पूजा-पाठके सम्बन्धमें कहा है; उससे किसीको यह न समझना चाहिये कि मैं उपासना-का विरोधी हूँ; ऐसा नहीं है। मैं मनुष्य-जीवनको सार्थक बनानेके लिये उपासनाको परमावश्यक समझता हूँ। परंतु

कौन-सी उपासना? इस सम्बन्धमें भी मनुकी ही बातको प्रमाण मानता हूँ। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है —

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।

—योगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना सबसे बड़ा धर्म है। जो लोग धर्मका चर्चा करते हैं और साथ ही इसकी उपासनाको भी धर्मके अङ्गोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं, जैसा कि देना चाहिये, उन्हें इस परम धर्म योगकी शरणमें आना चाहिये। परम धर्मको छोड़कर क्षुद्र धर्मोंकी ओर जाना उसी प्रकारका काम होगा जिसको कि तुलसीदासजीने यों कहा है—

गुंजा ग्रहहिं परस मनि खोई।

धर्मकी एक अचूक कसौटी है। वह हमारे ध्यानमें प्रायः बहुत कम आती है। भले ही इस विश्वके सभी प्राणी ब्रह्मसे अभिन्न हों, परंतु हमको इस अभेदका प्रायः अनुभव नहीं होता। अपने छोटे-छोटे 'स्व'में प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार भूला रहता है कि उसको उस महान् 'स्व'का पता नहीं लगता। वह पुरुष बहुत भाग्यवान् है, जो समाधिके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करता है। कभी-कभी किसी उच्च कोटिके कलाकार या विचारकको भी थोड़ी देरके लिये उस परम सत्यकी झलक दीख पड़ जाती है। इसके सिवा एक और अवस्था शुद्ध धार्मिक काम करनेके समय सामने आती है। व्यवहारमें पति-पत्नी या माता और संततिमें एक प्रकारका तादात्म्य होता है। इन युगलोंमेंसे माता संततिके लिये, पत्नी पतिके लिये और पति पत्नीके लिये हँसते-हँसते प्राणको न्योछावर कर सकता है; परंतु जहाँ इस प्रकार दो प्राणियोंका तादात्म्य है, वहाँ युगपत् अन्य सारे प्राणियोंसे बिलगाव है। माताके लिये उसकी संतान सब कुछ है और उसके लिये वह सारे विश्वसे लड़ सकती है। यही दशा पति और पत्नीके बीचमें होती है। अपना प्रेमपात्र एक ओर और सारा विश्व दूसरी ओर। परंतु जब सचमुच कोई व्यक्ति किसी पूर्णतया धार्मिक कामको करता है— और यह स्मरण रखना चाहिये कि सच्चा धार्मिक काम निश्चय ही निष्काम होगा—तो उस समय उसका एकके साथ तादात्म्य तो होता है, परंतु दूसरोंके साथ बिलगाव नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति डूब रहा हो या जलते घरमें आगसे घिर गया हो और इस दृश्यको देखकर कोई दूसरा व्यक्ति एकाएक उसको बचानेके लिये पानी या आगमें कूद पड़े तो उस समय उसको उस आपन्न व्यक्तिके साथ तादात्म्य होगा; परंतु समूचे विश्वसे बिलगाव नहीं होगा। उतनी देरके लिये इस नानात्वपूर्ण विश्वका उसके लिये अभाव हो जायगा और इस प्रकार क्षणभरके लिये उसको अभेदका दर्शन हो जायगा। उस क्षणमें विश्वका वास्तविक मूल रूप उसके सामने आ जायगा और वह भेदभावोंसे ऊपर उठ जायगा। सच्चे धार्मिक कर्मकी यह सबसे बड़ी पहचान है।

श्रेष्ठतमसे भी श्रेष्ठ आदर्श

(लेखक—महामहिम श्रीविश्वनाथदास, राज्यपाल, उत्तरप्रदेश)

मानव-मस्तिष्क निरन्तर ऊँचे-से-ऊँचे और सर्वोत्कृष्ट आदर्शकी खोजमें है। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तिकी गवेषणा उसके सामने ईसामसीहका आदर्श उपस्थित करती है, जिसको ईसाई समाजने मानव-जातिके सम्मुख प्रस्तुत किया है—क्रासपर लटके हुए ईसाका आदर्श, जब कि वे अपने हत्यारोंके लिये प्रार्थना करते हैं—'पिता! उन्हें क्षमा कर; क्योंकि वे नहीं जानते, उन्हें क्या करना चाहिये।' जिस क्रासपर लटके हुए ईसामसीह उनको दी हुई यन्त्रणाओंको क्षमा करते हुए अपने हत्यारोंके लिये प्रार्थना करते हैं, वह क्रास परमोदात्त भावनाओंको उत्पन्न करता है। वे ऐसा यह सोचकर करते हैं कि हत्यारे योजना बनानेवाले प्रधान धर्माधिकारीके केवल आदेशपालक थे। बहुत कुछ इसीके समान चित्र शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्मका मिलता है—(जिसका महाभारतमें बहुत अच्छी तरह उल्लेख हुआ है)—जहाँ वे अपनेपर बरसाये हुए भयानक प्रहारोंको भूलकर पाण्डवोंको आशीर्वाद देते हैं। इससे अधिक, वे राजधर्म और मुख्य धर्मका उपदेश भी देते हैं। फिर श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके गोपलीला-प्रसङ्गमें कालिय-दमनका चित्र सामने आता है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण संसारकी भलाईके लिये अपनी जान जोखिममें डालकर अपने ऊपर विपत्ति मोल लेते हैं। ये सब परम्परासे प्राप्त सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट आदर्शोंके चित्र हैं।

वर्तमान युगकी देन

इस क्षेत्रमें वर्तमान युगकी अपनी अलग देन है। वह है दम तोड़ते हुए महात्मा गाँधीका चित्र। गोडसेकी गोली खानेपर बिना किसी द्वेषके उनके मुखसे 'हा राम' की ध्वनि निकलती है।

ये आदर्श निस्संदेह उदात्त, उत्तम एवं उदार हैं; परंतु ये सभी पीछे हट जाते हैं भगवान् श्रीकृष्णके लीला-संवरणके उस महिमामय चित्रके सामने, जो एक ऐसे अपूर्व आदर्श, ऐसे महान् दृष्टिकोण एवं मृत्युकी एक ऐसी विलक्षण व्याख्या उपस्थित करता है, जैसा संसारने अबतक कहीं नहीं देखा-सुना। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके ३०वें अध्यायमें इस चित्रका विशद चित्रण हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्णके लीला-संवरणका चित्र

श्रीबलरामजीके परमपदमें लीन हो जानेके बाद भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्भुजरूप धारणकर सारी दिशाओंमें छिटकती हुई अपनी दिव्य ज्योतिसे धूमसे रहित अग्निके समान सुशोभित हुए पीपलके वृक्षकी छायामें मौन होकर धरतीपर ही बैठ गये।

उस समय उनके सजल जलधरके समान श्यामवर्ण दिव्य मङ्गल-शरीरसे तप्त सुवर्णकी-सी ज्योति निकल रही थी। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न था और वे धोती तथा चादर—दो रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थे। उनके नील अलकावलिमण्डित मुखारविन्दपर सुन्दर मुसकान छायी थी। कमलदलके समान सुन्दर नेत्र थे और कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिलमिला रहे थे। शरीरमें यथास्थान करधनी, यज्ञोपवीत, मुकुट, कंगन, बाजूबंद, हार, नूपुर, अँगूठियाँ और कौस्तुभमणि आदि आभूषण विराजित थे। घुटनोंतक वनमाला सुशोभित थी तथा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुध मूर्तिमान् होकर सेवामें उपस्थित थे। उस समय भगवान् अपने बायें चरणारविन्दको दाहिनी जङ्घापर रखे विराजमान थे। उनका लाल-लाल चरणारविन्दका तलवा चमक रहा था।'

जरा नामक व्याधने भगवान्को भ्रमसे विश्राम करता हुआ हरिण मानकर बाण छोड़ा, जो आकर उनके तलवेको लगा और रक्तकी धारा छूट पड़ी। शीघ्र ही व्याधको अपनी भूलका पता चल गया। दौड़ता हुआ आकर उनके चरणोंपर इस दुर्घटनाके लिये आँसू बहाता और चीत्कार करता हुआ दण्डवत् गिर पड़ा। वह अपनेको शाप देने लगा और निकृष्टतम महापापी घोषित करने लगा। उसने कहा—'मधुसूदन! मुझसे अनजानमें यह अपराध हो गया। मैं महापापी हूँ। आप परम यशस्वी और निष्पाप हैं। कृपापूर्वक मेरा अपराध क्षमा कीजिये। हे विष्णो! हे प्रभो!! जिन आपके स्मरण-मात्रसे मनुष्योंका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, हाय! उन्हीं स्वयं आपका ही मैंने अनिष्ट कर दिया।'

अमर्षरहित भगवान्ने तुरंत उठाकर व्याधको छातीसे लगा लिया और जैसे उसने कोई अपराध ही नहीं किया, इस रूपमें वे उसे सान्त्वना देने लगे। भगवान् बोले—

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम्॥
(श्रीमद्भागवत ११। ३०। ३९)

'अरे! उठ, उठ, तू डर मत। यह तो तूने मेरे मनका काम किया है—मेरी इच्छाकी पूर्ति की है। जा, मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है।'

'मेरी इच्छा' की पूर्तिका आशय यह है कि भगवान् यही चाहते थे कि उनके लौकिक शरीरका तिरोभाव उसी विधिसे हो, जिसे जरा व्याधने अपनाया था। चूँकि उसके बाणने उनकी—भगवान्की इच्छाकी पूर्ति की है, इसलिये उसे पुरस्कार मिल रहा है और उसे स्वर्गका अधिकारी बनाया जा रहा है! मृत्युकी जो व्याख्या यहाँ दी गयी है, उससे अधिक उदार, शान्तिप्रद, उदात्त, सान्त्वना-प्रदायिनी एवं महिमामयी व्याख्या दूसरी नहीं हो सकती। यहाँ एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत है, जहाँ बाणविद्ध तथा मृत्युके द्वार-पर पहुँचा हुआ व्यक्ति क्रोधके समस्त विचारोंसे मुक्त होकर अपनेपर घातक प्रहार करनेवालेको सान्त्वना ही नहीं देता, उसे प्रेमसे भुजाओंमें भरता और पुरस्कार भी देता है।

इस आदर्शसे कि भगवान्की यही इच्छा थी कि वे अपने लौकिक देहको इसी प्रकार अन्तर्धान कर देंगे, इससे अपराधीको तथा इधर इनके परिजनोंको भी शान्ति मिलती है, क्रोध, प्रतिशोध और कलहके सारे संकल्प ढह जाते हैं, सामाजिक जीवनमें एकतानता आती है तथा समाज एवं संसारकी भी एकता और एकरागता बनी रहती है। इन सब बातोंसे यह समझमें आ जाता है कि श्रीकृष्णके लीला-संवरणका यह चित्र सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट आदर्शवादका प्रतिपादन करनेवाले अन्य सभी चित्रोंसे कहीं उत्तम है। यह श्रेष्ठतमसे भी श्रेष्ठ आदर्श है।

भगवान् श्रीकृष्णकी अनुपम उदारता

धर्मका वास्तविक अर्थ

[अनाचारका निराकरण]

(लेखक—माननीय श्री श्रीप्रकाशजी)

धर्म-शब्द बड़े व्यापक अर्थमें प्रयोग होता रहा है। इस कारण यदि एक तरफ इसका बहुत बड़ा महत्त्व है तो दूसरी तरफ इसको समझना कठिन भी है। साधारण प्रकारसे इसका अर्थ अंग्रेजीमें 'रेलिजन' और फारसीमें 'मजहब' बतलाया जाता है; पर यदि इन शब्दोंके पर्याय-स्वरूप 'सम्प्रदाय' शब्दका प्रयोग हो तो सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा। हमारे यहाँ सभी बातों, चीजों और परिस्थितियोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग कर दिया जाता है। इसी कारण मैक्समूलरने कहा कि 'हिंदू सोने-जागने, उठने-बैठने, खाने-पीने, चलने-फिरने—सबमें ही धर्मका संनिवेश करता है।' भगवद्गीतामें कितने ही स्थानोंपर 'धर्म' शब्दका अर्थ 'कर्तव्य' प्रतीत होता है। रीति-रस्म, आचार-विचार, प्रतिदिनके साधारण-से-साधारण कार्यके सम्बन्धमें हम कहते हैं कि ऐसा करना, न करना धर्म अथवा अधर्म है।

सभी मनुष्य-समुदायोंमें धार्मिक शिक्षा आवश्यक मानी जाती है। इस शिक्षाके अन्तर्गत गृहस्थ और अध्यापक अपने संततियों और विद्यार्थियोंको बतलाते हैं कि हमारे धर्मके अनुसार संसारकी सृष्टि अमुक प्रकारसे हुई। हमारे धर्मके प्रवर्तक अमुक-अमुक हुए, जिनका हमें सम्मान करना चाहिये। हमारे धर्मके अमुक-अमुक बाह्यचिह्न हैं, जिन्हें हमें धारण करना चाहिये और हमारे धर्मके अनुसार उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय इस प्रकार माना गया है और इसीके अनुसार सबको चलना चाहिये। थोड़ेमें जिस प्रकरणको हम धर्म समझते हैं, उसके द्वारा हमें बतलाया जाता है कि संसारकी सृष्टि कैसे हुई, अपने धर्मावलम्बियोंको पहचाननेका क्या चिह्न है और हमारा नैतिक आचरण कैसा होना चाहिये। इस प्रकारकी शिक्षापर सभी जगह बहुत जोर दिया जाता है। इंग्लैंडके १९वीं शताब्दीके जो नास्तिक वैज्ञानिक थे, वे भी अपने ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिलसे पूर्ण-रूपसे परिचय रखते थे। चाहे वे सृष्टिके सम्बन्धकी उसकी बातोंको मानें या न मानें, चाहे धर्मके बाह्य आचार-विचारोंका पालन करें या न करें, उसकी बतलायी नैतिकताके अनुसार ही वे आचरण करते थे। सब धर्मोंका मूल उद्देश्य यही है कि हमारा नैतिक व्यवहार ठीक रहे; क्योंकि इसीके द्वारा मनुष्य-मनुष्यका—परस्परका श्रेष्ठ सम्बन्ध बना रह सकता है। मनुष्य सामाजिक जन्तु है। वह अकेला नहीं रह सकता और समाजको ठीक प्रकारसे चलाना ही धर्मोंका प्रधान लक्ष्य है और इसी कारण यह धर्म और 'रेलिजन'—दोनों ही शब्दोंका आधार है। उसका अर्थ यही है कि लोगोंको वह बाँधे रहे।

हमारे यहाँ धर्मका अत्यधिक व्यापक अर्थ होनेके कारण उसका प्रभाव मनुष्यके प्रत्येक पगपर और प्रत्येक काममें पड़ता है। हम सभी स्थितियोंमें लगातार अपनेसे कहते रहते हैं—अथवा अपनेसे कहते रहना चाहिये—'यह हमारा धर्म है'—इस कारण हमें करना चाहिये। 'यह अधर्म है'—इस कारण नहीं करना चाहिये। स्वराज्यके बाद हमने अपने देशमें 'लौकिक राज्य' (सेक्युलर स्टेट) की स्थापना की। इसका कारण यही था कि एक तो धर्मके नामपर हमारे यहाँ बहुत झगड़े होते रहे, जिसके कारण देशका विभाजनतक हो गया। साथ ही, अपने देशमें धर्मके नामसे अनेक सम्प्रदाय हैं, जिन सबको ही हमको बराबर पद देना अभीष्ट था और जिन सबके ही अनुयायियों-को हम समान नागरिक मानना चाहते थे एवं जिन सबको ही हम समान कर्तव्य और अधिकारोंको प्रदान करना चाहते थे। ऐसी अवस्थामें हमने अपनेको 'धर्म-निरपेक्ष' राज्यका पद प्रदान किया और यह घोषित किया कि राज्यकी तरफसे किसी धर्म अथवा सम्प्रदायको विशिष्ट पद न दिया जायगा और न राज्यसे सहायता पानेवाली किसी संस्थामें किसी विशेष सम्प्रदायकी शिक्षा दी जायगी।

यहाँतक तो सिद्धान्तकी बात हुई, पर सिद्धान्त ही पर्याप्त नहीं होता। उसके परिणामको भी देखना होता है। मनुष्य अपनी करनीसे परखा जाता है, कथनीसे नहीं। महात्मा गांधीजी कहा करते थे कि 'प्रचार'से अधिक महत्त्व 'आचार'का है। अंग्रेजीमें कहते हैं कि 'उदाहरण' (एग्जाम्पुल) 'उपदेश' (प्रिसेप्ट) से अधिक अच्छा है। इस समय देशमें हर प्रकारके अनाचार, भ्रष्टाचार, अनुचित महत्त्वाकाङ्क्षा आदिकी शिकायत हो रही है। सब लोग इससे परेशान हैं। सब लोग इसे जानते हैं, पर इसके उन्मूलनका कोई प्रकार नहीं बतला पाते। ऐसी दुर्भावना इतनी व्यापक हो गयी है कि उससे लज्जा न करके हम गर्व करने लगे हैं और यदि अनुचित कार्योंद्वारा कोई सफल हो जाता है तो वह अपनी स्थितिपर अभिमान तो रखता ही है, अन्य लोग भी उसको सम्मानका स्थान देते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं।

किसी दूसरे देश और कालमें यह स्थिति अशोभनीय समझी जाती या यदि किसी विदेशीको यह एकाएक बतलाया जाय तो वह विश्वास भी न करे कि ऐसा सम्भव है। पर

ऐसी स्थिति वास्तवमें है, इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अनुसंधान करनेपर यही प्रतीत होता है कि हमें धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। धर्मका पद जो हमारे घरोंमें, हमारी पाठशालाओंमें, हमारे व्यवसायोंमें, हमारे समाजमें था, अब नहीं रह गया। धर्मनिरपेक्ष राज्यके नामसे हमने धर्मको ही अपने जीवनसे हटा दिया। अवश्य ही यह कहा जायगा कि भौतिक (सेक्युलर) स्टेटका यह अर्थ नहीं है कि सब लोग ईश्वरको भुला दें या अपने-अपने सम्प्रदायोंके नैतिक आदेशोंके अनुसार न चलें। पर वास्तवमें हुआ यही है कि हम (हिंदू तो) सारा सदाचार ही भूल गये हैं। मुसल्मान, ईसाई और अन्य-धर्मावलम्बी अपनी संततियोंको अपने धर्मके मूल सिद्धान्तोंको बतलाते हैं, उचित-अनुचितपर भी ध्यान दिलाते हैं। पर हिंदू-समाज इतनी अनन्त जातियों, उपजातियों, सम्प्रदायों आदिमें विभक्त हो गया है कि उसमेंसे सारी धार्मिक भावनाएँ जाती रहीं। हिंदुओंमें न आचारकी एकता है, न विचारकी एकता है। सबके ईश्वरोपासनाके प्रकार, समय आदि पृथक्-पृथक् हैं। यदि कोई इनका पालन न करे तो भी वह हिंदू ही कहा जायगा, यदि उसका जन्म हिंदू-कुलमें हुआ हो और उसने अपने धर्मको स्वयं ही छोड़ न दिया हो।

धार्मिक भावनाओंकी शिक्षा-दीक्षा न होनेके कारण धर्म-विपरीत आचरणोंका समाजकी तरफसे विरोध न होनेके कारण ही हमारी यह दुर्गति हो रही है। अनाचार, भ्रष्टाचार आदि तो तभी दूर हो सकते हैं, जब अनुचित कार्य करनेकी वासना होते हुए ही हम यह अनुभव करें और अपनेसे कहें कि 'यह अधर्म है, इसे नहीं करना चाहिये।' समाजका नैतिक स्तर भी तभी ऊँचा हो सकता है, जब अधिकतर लोग उसमें ऐसे हों, जो अनाचारी, भ्रष्टाचारीको अपनेसे अलग रखनेको उद्यत हों। हम मानते हैं कि सम्प्रदायविशेषोंमें सृष्टि, अवतार, बाह्य चिह्न आदि जो बतलाये गये हैं, उनकी शिक्षा हम अपने सार्वजनिक संस्थाओंमें न दें; पर हमारा धर्मनिरपेक्ष राज्य भी भौतिकतापर जोर देता हुआ यह नहीं कहता और न यह कह सकता है कि हमें नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा भी न मिले। 'रेलिजन' और 'रेलिजस एजूकेशन' अर्थात् सम्प्रदाय और साम्प्रदायिक शिक्षाको हम चाहें तो दूर रक्खें, पर राज्यकी भी संस्थाओंमें हमें नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा तो मिलनी ही चाहिये, जिससे हम अच्छे और सच्चे नागरिक बन सकें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके गृहस्थ अपनी संततियोंको अपने सम्प्रदायविशेषके मौलिक सिद्धान्तोंको बतलावें और समझावें एवं नैतिकता तथा आध्यात्मिकता-पर विशेष जोर दें, जिससे कि सब लोग यह मानने लगें कि सब धर्मोंके मौलिक आधार एक ही हैं, सबके लक्ष्य भी एक ही हैं और हमें परस्पर प्रेम और भ्रातृभावसे रहना चाहिये, जिससे कि हम अपने देशसे सब अनुचित आचार-विचारको दूर करें, देशको सुन्दर और उज्ज्वल बनावें और वास्तविक एकताकी स्थापना करके अपनी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रक्खें।

गीता-धर्म*

(लेखक—पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥†

(गी० अ० १, श्लो० १)

छप्पय

श्रीराजा धृतराष्ट्र कहैं संजय तैं बानी।
व्यास-कृपा तैं तुमनि सकल रन-वार्ता जानी॥
चल चित्रनि के सरिस लखौ घर बैठे सब तुम।
अब तुम देहु बताइ जथारथ, जो पूछें हम॥
धरमछेत्र कुरुछेत्र में, सजि बजि कें नृपगन गए।
सब उमिग रन बाँकुरे, रनहित ते कौरे भए॥

यह संसार रणाङ्गण है। इस समरभूमिमें कोई ऐसा नहीं है, जो युद्ध न कर रहा हो। कोई धर्मके साथ, कोई अधर्मके साथ, कोई धनके लिये, कोई कामके लिये और कोई मोक्षके लिये—सब लड़ रहे हैं। नरका काम ही है लड़ाई करना। युद्धक्षेत्रमें आये और लड़े नहीं, समरभूमिमें प्रवेश करे और रणसे पराङ्मुख हो, यह हो ही कैसे सकता है। कभी-कभी मोहवश, कृपावश तथा अज्ञानवश नर जूआ डाल देता है। युद्धसे विरत होनेकी चेष्टा करता है। विषण्ण-वदन होकर अस्त्र-शस्त्र डाल देता है। उस समय नरके सनातन सखा उसे युद्धके लिये प्रोत्साहित करते हैं, युद्धको आवश्यक धर्म बताते हैं और धर्मका मर्म बतलाते हुए उसे लड़नेको प्रेरित करते हैं। नर विषण्ण हो जाता है, नारायण हँसते रहते हैं। जीवका धर्म ही है चिन्ता करना—विषादमें

* गीताके प्रथम श्लोकपर विचार।

† धृतराष्ट्रजीने पूछा—हे संजय! धर्मक्षेत्रको कुरुक्षेत्र है, उसमें युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए मेरे पुत्र तथा पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?

विह्वल होना । ईश्वरका स्वभाव है प्रसन्न रहना—हँसते रहना । चिन्तामें रोना आता है, हँसीमें गीत प्रस्फुटित होता है । जीवका धर्म है रोना; ईश्वरका धर्म है हँसते हुए गीत गाना । भगवद्-धर्म होनेसे भगवान्‌के गाये गीतको भगवद्‌गीता कहते हैं । उस भगवद्‌गीताको जिसने समझ लिया, उसका मोह नष्ट हो जाता है । मैं नारायणका सनातन सखा हूँ, जिसकी उसे विस्मृति हो गयी थी, उसकी स्मृति पुनः जाग्रत् हो जाती है । यह सब भगवत्कृपासे—प्रभु-कृपासे ही सम्भव है । जीव अपने पुरुषार्थसे गीताको कैसे समझ सकता है, जिसको वे ही समझाना चाहें वही समझ सकता है; जिसे वे ही जनाना चाहें, वही जान सकता है । वही भगवत्-आज्ञाओंका पालन कर सकता है । उसे जयशील—जिसकी सदा जय ही होती रहती हो, जिसकी कभी पराजय न हो, वही कह सकता है । पूछनेवाला प्रज्ञाचक्षु होना चाहिये और जिसने बलपूर्वक राज्यपर अधिकार जमा लिया हो अर्थात् जो धर्मको मनमें जानता तो हो, किंतु मोहवश उसका पालन करनेमें अपनेको असमर्थ पा रहा हो । वही पूछता है । शौनकजीके गीता-सम्बन्धी प्रश्नको सुनकर सूतजीने कहा—मुनियो ! भरत-वंशमें शंतनु नामके धर्मात्मा राजा हो चुके हैं । उनका विवाह भगवती सुरसरि गङ्गाजीसे हुआ । उनके गर्भसे आठ पुत्र—अष्टवसु उत्पन्न हुए । सातको तो जन्मते ही गङ्गादेवीने परलोक पठा दिया, आठवें भीष्म रहे । उनका नाम देवव्रत था । वे बड़े धर्मात्मा, शूरवीर तथा पितृभक्त थे । उनको उत्पन्न करके उनकी माँ गङ्गा अन्तर्हित हो गयीं । उनके पिता निषादकी कन्या पुत्रीपर आसक्त हो गये । निषादसे जब महाराजने विवाहका प्रस्ताव किया, तब निषादने इस शर्तपर कन्या देना स्वीकार किया कि मेरी पुत्रीसे जो पुत्र हो, वही राज्यका अधिकारी हो । इतने योग्य ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्रके रहते पिता इस अनुचित शर्तको कैसे स्वीकार करते, वे उदास होकर चले आये । राजकुमार देवव्रतको जब यह सब वृत्तान्त विदित हुआ, तब उन्होंने निषादके सम्मुख यह भीष्म प्रतिज्ञा की कि मैं विवाह न करूँगा, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगा । इसपर निषादने अपनी कन्या राजकुमारके पिताके निमित्त दे दी । पुत्रने अपने पिताका विवाह कराया । भीष्म प्रतिज्ञा करनेसे ही देवव्रत भीष्मके नामसे विख्यात हो गये ।

निषादकन्या सत्यवतीके गर्भसे दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य हुए । एक तो बाल्यकालमें ही युद्धमें मारे गये । दूसरेका विवाह भीष्मने काशिराजकी दो कन्याओंके साथ कराया । वे भी राजरोगसे परलोकगामी हुए । तब सत्यवतीने अपने कानीन पुत्र भगवान् व्यासद्वारा विचित्रवीर्यकी दोनों पत्नियोंसे आपद्धर्म समझकर दो पुत्र उत्पन्न कराये । बड़ेका नाम धृतराष्ट्र था, जो जन्मान्ध थे । छोटेका नाम पाण्डु था, जो वर्णमें पीतवर्णके थे । जन्मान्ध होनेसे बड़े होनेपर भी धृतराष्ट्र सिंहासनके अनधिकारी हुए, पाण्डु ही भरतवंशके सिंहासनपर बैठे । वे बड़े मृगयाप्रेमी थे, अतः राज्यकी देख-रेख अपने बड़े अंधे भाईको सौंपकर वे वनमें चले गये । वहाँ उनके धर्म, वायु, इन्द्रके द्वारा कुन्तीमें युधिष्ठिर भीम और अर्जुन—ये तीन और माद्रीसे अश्विनी-कुमारोंद्वारा नकुल और सहदेव, ये दो—इस प्रकार पाँच पुत्र हुए, जो पाण्डव कहलाये । धृतराष्ट्रके गान्धारीकी कुक्षिसे सौ पुत्र हुए, उनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था । वे सब कौरव कहलाये । धृतराष्ट्रके परम बुद्धिमान् मन्त्रीका नाम संजय था, जो सूत जातिके थे । महाराज पाण्डुके परलोकगमनके अनन्तर वनवासी ऋषिगण पाँचों पाण्डवोंको और महारानी कुन्तीको हस्तिनापुरमें भीष्मके समीप पहुँचा गये । नकुल-सहदेवकी माता माद्री अपने पतिके साथ सती हो गयीं, अतः पाँचों पाण्डवोंका पालन-पोषण कुन्तीने ही किया । इन पाँचों भाइयोंमें अत्यन्त स्नेह था ।

दुर्योधनादि सौ भाई थे । पहले महाराज पाण्डु अपने अंधे भाई धृतराष्ट्रको राज्य दे गये थे—वे तो अंधे होनेके कारण राज्यके अनधिकारी थे, फिर भी राज्यपर अधिकार धृतराष्ट्रका ही था । अंधे होनेके कारण राज-काज दुर्योधन ही करता था । अब राज्यके प्रधानाधिकारी पाण्डव आ गये थे । दुर्योधन चाहता था इन्हें भगाकर मैं निष्कण्टक राज्य करूँ । राज्यके प्रधान मन्त्री विदुरजी थे, वे पाण्डवोंसे स्नेह करते थे । कौरवोंने षड्यन्त्र रचकर पाण्डवोंको लाक्षागृहमें भेजकर जला डालना चाहा । किंतु विदुरजीकी कुशलतासे तथा भगवान्‌की कृपासे पाँचों पाण्डव अपनी माता कुन्तीके सहित वहाँसे छिपकर निकल गये और ब्राह्मणवेषमें भिक्षापर निर्वाह करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे । १२ वर्षतक वे वेष बदलकर घूमते रहे । दुर्योधनने समझा ये सब मर गये । उसने झूठे आँसू बहाये और वहीं धूम-धामसे दिखानेके लिये इनके श्राद्धादि कर्म भी कर दिये । ब्राह्मणोंको बहुत-सा दान भी दिया ।

महाराज द्रुपदकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अयोनिजा कन्या द्रौपदीके स्वयंवरमें ब्राह्मणवेषधारी अर्जुनने धनुषके मत्स्यको लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त कर लिया । वह द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी हुई । बहुत कहा-सुनीके पश्चात् धृतराष्ट्रने आधा राज्य पाण्डवोंको दे दिया । वे इन्द्रप्रस्थको अपनी राजधानी बनाकर बड़ी धूमधामसे राज्य करने लगे । वहाँ धर्मराजने सर्वश्रेष्ठ राजसूययज्ञ किया । दुर्योधन

कृषक खेतोंमें पानी दे रहा था। अपनी स्त्रीसे उसने कहा—'तू तबतक मेरे पानीको देख मैं जबतक रोटी खा लूँ।' स्त्री पानीको देखने लगी। कृषक रोटी खाता रहा। स्त्रीकी गोदमें ५-७ महीनेका बच्चा था। एक स्थानसे पानी फूटने लगा। स्त्री बार-बार उसमें मिट्टी डाले वह बह जाय, तब झट उसने अपनी गोदसे बच्चेको उठाकर उस स्थानपर रख दिया। पानी रुक गया। बच्चेको मर ही जाना था। मृतक पुत्रको वैसे ही लगा छोड़कर वह चली आयी। तब भगवान्ने अर्जुनसे कहा—'पार्थ! यही स्थान उपयुक्त है।' उसी स्थानको दोनों पक्षोंने स्वीकार कर लिया।

यह स्थान सदासे युद्धस्थल रहा है। सत्ययुगमें भी यह स्थान तीर्थ रहा। विश्वामित्र-वसिष्ठने यहाँ तप किया, यहीं दोनोंमें युद्ध हुआ। भगवान् परशुरामने इक्कीस बार क्षत्रियोंका वध करके रक्तकी नदी बहायी थी, क्षत्रियोंके रक्तसे पाँच बड़े कुण्ड भरकर उसी रक्तसे पितरोंका तर्पण करके अपने पिताके वधका प्रतिशोध किया। वे पञ्चकुण्ड ही समन्त-पञ्चक तीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस पावन तीर्थका माहात्म्य वेदों, उपनिषदों, शतपथ-ब्राह्मणादि ग्रन्थों तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। पहले यह तीर्थ ब्रह्माजीकी 'उत्तर-वेदी' के नामसे विख्यात हुआ। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा इन्द्रादि देवोंने बड़े-बड़े यज्ञ किये। महर्षि भृगुने भी यहाँ तपस्या की थी, इसलिये बहुत दिनोंतक यह भृगुक्षेत्रके नामसे विख्यात हुआ। फिर महाराज कुरुने इस क्षेत्रको कृषियोग्य बनाया, तभीसे यह धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्रके नामसे विख्यात हुआ। पुराणोंमें इसकी कथा इस प्रकार है—

भरतवंशमें महाराजा कुरु बड़े ही धार्मिक और प्रजावत्सल सम्राट् थे। प्रजामें धर्मभावना जाग्रत् हो तथा लौकिक उन्नति, धन-धान्यकी समृद्धि हो, इस हेतु उन्होंने इस ब्रह्माकी उत्तरवेदी-ऐसे परम पावन क्षेत्रको आध्यात्मिक शिक्षा तथा तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग तथा ब्रह्मचर्यरूप अष्टाङ्ग-धर्मकी कृषि करनेका निश्चय किया। वे सुवर्णमण्डित रथपर बैठकर यहाँ आये। उन्होंने उसी सुवर्णका हल बनाया। अब हल तो बन गया। इसे खींचे कौन? शिवजीने इन्हें बैल दिया। यमराजके पास भैंसा ही था, उन्होंने भैंसा ही दिया। अर्थात् हल या तो बैलोंद्वारा या भैंसोंद्वारा चलाया जाता है। राजा इस धर्मक्षेत्रको धर्मपूर्वक जोत रहे थे। इसी समय देवराज इन्द्र आये और बोले—'राजन्! खेतको जोत तो रहे हो! बीज क्या बोओगे?'

राजाने कहा—'देवेन्द्र! आप घबरायें नहीं, बीज तो मेरे पास ही है।'

यह सुनकर इन्द्र चले गये। राजा धर्मक्षेत्रको जोतते ही रहे। वे सात कोस भूमिको प्रतिदिन कृषिके निमित्त जोत लेते थे। इस प्रकार ४८ कोस भूमिको वे कृषियोग्य बना सके। तब भगवान् विष्णु राजाके ऐसे परिश्रमको देखकर वहाँ पधारे और उनसे पूछने लगे—'राजन्! क्या कर रहे हो?'

राजाने कहा—'भगवन्! मैं अष्टाङ्ग-धर्मकी कृषिके लिये भूमि जोत रहा हूँ।'

भगवान्ने पूछा—'राजन्! भूमि तो तैयार कर रहे हो, बीज क्या बोओगे? और वह बीज है कहाँ?'

राजाने कहा—'भगवन्! बीज तो मेरे पास है।'

भगवान् विष्णुने कहा—'उसे मुझे अर्पण कर दो, मैं उसे आपके लिये बो दूँगा।'

राजाने कहा—'प्रभो! ग्रहण करें।' यह कहकर राजाने अपनी दायीं भुजा फैला दी। भगवान्ने सुदर्शन-चक्रसे उसे काटकर उसके टुकड़े करके बो दिया। फिर क्रमशः अपनी बायीं भुजा, दोनों पैर और अन्तमें अपना सिर भी दे दिया।

इस प्रकार राजाने अपना सम्पूर्ण शरीर अष्टाङ्ग-योगकी कृषिके लिये भगवदर्पण कर दिया अर्थात् उसे धूलिमें मिला दिया; क्योंकि बिना शरीरको धूलिमें मिलाये, बिना रक्त-पसीना एक किये, बिना कठोर श्रमके धर्मक्षेत्रकी खेती होती नहीं। इसीलिये राजाने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। जो सर्वस्व अर्पण कर देता है, ब्रह्मार्पण कर देता है, उसीसे भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। राजाके ऐसे तप, सत्य, दया, शौच, दान, योग एवं दृढ़ व्रतको देखकर भगवान् उनपर प्रसन्न हुए और राजा कुरुको जीवित करके उनसे वर माँगनेको कहा।

राजाने कहा—'भगवन्! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं तो मुझे चार वर दीजिये। (१) पहला वर तो यह कि जितनी भूमि मैंने जोती है अर्थात् ४८ कोसकी भूमि—यह परम पुण्यक्षेत्र धर्मक्षेत्र हो और मेरे ही नामसे विख्यात हो अर्थात् लोग इसे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र कहा करें। (२) दूसरा वरदान यह कि भगवान् शिव समस्त देवताओंसहित यहाँ सदा-सर्वदा निवास करें। (३) तीसरा वर यह कि यहाँ व्रत, उपवास, स्नान, जप, तप तथा शुभाशुभ जो भी कर्म किये जायँ वे अक्षय हो जायँ। (४) चौथा यह कि जो भी यहाँ मृत्यु-को प्राप्त हो, वह अपने पाप-पुण्यके प्रभावसे रहित होकर स्वर्गगामी हो।

भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहकर राजाको चारों वर दे दिये। तभीसे यह अति पावन क्षेत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके नामसे विख्यात हुआ।

ब्रह्माजीने सोचा—ये कलियुगी क्षत्रिय घरोंमें खाटपर पड़े-पड़े मरेंगे तो सभीको नरक होगा। ब्राह्मणको तपस्या करते-करते मरना चाहिये, क्षत्रियको सम्मुख समरमें हँसते-हँसते प्राणोंका परित्याग करना चाहिये। महाभारतका युद्ध धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें इसीलिये कराया कि यहाँ जो भी मरेगा, उसीको स्वर्गकी प्राप्ति होगी। यह धर्मकी लड़ाई थी, धर्मराज स्वयं लड़नेवाले थे, इसलिये यह धर्मक्षेत्रमें हुई। लड़नेवाले दोनों ही कुरुवंशके थे—कौरव थे, इसीलिये कुरुक्षेत्रमें लड़ाई हुई। वहाँपर वे सब तीर्थयात्रा-बुद्धिसे एकत्रित नहीं हुए थे, युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए थे।

महाराज धृतराष्ट्र धर्मात्मा थे, ज्ञानी थे; फिर सगे-सम्बन्धियोंमें कुछ-न-कुछ ममत्व रहता ही है। इस ममत्वका त्याग करना बड़े-बड़े मुनियोंके लिये भी बहुत कठिन है। इसीलिये धृतराष्ट्र दुर्योधनादिको 'मामकाः'—मेरे पुत्र कहते हैं। पाण्डवोंको पाण्डुका ही पुत्र कहकर जिज्ञासा करते हैं—वे लोग क्या करने लगे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अंधे धृतराष्ट्र संजयसे पूछ रहे हैं—'संजय! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए मेरे और पाण्डुके पुत्र क्या करने लगे?' इस प्रश्नका उत्तर संजय जो धृतराष्ट्रको देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा; आप सब समाहित चित्तसे सुननेकी कृपा करें।

छप्पय

मेरे सौ सब पुत्र युद्ध हित उत्सुक डोलैं।
पर पच्छनि हैं कुपित होहिं कटु बानी बोलैं॥
पांडुपुत्र हैं पाँच परस्पर सत व्रतधारी।
तिन की रच्छा करैं नंदनंदन गिरिधारी॥
समरभूमिमें समरहित, सबही संबंधी-सगे।
सकल सुसज्जित शस्त्र लै, संजय का करिवे लगे॥*

धर्म और उसका प्रचार

(लेखक—ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह तो पता नहीं कि विशुद्ध धर्म-प्रचारका उद्देश्य कहाँतक है और राजनीतिक स्वार्थ कितना है; पर देखा जाता है इस समय विभिन्न-धर्मावलम्बी लोग न्यूनाधिक रूपसे अपने-अपने धर्म-प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार प्रयत्न अवश्य कर रहे हैं। क्रिश्चियन मतका प्रचार करनेके लिये ईसाई-जगत् अपार धनराशिको पानीकी तरह बहा रहा है। अमेरिकातकसे करोड़ों रुपये इस कार्यके लिये भारतवर्ष तथा विभिन्न देशोंमें प्रतिवर्ष भेजे जाते हैं। लाखों ईसाई स्त्री-पुरुष सुदूर देशोंमें जा-जाकर भाँति-भाँतिसे लोकसेवा करके तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर, फुसला-कर और उन्हें उल्टी-सीधी बात समझाकर ईसाई बना रहे हैं।

कुछ मजहबी मतवाले लोग पर-धन तथा परस्त्री-अपहरण करने, धर्मके नामपर हिंसा करने और परधर्मीकी हत्या करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार-प्रसार करते हैं। इसीसे आज चारों ओर अशान्ति और दुःखका विस्तार हो रहा है। अपनी बुद्धिसे लोक-कल्याणके लिये जिस धर्मको अधिक उपयोगी समझा जाय, उसके प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। इस न्याय-से कोई भाई यदि वास्तवमें ऐसे ही शुद्ध भावसे प्रेरित होकर केवल लोक-कल्याणके लिये अपने धर्मका प्रचार करना चाहते हैं तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं है; परंतु उन लोगोंके उपर्युक्त कार्योंको देखकर हमलोगोंको क्या करना चाहिये, यह विषय विचारणीय है। मेरी समझसे एक हिंदू-धर्म ही सब प्रकारसे पूर्ण धर्म है, जिसका चरम लक्ष्य मनुष्यको संसारके त्रितापानलसे मुक्त कर उसे अनन्त सुखकी शान्त-शीतल शेष सीमातक पहुँचाकर सदाके लिये आनन्दमय बना देना है। इसी धर्मका पवित्र संदेश प्राप्त कर समय-समयपर जगत्‌के दुःखदग्ध अशान्त प्राणी परम शान्तिको प्राप्त हो चुके हैं और आज भी जगत्‌के बड़े-बड़े भावुक पुरुष अत्यन्त उत्सुकताके साथ इसी संदेशकी प्राप्तिके लिये लालायित हैं। जिस धर्मकी इतनी अपार महिमा है, उसी अनादिकालसे प्रचलित पवित्र और गम्भीर आशयवाले धर्मको माननेवाली जाति मोहवश जगत्‌के अन्यान्य अपूर्ण मतोंका आश्रय ग्रहणकर अज्ञान-सरिताके प्रवाहमें बहना चाहती है, यह बड़े ही दुःखकी बात है!

यदि भारतने अपने चिरकालीन धर्मके पावन आदर्शोंको भूलकर ऐहिक सुखोंकी व्यर्थ कल्पनाओंके पीछे उन्मत्त हो केवल काल्पनिक भौतिक, अधिक-से-अधिक स्वर्गादि सुखोंको ही धर्मका ध्येय माननेवाले मतोंका अनुसरण आरम्भ कर दिया तो बड़े ही अनर्थकी सम्भावना है। इस अनर्थका

* श्रीब्रह्मचारीजीकी 'भागवती कथा' के ६८ भाग प्रकाशित हो चुके हैं, कई कारणोंसे बहुत दिनोंसे आगे खण्ड नहीं छप रहे थे। अब फिरसे प्रकाशन आरम्भ हो गया है, यह ६९वें अप्रकाशित खण्डका प्रथम अध्याय है। प्रत्येक खण्डकी संशोधित दक्षिणा २.२५ रुपये है।

सूत्रपात भी हो चला है। समय-समयपर इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। लोग प्रायः परमानन्द-प्राप्तिके ध्येयसे च्युत होकर केवल विविध प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके प्रयत्नको ही अपना कर्तव्य समझने लगे हैं। धर्मक्षयका यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम देखकर भी धर्मप्रेमी बन्धु धर्मनाशसे उत्पन्न होनेवाली भयानक विपत्तियोंसे जातिको बचानेकी संतोषजनक रूपसे चेष्टा नहीं कर रहे हैं, यह बड़े ही परितापका विषय है।

इस समय हमारे देशमें अधिकांश लोग तो केवल धन, पद, नाम और कीर्ति कमानेमें ही अपने दुर्लभ और अमूल्य जीवनको बिता रहे हैं। कुछ सज्जन समाज-सुधार या समाज-कल्याणके कार्योंमें लगे हैं, परंतु सत्य-धर्मके प्रचारक तो कोई विरले ही महात्माजन हैं। यद्यपि मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी कामना एवं स्वार्थपरताका परित्याग करके समाज-कल्याणके लिये प्रयत्न करनेसे भी सच्चे सुखकी प्राप्तिमें कुछ लाभ पहुँचता है, परंतु भौतिक सुखोंकी चेष्टा वास्तवमें परम ध्येयको भुला ही देती है। सच्चे सुखकी प्राप्तिमें पूरी सहायता तो उस शान्तिप्रद सत्य-धर्मके प्रचारसे ही मिल सकती है।

यद्यपि मुझे संसारके मत-मतान्तरोंका बहुत ही कम ज्ञान है, फिर भी साधारणरूपसे मेरा यह विश्वास है कि सबसे उत्तम सार्वभौम धर्म वह हो सकता है, जिसका लक्ष्य महान्-से-महान्, नित्य और निर्बाध परम आनन्दकी प्राप्ति हो और जिसमें सबका अधिकार हो। केवल ऐहिक सुख या स्वर्गसुख बतलानेवाला धर्म भी वास्तवमें बुद्धिमान्के लिये त्याज्य ही है। अतएव सर्वोत्तम धर्म वह है, जो परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला है। ऐसा धर्म मेरी समझसे यह वैदिक सनातन धर्म ही है, जिसका स्वरूप निम्नलिखित-रूपसे शास्त्रोंमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
(गीता १६। १-३)

'सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्नि-होत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठन-पूर्वक भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन, शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रके विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच अर्थात् बाहर और भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—हे अर्जुन! दैवीसम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण (ये) हैं।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्म-विद्या, यथार्थ भाषण और क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० २। ३०)

'अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन और भोग-सामग्रियोंका संग्रह न करना—ये पाँच प्रकारके यम हैं।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २। ३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करना—ये पाँच प्रकारके नियम हैं।' सबका निष्कामभावसे पालन करना ही सच्चा धर्माचरण है।'

ये ही सार्वभौम धर्मके सर्वोत्तम लक्षण हैं, इन्हींसे परमपदकी प्राप्ति होती है। अतएव जो सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्रकी सेवा करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मको ही उन्नतिका परम साधन समझकर स्वयं उसका आचरण करें और अपने दृष्टान्त तथा युक्तियोंके द्वारा इस धर्मका महत्त्व बतलाकर मनुष्यमात्रके हृदयमें इसके आचरणकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दें। वास्तवमें यही सच्चा धर्म-प्रचार है और इसीसे लौकिक अभ्युदयके साथ-ही-साथ देश-कालकी अवधिसे अतीत मुक्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष दुःखरूप संसारसागरमें लौटकर नहीं आता। ऐसे ही पुरुषोंके लिये श्रुति पुकारती है—

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।
(छान्दोग्य० ८। १५। १)

इस परम आनन्दका नित्य और मधुर आस्वाद मनुष्य-मात्रको चखानेके लिये वैदिक सनातन धर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको विशेषरूपसे करनी चाहिये।

कुछ सज्जनोंका मत है कि अधिकार और विपुल धनराशिके अभावसे धर्मप्रचार नहीं हो सकता; परंतु मेरी समझमें उनका यह मत सर्वथा ठीक नहीं है। अधिकारोंकी प्राप्तिसे धर्म-प्रचारमें सहायता मिलती है; परंतु यह बात नहीं कि अधिकारोंके अभावमें धर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। धर्मपालनसे बड़े-से-बड़ा आत्मिक अधिकार मिल सकता है, तब इस साधारण अधिकारकी तो बात ही कौन-सी है। वह तो अनायास ही प्राप्त हो सकता है।

धनकी भी धर्मके प्रचारमें आवश्यकता नहीं; सम्भव है कि इससे आंशिकरूपमें कुछ सहायता मिल जाय। इसमें प्रधान आवश्यकता तो है स्वयं धर्मका आचरण करनेवाले सच्चे त्यागी और धर्मज्ञ प्रचारकोंकी। ऐसे पुरुष मान, बड़ाई, प्रसिद्धि और स्वार्थको त्यागकर प्राणपणसे धर्म-प्रचारके लिये कटिबद्ध हो जायँ तो उन्हें द्रव्यादि वस्तुओंकी तो कोई त्रुटि रह ही नहीं सकती; अपितु वे अपने प्रतिपक्षियोंपर भी प्रेमसे विजय प्राप्तकर उन्हें अपना मित्र बना ले सकते हैं। केवल संख्यावृद्धिके लिये ही लोभ-लालच देकर या फुसला-धमकाकर किसीका धर्म-परिवर्तन करना वास्तवमें उसके विशेष हितका हेतु नहीं हो सकता और न ऐसे स्वार्थयुक्त धर्म-प्रचारसे प्रचारकोंको ही विशेष लाभ होता है। जब मनुष्य धर्मके महत्त्वको स्वयं भलीभाँति समझकर उसका पालन करता है, तभी उसे यथार्थ आनन्द और शान्ति मिलती है और इस प्रकार अपूर्व आनन्द और परम शान्तिका अनुभव करके ही मनुष्य संसृतिमें फँसे हुए अशान्त, दुखी जीवोंकी दयनीय स्थितिको देखकर करुणार्द्र-चित्तसे उन्हें शान्त और सुखी बनानेके लिये प्रयत्न करते हैं; वही सच्चा धर्म-प्रचार है।

बड़े खेदकी बात है कि इस अपार आनन्दके प्रत्यक्ष सागरके होते हुए भी लोग दुःखरूप संसारसागरमें मग्न हुए भीषण संतापको प्राप्त हो रहे हैं। मृगतृष्णासे परिश्रान्त और व्याकुल मृग-समूह जैसे गङ्गाके तीरपर भी गङ्गाकी ओर न ताककर तप्त बालुका-राशिमें ही प्यासके मारे छटपटाकर मर जाते हैं, वही दशा इस समय हमारे इन भाइयोंकी हो रही है।

सत्य-धर्मके पालनसे होनेवाली अपार आनन्दकी स्थितिको न समझनेके कारण ही मनुष्योंकी यह दशा हो रही है। अतएव ऐसे लोगोंको दयनीय समझकर उन्हें वैदिक सनातन-धर्मका तत्त्व समझानेकी चेष्टा करनेमें ही उनका उपकार और सच्चा सुधार है। इस धर्मको बतलानेवाले हमारे यहाँ अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन सबका मनन और अनुशीलन करना कोई सहज बात नहीं। अतएव किसी एक ऐसे ग्रन्थका अवलम्बन करना उत्तम है, जो सरलताके साथ मनुष्यको इस पावन पथपर ला सकता हो। मेरी समझमें ऐसा पावन ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। बहुत थोड़ेमें सरल शब्दोंमें कठिन-से-कठिन सिद्धान्तोंको समझानेवाला, सब प्रकारके अधिकारियोंको उनके अधिकारानुसार उपयोगी मार्ग बतलानेवाला, सच्चे धर्मका पथप्रदर्शक, पक्षपात और स्वार्थसे रहित उपदेशोंके अपूर्व संग्रहका यह एक ही सार्वभौम महान् ग्रन्थ है। जगत्के अधिकांश महानुभावोंने मुक्तकण्ठसे इस बातको स्वीकार किया है। गीतामें सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एकको भी पूर्णतया धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, फिर सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या है।

अतः जिन पुरुषोंको धर्मके विस्तृत ग्रन्थोंको देखनेका पूरा समय नहीं मिलता, उनको चाहिये कि वे गीताका अर्थसहित अध्ययन अवश्य ही करें और उसके उपदेशोंको पालन करनेमें तत्पर हो जायँ। मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और गीता मुक्ति-मार्ग बतलानेवाला एक प्रधान ग्रन्थ है; इसलिये परमेश्वरमें भक्ति और श्रद्धा रखनेवाले सभी आस्तिक मनुष्योंका इसमें अधिकार है। गीताप्रचारके लिये भगवान्ने किसी देश, काल, जाति और व्यक्ति-विशेषके लिये रुकावट नहीं की है, वरं अपने भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवालेको सबसे बढ़कर अपना प्रेमी बतलाया है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(१८।६८)

'जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(१८।६९)

'और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रियकार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमें दूसरा कोई होगा।'

अतएव सभी देशोंकी सभी जातियोंमें गीता-शास्त्रका प्रचार बड़े जोरके साथ करना चाहिये। केवल एक गीताके प्रचारसे ही पृथ्वीके मनुष्यमात्रका उद्धार हो सकता है। इसलिये इसी गीताधर्मके प्रचारमें सबको बलवान् होना चाहिये। इससे सबको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। यही एक सरल, सहज और मुख्य उपाय है।

———

भारतीय समाज-मर्यादाके आदर्श श्रीराम

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन')

भगवान् श्रीराम भारतीय समाज-मर्यादाके आदर्श हैं। वे भारतीय संस्कृतिकी सामाजिक विशिष्टताओंके प्रतीक हैं। उनके जीवनमें हमारी सामाजिक मर्यादाएँ एवं आदर्श अभिव्यक्त हुए हैं।

समस्त भारतीय संस्कृति त्यागमयी है। उसमें प्रत्येक वर्गके लिये, अपने स्तर एवं स्थितिके अनुसार, भोगको क्रमशः छोड़ते हुए त्यागकी वृत्ति ग्रहण करनेपर बल दिया है। जहाँ भोग है भी, वहाँ वह त्यागके लिये एक सीढ़ीके रूपमें है। इसीलिये भारतीय जीवन आत्मार्पणकी भावनापर गठित हुआ है। इस भावनाके कारण सामाजिक पक्षमें अधिकारके स्थानपर कर्तव्यकी प्रधानता स्थापित हुई। रामका समस्त जीवन त्याग-प्रधान एवं उदात्त कर्तव्य-भावनासे पूर्ण है। उनका जीवन कहीं भी अपने लिये नहीं है। वह एक आदर्शसे प्रेरित, एक आदर्शके लिये समर्पित और उस आदर्शको आचरणमें व्यक्त करनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील जीवन है। वह व्यक्तिगत सुख एवं भोगपर कर्तव्योन्मुख लोकहितकी प्रधानताका जीवन है।

वंश-मर्यादा

जिस वंशमें उन्होंने जन्म लिया था उसमें भारतीय संस्कृतिके आदर्शको प्रकाशित करनेवाले एक-से-एक महापुरुष हुए हैं। हरिश्चन्द्र, दिलीप, भरत, रघु—एक-से-एक राजा इस वंशमें हुए। इस वंशका वर्णन करते हुए कालिदासने लिखा है—

> सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
> आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
> यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
> यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
> त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
> यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
> शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
> वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
> रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
> तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥
>
> (रघुवंश १ । ५—९)

अर्थात् मैं उन प्रतापी रघुवंशियोंका वर्णन करने बैठा हूँ जिनके चरित्र जन्मसे लेकर अन्ततक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्रके ओर-छोरतक फैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वीसे सीधे स्वर्गतक जाया-आया करते थे, जो शास्त्रोंके नियमके अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगनेवालोंको मनचाहा दान देते थे, जो अपराधियोंको अपराधके अनुसार ही दण्ड देते थे, जो अवसर देखकर ही काम करते थे, जो दान करनेके लिये ही धन बटोरते थे, जो सत्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे कि जो कहें उसे करके भी दिखा दें, जो दूसरोंका राज्य हड़पने या लूटमारके लिये नहीं वरं अपना यश बढ़ानेके लिये ही दूसरे देशोंको जीतते थे, जो भोग-विलासके लिये नहीं वरं संतान उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह करते थे, जो बालपनमें विद्याभ्यास करते थे, तरुणावस्थामें संसारके भोगोंका आनन्द लेते थे, बुढ़ापेमें मुनियोंके समान जंगलोंमें रहकर तप करते थे और अन्तमें परमात्माका ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ते थे।

ऐसे वंशमें उनका जन्म हुआ था; सहज ही श्रेष्ठ संस्कार उन्हें मिले थे। रघुवंशियोंके लिये तुलसीदासजीने भी कहा है—

> रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥

शुभ संस्कारयुक्त जीवन

वे सत्यसंध महाराज दशरथ और चारुशीला महारानी कौशल्याकी प्रिय संतान थे। इसलिये उनमें शुभ संस्कार बचपनसे थे। यों तो वे साक्षात् परमेश्वर, ब्रह्मावतार ही थे; किंतु मानवीय दृष्टिसे देखा जाय तो भी वे मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। शरीर-सम्पत्ति एवं प्रतिभाके आलोकसे उनका शैशव आलोकित है; बचपनसे ही वे शीलके समुद्र हैं; विद्योपार्जनमें केवल सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं वरं जीवन, उसके श्रेष्ठ कर्तव्य और आदर्शोंकी विकासमान अनुभूतियाँ उनमें विद्यमान हैं—छोटोंपर ममता एवं स्नेह तथा गुरुजनोंके प्रति सम्मान एवं भक्तिसे उनका हृदय पूर्ण है। माता-पिता दोनोंकी अक्षय स्नेहधारासे स्निग्ध एवं मृदुल हृदय उनको मिला है; परंतु

पुत्र, आदर्श भाई एवं आदर्श पति हैं। माता-पिता एवं गुरुजनके प्रति उनमें असीम सम्मानका भाव है। भाइयोंके प्रति उनका हृदय प्रेमसे इतना द्रवित है कि राज्याभिषेककी बात उन्हें अद्भुत लगती है। सोचते हैं—'एक साथ जन्मे, एक साथ पालन-पोषण हुआ, खाये, खेले, पढ़े; यह क्या रीति है कि एक भाईको गद्दी मिले?' पहले भाइयोंके सुख-सुविधाकी बात सोचते हैं, तब अपनी। पत्नी उनकी परम अनुगता है और वे भी उसके प्रति सहज प्रेमसे पूर्ण हैं। किंतु यह मातृ-पितृभक्ति, यह भ्रातृप्रेम, यह दाम्पत्य-प्रणय इतने उच्च स्तरपर है, वे इतने श्रेष्ठ संस्कारोंसे पूर्ण हैं कि वे उनके जीवनादर्शोंमें सहायक और साधक हैं। मोहाविष्ट प्राणियोंकी तरह वे उनके लिये बन्धनकारी नहीं हैं, श्रेयसाधक हैं। प्रेम यहाँ मुक्तिदाता है, मोहक एवं मूर्च्छाकारक नहीं।

जगत्‌के सम्पूर्ण स्नेह-सम्बन्ध आत्मरूपको लेकर ही हैं। श्रुति भी यही कहती है। इसलिये धर्मको प्रकाशित करनेमें ही उनकी महत्ता है। जब ऐसा नहीं होता तो वही प्रेम मोहरूप हो जाता है और सामाजिक पराभवका भी कारण होता है। श्रीरामके जीवनमें यही सत्य प्रकट हुआ है। उनके पारिवारिक जीवनमें हमें स्नेहकी कोमलताके साथ इसी कर्तव्यनिष्ठ दृढ़ताके दर्शन होते हैं।

श्रेयपथमें

पिताके सत्य एवं धर्मकी रक्षाके लिये, युवराज-पदपर अभिषेकके दिन वे समस्त राजसिक सुविधाओंका त्याग कर जीवनके कण्टक-वनकी ओर अग्रसर होते हैं। पिताकी मूर्च्छा और मृत्यु, भाइयोंकी हृदय-व्यथा, पत्नीके कष्ट, स्वजनोंका आर्तनाद और प्रजावर्गका गम्भीर शोक भी उन्हें कर्तव्य-मार्गसे विरत नहीं कर पाते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनके इस त्यागमें कहीं आवेश नहीं है, अनुचित वेग नहीं है। वह सब उनके लिये सहज है। वह शान्त, आवेगहीन, मर्यादाओंसे पूर्ण है। जब उनके ससुर जनक तथा भाई भरत आदि माताओंसहित उन्हें मनाने जाते हैं, तब स्नेहके भार एवं शील-संकोचसे सिर झुकाये हुए वे केवल अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं और कर्तव्यके निर्णय एवं आदेशका भार उन्हें ही सौंप देते हैं। अपने धर्ममें दृढ़ रहते हुए भी कहीं गुरुजनोंसे तर्क-वितर्क नहीं करते; सदा अपनी समाज-मर्यादाका ध्यान करके ही विनयपूर्वक उत्तर देते हैं।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय आदर्शोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो हम उन्हें सदैव अन्याय एवं अधर्मकी शक्तियोंसे युद्ध करते देखते हैं। उनका समस्त जीवन अनैतिकता एवं अधर्मके विरुद्ध एक निरन्तर संघर्षका जीवन है। सामाजिक दृष्टिसे अपने जीवनमें उन्होंने निषादराज, शबरी इत्यादि निम्नजनोंको अपनाया; अहल्याका उद्धार करके मानो बताया कि महात्माजन पतितसे घृणा नहीं करते, उनमें अपनी शक्तिका, पावनताका अधिष्ठान कर उन्हें ऊपर उठा देते हैं। छोटे वानर-वनचरोंको अपने संसर्ग एवं संस्कारसे उन्होंने शक्ति एवं महत्त्वकी सीमापर पहुँचा दिया। आर्यावर्त-का जातीय जीवन उस समय विजड़ित एवं विशृङ्खल हो रहा था। विद्या एवं शक्तिसे मदान्ध रावणके आतंकसे समस्त दक्षिणापथ एवं मध्यभारत काँपता था। भोगोन्मुखी आसुरी सभ्यताने धर्म एवं श्रेष्ठ संस्कारोंका आर्य-जीवन असम्भव कर दिया था। ऋषियों एवं तपस्वियोंके कार्यमें बड़ी बाधाएँ उपस्थित होती थीं। रावणने अपनी विद्या-बुद्धिसे अनेक प्राकृतिक शक्तियोंको वशीभूत कर लिया था। वायु एवं अग्निपर नियन्त्रण स्थापित कर उनसे मनमाना काम लेता था। मानव-जीवनको आत्मिक विकासके मार्गपर प्रेरित करनेवाली और तपःपूत संस्कृतिको महत्त्व देनेवाली आर्य सभ्यताके लिये संकट उपस्थित था।

श्रीरामने अपने कौशल, पराक्रम, संघटनशक्ति और अक्षय आत्मविश्वाससे रावण एवं उसकी अज्ञानमूला पद्धति-का विनाश किया और बन्धनोंमें बँधे देशको पुनः मुक्त स्वस्थ वातावरणमें साँस लेने और जीनेका अवसर प्रदान किया। शत्रुके साथ युद्धमें भी हम देखते हैं कि श्रीरामके पास भौतिक साधन शत्रुकी अपेक्षा नगण्य थे। परंतु आत्मिक शक्तियों एवं उदात्त गुणोंके समुचित संघटनद्वारा उन्होंने भयंकर शत्रुपर विजय पायी।

असत्य एवं अन्धकारसे सत्य एवं प्रकाशका युद्ध ही श्रीरामके जीवनमें प्रबलताके साथ व्यक्त हुआ है। मानवमात्रके जीवनमें यह युद्ध न्यूनाधिक मात्रामें चलता रहता है, चल रहा है। असत्य एवं अधर्मके प्रति युद्ध करते हुए उसके निवारण-निराकरणमें हम जिस सीमातक लगते हैं उसी सीमा-तक मानो श्रीरामको अपने जीवनमें उतारते हैं। जिस सीमातक हम श्रीराममय बनते हैं, उसी सीमातक हम धर्मरूप होते हैं; क्योंकि श्रीराम ही आर्य-संस्कृतिकी सामाजिक मर्यादाके आदर्श हैं। वही धर्म हैं, वही जीवन हैं, वही आत्मा हैं, वही परमात्मा हैं। उनके चरित्रका श्रवण, मनन, अनुकरण कर, उनसे अपने हृदयकी गाँठ बाँधकर हम पावन एवं धन्य हो सकते हैं।

सदाचार-धर्मपरायण भगवान् श्रीरामका आदर्श चरित्र

(लेखक—पं० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालङ्कार)

भारतीय वैदिक-संस्कृतिका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है। उसके बाह्य-आभ्यन्तर स्वरूप परस्पर इतने मिले हुए हैं कि उनमें भेददृष्टि की नहीं जा सकती। वैदिक-संस्कृतिको किसी भी रूपमें परखिये, उसमें एक देश, एक काल, एक समाज, एक व्यक्तिको लेकर कोई विचार सम्भव नहीं, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' का तात्पर्य विश्वकल्याण, सर्वसमाज-कल्याण है। उनकी प्रार्थनाएँ भी 'जीवेम शरदः शतम्श्रृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्' 'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया' 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' 'हम सब सौ वर्षतक जीवित रहें, सुनते रहें, बोलते रहें और दीनतासे रहित हों। संसारका कल्याण हो, दुष्ट भी प्रसन्न हों, जीव परस्पर एक दूसरेका कल्याण-चिन्तन करें।' 'सभी सुखी और नीरोग हों।' कल्याण-कामना सम्पूर्ण संसारके लिये है। संसारके सुचारु संचालनके लिये धर्मको परम आवश्यक माना गया है। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' 'धर्म सारे संसारकी स्थिति है।' उस धर्ममें भी 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहकर धर्मशास्त्रने आचार-पालनपर विशेष बल दिया है। वस्तुतः बात ऐसी ही है। मनुष्यका जैसा आचरण होता है, वैसे ही उसके सहज विचार भी होते हैं। विचारोंकी शुद्धिके लिये शुद्ध सत् आचारोंका होना आवश्यक है। इसीसे आचार-विचारमें आचारका प्रथम स्थान है।

प्राचीन कालमें सारी शिक्षा आचारपर ही आधारित थी। कार्यशुद्धि, वाक्शुद्धि, मनःशुद्धिपर अधिक ध्यान देना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदिका पालन, शिक्षार्थियोंके ज्ञानोपार्जनके आवश्यक अङ्ग थे।

भगवान् श्रीराम आचारधर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। भगवान् श्रीरामका सारा जीवन सदाचारकी प्रतिबिम्ब मूर्ति है। 'रामराज्य' शब्द आज सभी वर्गके लोगोंका कण्ठहार-सा बन गया है। 'योगवासिष्ठ'में श्रीरामके विचारों एवं महर्षि वसिष्ठके उपदेशोंको पढ़कर हृदय पुलकित हो उठता है। वाल्मीकीय रामायण अथवा रामचरितमानस पढ़नेवाले पुरुषको यह समझते विलम्ब न होगा कि श्रीरामके विचार और आचारमें कितना समन्वय था। श्रीरामको वनसे लौटानेके उद्देश्यसे नास्तिक मतका अवलम्बन कर समझानेवाले श्रीजाबालिको उत्तर देते हुए श्रीराम कहते हैं कि 'मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे आपने जो बातें कही हैं, वे कर्तव्यके समान दीखनेपर भी कर्तव्य नहीं हैं, पथ्य प्रतीत होनेपर भी पथ्य नहीं हैं। जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादा तोड़ देता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार-विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं। इससे वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता। आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम या नीच कुलमें उत्पन्न है, कौन वीर है या वृथा अभिमानी है, कौन पवित्र और कौन अपवित्र है। आपका उपदेश पहनेमें तो धर्मका चोला है, किंतु है वह अधर्म। इससे संसारमें वर्णसंकरताका प्रचार होगा। यदि मैं वेदोक्त शुभकर्मोंको त्यागकर विधिहीन कर्मोंमें लग जाऊँ तो कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान रखनेवाला कौन समझदार मनुष्य मुझे अच्छा मानकर आदर देगा? इस दशामें मैं जगत्‌में दुराचारी, लोकको कलङ्कित करनेवाला माना जाऊँगा। आपके इस उपदेशको मानकर चलनेसे मेरे साथ सारा लोक स्वेच्छाचारी हो जायगा। सत्य-सदाचारका पालन ही शासकोंका दया-प्रधान धर्म है। सत्यमें ही सब लोग प्रतिष्ठित हैं। सदाचारी पुरुष ही अक्षय पद पाता है, संसारमें सत्य-सदाचार ही धर्मकी मर्यादा है और वही सबका मूल है। दान, यज्ञ, होम, तप और वेद—इन सबका मूल सत्य ही है। सत्य ही ईश्वर है। अतः मनुष्यको सदाचारी होना चाहिये। पहले सत्य-पालनकी प्रतिज्ञा कर अब लोभ-मोहवश अज्ञानसे विवेकशून्य होकर मैं पिताकी मर्यादा भङ्ग नहीं करूँगा।'

जिस रामराज्यकी स्थापनापर आज जोर दिया जा रहा है वह केवल सदाचारपर ही प्रतिष्ठित था। यदि रामराज्य मान्य है तो भगवान् श्रीरामके आदर्श आचार-विचार भी मान्य होने चाहिये और भगवान् श्रीरामके पावन चरित्रके प्रकाशमें शास्त्रशुद्ध लोककल्याणकारी आचार-विचार ग्रहणकर 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'की ऋषिवाणीको सार्थक करना चाहिये।

वास्तवमें भारतीय-संस्कृतिमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके परमपावन परम आदर्श भव्य चरित्रसे बढ़कर मानव-

धर्मस्वरूप अनन्त शौर्य-वीर्य-सिन्धु भगवान् श्रीराम

जीवनको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेवाला सम्पूर्ण शिक्षाप्रद चरित्र अद्यावधि कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यदि भारतीय साहित्यसे श्रीरामका आदर्श चरित्र निकाल दिया जाय, तो यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि साहित्यमें आचार-शिक्षणका एक क्रियात्मक सर्वथा अभाव उपस्थित हो जायगा। आदर्श आचार-शिक्षाको लेकर ही आज भी 'रामराज्य' शब्द आबाल-वृद्ध जनका कण्ठहार बना हुआ है। भारतीय-संस्कृति इसीलिये सर्वोत्तम कही जाती है, क्योंकि उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंके विवेचनके साथ आचारका भी पूर्ण समन्वय है। यदि विचारोंके बिना आचार पङ्गु है तो आचारके बिना भी विचार सर्वथा अन्ध है। इस प्रकार गतिशील पदार्थ भी दर्शन-शक्तिसे रहित होकर गर्तमें गिर सकता है। 'आचारः प्रथमो धर्मः' 'आचार प्रभवो धर्मः' 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'—इन वचनोंसे आचारको सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है। भगवान् श्रीरामका चरित्र चाहे जिस दृष्टिको लेकर परखा जाय वह सर्वथा आदर्श, शुभ तथा सदाचार-सम्पन्न है।

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः॥
....
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्।
(वा० रा० बाल० २।३२, ३५-३६)

भगवान् ब्रह्माकी इस प्रेरणासे महर्षि वाल्मीकिके द्वारा रचित यह रामचरित्र प्रमाणित है। श्रीरामका यह चरित्र युग-युगान्तरोंसे असंख्य जनताका सन्मार्गदर्शक रहा है—रहेगा।

'एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।' आदर्श मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामका दिव्य चरित्र पुत्रके रूपमें, भ्राताके रूपमें, पति और शिष्यके रूपमें, पिता तथा राजाके रूपमें—चाहे जिस प्रकार परखा जाय, सर्वतः सर्वथा सर्वदा निर्मल निष्कलङ्क चन्द्रके समान वन्दनीय और आचरणीय है। ब्रह्मण्य श्रीरामका यह वचन उनके ही अनुरूप है। 'सीते! मैं अपना जीवन छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मणको और तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, पर ब्राह्मण और धर्मकी रक्षाके लिये की गयी प्रतिज्ञाका त्याग कैसे सम्भव है?'—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न हि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

महात्मा श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

—यह है श्रीरामका आदर्श। मायासे परे, लक्ष्मीके पति, सबके आदिकारण, जगत्के उत्पत्ति-स्थान, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अगम्य, मोहका नाश करनेवाले, मुनिजनोंके वन्दनीय, योगियोंके द्वारा ध्यानयोग्य, योगमार्गके प्रवर्तक, सर्वत्र परिपूर्ण, सम्पूर्ण संसारको आनन्द देनेवाले दिव्यगुणगणसम्पन्न उन परम सुन्दर भगवान् श्रीरामको प्रणाम ही करता हूँ।

मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं
　　मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम्।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं
　　वन्दे रामं रञ्जितलोकं रमणीयम्॥
(अध्यात्मरामायण)

—मैं श्रीब्रह्माजीके इन स्तुति-वचनोंको दोहराता हूँ।

श्रीरामके पदपद्मोंमें नमस्कार

शौर्य-वीर्य-ऐश्वर्य अतुल माधुर्य दिव्य सौन्दर्य-निधान।
नित्य सच्चिदानन्द दिव्य शुचितम गुणगण-सागर भगवान॥
धैर्य परम, गाम्भीर्य सरस, सौशील्य सहज, औदार्य महान।
शरणागत-वात्सल्य, साम्य, कारुण्य, स्थैर्य, चातुर्य अमान॥
सत्य, अहिंसा, मृदुता, आर्जव, ज्ञान, तेज, बल, बुद्धि ललाम।
नमस्कार पद-पद्मोंमें जो गुणनिधि अतुल राम-से राम॥

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

(लेखक—श्रीकन्हैयाप्रसादजी श्रीवास्तव, बी० काम०, सम्पादक 'उद्योग-भारती')

भगवान् श्रीराम अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परम पिता परमेश्वरके अवतार थे और धर्मकी मर्यादा रखनेके लिये भारतभूमि अयोध्यामें राजा दशरथके यहाँ पुत्ररूपमें अवतरित हुए थे। उस समय राक्षसोंका नग्न बीभत्स रूप इतना प्रचण्ड हो गया था कि ऋषि-मुनियों, गौ एवं ब्राह्मणोंका जीवन खतरेमें पड़ गया था। जहाँ-जहाँ कोई शास्त्र-विहित यज्ञ-कर्म आदि किये जाते थे, राक्षसगण उन्हें विध्वंस करनेके लिये सदा तत्पर रहते थे। राक्षसोंका राजा रावण भारत-भूमिपर अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित करनेके लिये चारों ओर जाल फैला रहा था। देवताओंके आग्रह एवं अनुनय-विनयके फलस्वरूप भगवान् स्वयं अपने अंशोंसहित राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्नके रूपमें अवतरित हुए।

भगवान् श्रीरामके आदर्श चरित्रका विवरण हम भिन्न-भिन्न रामायणोंमें पाते हैं जिनमें वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण तथा परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासरचित रामचरितमानस प्रमुख हैं। इस निबन्धका आधार, जिसमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याका दिग्दर्शन कराया गया है, गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस है।

साधारण बालकोंकी तरह बालकपनमें अपने छोटे भाइयों एवं बाल-सखाओंके साथ भगवान् श्रीराम सरयूके तटपर कन्दुकक्रीडा एवं अन्य खेलोंमें ऐसे मस्त हो जाते थे कि उन्हें अपने खाने-पीनेकी भी सुध नहीं रहती थी।

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥
(रा० च० मा० बाल० २०३ । ३-४)

अपने भाइयोंके साथ वेद-पुराणकी चर्चा करना, माता-पिता, गुरुके आज्ञानुसार प्रतिदिन दैनिक कार्यमें लग जाना उनका नित्यका कार्यक्रम था—

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥
(रा० च० मा० बाल० २०४ । १-४)

विश्वामित्र मुनिके यज्ञकी रक्षा भगवान् श्रीरामने जिस तत्परतासे की तथा राक्षसोंके वधमें उन्होंने जैसे निर्णय किया जब हम उसकी झाँकी रामचरितमानसमें पाते हैं तो उनकी वीरता, धीरता एवं कर्तव्यपरायणताकी ओर हमारा ध्यान बरबस आकर्षित हो जाता है और उन्हें हम धर्मके परम आदर्शके रूपमें पाते हैं।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख कीं रखवारी॥
सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥
मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥
(रा० च० मा० बाल० २०९ । १—४)

विश्वामित्र मुनिके यज्ञकी पूर्णाहुतिके पश्चात् भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणजी दोनों भाई मुनिके साथ धनुर्यज्ञ देखनेके लिये जनकपुर जाते हैं। रास्तेमें गौतमऋषिकी पत्नी अहल्याका, जो शापवश पत्थर हो गयी थी, उद्धार प्रभुने अपने चरणकमलकी धूलिके स्पर्शसे किया। भगवान् श्रीराम आखिर पतितपावन ही तो थे।

जनकपुरमें गुरुकी सेवा करना भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणजीका दैनिक कार्यक्रम था। उनकी दिनचर्यामें भक्त-वत्सलता, नम्रता एवं संकोचको भी स्थान रहता था। नगर-दर्शनके लिये जब लक्ष्मणजीके हृदयमें विशेष लालसा जाग्रत् हो गयी तब भगवान् श्रीराम गुरुजी विश्वामित्र मुनिसे किस संकोच एवं विनयके साथ आज्ञा माँगते हैं, देखिये—

लखन हृदयँ लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥
राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हियँ हुलसानी॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥
नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥
(रा० च० मा० बाल० २१७। १—४)

नगर तथा धनुर्यज्ञशाला देखते-देखते जब देर हो गयी तो भगवान् श्रीरामके मनमें भय हो गया कि उधर गुरुजी कहीं अप्रसन्न न हो जायँ। दोनों भाई शीघ्र ही गुरुजीके पास वापस आ गये।

संध्याके समय संध्यावन्दन और वेद, पुराण, इतिहासकी चर्चा उनका दैनिक कार्यक्रम था। किस श्रद्धा, निष्ठा एवं भक्तिसे वे गुरुजीकी सेवा करते थे, उसकी झाँकी गोस्वामीजी-के ही शब्दोंमें—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
(रा० च० मा० बाल० २२५। २-३)

प्रातःकाल गुरुजीके जागनेके पहले ही भगवान् श्रीराम जाग जाते थे तथा गुरुजीकी सेवामें लग जाते थे।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥
समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥
(रा० च० मा० बाल० २२६। १)

भगवान् श्रीराम धर्मके परम आदर्शस्वरूप थे और उनके मनमें एक सुन्दर प्रेमपूर्ण पछतावा तब हुआ जब कि उन्हें पता चला कि उनके राज्याभिषेककी तैयारी हो रही है। विश्व-इतिहासमें यह एक बेजोड़ उदाहरण है। उन्होंने अपने हृदयका उद्गार प्रकट किया—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ९। ३—४)

पर जब दूसरे दिन वनवासकी सूचना मिली तब उनको तनिक भी ग्लानि न हुई; बल्कि परम प्रसन्नता हुई कि पिताके वचनकी रक्षाके लिये वे चौदह वर्षके लिये वन जा रहे हैं। कालिदासने रघुवंशमें यहाँतक लिखा है कि वनवास-की सूचना पानेपर जब लोगोंने देखा कि भगवान् श्रीरामके चेहरेपर किसी भी तरहकी शिकन न आयी तो वे लोग आश्चर्यचकित हो उनका दिव्य सुन्दर मुखमण्डल देखते ही रह गये।

भगवान् श्रीरामने अपनेको बड़ा ही भाग्यशाली समझा और उस अवसरपर कहा—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ४०। ४)

चित्रकूटमें वासके समय भगवान् श्रीरामकी दिनचर्यामें ऋषि-मुनियोंके साथ धर्म-चर्चा एवं सत्संगका कार्यक्रम रहता था। पत्नी और भ्राताको भी सुखी रखनेकी चेष्टा करते रहते थे।

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय अति सुखु मानी॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १४०। १)

वनवासकालमें ऋषि-मुनियोंसे मिलना-जुलना तथा राक्षसोंका संहार प्रभु श्रीरामकी दिनचर्याका प्रधान अङ्ग था। पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित करनेके लिये उन्होंने मुनियोंके समक्ष प्रतिज्ञा की और उसका पालन अन्ततक किया—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥
(रा० च० मा० अरण्य० ९)

भगवान् श्रीरामके वन-गमनकालमें अनेक प्रसंग—जैसे वाल्मीकिजीसे भेंट, अत्रिसे मिलन, शरभङ्ग तथा सुतीक्ष्णजीसे मुलाकात, अगस्त्यजीके आश्रममें प्रभुका पदार्पण, जटायुका उद्धार, शबरीजीसे नवधा भक्तिका वर्णन, सुग्रीवसे मित्रता, बालिवध, लक्ष्मणजीके साथ सत्संग तथा नारद-राम-संवाद आदि आते हैं जिनके माध्यमसे हमें भगवान् श्रीरामकी दिन-चर्या-सम्बन्धी अनेक बातें मालूम होती हैं और वे हमारे जीवनको धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भगवद्भक्तिकी ओर अग्रसर करती हैं।

सीताहरणके पश्चात् प्रभु श्रीरामने किष्किन्धामें पर्वतके शिखरपर वास किया और वहाँ उनकी दिनचर्याकी प्रधानता रही लक्ष्मणजीके साथ सत्संग।

फटिक सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥
कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृप नीति बिबेका॥
(रा० च० मा० किष्किन्धा० १३। १)

रावणका वध कर सीतासहित प्रभु लंकासे अयोध्या लौटते हैं। अयोध्यामें उनकी दिनचर्याकी झाँकी गोस्वामीजी-के शब्दोंमें—

प्रातकाल सरऊ करि मज्जन। बैठहिं सभाँ संग द्विज सज्जन॥
बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननीं सुख भरहीं॥
(रा० च० मा० उत्तर० २५। १–२)

प्रजापालनके लिये भगवान् विशेष सचेष्ट एवं सतर्क रहते हैं। राजसभामें सनकादि तथा नारद आदि ऋषि प्रतिदिन आते हैं और उनसे वेद-पुराण और इतिहासकी चर्चा होती है। भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याकी अन्तिम झाँकी हम अयोध्याकी अमराईमें पाते हैं—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४९। ३–४)

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीरामकी दिनचर्यासे हमें प्रेरणा मिलती है जो जीवनको श्रद्धा, भक्ति एवं पवित्र प्रेमकी भावनासे ओतप्रोत कर देती है।

(२)

(लेखक—श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म वह है जिससे इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण-की सिद्धि हो। अस्तु, जब इन दोनों क्षेत्रोंमें कल्याणकी हानि होती हो तब अधर्मकी वृद्धि तथा धर्मका ह्रास मानना होगा। आज हमारी दयनीय स्थिति है। न हमारा पेट भर पाता है, न हमें परलोककी सिद्धि हो पाती है। हम संशयात्मा बन गये हैं। फलतः न हमारा यहाँ कल्याण होता है न हमारा परलोक बन पाता है। ऐसे समय हमें 'रामराज्य'की याद आती है। उस राज्यमें दैहिक, दैविक तथा भौतिक ताप किसीको नहीं होता था। सभी प्राणी अपनी-अपनी मर्यादामें रहकर सुखी एवं सम्पन्न थे। और यह सब था मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके कारण ही।

भगवान् श्रीराम धर्मके परम आदर्श स्वरूप थे। उनका अवतार ही धर्मकी हानि होनेपर हुआ था। उनके अवतारका उद्देश्य ही धर्मका अभ्युत्थान था। इसीसे हमें उनकी दिनचर्यामें धर्मके गूढ़ सिद्धान्त सहज ही मिल जाते हैं। भगवान् श्रीरामके अवतारके सहस्रों वर्षोंके बाद भी धर्मका मापदण्ड उनका आदर्श चरित्र रहा है। 'रामायण'का प्रचार एवं प्रसार तथा उसका प्रचुर समादर इसका साक्षी है। भगवान् श्रीरामने अवतार लेकर अधम, अभिमानी असुरोंका नाश किया तथा अपने आदर्श चरित्र-द्वारा धर्मका विकास किया। जबतक हम उनके बताये मार्गपर चलते रहेंगे, तबतक धर्मकी स्थिति रहेगी।

भगवान् श्रीरामके चरित्रमें धर्मके विभिन्न पहलुओंपर भलीभाँति प्रकाश पड़ता है। माता-पिता, गुरु, बन्धु-बान्धव, सखा-मित्र, स्त्री-पुत्र, देश-समाजके प्रति हमारे धर्मका जो आदर्श रूप है, उसका सहज रूपसे पालन भगवान् श्रीरामने अपने जीवनमें किया था। बचपनसे ही उनके धार्मिक जीवनका श्रीगणेश होता है। सबेरे शय्याका त्याग करके वे माता-पिता तथा गुरुजनोंको प्रणाम करते थे तथा सरयूतटपर जाकर नित्यक्रिया सम्पन्न करते थे। वे भोजन अनुज और सखाके साथ करते थे। माता और पिताकी आज्ञाका ही अनुसरण करते थे। दिनका अधिकांश समय बालकोंका साथियोंके साथ कटता है; पर भगवान् श्रीराम अपने इस समयको वेद-पुराणके सुननेमें तथा साथियोंके साथ उसकी ही सम्यक् चर्चामें बिताते थे। पितासे आदेश प्राप्त करके पुरके विभिन्न कार्योंका सम्पादन करते थे। उनका कार्य लोकहितकर होता था। यह इसीसे स्पष्ट होता है कि कोसलपुरवासी नर-नारी बूढ़े अथवा बच्चे किसीको उनके प्रति कोई शिकायत नहीं थी। सबोंको भगवान् श्रीराम प्राणसे बढ़कर प्रिय लगते थे। आजका नवयुवक समाज इससे शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

इस तरह भगवान् श्रीरामके बालचरित्रमें ही हमें उनके आदर्शों एवं संस्कारोंकी झलक मिलती है। इस अवस्थामें भगवान् श्रीराम विद्या, विनय तथा गुण एवं शीलमें आदर्श स्वरूप हो गये थे। गुरुके घर जाकर अल्पकालमें ही सभी विद्याएँ उन्होंने प्राप्त कर ली थीं।

बालक श्रीराम अब किशोरावस्थाकी ओर बढ़े। उनकी विद्या तथा शक्तिकी प्रशंसा दूर-दूरतक फैल चुकी थी। विश्वामित्र मुनिको पापी निशाचरोंके वधकी आवश्यकता आ पड़ी। वे स्वयं उनके लिये दशरथजीके दरबारमें आ उपस्थित हुए। राजाने कुछ ननु-नचके बाद दोनों भाइयोंको

ऋषिके हाथ सौंप दिया। किशोर श्रीराम उनके साथ सहर्ष चले। सहर्ष कर्तव्यपालनके लिये चल पड़ना किशोरोंका आदर्श धर्म है। ऋषिके प्रति भगवान् श्रीरामने जो धर्मपालन किया है, वह किसी भी शिष्यके धर्म-निर्देशनके लिये पर्याप्त है। मुनिने इस अद्भुत अवधेशकुमारको आज्ञा दी कि ताड़काको मारो। गुरुके आदेशका तुरंत पालन हुआ। फिर गुरुने प्रसन्न होकर सभी गूढ़-से-गूढ़ विद्याएँ उन्हें दीं, अस्त्र-शस्त्र दिये तथा ऐसे भेद दिये जिनसे भूख-प्यास नहीं लगे तथा अतुलित बल और तेज शरीरमें बना रहे। यह रही भगवान् श्रीरामकी उच्च शिक्षा। भगवान् श्रीरामने यज्ञकी रक्षा जिस खूबीके साथ की, वह इस बातका परिचय देता है कि मुनिने योग्यतमको उच्चतम विद्या दी थी। मारीच और सुबाहु ससैन्य पराजित हुए। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। गुरुसमाज प्रसन्न हुआ।

भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणकी दिनचर्या वहाँ अनुकरणीय थी। राजभवनसे जंगलके बीच मुनिके आश्रममें तथा राज्यसुखसे दूर आश्रमके कष्टपूर्ण जीवनयापनमें भगवान् श्रीरामको कोई शिकायत नहीं थी। जैसे पुरवासियोंको प्रसन्न रखा था, उसी तरह अपने तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानसे मुनिसमाजको भी संतुष्ट कर सके। नित्य गुरुकी सेवा, उनके उठनेसे पहले शय्यात्याग, गुरुकी पदवन्दना, संध्यादि कृत्य तथा उन्हें सुलाकर ही सोना उनकी नित्यकी चर्या थी। राजकुमार मानो ऋषिकुमार हो गये। घरकी सुधि जाती रही। ऋषिके कहनेपर धनुषयज्ञ देखनेके लिये उनके पीछे हो लिये। पाँव-पैदल, सवारीकी चिन्ता ही नहीं हुई। मानो मानापमान, हर्षामर्ष सभी गुरुको सौंप दिये थे।

उच्चतम शिक्षा तथा प्रयोगशालाकी सिद्धिके बाद भी व्यावहारिक परीक्षामें गुरु उन्हें उत्तीर्ण देखना चाहते थे। जनकपुरकी यात्रामें वह परीक्षा पूर्ण हुई। अहल्योद्धार-जैसा कार्य हुआ, पर अभिमानके बदले भगवान् श्रीरामको इससे ग्लानि ही हुई। भगवान् श्रीरामके संयमपूर्ण जीवनकी अजीब झाँकी जनकपुरमें मिलती है। गुरुकी परम सेवा, एक भी कार्य उनके स्पष्ट आदेशके बिना नहीं करना तथा अपने नित्यकर्मके साथ अपने कुलकी मर्यादाका बराबर ध्यान रखना उनके आदर्श युवक-धर्मका परिचय देते हैं। एक ही उदाहरणसे सब स्पष्ट है। लक्ष्मणजीकी नगर देखनेकी लालसा है। वे भगवान्की ओर लालसाभरे नेत्रसे देखते हैं। भगवान् उनके मनकी गति जानकर गुरुकी ओर देखते हैं। गुरु उनके मनकी गति जानकर बोलनेका आदेश देते हैं। तब संकोचसे परम विनीत हो फिर भी मुस्कुराकर लक्ष्मणजीकी लालसा शिष्टभावामें प्रकट करते हैं और आज्ञा पानेपर ही पुरी-भ्रमण करते हैं।

जनकपुरमें संध्या-वन्दनादि नित्य-क्रियाके साथ-साथ गुरुके लिये पुष्प-चयनादि भी करते हैं तथा उनकी प्रसन्नताके लिये कोई काम उनका आदेश लिये बिना नहीं करते और कोई गूढ़-से-गूढ़ बात उनसे छिपाते भी नहीं हैं। श्रीजानकीजी-जैसी परम सुन्दरीके प्रति मनमें जो सात्त्विक क्षोभ हुआ, उसे भी गुरुजीसे निवेदन करते हैं। आत्म-विश्वास उनमें भरा था। तभी तो कहते हैं कि जिसने स्वप्न-तकमें परनारी नहीं देखी, उसके मनमें यह क्षोभ ! विधाता ही इसका कारण जान सकते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनकी पराकाष्ठा यहाँ है। पर ऐसी मनचाही परम सुन्दरीको पानेके लिये भी उतावलापन देखनेको नहीं मिलता।

धनुष-भङ्गके क्रममें जहाँ जनक-समान धीर अधीर हो उठे, स्वयं लक्ष्मण भी उबल पड़े, वहाँ मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम गुरुका आदेश पानेपर भी उन्हें प्रणाम करके बिना हर्ष-विषाद किये धनुषभङ्ग करने चले। धनुषभङ्ग हुआ। महि, पाताल, स्वर्गमें यश व्याप्त हो गया।

अब गार्हस्थ्य-जीवनके बीच भगवान् श्रीरामके धर्ममय जीवनकी कुछ झाँकियाँ देखिये। भगवान् श्रीरामके रूप, गुण, शील एवं स्वभावसे पुरवासीलोग तथा स्वयं दशरथजी प्रमुदित थे। उन्हें यौवराज्य देनेकी तैयारी की गयी। अयोध्यामें आनन्दोत्साह छा गया, पर भगवान् श्रीरामको विमल वंशके एक इस अनौचित्यपर पछतावा हुआ कि और भाई तो इसमें साथ नहीं हुए। फिर राज्यभङ्गके अवसरपर जिस धीरता, मातृ-पितृ-भक्ति, सत्यप्रियता आदि उच्चतम धर्मका दर्शन मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पिताने मुखसे कभी भी वन-गमनका आदेश नहीं दिया; पर उनका वचन निभानेके लिये, कैकेयीकी रुचि रखनेके लिये तथा भाई भरतको राजा बनानेके लिये एवं मुनिसंगके लिये जिस तत्परतासे भगवान् श्रीराम श्रीजानकी तथा लक्ष्मणसहित वनगमन करते हैं, वह बताता है कि जीवन भोगके लिये नहीं, त्यागके लिये है। राज्य बन्धन है। बाहरी राज्य राज्य नहीं, आत्माका राज्य ही सुराज्य तथा स्वराज है। वनगमनके प्रसंगमें

और यह सब क्यों ? इसीलिये कि धर्मात्मा भगवान् श्रीरामके राज्यमें धर्मके चारों चरण ठीक थे । स्वप्नमें भी पापका नाम नहीं था । अकालमृत्यु तथा विभिन्न रोगोंका पतातक नहीं था । कोई दरिद्र, दुखी तथा दीन नहीं था । सभी उदार तथा परोपकारी थे । विप्रोंके प्रति सबका श्रद्धा-भाव था । सभी एकनारीव्रती थे । नारियाँ भी पतिव्रता होती थीं । इस तरह रामराज्यमें प्रजामें वे सभी गुण आ गये थे जो राज-परिवारमें स्वभावसे ही मौजूद थे ।

सिंहासनपर बैठकर भी भगवान् श्रीरामने अनेक यज्ञ किये, वे धर्मपर सदा अचल रहे । महारानी सीता भी पतिके परम अनुकूल चलती थीं । अपने हाथों भगवान्‌की सेवा करती थीं । अपनी सासकी सेवा भी स्वयं करती थीं ।

भगवान् श्रीरामकी सीखके अनुसार 'भक्ति' ही धर्मकी यथार्थ गति है । भगवद्भक्ति ही धर्मतत्त्वका सुन्दर फल है । भक्त भगवान् ही हैं और भगवान् भक्त ही हैं । अस्तु, परम धर्मात्मा श्रीराम ही भगवान् हैं । उनकी भक्ति ही इष्ट है ।

धर्मके परम आदर्श धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

(लेखक—श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी शास्त्री, बी० ए०, विद्याभूषण)

महर्षि मनुने अपनी स्मृतिमें—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

—के अनुसार धर्मके दस लक्षण लिखे हैं तथा विष्णुशर्माने हितोपदेशमें—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥

—के अनुसार धर्मके आठ मार्ग बतलाये हैं ।

दोनोंके मतमें धैर्य, क्षमा, सत्य, अध्ययन, अलोभ-विषयोंमें साम्य है । मनुजी विषयोंसे विरक्ति, शुचिता, इन्द्रिय-निग्रह तथा विवेकशीलताको एवं विष्णुशर्मा यज्ञ करना, दान करना, तप करना—धर्मके लक्षण मानते हैं । दोनोंका मत एक साथ ही माननेवालोंको धर्मके उपर्युक्त बारह लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें उपर्युक्त सभी लक्षण हैं ।

महर्षि वाल्मीकिके अनुसार वे धैर्यमें हिमालयके समान 'धैर्येण हिमवानिव' तथा क्षमामें पृथ्वीके समान 'क्षमया पृथिवीसमः' हैं । सत्यभाषणमें तो उनका वंश प्रसिद्ध ही है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहुँ बरु बचन न जाई ॥

और इस वंशमें श्रीरामजी तो दो बार भी नहीं बोलते; मुँहसे एक बार ही जो कह दिया, उसे ही पूर्ण करते हैं । 'रामो द्विर्नाभिभाषते' वाक्य हमारे लिये आदर्श है । अध्ययन-में वह—

'सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्'

—के अनुसार सारे शास्त्रोंके अर्थके तत्त्वके ज्ञाता हैं । अलोभके लिये उन्होंने विमाताकी इच्छापूर्तिके हेतु राज्यतक-का त्याग कर आदर्श प्रस्तुत किया । वे नियतात्मा हैं, शुचिर्वश्य हैं तथा 'बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्मी'के अनुसार वे विवेकशील हैं । वे यज्ञोंके रक्षक हैं और स्वयं यज्ञकर्ता भी हैं । उन्होंने विश्वामित्रजीके यज्ञ-रक्षणार्थ राक्षसोंसे संघर्ष किया । अरण्यवासी ऋषियोंके यज्ञोंकी उन्होंने रक्षा की ।

वे बड़े तपस्वी हैं; उनका शत्रु रावण भी उनको तापस कहकर अंगद-रावण-संवादमें—

गर्भ न गयहु ब्यर्थ तुम्ह जायहु । निज मुख तापस दूत कहायहु ॥

—सम्बोधित करता है । अतः यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीरामने धर्मके सभी लक्षणोंका पालन कर हमारे समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया है । महर्षि वाल्मीकि तो सत्यपालनमें 'सत्ये धर्म इवापरः' कहकर उनको द्वितीय धर्मराजके समान मानते हैं ।

भगवान् श्रीराम धर्मावतार हैं । उनके पावन चरितसे शिक्षा ग्रहण कर हमको तदनुरूप व्यवहार करना चाहिये । अच्छा हो यदि हम उनकी दिनचर्यानुकूल अपनी दिनचर्या बनावें ।

भगवान् श्रीरामजीकी दिनचर्याका आनन्दरामायणके राज्यकाण्डके १९वें सर्गमें बड़े विस्तारसे वर्णन है । श्रीरामदासके द्वारा महर्षि वाल्मीकिजी अपने शिष्यको उपदेश करते हैं—

शृणु शिष्य वदाम्यद्य रामराज्ञः शुभावहाम् ।
दिनचर्यां राज्यकाले कृतां लोकान् हि शिक्षितुम् ॥

प्रभाते गायकैर्गीतैर्बोधितो रघुनन्दनः ।
नववाद्यनिनादैश्च सुखं शुश्राव सीतया ॥
ततो ध्यात्वा शिवं देवीं गुरुं दशरथं सुरान् ।
पुण्यतीर्थानि मातॄंश्च देवतायतनानि च ॥
(आ० रा० राज्यकाण्ड १९ । २-३)

भगवान् श्रीरामजी नित्य प्रातःकाल चार घड़ी रात्रि शेष रहते मङ्गलगीत आदिको श्रवणकर जागते थे । फिर शिव, देवी, गुरु, देवता, पिता, तीर्थ, माता, देव-मन्दिर तथा पुण्यक्षेत्रों एवं नदियोंका स्मरण करते थे; फिर शौचादिके पश्चात् दन्त-शुद्धि करते थे । इसके अनन्तर कभी घरपर और कभी सरयूमें जाकर स्नान करते थे ।

स्नात्वा यथाविधानेन ब्रह्मघोषपुरःसरम् ॥
प्रातःसंध्यां ततः कृत्वा ब्रह्मयज्ञं विधाय च ।
(आ० रा० राज्यकाण्ड १९ । १०-११)

ब्राह्मणोंके वेदघोषके साथ विधिवत् स्नान करते थे । तदनन्तर प्रातःसंध्या तथा ब्रह्मयज्ञ करके ब्राह्मणोंको दान देकर महलमें आकर हवन करके शिवपूजन करते थे और इसके बाद कौसल्या आदि तीनों माताओंका पूजन करते थे । फिर गौ, तुलसी, पीपल आदि एवं सूर्यनारायणका पूजन करते थे । इसके पश्चात् सद्ग्रन्थों तथा गुरुदेवका पूजन करके उनके मुखसे पुराण-कथा श्रवण करते थे और तब भ्राता एवं ब्राह्मणोंके साथ कामधेनु-प्रदत्त अग्निपर बना हुआ उपहार ग्रहण करते थे ।

तदनन्तर वस्त्रादि तथा अस्त्र-शस्त्र धारणकर वैद्य तथा ज्योतिषियोंका स्वागत कर वैद्यको नाड़ी-परीक्षण कराते तथा ज्योतिषियोंसे नित्य पञ्चाङ्ग श्रवण करते थे; क्योंकि—

'लक्ष्मीः स्यादचला तिथिश्रवणतो वारात्तथाऽयुश्चिरम्।'...

—के अनुसार तिथिके श्रवणसे लक्ष्मी, वारसे आयुवृद्धि, नक्षत्रसे पापनाश, योगसे प्रियजन-वियोगनाश तथा 'करण-श्रवणसे सब प्रकारकी मनःकामना पूर्ण होती है ।

पञ्चाङ्ग-श्रवणके अनन्तर श्रीरामजी पुष्पमाला धारणकर तथा दर्पण देखकर महलसे बाहर आकर अपनी प्रजाके लोगोंसे, मित्रोंसे तथा आगन्तुकोंसे भेंट करते थे ।

इसके अनन्तर उद्यानमेंसे निकलकर सेनाका निरीक्षण करते थे; फिर राजसभामें जाकर राज्य-कार्योंपर अपने भाइयों, पुत्रों तथा अधिकारियोंसे विचार करके आवश्यक व्यवस्था करते थे । तब मध्याह्न-कृत्योंके लिये श्रीरामजी पुनः महलमें पधारते थे ।

वहाँ आकर मध्याह्नमें स्नान करके पितरोंका तर्पण, देवताओंको नैवेद्य तथा बलिवैश्वदेव, काक-बलि आदि देकर भूत-बलि देते थे । फिर अतिथियोंको भोजन कराकर ब्राह्मणों तथा यतियोंके भोजन कर लेनेके पश्चात् स्वयं भोजन करते थे । भोजनके अनन्तर ताम्बूल खाते तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर सौ पद चलकर विश्राम करते थे ।

विश्रामके पश्चात् क्षणिक मनोरंजन करके पिंजरोंमें पाले गये महलके पक्षियोंका निरीक्षण करके महलकी छतपर चढ़कर अयोध्या नगरीका निरीक्षण करते । फिर गोशालामें जाकर गायोंकी देख-रेख करते । इसके पश्चात् अश्वशाला, गजशाला, उष्ट्रशाला तथा अस्त्रशाला आदिका निरीक्षण करते थे ।

इन सब कार्योंके बाद वे दूतावास एवं तृण-काष्ठागारोंका निरीक्षण करते हुए दुर्गके रक्षार्थ बनी खाईकी देख-भाल करते और रथारूढ़ हो अवधपुरीके राजमार्गसे दुर्गके द्वारों तथा द्वाररक्षकोंका निरीक्षण करते थे । फिर बन्धुओंके साथ सरयूके तटपर भ्रमण कर सैनिक शिविरोंका निरीक्षण कर महलोंमें लौटकर राज्य-कार्यकी व्यवस्था करके सायंकालके समय सायंसंध्या तथा पूजनादिके पश्चात् भोजन करते थे । फिर देव-मन्दिरोंमें जाकर देवदर्शन तथा कीर्तन-श्रवण करके महलमें लौट आते थे ।

वहाँ बन्धुओंसे पारिवारिक विषयोंपर चर्चा करके भगवान् (सार्धयामो निशां नीत्वा) डेढ़ पहर रात्रि व्यतीत हो जानेपर शयनकक्षमें प्रवेश करके विश्राम करते थे ।

भगवान्‌की यह नियमित दिनचर्या हम सभीके लिये एक आदर्श दिनचर्या है । यदि हम इसके अनुरूप व्यवहार करें तो हमारा इहलोक तथा परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है । यह दिनचर्या जहाँ एक सद्-नागरिकके लिये आदर्श दिनचर्या है, वहाँ यह शासकोंको भी कुशल प्रशासक बनानेवाली है ।

सत्यधर्म और उसके आदर्श श्रीराम

(लेखक—श्रीरामप्यारे मिश्र एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी), न्या० शा०, आचार्य, साहित्यरत्न)

अभ्युदय तथा निःश्रेयसका साधन धर्म चार पुरुषार्थोंमें प्रधान माना जाता है। धर्म मोक्षका प्रधान साधन है। अर्थ एवं कामकी भी वास्तविक सिद्धि धर्मसे ही होती है। इस धर्मकी भारतीय शास्त्रोंमें अनेकविध परिभाषाएँ दी गयी हैं, जिनमें त्रिवर्गसापर धर्मको जीवका प्रेरक माना गया है। सभी उसे श्रेय-प्रेयका आधार और सुखका मूल स्वीकार करते हैं। लोकरक्षक, प्रेरक, आचार-शिक्षक तथा ऐहिक-आमुष्मिक सुखका प्रधान साधन धर्म है। सत्य इस धर्मका प्रधान अङ्ग है और इतना महत्त्वपूर्ण है कि कहीं-कहीं तो वह धर्मसे भी व्यापक या धर्मका पर्याय हो गया है। प्राचीन कालमें जब गुरुकुलके शास्त्र-पारंगतोंको आचार्य आचार-शिक्षा देते थे तो 'सत्यं वद' 'धर्मं चर'में उन्हें धर्मसे पहले सत्यके पालनपर दृष्टि रखनी पड़ती थी। सत्य न केवल धर्मका एक प्रधान अङ्ग या उससे महत्त्वपूर्ण है अपितु वह ब्रह्मस्थानीय भी है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'में जहाँ एक दार्शनिक परिभाषा है, वहीं सत्य तथा मिथ्याका वास्तविक रूप भी वर्णित है। वाल्मीकि महर्षिने रामायणमें सत्यका महत्त्व इस प्रकार बतलाया है—

> सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
> सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥
> (वा० रा० अयोध्या० १४। ७)

वस्तुतः प्रणव, वेद या सत्यसे चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धि होनेपर सत्यब्रह्म परंपदकी प्राप्ति सरल हो जाती है। लोकमें भी अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्मका ही महत्त्व अधिक रक्खा गया है। धर्म अर्थ तथा कामका प्रभव तो है ही, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और जीवलोकके सर्वश्रेयों-का एकमात्र कारण है। स्वयं भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामने धर्मके सम्बन्धमें कहा है—

> धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
> समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
> ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
> भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
> यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
> धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
> द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
> कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥
> (वा० रा० अयोध्या० २१। ५७-५८)

श्रीरामचन्द्रजीके वन जानेपर जब श्रीभरतजी अयोध्याके प्रमुख लोगोंको लेकर उन्हें पुनः अयोध्या लानेके लिये चित्रकूट गये थे उस समय ऋषि जाबालिने श्रीरामचन्द्रजीको अयोध्या लौटानेकी दृष्टिसे कहा था 'प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु'। जाबालिकी दृष्टिमें प्रत्यक्ष मात्र ही सत्य था, परोक्ष अनुमान, शब्द आदि प्रमाण सत्य न थे; किंतु सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्रने वेद-शास्त्र-स्मृति-विहित कुलीनाचारको ही धर्म माना था। जिसका परिणाम सुख हो, फल शुभ हो, उसी स्वर्गप्रद पितृपूजित पथ सत्यको श्रीरामने राज्य तथा जीवनका मुख्य आधार मानकर कहा था—'राजाओंको विशेषतः सत्यका पालन करना चाहिये; क्योंकि जैसा आचरण राजा (लोकनायक) का होगा, उसी प्रकार प्रजा (जनता-) का भी होगा' 'यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः'। भगवान् श्रीरामकी दृष्टिमें कामवृत्त यथेच्छाचारी जीवन सर्व-लोक-विनाशक है। संसारमें सत्य ही सर्वसमर्थ तथा धर्मका आश्रय है। जगत्का सर्वस्व सत्यपर आधारित है। सत्यसे भिन्न परम पद नहीं है। इससे श्रीरामचन्द्रजीने सत्यकी जिस शाश्वत महिमाका उद्घोष किया है, उसीको आधार मानकर चलनेमें जगत्का हित सम्भव है। झूठे पुरुष श्री-रामचन्द्रजीके शब्दोंमें 'द्विजिह्व' तथा लोकपीडाकारक मात्र होते हैं।

> सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
> तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥
> ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
> सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥
> उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
> धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥
> सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
> सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
> (वा० रा० अयोध्या० १०९। १०—१३)

इसी क्रममें भगवान् श्रीरामने स्वयं कहा था कि 'दान, यज्ञ, हवन तप तथा वेद सभी श्रेयस्कर हैं। वेदोपदिष्ट

होनेके कारण फलप्रद हैं; किंतु स्वतः प्रमाणभूत होनेके कारण सत्य तथा ईश्वरमें वाच्य-वाचकत्वके कारण अभेद है। सत्यके प्रतिपालनके लिये ही कैकेयीके कहनेमात्रसे बिना पिताके कहे भी श्रीरामचन्द्रजीने वनसे लौटना अधर्म तथा अनुचित माना था। इसीलिये सन्मार्गगामी पुरुषोंमें श्रीराम अग्रगण्य माने जाते हैं। 'नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः'। भारत-जैसे धर्मप्राण देशमें जो सत्य नहीं बोलता, वह सत्पात्र ब्राह्मण या उत्तम मनुष्य ही नहीं माना जाता।

जिस प्रकार नारीमात्रके लिये लज्जा आभूषण मानी जाती थी, उसी प्रकार वाणीकी शोभा मित तथा सत्यभाषणमें ही थी। त्रिविध तपमें वाक्-तप सत्य-भाषण ही माना जाता था। समाजके प्रत्येक सभ्यके लिये छलरहित सत्यका बोलना अनिवार्य था। धर्मके चार चरणोंमें सत्यका स्थान सर्वोच्च माना गया था। भारतीय जीवनका प्राण सत्य था। स्वप्नके सत्यको भी जीवनमें उतारनेवाले सत्यव्रत हरिश्चन्द्रकी कथा विश्वमें सत्यके लिये राज्य, ऐश्वर्य, प्रेममयी पत्नी, स्नेहमय पुत्रके त्यागकी कथाके रूपमें प्रख्यात है। उशीनर-नरेश शिबि कपोतकी रक्षाके लिये स्वशरीर-मांस देनेके वचनके प्रतिपालन मात्रके लिये स्वयं अपने शरीरके मांसको पुनः-पुनः काटकर तुलापर रखते गये। यह एक अद्भुत कहानी है। तेजस्वी अलर्कने वेदपारंगत किसी ब्राह्मणकी याचनापर अपने नेत्र भी दे दिये थे। अच्छे गुणोंकी एक शुभ परम्परा होती है। एक सत्यमात्रके अवलम्बनसे दया, दान, त्याग, तपस्या आदि जैसे अनेक गुण स्वतः उद्भूत हो जाते हैं। इसलिये मानवमात्रके लिये निष्ठापूर्वक सत्यव्रतका आकर्षण आदिकालसे रहा है। इन सत्यवादियोंकी परम्परामें भगवान् श्रीरामकी सत्यनिष्ठा अप्रतिम थी। उनकी धारणा थी कि लोभ, मोह, अज्ञान किसी भी प्रतिबन्धसे सत्यको नहीं छोड़ना चाहिये। देवता तथा पितर भी असत्यवादीका हव्य नहीं ग्रहण करते। वनवासके असह्य दुःख जटा-चीरको मात्र सत्यपालन धर्म-रक्षाके लिये ही उन्होंने धारण किया था। कायिक, वाचिक, मानसिक पापोंसे रक्षा सत्यपालनसे होती है—जो भाव मनमें उत्पन्न होता है, उसीको वाणीसे कहते तथा शरीरसे करते हैं। पृथ्वी, स्वदेश या परदेशव्यापिनी कीर्ति या यश तथा लक्ष्मी सभी सत्यका अनुसरण करती हैं। इसलिये भी सत्यका पालन सबको करना चाहिये। भारतीय धर्म ईश्वर, वेद तथा परलोकको आस्थापूर्वक स्वीकार करता है, इसीलिये परलोक-विरोधी जाबालिके विचारोंको भी श्रीरामने सत्य-पालनके समक्ष अग्राह्य माना था। धर्ममय सत्य, पराक्रम, प्राणियोंपर दया, प्रियवादिता, द्विजाति-देव-अतिथिपूजन—इन स्वर्गप्रद साधनोंमें सत्यको उन्होंने प्रथम साधन माना था। श्रीरामने स्वयं कहा था—'रामो द्विर्नाभिभाषते'। इस सत्यनिष्ठाको उन्होंने जीवन-पर्यन्त निभाया। उनकी प्रिया पत्नी सीताने दण्डकारण्यमें शस्त्र न ग्रहण करनेका परामर्श देते हुए कहा था कि मिथ्यावाक्य-की अपेक्षा परदाराभिगमन तथा मृगया, बिना वैर रौद्रतामें विशेष पाप होता है। शस्त्र-सेवनसे कायरता उत्पन्न होती है। क्षत्रियको आर्त-परिरक्षणमात्रके लिये शस्त्र धारण करना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा था कि आप पुनः अयोध्या लौट चलनेपर ही क्षात्रधर्मका आचरण करें। किंतु श्रीरामचन्द्रजीने इसका समाधान करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि मैंने ऋषियोंसे दण्डकारण्यके राक्षसों (आततायियों) के नियमनकी बात कह दी है। अतः उस सत्यकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।

> महर्षीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे।
> संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्॥
> मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा।
> अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥
> न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
>
> (वा० रा० अरण्य० १० । १७—१९)

सत्य-रक्षाके लिये ही श्रीरामचन्द्रजीने अपने अन्तिम क्षणोंमें कालको वचन देनेके कारण अपने बहिश्चर प्राण लक्ष्मणको भी त्याग दिया था। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीका जीवन सत्यके लिये ही अर्पित था।

लोक तथा परलोक-सहायक सत्यकी महिमा भारतीय शास्त्रों, काव्यों तथा आख्यानोंमें बहुधा प्रतिपादित है। 'सत्यान्नास्ति परो धर्मः' के साथ ही 'नानृतात्पातकं परम्' का भी निर्देश है। मिथ्याभाषणको रोग, विष यथा भयंकर शत्रु माना जाता है। असत्यवादीसे कोई मित्रता नहीं करता। उसका पुण्य, यश, श्रेय सब नष्ट हो जाता है। असत्यको पुण्यात्मा पुरुष अविश्वासका मूल कारण, कुवासनाओंका निवासस्थान, विपत्तिका कारण,

अपराध तथा वञ्चनाका आधार मानकर त्याग देते हैं। जिस प्रकार अग्नि वनको जला देता है, उसी प्रकार असत्यसे यश नष्ट हो जाता है। जल-सेचनसे जैसे वृक्षोंका विकास होता है, उसी प्रकार असत्यसे दुःख बढ़ते हैं। बुद्धिमान् पुरुष संयम, तपके विरोधी असत्यसे सदा दूर रहते हैं। सत्यभाषणका पुण्य सहस्रों अश्वमेधोंके पुण्यसे अधिक होता है। यह उक्ति कितनी तथ्यपूर्ण है कि गौ, विप्र, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभ तथा शूर—ये सात पृथ्वीके आधार हैं। इनके अभावमें पृथ्वीका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सत्यसे विश्वास उत्पन्न होता है, विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, अपराधी अपराध छोड़ देते हैं। व्याघ्र तथा सर्प स्वाभाविक हिंसा छोड़कर सरल हो जाते हैं। सत्य सभी प्रकारसे हितकारी, समृद्धिदायक तथा सौभाग्यका संजीवन है। भारतीय जीवनके लिये उपदेश है—'सत्यपूतां वदेद् वाणीम्'।

प्रातःकाल विविध देवोंकी उपासनाके क्रममें नित्य सत्यकी स्तुति की जाती है—

सत्यरूपं सत्यसंधं सत्यनारायणं हरिम्।
यस्सत्यत्वेन जगतस्तत् सत्यं त्वां नमाम्यहम्॥

भारतके घर-घरमें भगवान् सत्यनारायणकी कथा आज भी होती है, जिसमें मिथ्यावादियोंके धन-धान्य-विनाशकी कथाएँ, उनके दुःख, पीड़ा, परिवार-विनाशको रोकनेके लिये अशरणशरण सत्यनारायण भगवान्के शरणमें आनेका संदेश देती हैं।

सत्यधर्मके पालनसे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वहित-साधनमें बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है। मनुष्य सत्यका पालन कर अपने विकासकी चरम सीमापर पहुँच सकता है। भगवान् श्रीराम इस परमधर्म—सत्यके स्वरूप ही थे।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम तथा महात्मा तुलसी

(लेखक—श्रीअभिमन्युजी शर्मा)

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निष्काम॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे। धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये उन्होंने अवतार धारण किया था। उनके आदर्श लीला-चरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है। श्रीराम मर्यादाके साकार-रूप सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदयता, गाम्भीर्य, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, वीरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, तेज, प्रेम, मर्यादासंरक्षणता, एकपत्नीव्रत, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृप्रेम, सरलता, व्यवहार-कुशलता, प्रतिज्ञा-तत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्ट-विनाश, लोकप्रियता आदि सभी सद्गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास हुआ था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्में कहीं नहीं मिलता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता तो आजतक कहीं देखनेमें नहीं आयी है।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति आदर्श है। स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली माँ कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानपूर्ण व्यवहार किया है। जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले—माता! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है।

मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

एक बार लक्ष्मण जंगलमें माता कैकेयीकी शिकायत करने लगे, इसपर मातृभक्त मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने जो कुछ कहा, सदा मनन करने योग्य है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(वा० रा० अरण्य० १६। ३७)

'हे भाई! मझली माता (कैकेयी) की निन्दा कभी मत किया करो। बातें करनी हो तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये। (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत प्रिय है।)'

इसी प्रकार उनकी पितृ-भक्ति भी अद्भुत है। पिताके वचनको पूरा करनेके लिये उन्होंने अयोध्याका सारा सुख-वैभव त्यागकर चौदह वर्षतक जंगलोंकी खाक छानी।

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
(वा० रा० अयोध्या० १८ । २८-२९)

'अहो ! मुझे धिक्कार है ! हे देवि ! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । मैं पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ ।'

लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगर-पुत्र और परशुराम आदिका उदाहरण देते हुए कहा कि 'पिता प्रत्यक्ष देवता हैं । उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है । मैं विचारक नहीं हूँ । मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा ।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥
(वा० रा० अयोध्या० २१ । ३०)

'मैं चरणोंसे सिर टेककर प्रणाम करता हूँ, मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो ! माता ! पिताजीके वचनोंको टालनेकी शक्ति मुझमें नहीं है ।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है । पत्नी सीताके प्रति कितना अगाध प्रेम था, इसका दिग्दर्शन सीता-हरणके बाद श्रीरामकी दशामें मिलता है । महान् धीर, वीर योद्धा श्रीराम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे विलाप और प्रलाप करते पागलकी भाँति मूर्छित हो पड़ते हैं और 'हा सीते ! हा सीते !' पुकार उठते हैं ।

श्रीरामका सख्य-प्रेम भी आदर्श एवं अनुकरणीय है । सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर उन्होंने कहा—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें । सब बिधि घटब काज मैं तोरें ॥

इसी प्रकार श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम भी अतुलनीय है । यहाँ हमें जिस भ्रातृ-प्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृ-प्रेमका जैसा आदर्श प्राप्त होता है, वैसा जगत्के इतिहासमें और कहीं नहीं मिलता । यहाँतक कि खेल-कूदमें अपनी जीतको हार मानकर भाइयोंको दुलराते थे ।

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ ॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य प्रतीत हुआ—

जनमे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बिआहा । संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

भरत-शत्रुघ्न तो उस समय मौजूद नहीं थे, इसलिये लक्ष्मणजीसे कहा—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥
(वा० रा० अयोध्या० ४ । ४४)

'भाई लक्ष्मण ! तुमलोग वाञ्छित भोग और राज्यफलका भोग करो ! मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है ।'

धन्य है यह त्याग ! आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्य-लिप्साका नाम नहीं और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व त्याग करनेको तैयार ।

ऐसे श्रीरामके प्रति ही तो तुलसीकी कामना है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥

उन्हें इसके सिवा कुछ नहीं चाहिये । सुगति नहीं चाहिये, सुमति नहीं चाहिये, सम्पत्ति नहीं, ऋद्धि-सिद्धि, बड़ाई कुछ भी नहीं चाहिये । बस, चाह है तो केवल यही कि राम-पदमें दिन-दिन अनुराग बढ़ता जाय—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ु अनुदिन अधिकाई ॥

इसलिये आइये हम सब भक्तिपूर्वक गोस्वामी तुलसीदास-जीके स्वरमें स्वर मिलाकर भगवान् श्रीरामसे यह याचना और प्रार्थना करें—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

अहिंसा-धर्मकी साधना

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देय लै जाय॥

अहिंसा माने क्या?

अहिंसा माने प्रेम। अहिंसा माने किसीको न सताना। किसीको न मारना। किसीको दुःख न देना। किसीको कष्ट न पहुँचाना। किसीका जी न दुखाना। किसीका अहित न करना।

और इस 'किसी'में—सब कुछ आ जाता है। सारी मनुष्यजाति आ जाती है। सारे पशु-पक्षी आ जाते हैं। सारे कीड़े-मकोड़े आ जाते हैं। सारे प्राणी आ जाते हैं। सारी सृष्टि आ जाती है—स्थावर-जंगम सब। पेड़की एक-एक पत्ती, पौधेका एक-एक फूलतक उसमें आता है। उसे भी न तोड़ना चाहिये।

× × ×

किसीको भी न सताना अहिंसा है।

सताना होता है तीन तरहसे—मनसे, वचनसे, कर्मसे।

हम शरीरसे तो किसीको मारें-पीटें या किसी भी तरहसे सतायें ही नहीं; वाणीसे भी किसीको कष्ट न दें। कड़ुवा न बोलें, तीखा न बोलें, व्यंग न करें, झूठ न बोलें। लगती बात न कहें। ऐसी कोई बात मुँहसे न निकालें जिससे किसीका बुरा हो, किसीका अहित हो, किसीका नुकसान हो। पर इतना ही नहीं, हम मनसे भी किसीका बुरा न चेतें। हम अपने मनमें भी न सोचें कि किसीकी हानि हो जाय।—इसका नाम है अहिंसा।

× × ×

हिंसाके दो भेद कर सकते हैं—स्थूल और सूक्ष्म।

स्थूल हिंसा है—किसीको जानसे मार देना, घायल कर देना, हाथ-पैर तोड़ देना, अङ्ग-भङ्ग कर देना, पीट देना, काट लेना आदि।

स्थूल हिंसा है—किसीको अपमानित कर देना, किसीकी रोजी छीन लेना, किसीका शोषण करना, किसीका अहित करना, किसीसे उसकी मर्जीके खिलाफ काम लेना। स्थूल हिंसा है—गाली-गलौज, व्यंग, ताना, मुक्का-मुक्की, लाठी-डंडा, तोप, बन्दूक, बम आदि हिंसक शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग।

सूक्ष्म हिंसा है—मनमें किसीके प्रति दुर्भाव रखना, घृणाका भाव रखना, राग-द्वेषका भाव रखना और उस भावको व्यावहारिक रूप देनेके लिये योजनाएँ बनाना। ऐसे मौकोंकी तलाश करना जब विरोधी व्यक्ति या प्राणीको सताकर अपना वैर भँजा लिया जाय।

मनमें सूक्ष्म हिंसा भरी रहती है तो जरा-सी चिनगारी देखते ही बारूदकी तरह भभक उठती है।

× × ×

हिंसामें एक ही भाव भरा रहता है—'मैं और मेरी' मर्जी!

'मैं जो चाहूँ सो हो। मेरी मर्जी ही कानून है। मेरी ही बात चलनी चाहिये। मेरा ही विचार चलना चाहिये। मुझे हर तरहका सुख मिले। सारी दुनिया, सारी सृष्टि—मेरी इच्छाके अनुकूल चले। जो कोई मेरी मर्जीके खिलाफ चलेगा, बोलेगा, उसे मैं कुचल दूँगा, बर्बाद कर दूँगा, मिट्टीमें मिला दूँगा!'

× × ×

यह 'मैं' हर जगह टकराता है।

घर-परिवारमें, दफ्तरमें, कारखानेमें, सड़कपर, यात्रामें, समाजमें, सभामें, संसद्‌में जहाँ देखिये 'मैं' का बोलबाला है! एक 'मैं' दूसरे 'मैं'से टकराता है। नतीजा आँखोंके सामने है। जहाँ देखिये संघर्ष है, लड़ाई है, झगड़ा है, विरोध है। घरकी कलह दफ्तरमें जाती है, दफ्तरकी कलह घरमें आती है, समाजमें आती है, राष्ट्रमें आती है, संसारमें आती है। इस कलहके चलते घर बर्बाद होते हैं, जीवन बर्बाद होते हैं, समाज बर्बाद होते हैं, राष्ट्र बर्बाद होते हैं। चारों ओर हिंसाका दावानल सुलगता है। जो भी उसकी लपेटमें आता है, भस्म हुए बिना नहीं रहता।

यह सर्वतोमुखी हिंसा आज हमें खाये जा रही है। यह हमारे जीवनमें अशान्ति और असंतोष भर रही है। हम उसकी लपटोंमें बुरी तरह झुलस रहे हैं।

इस स्थितिसे त्राण पानेका एक ही उपाय है—अहिंसा।

× × ×

पर, अहिंसाकी साधना कोई आसान बात है?

दाल-भातका कौर है अहिंसा !

अहिंसा सरल नहीं है, पर यदि हम अपनेको बचाना चाहते हैं, अपनी अशान्तिसे छुटकारा पाना चाहते हैं—तो अहिंसाकी शरणमें गये बिना गति ही नहीं ।

× × ×

योगकी पहली सीढ़ीका पहला कदम है—अहिंसा ।

योगकी आठ सीढ़ियाँ हैं, जिनमें पहली सीढ़ी है यम और यमका पहला कदम है—अहिंसा ।

अहिंसाकी मंजिल पूरी किये बिना योगमें गति हो ही नहीं सकती । और अहिंसाकी साधना करते ही सारा वैर, सारा द्वेष, सारा क्रोध, सारा क्षोभ, सारी घृणा, सारी अशान्ति, सारी बेचैनी समाप्त हो जाती है । इतना ही नहीं, अहिंसाके साधकके निकट भी जो आ जाता है, वहाँतक वह अपना वैर-भाव भूल जाता है । शेर और बकरी एक घाटपर पानी पीने लगते हैं । कारण,

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।'

× × ×

इस अहिंसाकी प्रतिष्ठा कैसे की जाय ? साधना कैसे की जाय ? माना कि 'अहिंसा परमो धर्मः' है । अहिंसा परम धर्म है । सभी धर्मोंने, सभी पंथोंने, सभी सम्प्रदायोंने, सभी संतों-महात्माओंने, ऋषियों-मुनियोंने अहिंसापर जोर दिया है । सभी शास्त्र, सभी धर्मग्रन्थ, सभी धर्माचार्य अहिंसाके पालनको सबसे अधिक महत्त्वशाली मानते रहे हैं । समाज-शास्त्री भी, राजनीतिज्ञ भी !

पर······ ।

कहाँ है अहिंसा हमारे जीवनमें ?

कहाँ है अहिंसा हमारे सामाजिक जीवनमें ?

कहाँ है अहिंसा हमारे राष्ट्रीय जीवनमें ?

यों कहनेके लिये विश्वके सभी सिरमौर अहिंसापर जोर देते हैं । सुख, शान्ति और आनन्दकी त्रिवेणी प्रवाहित करनेके लिये अहिंसाको अनिवार्य मानते हैं, पर स्थिति कुछ और ही है ।

उसकी बातोंसे समझ रखा है तुमने उसे लिख,
उसके पाँवोंको तो देखो कि किधर जाते हैं !

रूस हो या अमेरिका, इंग्लैंड हो या फ्रांस—विश्वका कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र वकालत शान्तिकी करता है, तैयारी युद्धकी । दिन-दिन एकसे एक भयंकर शस्त्रास्त्र तैयार किये जा रहे हैं, बमोंके कारखाने खड़े हो रहे हैं, 'गन कैरिज' फैक्टरियाँ खुल रही हैं, हिंसाके साधन जुटाये जा रहे हैं ।

कौन पूछता है बेचारी अहिंसाको ।

× × ×

पर कोई पूछे या न पूछे, अहिंसा जीवनकी अनिवार्य शर्त है । हिंसाके चलते न तो मानव-जीवन सुखी हो सकता है, न किसी समाज, राष्ट्र या देशका कल्याण हो सकता है । विश्वशान्तिके लिये, विश्वकल्याणके लिये, विश्व-मैत्रीके लिये अहिंसा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है ।

राग-द्वेष, मनोमालिन्य, घृणा-तिरस्कार, क्रोध-क्षोभ आदि हिंसाके भिन्न-भिन्न प्रकार जबतक मनमें बसे हुए हैं, तबतक शान्ति कहाँ ? सुख कहाँ ? आनन्द कहाँ ? व्यक्तिगत जीवन हो, सामाजिक जीवन हो, राष्ट्रीय जीवन हो—सबपर यही बात लागू होती है । हम यदि सुख, शान्ति और आनन्द चाहते हैं तो हमें सभी क्षेत्रोंसे हिंसाका निवारण करना पड़ेगा ।

× × ×

प्रश्न है कि यह हो कैसे ?

उपाय उसका भी है, बशर्ते कि हम उसे करना चाहें ।

अहिंसाके मार्गमें सबसे बड़ी बाधा यही है कि हम सच्चे हृदयसे अहिंसाकी साधना करना ही नहीं चाहते ।

उसकी शुरुआत—उसका श्रीगणेश किया जा सकता है व्यक्तिगत जीवनसे, हम अपने निजी जीवनसे हिंसा निकाल दें; मन, वचन और कर्मसे अहिंसाके पालनपर कमर कस लें तो अहिंसाका दरवाजा खुल जाता है ।

× × ×

हम परिवारमें रहते हैं । समाजमें रहते हैं । व्यक्तिगत जीवनमें, पारिवारिक जीवनमें, सामाजिक जीवनमें सैकड़ों व्यक्तियोंसे हमारा सम्बन्ध आता है । चाहे, न चाहे फिर भी हमें असंख्य लोगोंसे मिलना पड़ता है, व्यवहार करना पड़ता है । अहिंसाकी साधनाका श्रीगणेश यहींसे किया जा सकता है ।

घरमें, परिवारमें, मुहल्लेमें, समाजमें—जहाँ भी जिस किसी भी व्यक्तिसे हमारा सम्पर्क आये, हमें चाहिये कि हम प्रेमसे मिलें, प्रेमका व्यवहार करें । हमारा आचरण

प्रेममय हो। हमारा व्यवहार प्रेममय हो। हमारी बातचीत प्रेममय हो।

अहिंसाका व्यावहारिक रूप है—प्रेम।

और यह तो सच है कि प्रेमका रास्ता बहुत टेढ़ा होता है। उसमें त्याग करना पड़ता है। उसमें बलिदान करना पड़ता है। उसमें निजी स्वार्थ छोड़ना पड़ता है। उसमें सहनशीलता, क्षमा, उदारता, दया, करुणा, नम्रता—सभी सद्गुणोंका विकास करना पड़ता है।

कारण,

> यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
> सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठै यहि माहिं॥

× × ×

प्रेमको जीवनमें उतारना ही अहिंसाका पदार्थपाठ है।

हमारे हृदयमें प्रेम भर जाय, फिर तो हिंसा अपने-आप चली जायगी। किसीको मारनेकी, किसीको सतानेकी, किसीको कष्ट पहुँचानेकी भावना केवल तभी आती है, तभी बढ़ती-पनपती है, जब हम उसे 'गैर' समझते हैं, 'पराया' समझते हैं।

अपनोंको भी कोई सताता है?

अपनोंको भी कोई कष्ट पहुँचाता है?

सबको हम 'अपना' मान लें—बस, अहिंसाकी साधना सफल।

फिर तो और कुछ करना ही नहीं पड़ेगा।

कहा है उर्दूके एक कविने—

> डूबनेका खौफ़ हमको हो तो फिर क्या खाक हो,
> हम तेरे, किश्ती तेरी, साहिल तेरा, दरिया तेरा॥

× × ×

भारतीय विचारधारामें सबको अपना माननेकी, अपना बनानेकी भावना आरम्भसे ही पनपती आयी है।

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

सब कुछ ईश्वरसे आच्छादित है—

> ईशका आवास यह सारा जगत्।

सारी स्थावर और जंगम प्रकृतिमें, सृष्टिके कण-कणमें ईश्वर भरा हुआ है। जिधर देखिये उस परम प्रभुकी ही झाँकी दिखायी पड़ती है।

> एकै पवन एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।
> एकहि खाक गढ़े सब भाँडे, एकहि सिरजनहारा॥

जब मनुष्य सारी सृष्टिमें सर्वत्र उस ईश्वरकी झाँकी करने लगता है, तो सारे राग-द्वेष, सारे क्षोभ, सारे विकार अपने आप दूर हो जाते हैं। स्वतः ही उसका चरित उदार हो जाता है—

> अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
> उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

फिर तो सारी दुनिया अपने कुटुम्बका रूप धारण कर लेती है। मनुष्य विश्वपरिवारका सदस्य बन जाता है। यह 'मेरा', यह 'तेरा'—यह भाव ही जाता रहता है। तब तो सारा मानवसमाज अपना ही समाज लगता है। सब लोग अपने ही परिवारवाले जान पड़ते हैं। किसीसे झगड़ा नहीं, किसीसे विरोध नहीं, किसीसे घृणा नहीं। सारे भेद-भाव अपने-आप झड़ जाते हैं। ब्राह्मण और शूद्र, हिंदू और मुसलमान, बौद्ध और ईसाई—सब-के-सब अपने हो जाते हैं। और अपनोंकी हिंसाका, अपनोंको सतानेका प्रश्न ही कहाँ उठता है?

सारे भेदभाव दूर खड़े रहते हैं—वर्ण और रंग, जाति और सम्प्रदाय, देश और काल, भाषा और लिंग, वर्ग और विचार—किसीकी दाल नहीं गलती।

'हम सब मनुष्य हैं। हम सब एक हैं। हम सब एक पिताके बालक हैं।'—यह भाव हम अपने जीवनमें विकसित कर लें, सबको अपना मान लें, फिर तो अहिंसाकी साधना अपने-आप होने लगेगी। उसके लिये कुछ भी करना न पड़ेगा। हमारे जीवनसे, हमारी वाणीसे, हमारे व्यवहारसे अहिंसा-धर्म स्वतः मुखरित होने लगेगा। कठिन है, फिर भी यह साधना करने जैसी है। आइये, हम सच्चे हृदयसे इस धर्मके पालनका व्रत लें।

प्रेमके इस मार्गपर थोड़ा-सा आगे बढ़ते ही हमारा रोम-रोम पुकार उठेगा।

> करूँ मैं दुश्मनी किससे अगर दुश्मन भी हो अपना।
> मुहब्बतने नहीं दिलमें जगह छोड़ी अदावतकी॥

× × ×

> 'अब मैं का सौं बैर करूँ।
> कहत पुकारत प्रभु निज मुख तें घट-घट हौं बिहरूँ॥

अहिंसा-धर्मका स्वरूप

(लेखक—ब्र० श्रीस्वामीजी श्रीभानन्दतीर्थजी)

अहिंसा—शरीर, वाणी अथवा मनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिकी मनोवृत्तियोंके साथ किसी प्राणीको शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूपसे उसका कारण बनना हिंसा है। इससे बचना अहिंसा है। गौ, अश्व आदि पशुओंका उचित रीतिसे पालन-पोषण करके प्राण-हरण न करते हुए उनसे नियमित रूपसे दूध आदि सामग्री प्राप्त करना तथा सेवा लेना हिंसा नहीं है; पर वही जब उनकी रक्षाका ध्यान न रखते हुए दूध, सेवा आदि क्रूरताके साथ लिया जाय तो हिंसा हो जाती है।

शिक्षार्थ ताड़ना देना, रोग-निवारणार्थ ओषधि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्तके लिये दण्ड देना हिंसा नहीं है, यदि ये बिना द्वेष आदिके केवल प्रेमसे उनके कल्याणार्थ किये जायँ। पर यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदिकी मनोवृत्तियोंसे मिश्रित हों तो हिंसा हो जाते हैं। प्राणोंका शरीरसे वियोग करना सबसे बड़ी हिंसा है। श्रीव्यासजी महाराजने अहिंसाकी व्याख्या इस प्रकार की है कि 'सर्वकालमें सर्वप्रकारसे सब प्राणियोंका चित्तमें भी द्रोह न करना अहिंसा है।' अहिंसा ही सब यम-नियमोंका मूल है। उसीके साधन तथा सिद्धिके लिये अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसाको निर्मल रूप बनानेके लिये ग्रहण किये जाते हैं।

× × ×

जिस प्रकार सारे क्लेशोंका मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे पापोंका मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकारकी है—(१) शारीरिक—किसी प्राणीका प्राण-हरण करना अथवा अन्य प्रकारसे शारीरिक पीड़ा पहुँचाना, (२) मानसिक—मनको क्लेश देना या मनसे किसीका अहित—बुरा चाहना, (३) आध्यात्मिक—अन्तःकरणको मलिन करना। यह राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयादि तमोगुण वृत्तिसे मिश्रित होती है। किसी प्राणीकी किसी प्रकारकी हिंसा करनेके साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है, अर्थात् अपने अन्तःकरणको हिंसाके क्लिष्ट संस्कारोंके मलसे दूषित करता है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंमें सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद्में बतलाया है—

> असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
> तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अन्तःकरणको मलिन करनेवाले हैं,) वे मरकर उन लोकोंमें (योनियोंमें) जाते हैं, जो असुरोंके लोक कहलाते हैं और घने अँधेरेसे ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियोंमें जाते हैं।'

शरीर तथा मनकी अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम है; क्योंकि शरीर और मन तो आत्माके करण (साधन) हैं, जो मनुष्यको उसके कल्याणार्थ दिये गये हैं। इसलिये हिंसक अधिक दयाका पात्र है। उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेनेकी भावना रखना हिंसा है। इसलिये जिसपर हिंसा की जाती है, उसके तथा हिंसक दोनोंके कल्याणार्थ हिंसा-पापको हटाना तथा अहिंसा-धर्मको ग्रहण करना चाहिये। योगीमें अहिंसा-व्रतकी सिद्धिसे आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी सन्निधिसे ही हिंसक हिंसाकी भावनाको त्याग देता है। मानसिक शक्तिवाले मानसिक बलसे हिंसाको हटा दें, वाचिक तथा शारीरिक शक्तिवाले जहाँतक उनका अधिकार है, उस सीमातक इन शक्तियोंको हिंसाके रोकनेमें प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशोंका परम कर्तव्य संसारमें अहिंसा-व्रतको स्थापन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी घातक शस्त्रसे, जो उसके पास शरीर-रक्षाके लिये है, अपने ही शरीरपर आघात पहुँचाने लगे, तो उसके शुभचिन्तकोंका यह कर्तव्य होता है कि उसके हितार्थ उसके हाथोंसे वह शस्त्र हरण कर लें। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक शरीररूपी शस्त्रसे, जो उसको उसकी आत्माके कल्याणार्थ दिया गया है, दूसरोंको तथा अपनी ही आत्माको हिंसारूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकारसे उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब धर्मोंकी सुव्यवस्था रखनेवाले शासकोंका परम कर्तव्य होता है कि उसके शरीरका उससे वियोग कर दें। यह कार्य अहिंसा-व्रतमें बाधक नहीं है, वरं अहिंसा-व्रतका रक्षक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य द्वेषादि तमोगुणी वृत्तियों अथवा बदला लेनेकी भावनासे मिश्रित है तो हिंसाकी सीमामें आ

जाता है। अहिंसाके स्वरूपको इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिये कि सत्त्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ भावनाओं) के प्रकाशमें अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक धर्मोंमें और तमरूपी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (नीच भावनाओं) के अन्धकारमें हिंसा तथा उसके सहायक अन्य चारों वितर्कोंमें प्रवृत्ति होती है। धर्म-स्थापनके लिये युद्ध करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है, उससे बचना हिंसारूपी अधर्ममें सहायक होना है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गीता २। ३१)

'स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिये और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।'

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
(गीता २। ३२)

'हे पार्थ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है।'

वेदमें भी ऐसा बतलाया गया है। यथा—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥
(अथर्ववेद १८। २। १७)

'जो संग्रामोंमें लड़नेवाले हैं, जो शूरवीरतासे शरीरको त्यागनेवाले हैं और जिन्होंने सहस्रों दक्षिणाएँ दी हैं, तू उनको (अर्थात् उनकी गतिको) भी प्राप्त हो।'

अपनी दुर्बलताके कारण भयभीत होकर अत्याचारियोंके अत्याचार सहन करना, अपनी धन-सम्पत्तिको चोर-डाकुओंसे हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज अथवा धर्मको दुर्जनोंद्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसाका पोषक कायरतारूपी महापाप है। इतना बतला देना और आवश्यक है कि क्षात्रधर्मानुसार तेजस्वी वीर ही अहिंसा-व्रतका यथार्थरूपसे पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुंसक हिंसकोंकी हिंसा बढ़ानेमें भागी होता है।

× × ×

सर्वसाधारणके लिये अहिंसारूप व्रतके पालन करनेमें सबसे सरल कसौटी यह है "Do to others as you want others do to you." अर्थात् दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें पहले यह भली प्रकार जाँच लो कि यदि तुम इनके स्थानपर होते और वे तुम्हारे स्थानपर तो तुम उनसे किस प्रकारका व्यवहार कराना चाहते। बस, वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो। यही सिद्धान्त सत्य और अस्तेय आदि यमोंमें भी घट सकता है।

हर समय इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि हमारा जीवन प्राणिमात्रके लिये सुखदायी और कल्याणकारी हो। कोई कार्य ऐसा न होने पाये, जिससे किसीको किसी प्रकारका दुःख पहुँचे।

× × ×

अहिंसानिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करनेसे कि उसके निकट किसी प्रकारकी हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरणसे अहिंसाकी सात्त्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेगसे बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक अन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक-वृत्तिको त्याग देते हैं।*

हिंसाका अनुमोदक भी हिंसक है

अखादन्नुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते॥
(महाभारत अनुशासन ११५। ३९)

जो स्वयं मांस नहीं खाता, पर खानेवालेका अनुमोदन करता है, वह मनुष्य भी भावदोषके कारण मांसभक्षणके पापका भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसाके दोषसे लिप्त होता है।

*श्रीस्वामीजी महाराजद्वारा लिखित 'पातञ्जलयोगप्रदीप' नामक पुस्तकसे। यह पुस्तक गीताप्रेस गोरखपुरसे ६) रुपयेमें मिलती है।

अहिंसा परमो धर्मः

(२)

(लेखक—श्रीहरिप्रसादजी शर्मा साहित्यरत्न, शास्त्री)

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥

(महाभारत)

'मन, वचन और कर्मके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अद्रोह अर्थात् मित्रता करना और प्राणिमात्रके ऊपर अनुग्रह करके उन्हें सुख पहुँचाना आदि सनातन धर्म ही परम धर्म है।'

जो मनुष्य किसी दूसरेको वचनके द्वारा कष्ट देता है—किसीकी निन्दा करता है या कठोर वचन बोलता है, वह वचनके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'वाचिक हिंसा' कहते हैं। जो मनसे किसीका भी तनिक भी अकल्याण चाहता है, वह मनके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'मानसिक हिंसा' कहते हैं। जो व्यक्ति किसीका वध करता है या चोट पहुँचाता है वह कर्मके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'शारीरिक हिंसा' कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी हिंसा ही सर्वथा त्याज्य है। हिंसासे मनुष्यमें क्रूरता आती है और क्रूरतासे हिंसा होती है। ये अन्योन्याश्रित हैं। एक दूसरेको बढ़ाते रहते हैं। हिंसासे मनकी सद्भावना भी नष्ट होती है। साथ ही पापकी वृद्धि होती है। हिंसकको इहलोक तथा परलोकमें कभी शान्ति नहीं मिलती। इसके विपरीत जो पुरुष प्राणिमात्रको 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'की भावनासे आत्मवत् देखता है और कभी भी किसीको तन-मन-वचनसे दुःख नहीं पहुँचाता, वही सुखी रहता है। महाभारतमें कहा है—

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी ।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥

(महाभारत अनुशासन ११५ । ४०)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करता है और कभी भी मांस नहीं खाता, वह मनुष्य न तो स्वयं किसी भी प्राणीसे डरता है और न दूसरोंको डराता ही है। वह दीर्घायु होता है, आरोग्यपूर्वक रहता है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।' मनु महाराज लिखते हैं—

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥

(मनुस्मृति ५ । ४६-४७)

'जो मनुष्य किसी भी प्राणीका बन्धन या वध नहीं करता, किसी भी प्रकारसे किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, वह सबका हितचिन्तक मनुष्य अपार सुख प्राप्त करता है।' इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य कुछ भी क्यों न करता हो, वह जिस कार्यमें धीरतापूर्वक लग जाता है, उसीमें उसे बिना ही प्रयत्न किये सफलता मिलती है; क्योंकि वह किसी भी प्राणीको कभी भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता, तब उसे दुःख कैसे होगा ? जो प्राणिमात्रपर प्रेमभाव रखता है, उसके प्रति सभी प्राणी प्रेम करते हैं और सब प्राणियोंके अधिष्ठाता ईश्वर भी उस व्यक्तिपर परम प्रसन्न रहते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ६ । ३०)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि 'जो मनुष्य सब भूतोंमें आत्मरूप मुझको देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको मेरे अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं हूँ और वह व्यक्ति मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे रहता है।' अतः हमें चाहिये कि प्राणिमात्रकी आत्माको एक ही समझकर कभी किसी प्रकार भी हिंसा न करें। 'अहिंसा परमो धर्मः'का ही पूर्णरूपसे पालन करें। मनु महाराज कहते हैं—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥

(मनुस्मृति ५ । ४५)

'जो मनुष्य होकर भी अहिंसक अर्थात् निरपराधी प्राणियोंको अपने सुखके लिये दुःख देता है—उनकी हिंसा करता है वह न तो इस जन्ममें सुखी रहता है, न मरनेके बाद स्वर्गसुख ही प्राप्त कर सकता है।'

अतः मानवमात्रका यह एक पुनीत कर्तव्य है कि मन, वचन और कर्मके द्वारा किसीको भी दुःख न दें। पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा केवल अहिंसा-धर्मका ही पालन करें।

(२)

(लेखक—श्रीगुलाबचन्दजी वालच्य)

वास्तवमें विश्वमें यदि कभी सुख-शान्ति आ सकती है तो वह केवल अहिंसा-धर्मसे ही। अहिंसाका तात्पर्य है, किसी भी प्राणीको मन, वचन और कर्मसे कभी दुःख न पहुँचाना। इस सृष्टिमें प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है और जीनेके साथ-साथ वह सुख और शान्ति चाहता है। यह स्वाभाविक है कि प्राणी दुःखसे छूटकर सुखी होना चाहता है। परंतु हममें एक स्वाभाविक दुर्बलता है कि हम अपना ही स्वार्थ देखते हैं; क्योंकि हमारी अहंता-ममता-मूलक वृत्तियाँ हमें अपने क्षुद्र स्वार्थतक ही सीमित रखती हैं, जिसके कारण हम केवल अपनी ही रक्षा तथा उन्नति चाहते हैं, दूसरे प्राणी चाहे मर जायँ हमें इससे प्रयोजन नहीं रहता। इसी अपनी नीच स्वार्थभावनाको लेकर हम दूसरोंके प्राणोंको तुच्छ समझकर उन्हें कष्ट देते हैं, उनका अहित करते हैं एवं उन्हें मारते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जो एक तत्त्व हममें उपस्थित है, जिससे हमने जीवन धारण किया है, वही तत्त्व सर्वत्र व्यापक है और समस्त जीवधारियोंके भीतर उपस्थित है। प्रकृतिने प्रत्येक प्राणीको चाहे वह छोटा हो या बड़ा, कीट-पतंगसे लेकर मनुष्यतक सबको समान अधिकार दिये हैं। प्रकृतिकी दृष्टिमें सभी समान हैं, परंतु यह मनुष्य है जो बुद्धि और चित्तका सर्वोच्च रूप पाकर अपनेको सबका राजा समझता है और अपनी स्वार्थपरताके लिये अन्य प्राणियोंको कष्ट पहुँचाता है।

अहिंसा एक ऐसा पावन गुण या पवित्र कर्तव्य है जो सृष्टिपर एक ऐसी व्यवस्था करता है, जिससे मानव सुख-शान्तिसे जीवित रह सकता है और जिससे सर्वत्र समत्वबुद्धिका प्रकाश फैलता है। इसीसे भारतके आर्यमनीषियोंने अहिंसाको सबसे बड़ा धर्म कहा। हमारे सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थ, हमारे ही क्या विश्वके समस्त धार्मिक ग्रन्थ अहिंसाका गुणगान करते हैं और मनुष्योंको बार-बार पद-पदपर अहिंसामय जीवन व्यतीत करनेको कहते हैं। अहिंसा-धर्म अनेकों गुणोंका समुच्चय है। दया, क्षमा, करुणा आदि इसमें मुख्यतासे आते हैं। अब देखना है इस अहिंसा-धर्मके विषयमें कहाँ-कहाँ उपदेशात्मक चर्चा है तथा इसका आदर्श क्या है!

सबसे प्रथम महाभारतके जो कि हिंदुओंका सर्वोपरि धर्ममय ऐतिहासिक गौरव-ग्रन्थ है, अनुशासनपर्वमें अहिंसाकी विशद व्याख्या करते हुए इसकी महत्ता बतलायी गयी है—

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥

(११५ । २३; ११६ । २८—३०)

अर्थात् अहिंसा परम धर्म है, परम तप है, परम सत्य है, इसीसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है। अहिंसा परम संयम है, परम दान है, परम यज्ञ है, परम फल है, परम मित्र है और परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें स्नान किया जाय, सब प्रकारके स्नान-दानका फल प्राप्त हो तो भी उसकी अहिंसा-धर्मके साथ तुलना नहीं हो सकती।

हमारे प्राचीन वेद भी इसी बातको बताते हैं। देखिये यजुर्वेद (३०) में। 'मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः।' अर्थात् अपनी देहसे किसी भी प्राणीको कष्ट मत दो। भावार्थ यह कि सर्वथा अहिंसाका पालन करो। श्रीमहेश्वर कहते हैं—

न हि प्राणैः प्रियतमं लोके किंचन विद्यते।
तस्मात् प्राणिदया कार्या यथाऽऽत्मनि तथा परे॥

(महाभारत अनुशासन १४५)

संसारमें प्राणोंके समान प्रियतम दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः सब प्राणियोंपर दया करनी चाहिये। जैसे अपने लिये दया अभीष्ट है, वैसे ही दूसरोंके लिये भी होनी चाहिये।

देवर्षि नारद भगवान्‌की पूजाके लिये गुण-पुष्पोंकी चर्चा करते हुए अहिंसा-धर्मका ही सर्वप्रथम नाम लेते हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥

अर्थात् अहिंसा प्रथम पुष्प है, दूसरा पुष्प इन्द्रियनिग्रह है, तीसरा पुष्प जीवदया है और चौथा क्षमा है।

स्वामी रामानन्दाचार्य अहिंसाकी महत्ता दर्शाते हुए कहते हैं—

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसासतस्तां परिवर्जयेज्जनः
सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मबुद्धये॥

अर्थात् दान, तप, तीर्थसेवन एवं मन्त्र-जप—इनमेंसे कोई भी अहिंसाके समान पुण्यदायक नहीं है। अतः सर्वश्रेष्ठ वैष्णवधर्मका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह अपने शुद्ध धर्मकी शुद्धिके लिये सब प्रकारकी हिंसाका परित्याग कर दे।

तात्पर्य यह कि भारतके बड़े-बड़े महान् पुरुष सब इसी बातको लेकर चलते हैं कि मनुष्यका परम धर्म और आदर्श अहिंसा ही है। भारत ही क्या विश्वका प्रत्येक मत अहिंसाको मान्यता देता है।

ईसाई-धर्म भी अहिंसाको स्वीकार करता है। देखिये, ईसामसीह कहते हैं—

'Thou shalt not kill and ye shall be holy men unto me neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field.'

अर्थात् तू किसीको मत मार। तू मेरे पास पवित्र मनुष्य होकर रह, जंगलोंके प्राणियोंका वध करके उनका मांस मत खा।

बौद्धधर्म भी अहिंसाको अपना सर्वोत्तम धर्म स्वीकार करता है। उसके मूल सिद्धान्त अहिंसापर ही आधारित हैं। देखिये संयुत्तनिकाय—

पाणातिपातो अकुसलं पाणातिपाता वेरमणी कुसलं॥

अर्थात् प्राणघात अहितकारी है, प्राणघातसे विरक्त होना हितकारी है।

पाणं न हाने न च घातयेय्य न चानुजञ्ञा हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

अर्थात् सब प्राणियोंपर दया रखकर जो लोकमें स्थावर जीव हों या जंगम जीव हों, उनमेंसे किसीके प्राण न लेना चाहिये, न उनका घात करना चाहिये और न घात होनेका अनुमोदन ही करना चाहिये।

बौद्धोंका एक ग्रन्थ सुत्तनिपात, जिसका अंग्रेजी अनुवाद कवि Fausbold ने किया है, एक स्थानपर लिखा है—As I am so are these, as these are so am I, identifying with others, let him not kill, nor cause (anyone) to kill.

अर्थात् जैसा मैं हूँ वैसा वे हैं, जैसा वे हैं वैसा मैं हूँ। अपने समान दूसरोंको जानकर न तो किसीकी हिंसा करनी चाहिये और न हिंसा करानी चाहिये।

जैनधर्म तो अहिंसा-प्रधान धर्म ही है। जितना अहिंसाको जैनधर्म महत्त्व देता है, उतना शायद इतर धर्म नहीं देते। जैन साधु तो हिंसाके भावतकका मनमें आना पाप समझते हैं और उसे बन्धनका कारण कहते हैं। कई जैन मुनि तो यहाँतक मानते हैं कि जहाँ आत्माके शुद्ध भावोंकी हिंसा हो, वहाँ हिंसा होती है। परंतु इसके सूक्ष्ममें गमन करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें तो जन-साधारणके लिये जो सुलभ हो, वही कहना है। भगवान् महावीर कहते हैं—'ज्ञानी होनेका यही सार है कि वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे।' इतना ही अहिंसाके सिद्धान्तका ज्ञान यथेष्ट है। यही अहिंसाका विज्ञान है।

अहिंसा मानो पूर्ण निर्वैरता ही है। पूर्ण अहिंसाका अर्थ है प्राणिमात्रके प्रति दुर्भावका सर्वथा अभाव तथा प्राणिमात्रके प्रति सहज प्रेम। उसके दर्शन बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती। इसलिये कहा है—'अहिंसा परमो धर्मः।'

अतः हमें यह जानना चाहिये कि यथार्थमें अहिंसा-धर्म मानव-जीवनका सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और इसे सर्वोत्तम कर्तव्य मानकर मन, वचन और कर्मसे पालन करनेका निश्चय करना चाहिये। 'अहिंसाका पालन करके मानव अपनी मुक्तिका द्वार अनायास खोल लेता है।' जो मन, वचन और कर्मसे पूर्ण अहिंसक है उनके समीप सभी प्राणी वैरभावको त्यागकर उसके मित्र बन जाते हैं और वह प्राणी सबसे अभय होकर पृथ्वीपर विचरण करता है। वही धर्मयोगी, वही कर्मयोगी और वही तत्त्वदर्शी है जिसने अहिंसा-जैसे पावन धर्मको अपने जीवनमें उतार लिया है। अहिंसा-धर्मके आदर्श हैं—दया, क्षमा, करुणा, समदृष्टि, सहनशीलता, अक्रोध, ब्रह्मचर्य आदि। सभी प्राणियोंमें एक ही चैतन्य परमात्माका अनुभव करके सभीको समानभावसे देखना, किसीसे राग-द्वेष न करना, किसीसे घृणा न करना, किसीको कष्ट न देना, सबको सुख पहुँचाना, सभीका हित करना और सभीसे प्रेम करना।

(३)

(लेखक—श्रीमहेन्द्रनाथजी जैन)

[अहिंसा-प्रश्नोत्तरी]

अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है, अन्य सब धर्म इसी धर्मसे बन जाते हैं। जो अहिंसक है उससे कोई पाप नहीं हो

सकता। हिंसाके त्यागसे सब पापोंका त्याग हो जाता है। अतएव कहा है—'अहिंसा परमो धर्मः।'

—'अहिंसा परमो धर्मः।' बड़ा सुन्दर मन्त्र है। परंतु अहिंसाका क्या स्वरूप है? इसे समझाइये।

—'अहिंसा परमो धर्मः।' किसीको पीड़ा न देना, मनसे, वचनसे अथवा कायासे—किसी भी प्रकार किसीको न तो स्वयं पीड़ा देना, न दूसरेसे दिलवाना और न किसी हिंसक कर्मका अनुमोदन करना। इस प्रकार २७ प्रकारकी हिंसासे बचना ही सच्ची अहिंसा है।

'अठारह पुराणोंमें व्यासने दो ही बातें कही हैं, दूसरोंका उपकार करना पुण्य है और पीड़ा देना पाप है। केवल व्यास ही नहीं, वेद, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति—सभीने अहिंसाको ही परम धर्म बतलाया है। भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, ईसामसीह, हमारे अपने समयमें पूज्य महात्मा गाँधीने अहिंसा-धर्मको सर्वोच्च स्थान दिया है।'

'अच्छा तो, अब यह बताइये कि किस प्रकार हम अपनी हिंसक मनोवृत्तिको वशमें करके अहिंसा-धर्मका पालन करनेमें समर्थ हो सकते हैं?'

—'वत्स! तुम्हारा प्रश्न बहुत ही सुन्दर है। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। हिंसा होती है अतृप्त कामनाके कारण। जब कोई हमारी कामना-पूर्तिमें बाधा डालता है तो हम उसे हटा देना चाहते हैं। समझा-बुझाकर, नहीं तो बलात्। बस, यही हिंसा है। जिन्होंने हमारी कामनाओंमें बाधा डाली है या जिनसे हमें ऐसी आशङ्का है, उन्हें प्रतिशोधरूपमें हम पीड़ा देना चाहते हैं। फिर तो, कुछ लोगोंका स्वभाव ही परपीड़क हो जाता है। उन्हें दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें बड़ा आनन्द आता है।'

—'तब सिद्ध हुआ कामना ही हिंसाकी जड़ है। जबतक कामना है तबतक कोई-न-कोई उसकी पूर्तिमें बाधा पहुँचाता ही रहेगा। अतएव हमारी हिंसक वृत्ति जाग्रत् होती ही रहेगी। अहिंसा-धर्मका पूर्णरूपेण पालन करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य समस्त कामनाओंका त्याग करके भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध आदिकी तरह संन्यास ले ले। क्यों यही बात है न?'

—'वत्स! महामती महात्मा गाँधीने गृहस्थ-जीवनमें ही अहिंसाके पालनको सफल करके दिखलाया है।'

—'पूज्य गाँधीजी राज्य-व्यवस्थाके समर्थक थे। प्रत्येक राज्य-व्यवस्था आंशिक रूपसे हिंसाको स्वीकार करती है। अपराधियोंको दण्ड देना राज्यका परम कर्तव्य है और दण्डसे सभीको घोर पीड़ा होती है, हर्ष नहीं होता।'

—'गाँधीजीने अहिंसाको कुछ आगे बढ़ाया है, उसके क्षेत्रको कुछ और विस्तृत किया है। यदि वे सम्पूर्ण क्षेत्रमें अहिंसाको नहीं ला सके तो इस कारण हमें, जितना वे अहिंसाको व्यापक बना सके हैं उतनेको भी, उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। सम्भव है भविष्यमें कोई महात्मा राज्य-व्यवस्थाको भी अहिंसापर आश्रित करके दिखला दे।'

—'वह दिन भविष्यके लिये अवश्य ही शुभ होगा। आज तो अहिंसाका अर्थ है राजाको प्रजाके विरुद्ध हिंसाकी खुली छूट है। परंतु प्रजा राज्यके विरुद्ध हिंसक न बने। देशके छोटे-मोटे आन्तरिक उपद्रव हिंसाद्वारा दबा दिये जायँ, परंतु अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्रमें युद्धका प्रसंग नहीं आना चाहिये।'

—'राज्यके विरुद्ध तो प्रजाको कभी हिंसापर उतरना ही नहीं चाहिये यह तो तुम भी मानते आये हो।'

—'यदि प्रजाका राज्य-व्यवस्थामें ही विश्वास न रहे तो ऐसी व्यवस्थाको उखाड़ फेंकनेमें हिंसाका प्रयोग प्रजाकी ओरसे भी हो सकता है। नृसिंह अवतारने हिरण्यकशिपुकी और भगवान् श्रीकृष्णने कंसकी व्यवस्थाको हिंसाद्वारा ही पलटा था।'

—'महात्मा गाँधीने अहिंसाके द्वारा ही एक अत्याचारी शासनको पलटकर दिखला दिया है। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्।' अब भी क्या तुम अहिंसाकी शक्ति अस्वीकार करते रहोगे?'

—'पहले भी अस्वीकार की है और अब भी करूँगा। सारा जड जगत् अहिंसक है, हिंसा तो केवल चैतन्यमें ही है। तो क्या इस कारण चैतन्यसे जड श्रेष्ठ हो जायगा? शक्ति अहिंसामें नहीं है, अन्यायके प्रतिकारमें है। गाँधीजीने अहिंसाकी शक्ति नहीं दिखलायी। उन्होंने केवल यह दिखलाया है कि अन्यायका प्रतिकार अहिंसाके द्वारा भी हो सकता है।'

—'यही मैं भी चाहता हूँ कि तुम मान जाओ कि अन्यायका प्रतिकार अहिंसाके द्वारा हो सकता है।'

—'मानता हूँ, परंतु सदैव नहीं। अहिंसाके द्वारा

अन्यायका प्रतिकार हो सके, इसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं—१—अन्याय तात्कालिक न होकर दीर्घकालिक हो। अहिंसाके द्वारा आप बलात्कार, नारी-अपहरण, हत्या, आग लगाने इत्यादिको नहीं रोक सकते। ये पाप बल-प्रयोगके द्वारा ही रोके जा सकते हैं। २—अन्यायी पीड़ितको नष्ट न करके केवल उसके श्रम और साधनोंका इच्छानुसार उपयोग करना चाहता हो। जहाँ किसी देशकी सम्पूर्ण जनताको नष्ट करके वहाँ स्वयं बस जानेका लक्ष्य हो, जैसा कि आस्ट्रेलिया इत्यादिमें किया गया, वहाँ अहिंसा कुछ नहीं कर पाती। ३—अन्यायी स्वयं थोड़ा-बहुत धर्म और मानवता-को माननेवाला हो और पर-पीड़ाका अनुभव करता हो।'

—'तो यह तो मानोगे कि गाँधीजीने अहिंसाका क्षेत्र कुछ विस्तृत करके विश्वका बहुत बड़ा उपकार किया है?'

—'मानता हूँ; परंतु यह नहीं मानता कि प्रत्येक क्षेत्रमें अन्यायका प्रतिकार करनेके लिये केवल अहिंसाका ही एकमात्र मार्ग है। अन्ताराष्ट्रीय युद्ध न हों, यही उत्तम है। परंतु वे भारतद्वारा अणुबम न बनाये जानेसे नहीं रुक सकते। अहिंसाके द्वारा युद्ध तभी रुक सकते हैं, जब सभी राष्ट्र अहिंसक हों। यदि एक भी राष्ट्र अहिंसक बनना अस्वीकार करके हिंसापर उतर आता है तो सारे अहिंसक राष्ट्रोंपर उसका आधिपत्य पलक मारते ही स्थापित हो जायगा और अहिंसाप्रेमी राष्ट्रोंको घोर कष्ट भोगना होगा।'

—'तो फिर युद्ध रोकनेका तुम्हारे पास कौन-सा मार्ग है?'

—'जो मार्ग व्यक्तिगत जीवनसे हिंसा हटानेका है, वही अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्रसे हिंसा हटानेमें सफल हो सकता है।'

—'मेरा मत है कि संसारमें हिंसाका मूल कामना है और इस प्रकार अहिंसाका साम्राज्य स्थापित करनेके दो ही मार्ग हैं। एक तो सर्वकामनाओंका त्याग, जिसे संन्यास कहते हैं। दूसरी ऐसी व्यवस्था जिसमें कोई भी एक दूसरेकी कामनामें बाधक न हो। पर यह व्यावहारिक नहीं है; क्योंकि कामनाएँ अनन्त और कभी न पूरी होनेवाली हैं इसलिये यदि उन्हें अनियन्त्रित छोड़ दिया जायगा तो अवश्य ही एक दूसरेकी कामनाएँ आपसमें टकरायँगी; अतएव इस टकरावको रोकनेके लिये उन्हें नियन्त्रणमें लाना होगा। वह नियन्त्रण जितना ही स्वाभाविक और न्यायपूर्ण होगा, उतनी ही समाजमें सुख, शान्ति और सुव्यवस्था होगी तथा राग-द्वेष और ईर्ष्याका अभाव होगा।'

—'बहुत सुन्दर! अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि इस प्रकारके स्वाभाविक और न्यायपूर्ण नियन्त्रणको अधिक-से-अधिक बल प्रदान करे और उसे भङ्ग करनेवालेके प्रति कठोर बने।'

—'दुराचार, पाप और अन्यायके प्रति आक्रोशकी भावना प्रत्येक मनुष्यमें जन्मजात होती है और इसी भावनाके बलपर नियन्त्रण दृढ़ बना रहता है तथा जनता सुख, सुरक्षा और शान्तिका अनुभव करती रहती है। यदि कोई हमारी भूमि छीनेगा, हमारी बहू-बेटियोंपर कुदृष्टि डालेगा, हमारे धर्म-में हस्तक्षेप करेगा, हमारा अकारण अपमान करेगा तो जनता उसे सहन नहीं करेगी। इसी विश्वासके बलपर लोग घरमें छुरी, बन्दूक रखना अनावश्यक समझते हैं। जहाँ आततायियोंके प्रति दुर्बल भावना दिखलायी पड़ने लगती है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षाके लिये गुटबंदी और अस्त्रोंके संग्रहमें लग जाता है। जो बात व्यक्तिगत क्षेत्रमें है, वही अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्रमें है। अहिंसा-अहिंसा चिल्लानेसे अथवा निःशस्त्रीकरणसे युद्धका भय नहीं जायगा। युद्धका भय जायगा कामनाओंके नियन्त्रणसे, धर्मसे, विश्वास और सुरक्षासे, न्यायसे, अन्यायके प्रति जो स्वाभाविक आक्रोश है उसे प्रबल करनेसे।

'अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा परम धर्म है, परंतु अन्यायका प्रतिकार उससे भी बड़ा धर्म है। यदि दोनों धर्मोंमें विरोध आ जाय तो अहिंसाको छोड़कर अन्यायका प्रतिकार करना होगा। अहिंसा निस्संदेह परम धर्म है, परंतु जहाँ अपनी कायरता छिपाने अथवा दुराचार एवं पापके प्रति उठनेवाली स्वाभाविक आक्रोशकी भावनाको कुण्ठित करने-के लिये अहिंसाका राग अलापा जाता है, वहाँ अहिंसा धर्म नहीं रहता है। दुराचार, अनाचार, अन्याय और अधर्मके प्रतिकारकी भावना मानवसमाजकी अमूल्य निधि है। इस भावनासे रहित समाज समाज नहीं है, जाति जाति नहीं है, राष्ट्र राष्ट्र नहीं है। अहिंसाके चक्करमें हम कहीं इस भावनासे हाथ न धो बैठें। महात्मा गाँधीने अहिंसाके साथ-साथ इस भावनाको भी दृढ़ करनेका प्रयत्न किया था। उन्होंने सत्यपर आग्रह करना सिखलाया था, सत्यको छोड़ देना नहीं। अहिंसा वहींतक धर्म है जहाँतक उससे अन्यायी और आततायीको प्रोत्साहन नहीं मिलता।'

अहिंसाके गुण और मांस-भक्षणके दोष

अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम्॥
देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता।
वेदाध्ययनयज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा॥
आचार्यगुरुशुश्रूषा तीर्थाभिगमनं तथा।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम सुख है। समस्त धर्मशास्त्रोंमें अहिंसाको 'परमपद' बतलाया गया है।

देवताओं और अतिथियोंकी सेवा, सतत धर्मशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, दम, गुरु और आचार्यकी सेवा तथा तीर्थयात्रा—ये सब अहिंसा-धर्मकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं।

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥
एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव।
नहि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि॥
आत्मार्थं यः परप्राणान् हिंसात् स्वादु फलेप्सया।
व्याघ्रगृध्रशृगालैश्च राक्षसैश्च समस्तु सः॥
संछेदनं स्वमांसस्य यथा संजनयेद् रुजम्।
तथैव परमांसेऽपि वेदितव्यं विजानता॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासं लभते यत्र यत्रोपजायते॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

जो हिंसा नहीं करता, उसकी तपस्या अक्षय होती है। वह सदा यज्ञ करनेका फल पाता है। हिंसा न करनेवाला पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंके माता-पिताके समान है।

कुरुश्रेष्ठ! यही अहिंसाका फल है, इतनी ही बात नहीं है; अहिंसाका तो इससे कहीं अधिक फल है। अहिंसासे मिलनेवाले लाभोंका सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता।

जो स्वादकी इच्छासे अपने लिये दूसरोंके प्राणोंकी हिंसा करता है, वह बाघ, गीध, सियार और राक्षसोंके समान है।

जैसे अपना मांस काटना अपने लिये पीड़ाजनक होता है, उसी तरह दूसरेका मांस काटनेपर उसे भी पीड़ा होती है। यह प्रत्येक विज्ञ पुरुषको समझना चाहिये।

जो पराये मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है वहीं उद्वेगमें पड़ा रहता है।

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम्।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः॥
मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत॥
घातको वध्यते नित्यं तथा वध्यति भक्षितः।
जाताश्चाप्यवशास्तत्र छिद्यमानाः पुनः पुनः।
पाच्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः॥
कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः॥
नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह।
तस्मात् प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत्॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंके मांसको खाते हैं, वे दूसरे जन्ममें उन्हीं प्राणियोंके द्वारा भक्षण किये जाते हैं। इस विषयमें मुझे संशय नहीं है।

भरतनन्दन! (जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—) मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्। अर्थात् 'आज मुझे वह खाता है—तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है—इसे ही 'मांस' शब्दका तात्पर्य समझो।

राजन्! इस जन्ममें जिस जीवकी हिंसा होती है, वह दूसरे जन्ममें सदा ही अपने घातकका वध करता है। फिर भक्षण करनेवालेको भी मार डालता है।

मांसलोलुप जीव जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं। वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे और पकाये जाते हैं। उनकी यह विवशता प्रत्यक्ष देखी जाती है।

वे अपने पापोंके कारण कुम्भीपाक नरकमें राँधे जाते और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर गला घोंट-घोंटकर मारे जाते हैं। इस प्रकार उन्हें बारंबार संसार-चक्रमें भटकना पड़ता है।

इस भूमण्डलपर आत्मासे बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं है। इसलिये सब प्राणियोंपर दया करे और सबको अपनी आत्मा ही समझे।

अहिंसा-धर्मके आदर्श उदाहरण

(१)

अहिंसाके आदर्श महर्षि वशिष्ठ

कुशिक-वंशमें उत्पन्न राजा विश्वामित्र सेनाके साथ आखेट करने निकले थे। अपने राज्यसे दूर महर्षि वशिष्ठके आश्रमके समीप वे पहुँच गये। वशिष्ठजीने एक ब्रह्मचारीके द्वारा समाचार भेजा—'आप आश्रमके समीप आ गये हैं, अतः मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।'

अरण्यवासी तपस्वीके लिये राजा असुविधा न उत्पन्न करे, यह नियम है। लेकिन विश्वामित्रने महर्षि वशिष्ठकी प्रशंसा सुनी थी। उनके तपःप्रभावपर विश्वास था। अतः आतिथ्यका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उन्हें आश्चर्य तब हुआ जब सेनाके साथ उनको राजोचित सामग्री प्रचुरमात्रामें भोजनको दी गयी और वह भी तपःशक्तिसे नहीं, वशिष्ठकी होमधेनु नन्दिनीके प्रभावसे।

'आप यह गौ मुझे दे दें। बदलेमें जो चाहें मुझसे माँग लें।' विश्वामित्र उस गौके लिये लालायित हो गये थे। चलते समय उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की।

'ब्राह्मण गौ-विक्रय नहीं करता। मैं इस गौको नहीं दे सकता।' ऋषिने अस्वीकार कर दिया। उग्र-स्वभाव विश्वामित्र उत्तेजित हो गये। उन्होंने बल-पूर्वक गौको ले चलनेकी आज्ञा सैनिकोंको दी। लेकिन नन्दिनी साधारण गौ तो नहीं थी। उसकी हुंकारसे शत-शत योद्धा उत्पन्न हुए। उन्होंने विश्वामित्रके सैनिकोंको मार भगाया।

विश्वामित्रने वशिष्ठपर आक्रमण किया। कुशका ब्रह्मदण्ड हाथमें लिये वशिष्ठ स्थिर, शान्त बैठे रहे। विश्वामित्रके साधारण तथा दिव्य अस्त्र सब उस ब्रह्मदण्डसे टकराकर नष्ट हो गये। कठोर तप करके विश्वामित्रने और दिव्यास्त्र पाये, किंतु वशिष्ठके ब्रह्मदण्डसे लगकर वे भी नष्ट हो गये।

'ब्रह्मबल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रियकी शक्ति तपस्वी ब्राह्मणका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अतः मैं इसी जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' विश्वामित्रने यह निश्चय किया। अत्यन्त कठोर तपमें वे लग गये।

सैकड़ों वर्षके कठिन तपके पश्चात् प्रसन्न होकर ब्रह्माजी प्रकट हुए। उन्होंने वरदान दिया—"वशिष्ठके स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्षि हो जाओगे।'

विश्वामित्रके लिये महर्षि वशिष्ठसे प्रार्थना करना बहुत अपमानजनक था। संयोगवश जब वशिष्ठ मिलते थे तो इन्हें 'राजर्षि' कहते थे। अतः विश्वामित्र वशिष्ठके घोर शत्रु हो गये। एक राक्षसको प्रेरित करके उन्होंने वशिष्ठके सौ पुत्र मरवा दिये। स्वयं वशिष्ठको अपमानित करने, नीचा दिखानेका अवसर ढूँढ़ते रहने लगे। उनका हृदय वैर तथा हिंसाकी प्रबल भावनासे पूर्ण था।

विश्वामित्रने अपनी ओरसे कुछ उठा नहीं रक्खा। बड़ा दृढ़ निश्चय, प्रबल संकल्प था उनका। दूसरी सृष्टितक करनेमें लग गये। अनेक प्राणी, अन्नादि बना डाले। ब्रह्माने ही रोका उन्हें। अन्तमें स्वयं शस्त्र-सज्ज होकर रात्रिमें छिपकर वशिष्ठको मारने निकले। दिनमें प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो अनेक बार पराजित हो चुके थे।

चाँदनी रात्रि थी। कुटियाके बाहर वेदीपर एकान्तमें पत्नीके साथ महर्षि बैठे थे। अरुन्धतीजीने कहा—"कैसी निर्मल ज्योत्स्ना है?'

वशिष्ठजी बोले—'ऐसा ही निर्मल तेज आजकल विश्वामित्रके तपका है।' वशिष्ठका निर्मल मन अहिंसा तथा क्षमासे पूर्ण था।

विश्वामित्र छिपे खड़े थे। उन्होंने सुना और उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठा—'एकान्तमें पत्नीके साथ बैठा जो अपने सौ पुत्रोंके हत्यारेकी प्रशंसा करता है, उस महापुरुषको मारने आया है तू?'

शस्त्र नोच फेंके विश्वामित्रने । दौड़कर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े ।

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।'

विश्वामित्रके ब्राह्मण होनेमें उनका दर्प, उनका द्वेष, उनकी असहिष्णुता ही तो बाधक थी । वह आज दूर हुई । महर्षि वसिष्ठने उन्हें झुककर उठाते हुए कहा—'उठिये ब्रह्मर्षि !' —सु०

(२)

अहिंसा-धर्मके आदर्श सेठ सुदर्शन

अर्जुन माली यक्षोपासक था। उसके घरमें छः डाकू घुस आये । मालीको बाँधकर घर तो लूटा ही, उसकी पत्नीसे दुर्व्यवहार करने लगे । इसी समय अर्जुनमें यक्षका आवेश हो गया । उसने बन्धन तोड़ डाले । पास रक्खा लोहेका मुद्गर उठाकर उसने डाकुओंको तथा पत्नीको भी मार दिया ।

यक्षावेशमें उन्मत्त अर्जुन माली लौहमुद्गर लिये घरसे निकल पड़ा । जो सामने आया, मारा गया । राजगृह-नगरमें हाहाकार मच गया । अर्जुन माली उस आवेशमें प्रतिदिन सात मनुष्योंको मारकर ही शान्त होता था । लोगोंका घरोंसे निकलना बंद हो गया ।

सेठ सुदर्शनको समाचार मिला था कि श्रमण महावीर राजगृहके समीप उद्यानमें पधारे हैं । तीर्थंकरकी पवित्र वाणी सुननेका निश्चय वे किसी भयके कारण त्याग नहीं सकते थे। घरके लोगोंने बहुत समझाया, किंतु वे रुके नहीं ।

उस दिन अर्जुन छः मनुष्य मार चुका था । रक्तसे लथपथ मुद्गर लिये वह सातवें व्यक्तिको ढूँढ़ता राजपथपर घूम रहा था । सेठ सुदर्शनको देखते ही दौड़ा; किंतु चोट करनेके लिये उठानेपर मुद्गर हाथसे छूटकर गिर पड़ा । उसके शरीरमें आविष्ट यक्ष अहिंसक सुदर्शनका तेज न सह पानेके कारण भाग चुका था ।

'अर्जुन ! इस प्रकार क्या देखते हो ? चलो तीर्थंकरकी पवित्र वाणी सुनें !' चकित, भीत खड़े अर्जुन मालीका हाथ पकड़ा सेठ सुदर्शनने और उसे श्रमण महावीरके समीप ले गये । उसी दिन अर्जुनने दीक्षा ग्रहण कर ली । लोग उसपर दण्ड-प्रहार करते, पत्थर फेंकते; क्योंकि उसके द्वारा स्वजनोंके मारे जानेसे लोग बहुत क्रुद्ध थे; किंतु अब तो अर्जुन माली शान्त, अहिंसक मुनि हो चुका था । —सु०

(३)

प्रह्लादकी विलक्षण अहिंसा, परदुःखकातरता और क्षमाशीलता

संतोंका जीवन बड़ा ही विचित्र होता है। स्वयं तो वे दुःख-सुखसे परे होते हैं, पर दूसरोंके दुःख-सुखसे दुखी-सुखी हुआ करते हैं। पर-दुःख-कातरता, क्षमाशीलता, अहिंसा आदि उनके सहज स्वाभाविक गुण हैं। किसीका अमङ्गल न हो, किसीको दुःख न हो, सब संकट-मुक्त हों, सदा सबका मङ्गल हो, सब सुखी हों, सब नित्य निरामय हों—यह उनकी स्वाभाविक कामना रहती है। उनकी कोई कितनी ही हानि करे, कितना ही अपमान करे, कितना ही कष्ट-क्लेश पहुँचावे, कितनी ही भीषण हिंसा करे—वे कभी भूलकर भी उसका अमङ्गल नहीं चाहते, नहीं देख सकते, वरं अपनी ओरसे प्रयत्न करके उसे सुखी बना देते हैं। प्रह्लाद ऐसे ही एक परम उदार भक्त थे।

वे आरम्भसे ही प्रभुभक्त थे। यद्यपि उन्होंने जन्म असुर-कुलमें दुर्धर्ष दैत्य हिरण्यकशिपुके यहाँ लिया था। पर आसुरी भाव उनको छू तक नहीं गया था। उनका तो एक ही चरम लक्ष्य था—भगवत्प्रीति और एक ही काम था भगवद्भजन। वे इसी पाठशालामें पढ़ते थे।

जगत्‌के नियमके अनुसार पिताने समयपर उनको बालोचित पाठ पढ़नेके लिये गुरु-गृहमें भेजा। बालक धीरे-धीरे शिक्षा पाने लगा। एक दिन पिताने बुलाकर बड़े स्नेहसे पूछा—'वत्स! अबतक गुरुसेवामें तत्पर रहकर तुमने जो कुछ सीखा-पढ़ा है, उसका सारभूत अङ्ग हमें सुनाओ।' बालक प्रह्लाद तो सब बातोंकी सार बात और सब सारोंका एकमात्र सार श्रीहरिको ही जानते थे। उन्होंने कहा—'जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित अजन्मा, वृद्धिक्षयशून्य और अच्युत हैं, उन श्रीहरिके श्रीचरणोंमें मेरा प्रणाम। मैंने तो यही सीखा है कि उन भगवान्‌के गुणोंका श्रवण, कीर्तन, उन्हींका स्मरण, उन्हींका पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा उन्हींके प्रति आत्मनिवेदन किया जाय।'

इतना सुनते ही दैत्यराज कुपित हो उठा, लाल-लाल आँखें करके गुरु शुक्राचार्यके पुत्र षण्डामर्क आदिसे बोला—'अरे दुर्बुद्धि ब्राह्मणाधमो! तुमलोगोंने मेरी आज्ञाकी अवज्ञा करके इसे मेरे विपक्षीकी स्तुतिसे युक्त असार शिक्षा क्यों दी? जाओ, ले जाओ इसे और भली प्रकार शासित करो।' प्रह्लाद फिर गुरुजीके संरक्षणमें विद्याध्ययन करने लगे। कुछ दिन बाद असुरराजने उन्हें फिर बुलाया और कहा—'बेटा! आज कोई गाथा सुनाओ।' प्रह्लादकी तो—'एकहि धर्म एक व्रत नेमा' वाली स्थिति थी। उन्होंने कहा—'जिससे सारा सचराचर उत्पन्न हुआ, वे जगन्नियन्ता भगवान् विष्णु हमपर प्रसन्न हों।' क्रोधित होकर हिरण्यकशिपु बोला—'अरे! यह बड़ा ही दुरात्मा है। इस पापीको तुरंत मारके डालो। यह तो विपक्षीका ही पक्ष लेनेवाला कुलाङ्गार पैदा हो गया है। इसके जीवनका क्या प्रयोजन?' इतना सुनते ही हजारों दैत्य प्रह्लादको मारनेके लिये विविध प्रयोग करने लगे।

उनके भोजनमें हालाहल विष मिला दिया गया। वे भगवन्नामका उच्चारण करते हुए उसे पी गये और विष पच गया। दारुण दैत्योंने उनपर नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे प्रहार

किया; पर उन्हें तनिक-सी वेदना भी नहीं हुई, सारे शस्त्रास्त्र नष्ट हो गये । अति क्रूर विषधर सर्पोंके द्वारा भयानक रूपसे अङ्ग-अङ्ग कटवाये गये, सर्पोंकी दाढ़ें टूट गयीं, सिरकी मणियाँ चटक गयीं, फणोंमें पीड़ा होने लगी, साँपोंका हृदय काँप गया; पर भगवान् श्रीकृष्णमें आसक्त-चित्त हो भगवत्स्मरणके परमानन्दमें डूबे हुए प्रह्लादकी जरा-सी भी त्वचा नहीं फटी और न विषका ही कोई असर हुआ । पर्वताकार दिग्गजोंके द्वारा पृथ्वीपर पटककर भीषण दाँतोंसे रौंदवाया गया; पर भगवान्‌का स्मरण करते रहनेके कारण हाथियोंके हजारों दाँत इनके वक्षःस्थलसे टकराकर टूट गये; पर इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ । पहाड़के ऊपरकी चोटीसे गिरवाया गया; परंतु भगवान्‌की कृपासे इन्हें पृथ्वीपर गिरते ही कोमल पुष्पका-सा सुखद स्पर्श प्राप्त हुआ । समुद्रमें डालकर ऊपरसे पहाड़ गिराये गये, परंतु इनको जरा भी कष्ट नहीं हुआ । ये जलमें बड़े आरामसे अपने गोविन्दकी स्मृतिमें विश्राम करते रहे । आगमें जलाया गया, पर अग्नि शान्त हो गयी । सब तरहसे हताश होकर आखिर दैत्यराज हिरण्यकशिपुने पुरोहितोंसे कहा—

> त्वर्यतां त्वर्यतां हे हे सद्यो दैत्यपुरोहिताः ।
> कृत्यां तस्य विनाशाय उत्पादयत मा चिरम् ॥
> (विष्णुपुराण १ । १८ । ९)

'अरे अरे पुरोहितो ! जल्दी करो, जल्दी करो; इसको नष्ट करनेके लिये कृत्या उत्पन्न करो । अब देरी न करो ।'

तब प्रह्लादजीके पास जाकर पुरोहितोंने उनको भाँति-भाँतिसे समझाया और प्रह्लादके न माननेपर वे धमकाकर बोले—

> यद्यस्मद्वचनान्मोहग्राहं न त्यक्ष्यते भवान् ।
> ततः कृत्यां विनाशाय तव सृक्ष्याम दुर्मते ॥
> (विष्णुपुराण १ । १८ । ३०)

'अरे दुर्बुद्धि ! यदि तू हमारे समझानेपर भी इस मोहमय आग्रहको नहीं छोड़ेगा तो तुझे मार डालनेके लिये हम कृत्या उत्पन्न करेंगे ।'

प्रह्लादजीने कहा—'कौन जीव किससे मारा जाता है और कौन किससे रक्षित होता है ?' प्रह्लादकी बात सुनकर पुरोहितोंने क्रोधित होकर आगकी भयानक लपटोंके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया । उस भयानक कृत्याने अपने पैरकी धमकसे धरतीको कँपाते हुए बड़े क्रोधसे प्रह्लादकी छातीमें त्रिशूलका प्रहार किया ! पर आश्चर्य ! उस बालकके वक्षःस्थलसे टकराते ही वह तेजोमय त्रिशूल सैकड़ों टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । 'जिस हृदयमें निरन्तर भगवान् सर्वेश्वर श्रीहरि निवास करते हैं, उसमें लगकर वज्र भी टुकड़े-टुकड़े हो जाता है—फिर इस त्रिशूलकी तो बात ही क्या है ।'

> यत्रानपायी भगवान् हृद्यास्ते हरिरीश्वरः ।
> भङ्गो भवति वज्रस्य तत्र शूलस्य का कथा ॥
> (विष्णुपुराण १ । १८ । ३६)

पापी पुरोहितोंने पापरहित प्रह्लादपर कृत्याका प्रयोग किया था, अतएव कृत्याने लौटकर उन्हींका नाश कर दिया और फिर स्वयं भी नष्ट हो गयी । अपने गुरुओंको कृत्याके द्वारा जलाये जाते देखकर महामति प्रह्लाद—'हे कृष्ण ! हे अनन्त ! रक्षा करो, रक्षा करो'—कहते हुए उनकी ओर दौड़े ।

प्रह्लादजीके हृदयमें न राग था, न द्वेष; हिंसाकी तो वहाँ कल्पना ही नहीं थी । अतएव उन सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन करनेवाले सर्वथा अहिंसापूर्ण-हृदय क्षमाशील प्रह्लादने अपनेको निश्चितरूपसे मारनेकी घोर व्यवस्था करनेवाले गुरुपुत्रोंको बचानेके

लिये भगवान्‌से विनीत प्रार्थना की। प्रह्लादजीने कहा—

'हे सर्वव्यापी, विश्वरूप, विश्वस्रष्टा जनार्दन! इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्राग्निरूप दुःसह दुःखसे रक्षा कीजिये। सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सर्वत्र सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं—मेरे इस अनुभूत सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ। यदि मुझे अपने विपक्षियोंमें भी सर्वव्यापक और अविनाशी भगवान् विष्णु ही दीखते हैं, तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेको आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने अग्निमें जलाया, जिन्होंने दिग्गज हाथियोंसे कुचलवाया और जिन्होंने विषधर सर्पोंसे कटवाया, उन सबके प्रति भी मैं यदि समान (सर्वथा हिंसारहित) मित्रभावसे रहा हूँ और मेरे मनमें कभी पाप-(द्वेष या हिंसा) बुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके प्रभावसे ये असुर-पुरोहित जीवित हो जायँ।'

प्रह्लादने इस प्रकार भगवान्‌का स्तवन करके उन पुरोहितोंको स्पर्श किया और स्पर्श पाते ही वे स्वस्थ होकर उठ बैठे एवं विनयपूर्वक सामने खड़े हुए बालकसे गद्गद होकर कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे आशीर्वाद देते हुए बोले—

दीर्घायुरप्रतिहतो बलवीर्यसमन्वितः।
पुत्रपौत्रधनैश्वर्ययुक्तो वत्स भवोत्तमः॥

(विष्णुपुराण १।१८।४५)

'वत्स! तू परम श्रेष्ठ है। तू दीर्घायु हो, अप्रतिहत हो, बलवीर्यसे तथा पुत्र-पौत्र एवं धन-ऐश्वर्यादिसे सम्पन्न हो।'

यह है अहिंसावृत्ति, रागद्वेषशून्यता, क्षमाशीलता, परदुःखकातरता और सर्वत्र भगवद्दर्शनका ज्वलन्त उदाहरण!

—राधा माणेठिया

तुम्हारा बुरा करनेवालेको क्षमा करो

काम-लोभ-बस कोप करि, करत जो तुअ अपकार।
निज अनिष्ट नित करत सो, निश्चै मूढ़ गँवार॥
ताकौं नित कीजै छिमा, दया पात्र तेहि जानि।
जो निज हाथ हि तें करत, अपनी अतिसै हानि॥

नमो धर्माय महते

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०)

भारतीय साहित्यमें सबसे पहले ऋग्वेदमें 'धर्म' शब्द मिलता है। वहाँ और उसके बादके वैदिक साहित्यमें धर्म शब्दका अर्थ ऊँचे धरातलपर है। वह प्रकृतिके या ईश्वरके नियमोंके लिये प्रयुक्त होता है। ऋग्वेदका धर्म शब्द छोटे बालककी तरह अस्तित्वमें आनेके लिये अपने हाथ-पैर फैलाता हुआ जान पड़ता है। ऋग्वेदका असली शब्द तो 'ऋत' है जो सृष्टिके अखण्ड देश-कालव्यापी नियमोंके लिये प्रयुक्त होता है। वे नियम सबसे ऊपर हैं और ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी है, ऋतके अधीन है। ब्रह्माण्डकी यह अखण्ड एकता आज विज्ञानसे प्रत्यक्ष है। प्रकाश और रश्मियोंके जो नियम पृथ्वीपर हैं, वे ही सूर्यमें हैं और उन्हींके अनुशासनमें वे दूर-दूरके लोक हैं, जहाँसे प्रकाशको पृथ्वीतक पहुँचनेमें ही पाँच अरब वर्ष लग जाते हैं। इस विस्तृत ब्रह्माण्डको बाँधकर चलानेवाले जो नियम हैं, उनका वेदमें नाम ऋत था। अँगरेजीमें उसीके लिये Right शब्द है। लेकिन शब्दोंका भी युग बदलता है। शीघ्र ही 'धर्म' शब्दकी महिमा बढ़ने लगी। धर्म शब्द संस्कृतकी 'धृ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है धारण करना या सँभालना। जो धारण करे, जो टेक बनकर किसी दूसरी वस्तुको रोके, वह धर्म हुआ। धर्म शब्दका यह अर्थ आसानीसे समझमें आता है। साधारण समझके आदमीको भी यह अर्थ धर्म शब्दमें सरलतासे पिरोया हुआ दिखायी पड़ता है। अतएव ऋत शब्दकी जगह सृष्टिके अखण्ड नियमोंके लिये धर्म शब्दका प्रयोग बढ़ा।

अथर्ववेदमें पृथ्वीसूक्तके नामसे एक सुन्दर सूक्त है। उसमें मातृभूमिकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की गयी है और यह भी बतलाया गया है कि किन-किन नियमोंके द्वारा मातृभूमिकी रक्षा और वृद्धि होती है। उसमें पृथ्वीको 'धर्मणा धृता' अर्थात् धर्मसे धारण की हुई कहा गया है। अवश्य ही धर्म शब्दका यहाँ वही ऊँचा अर्थ लिया गया है, जिसका सम्बन्ध 'धृ' धातुसे है। लेकिन उसी युगमें धार्मिक विश्वासों और मान्यताओंके लिये भी धर्म शब्द प्रयोगमें आने लग गया था। पृथ्वीपर रहनेवाले अनेक भाँतिके जनका वर्णन करते हुए इसी सूक्तमें यह भी कहा है कि वे नाना धर्मोंके माननेवाले हैं, जो कि हमारे देशकी एक पुरानी सचाई है। वस्तुतः साम्प्रदायिक मतके लिये धर्म शब्दका प्रयोग यहींसे आरम्भ होता है। गृह्यसूत्रोंमें धर्म शब्दका रीति-रिवाजोंके लिये भी व्यवहार किया गया है। इस तरहसे रीति-रिवाज सामयाचारिक धर्म अर्थात् पुराने समयसे आये हुए सामाजिक आचार या शिष्टाचार कहे गये हैं। इस तरहके रीति-नियम समाज और राज्य दोनोंके लिये मानने लायक होते हैं और वे ही पंचायतों या अदालतोंमें कानूनका रूप ग्रहण कर लेते हैं। धर्मसूत्रोंमें इस तरहके सामाजिक नियमोंका संग्रह धर्म शब्दके अन्तर्गत किया गया है। इस दृष्टिसे आईन या कानूनके लिये भारतवर्षका पुराना शब्द धर्म है और इस अर्थमें धर्म-जैसे छोटे और सुन्दर शब्दका प्रयोग बहुत दिनोंतक इस देशमें चालू रहा। अदालतके लिये 'धर्मासन' और न्याय करनेवाले अधिकारीके लिये 'धर्मस्थ' शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त होते थे।

इस तरहके रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय कानूनकी हैसियत रखते हैं, बहुत तरहके हो सकते हैं, जिन्हें देश-धर्म, कुल-धर्म कहा गया है। पेशेवर लोगोंके संगठनको उस समय श्रेणी और पूग भी कहते थे और उनके व्यवहार 'श्रेणी-धर्म' या 'पूगधर्म' कहलाते थे। मनु और याज्ञवल्क्यके धर्मशास्त्रोंमें एवं कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें राजाको हिदायत दी गयी है कि वह इस तरहके अलग-अलग धर्मों या रिवाजमें आनेवाले अमल दस्तूरोंको मान्यता दे। धर्म शब्दका यह अर्थ लगभग कानून-जैसा ही है। मनु आदिका शास्त्र भी इसीलिये धर्मशास्त्र कहलाता है। उसमें एक तरहसे समाजमें प्रचलित व्यावहारिक और धार्मिक नियमोंका संग्रह था। इस तरहके संग्रहके लिये अंग्रेजीका उपयुक्त शब्द 'कोड' है। दूसरे देशोंकी पुरानी सभ्यताओंमें भी इस तरहके बहुतसे संग्रह मिलते हैं, जिनमें कुछ धार्मिक, कुछ सामाजिक, कुछ व्यक्तिगत आचार और कुछ कानूनी नियमोंके संग्रह पाये जाते हैं। इस तरहका संग्रह, जो 'जुस्टीनियन कोड' के नामसे मशहूर है, इसी तरहका है। भारतवर्षमें मनुका धर्मशास्त्र वैसा ही ग्रन्थ है, जिसमें धर्म शब्द कई तरहके नियमोंके लिये लागू हुआ है।

लेकिन इन अर्थोंसे ऊपर धर्म शब्दका वह ऊँचा अर्थ

धर्मः' । राम धर्मवृक्षके बीज हैं । दूसरे आदमी उस वृक्षके फूल और फल हैं । इस एक वाक्यमें हमारी धर्ममूलक राष्ट्रीयताकी कितनी सुन्दर व्याख्या मिलती है ! गाँधीजी धर्म या सत्यवृक्षके बीज हैं और सब नेता एवं कार्यकर्ता उस वृक्षके पत्ते, फूल और फल हैं । गाँधीजीके धर्म-वृक्षसे जबतक हमारा सम्बन्ध जुड़ा है, तभीतक हमारे जीवनमें रस और तेज है । नहीं तो, हमें मुरझाये हुए समझो । सत्यके वृक्षका रस सारी प्रजाओंमें फैलता है और अपने वितानसे राष्ट्रको छा लेता है । गाँधीजीके धर्मवृक्षकी छायामें आज हम सब बैठे हैं । पर इस महान् धर्मवृक्षकी छायामें मत-मतान्तरके भेद नहीं हैं । गाँधीजीकी यही बड़ी देन थी कि उन्होंने राष्ट्रीयताका सम्बन्ध सत्य और धर्मसे जोड़ दिया । गीताके शब्दोंमें गाँधीजी द्वारा सत्यकी स्थापना धर्म-संस्थापन कहा जा सकता है । धर्मका यही वास्तविक अर्थ देशके लंबे इतिहासके भीतरसे हमें प्राप्त होता है । यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रके नये जीवनके लिये स्वीकार करना चाहिये । मत-मतान्तर व्यक्तियोंके लिये हैं, लेकिन धर्म राष्ट्रके लिये है । धर्म या सत्यसे ही भूमि और आकाश टिके हैं । देशके इस अनुभवपर हमारी नयी राष्ट्रीयताको फिरसे छाप लगानेकी आवश्यकता है ।

आज संस्कृतिका जो अर्थ है, वही व्यापक अर्थ धर्म शब्दका था । हम संस्कृति शब्दका तो बहुधा प्रयोग करते हैं किंतु धर्मका प्रयोग करते हुए हिचकिचाते हैं । यह भारतकी प्राचीन राष्ट्रीय परम्पराके विरुद्ध है । यदि यह प्रश्न किया जाय कि सहस्रों वर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी उपलब्धि क्या है एवं यहाँके जनसमूहने किस जीवनदर्शनका अनुभव किया था तो उसका एकमात्र उत्तर यही है कि भारतीय साहित्य, कला, जीवन, संस्कृति और दर्शन—इन सबकी उपलब्धि धर्म है । भारतीय जीवनरूपी मानसरोवरमें तैरता हुआ सुनहला हंस धर्म है । उसीके ऊपर हमारी संस्कृतिके निर्माता प्रजापति ब्रह्मा जीवनके सब क्षेत्रों या लोकोंमें विचरते हैं । यदि धर्म शब्दका हम निराकरण कर दें तो अपनी समस्त संस्कृतिको छोड़ना पड़ेगा । राष्ट्रीय जीवनके विकासमें इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि हम धर्म शब्दमें संचित अपनी दीर्घकालीन उपलब्धिकी उपेक्षा करें ।

वर्तमान समयमें राष्ट्रीय चिन्तनमें एक बड़ी भूल हो गयी । वह यह कि हमने धर्म और सम्प्रदायको समानार्थक जान लिया । धर्म शब्दका एक अर्थ सम्प्रदाय या मत-मतान्तर भी है; किंतु उसका घेरा बहुत तंग है और वह धर्मकी उस महान् महिमाको विलग नहीं कर सकता जिसे वेद, मनु, वाल्मीकि और व्यासने स्वीकृत किया था । और जो आजतक भारतके उच्चकोटि जनोंके हृदयमें सुप्रतिष्ठित है । ग्रामवासिनी भारतमातामें जितने स्त्री-पुरुष निवास करते हैं उसमें कोई ऐसा न होगा जिसने धर्म शब्द न सुना हो और जो उसके ऊँचे आदर्श प्राण अर्थको न मानता हो; ऐसा सटीक शब्द हमारी राष्ट्रीय, नैतिक जीवननिधिका कवच है । इसे छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं ! अपने राष्ट्रको धर्ममूलक और धर्मसापेक्ष कहना बुद्धिमत्ता है । हाँ, सम्प्रदायमूलक राष्ट्रका आग्रह कोई भी नहीं कर सकता । उचित तो यह है कि धर्म शब्दके ऊँचे इन्द्रासनकी रक्षा करनी चाहिये । राष्ट्रीय संविधानमें धर्म और सम्प्रदायके भेदको अलग्य समझाकर धर्म शब्दकी सम्मान और प्रतिष्ठाकी रक्षा करनी चाहिये । धर्म शब्दमें भारतीय जीवनके लिये एक अमृतका कलश रक्खा हुआ है, उसका स्वाद सबको अच्छा लगता है । ग्रंथमें और सभाओंमें, समाजमें और घरमें उस अर्थका प्रचार करनेसे सबका हृदय प्रफुल्लित होता है । ऋग्वेदके नारायण ऋषिने जब 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' यह घोषणा की थी तो उसका आशय सृष्टिके आधारपर उन महान् समष्टि और व्यष्टि नियमोंसे था जिन्हें आज हम समाज और जीवनके वैज्ञानिक और नैतिक नियम कहते हैं । जब यह कहा गया कि तीन लोकोंके तीन चरणोंसे परिच्छिन्न करके भगवान् विष्णुने उन्हें धर्मसे धारण कर दिया तो उसका आशय कभी भी सम्प्रदाय नहीं हो सकता । किंतु वे ब्रह्माण्डव्यापी नियम हैं जो देश और कालमें अमर हैं और ब्रह्मकी सत्ताके रससे सबके हृदयोंको सींचते हैं (त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः, अतो धर्माणि धारयन्, ऋ० वे० १ । २२ । १८)। ज्ञान-विज्ञानकी दृढ़ नींव धर्मपर है । मातृभूमिको 'धर्मणा धृताम्' कहनेका आशय यही था कि राष्ट्रीयताका आधार धर्म है । जो राष्ट्रीयता धर्मसे पराङ्मुख हो जाती है वह सकुशल नहीं रहती । जीवनमें सत्कर्म करनेकी प्रेरणा और स्फूर्ति जीवनको धर्ममय बनानेसे आती है । धर्म, संस्कृति, सत्य आदि महान् गुणोंका हमें आवाहन करना चाहिये, यही भारतीय राष्ट्रीयताके लिये कल्याणका मार्ग है । व्यासका यह वाक्य सुवर्णाक्षरी है—

'नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः'

प्रजाओंको या समाजको धारण करनेवाले जितने बहुमुखी नियम हैं, उन सबकी समुदित संज्ञा धर्म है। 'रामो धर्मभृतां वरः'; अथवा 'रामो विग्रहवान् धर्मः' वाल्मीकिकी इस परिभाषाको क्या हम छोड़ सकते हैं? 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' श्रीकृष्णकी यह वाणी आज भी जनतामें गूँजती है। धर्म शब्दके ऊँचे अर्थको हमने अपने ज्ञान और कर्मकी शान्तिसे पाला-पोसा है। उस अक्षय निधिकी रक्षा और संवर्द्धन करना उचित है। छात्रोंका धर्म शिक्षा और ब्रह्मचर्य है, नेताओंका धर्म जनसेवा है, जनताका धर्म राष्ट्रीयता है। इन अनेक प्रकारके अर्थोंको प्रकट करनेके लिये धर्म शब्द अमूल्य हीरा है, उसे खोना नहीं, उसका उचित मूल्याङ्कन करना है।

मानव-धर्म

(१)

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन')

१

मनुष्यका समस्त जीवन विश्वासका आश्रय लेकर चलता है। कोई स्वीकार करे या न करे और कोई चाहे कैसा ही तार्किक हो, उसके अन्तस्तलमें कुछ अस्पष्ट विश्वास अवश्य होते हैं। जर्मन विद्वान् गेटेने लिखा है—'संसार एवं मानवेतिहासका एक और केवल एक ही वास्तविक तथा गहन वर्ण्य विषय है—और सब वर्ण्य विषय उसके अधीन हैं—विश्वास एवं अविश्वासके बीचका संघर्ष।'

इन विश्वासोंसे संसारमें विविध धर्मों या मतोंका विकास हुआ है। जलवायु, इतिहास, भौगोलिक परिस्थितिने प्रत्येकको एक विशेष प्रकारकी आचरण-मालिका प्रदान की है। विश्वके सभी प्रधान धर्म ईश्वरीय वाणीसे अपना उद्गम मानते हैं। यह ईश्वरीय वाणी उनकी किसी प्रधान धर्म-पुस्तकमें संचित है। सब अपनेको एकमात्र सत्य मानते हैं—दूसरे धर्मोंके प्रति उनकी हीन दृष्टि है।

इसी हीनदृष्टि या अपने विशिष्ट धार्मिक अहंकारके कारण प्रत्येक युगमें धर्मोको लेकर खींचतान होती रही है; वे आपसमें टकराते रहे हैं। उनको लेकर भयानक रक्तपात हुआ है। परंतु यह सब दुःखद काण्ड इसीलिये होते रहे हैं कि मानव-समाजकी विभिन्न जातियाँ धर्मके केन्द्रीय सत्यके स्रोतको भूलकर उसके कर्मकाण्डमें, उसके बाह्याडम्बरमें उलझ गयी हैं; धर्मकी आत्मा दृष्टिसे ओझल हो गयी है और शरीरमात्र रह गया है।

प्रत्येक देशमें सत्यान्वेषी तत्त्वज्ञानियोंने इस स्थितिसे ऊपर उठनेकी चेष्टा की है। अपने अन्वेषणमें उन्हें उस आत्माकी अनुभूति हुई जिसे ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर, पुरुष, गॉड, अल्लाह इत्यादि विविध नामोंसे पुकारा गया है। जिनमें यह अनुभूति जितनी ही घनीभूत हुई, उनमें क्षुद्रता, संकुचितता, विभक्तीकरण, परद्वेष उतना ही कम होता गया और जीवमात्रके एकत्वकी भावना बढ़ती गयी। संस्कृत विवेकने इस भावनाको पुष्ट किया। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि धर्मोंमें जो पार्थक्य है, भेद-दृष्टि है, विद्वेष-भावना है, वह उन धर्मोंके पौरोहित्य तथा उससे उद्भूत ग्रन्थों, विश्वासों, आचारों एवं आदेशोंतक ही सीमित है। तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें ऐसा विभेद बहुत कम है। श्रुतिमें यह भेद नहीं है, अथवा नगण्य है; स्मृतिमें, कर्मकाण्डमें अधिक है।

इसलिये जब हम धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि अधिकांश धर्मोंके तत्त्वज्ञानमूलक सत्यों एवं सिद्धान्तोंमें बहुत कम अन्तर है। इस तथ्यकी अनुभूतिसे ही एक सामान्य मानव-धर्मकी कल्पनाका उदय हुआ है।

२

ज्यों-ज्यों मानवमें यह अनुभूति जोर पकड़ती गयी कि सब धर्मोंका लक्ष्य एक ही उद्गमको पाना है और ज्यों-ज्यों उसमें समझ आयी कि सब मानव एक ही परमात्माकी संतति हैं त्यों-त्यों भेद-बुद्धिपर मानवकी मूलभूत एकताका भाव प्रबल होता गया। इससे विश्वबन्धुताकी, सर्वमानव-भ्रातृत्वकी भावनाका विकास हुआ। सब मानवोंमें एक ही ईश्वरकी कलाका प्रकाश है, यह ज्ञान दृढ़ हुआ।

३

यों तो सभी धर्मोंके तत्त्वज्ञानियों एवं संतोंमें इस तत्त्वकी

उपलब्धि दिखायी पड़ती है; किंतु भारतीय आर्य-धर्ममें वह सबसे प्रबल, सबकी अपेक्षा सुस्पष्ट है। प्राचीन कालमें हमारे यहाँ मजहब, मत या सम्प्रदायके संकुचित अर्थसे धर्म बहुत दूर रहा है। वेदके ऋषियोंने बहुत पहले इसे अनुभव किया था कि जिसे धर्माडम्बर कहा जाता है, वह मूल सत्यसे भटका देनेवाला है। उस समय भी मूल सत्योंको भूलकर संकुचित मानव-वर्ग अज्ञान-तिमिरमें भटक रहे थे। इसीलिये श्रुति कहती है—

न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थ शासश्चरन्ति॥
(ऋ० १०।८२।७, यजु० १७।३१)

अर्थात् 'हे मनुष्यो! तुम उसे नहीं जानते जिसने कि इस सबको बनाया है। तुम अन्य प्रकारके हो गये हो और तुममें उनसे बहुत अन्तर हो गया है। अज्ञानकी नीहारिका तथा अनृत और निरर्थक शब्दजालसे ढके हुए मनुष्य प्राणवृत्तिके कार्योंमें लगकर या आडम्बरयुक्त और बहुभाषी होकर भटकते हैं।'

श्रुतिने बार-बार स्मरण दिलाया—'जैसे सब नदियाँ नाम-रूपसे रहित होकर समुद्रमें मिल जाती हैं वैसे ही सब धर्म एक ही ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।' अथवा 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' एक ही सत्यको विद्वान् अनेक प्रकारसे कहते हैं।

शास्त्र, पुराण, स्मृतिमें धर्मके अनेक लक्षण और गुण बताये गये हैं। अपने-अपने स्तरपर सब ठीक हैं। उनकी अपनी अलग-अलग कक्षा है, दृष्टि है। किंतु वास्तविक धर्मका मूल गुण एक ही है अर्थात् वह हृदयोंको विभक्त नहीं करता, जोड़ता है। जो हृदयोंको जोड़ता है वही धर्म है। धर्म कभी अलग नहीं करता; क्योंकि जो देख सकता है वह देखता है कि समस्त विश्व ही प्रभुका विग्रह है और विश्वकी सेवा ही, प्रकारान्तरसे, प्रभुकी सेवा है। इसीलिये हमारी संस्कृतिमें दूसरोंको खिलाकर खाने, दूसरोंको जिलानेके लिये प्राणत्याग करने, मतलब उत्सर्गको धर्म माना गया है। हमारा तत्त्वज्ञान अपनी रोटीकी फिक्र नहीं करता, अपने सुखमें समाहित होकर नहीं रह जाता, सबका सुख चाहता है, सबका श्रेय चाहता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

यह सर्वमङ्गल ही वास्तविक मानव-धर्म है और लोकप्रिय स्तरपर पुराणकारने भी इसी सत्यका उद्घोष इन शब्दोंमें किया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

पहलेमें जहाँ तत्त्वज्ञान एवं शाश्वत कामना है वहाँ उपर्युक्त श्लोकमें उसे आचरणके स्तरपर उतार दिया गया है—

'सुनो, समस्त धर्मका तत्त्व इतना ही है कि जो अपनेको प्रतिकूल लगे, अच्छा न लगे—उसका दूसरोंके प्रति भी आचरण न करो।'

भगवान् व्यासने कहा है—'मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है।' यहाँ मनुष्यका मतलब उस जागरित मनुष्यसे है जो आत्मरूप है; जिसमें ईश्वरत्वकी अनुभूति और उदय है। यहाँ देह और आत्माके ऐक्यका विभाजन नहीं है; क्योंकि आत्यन्तिक दृष्टिमें देह और आत्मा एक हैं। देह भी उसीकी है, आत्मा भी उसीकी है।

मानव-चेतनाके कई स्तर हैं। पौराणिक शब्दावलीमें ये स्तर दो खण्डोंमें बाँट दिये गये हैं—१. आसुरी, २. दैवी। कहीं-कहीं इन्हें आसुरी, मानवी एवं दैवी—तीन खण्डोंमें विभाजित किया गया है। तत्त्वज्ञानकी भाषामें उसके तीन रूप, तीन स्तर, तीन प्रवृत्तियाँ हैं।—१. तामसी, २. राजसी, ३. सात्त्विकी। आध्यात्मिक विकासकी दृष्टिसे इन्हें ही तीन अवस्थाएँ कह सकते हैं।

१. विकृति
२. प्रकृति
३. संस्कृति

विकृति	=तामसी	=आसुरी
प्रकृति	=राजसी	=मानवी
संस्कृति	=सात्त्विकी	=दैवी

जो वृत्तियाँ मानवको विकृतिसे प्रकृति एवं प्रकृतिसे संस्कृतिकी ओर ले जाती हैं वे ही यथार्थ धर्म हैं। जो मानवको ईश्वरसे जोड़ती हैं, उनका समवाय धर्म है। सुकरातसे किसी भारतीय तत्त्वचिन्तकने कहा था—'यदि हम ईश्वरके विषयमें नहीं जानते तो मनुष्यके विषयमें भी कुछ नहीं जान सकते।' वस्तुतः ईश्वर एवं मानवका मिलन जिन गुणों, नियमों, आचारों एवं प्रवृत्तियोंसे होता है, वही मानव-धर्म है।

इसीलिये आज मानव-धर्ममें धर्मके उन संकुचित रूपोंकी अस्वीकृति है जो मनुष्यमनुष्यके बीच दीवारें खड़ी करते हैं। खण्डित जीवनसे परिपूर्ण जीवन, ईश्वर-वियुक्त जीवनसे ईश्वरयुक्त जीवनकी ओर ले जानेवाला धर्म ही मानव-धर्म है। यहाँ ईश्वर किसी सम्प्रदायविशेषका आराध्य नहीं है; यह मानवमात्रका गन्तव्य, मानवके मन-प्राणकी समस्त चेतनाका उत्स है।

मानव-धर्म वही है जो पशु-मानवको ईश्वरीय-मानवमें बदल देता है।

(२)

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

आजकल अँगरेजी 'रेलिजन' शब्दके अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग किया जाता है; परंतु यह धर्मका वास्तविक अर्थ नहीं है। हिंदू-मतानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ कहाते हैं। इस दृष्टिसे जब हम धर्मपर विचार करते हैं तो अँगरेजी 'रेलिजन' उसका पर्यायवाची नहीं ठहरता। उसका अँगरेजी अर्थ 'राइट कन्डक्ट' (सदाचार) से ही व्यक्त हो सकता है। इसलिये धर्मका आचरण करनेकी शिक्षाको अभ्यास या साधनाकी आवश्यकता होती है।

कहा गया है कि 'मैं धर्म जानता हूँ, पर मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं है और अधर्म जानता हूँ, पर मेरी उससे निवृत्ति नहीं है। हे हृषीकेश! तुम मेरे हृदयमें बैठे हो, जैसा मुझे नियुक्त करते हो वैसा मैं करता हूँ।' जिसकी परमेश्वरपर इतनी आस्था हो और जो वास्तवमें अपने अनुचित कार्योंके फलसे बचनेके लिये बहाने न ढूँढ़ता हो, उसके मुँहसे तो यह उक्ति अशोभनीय नहीं है; परंतु जो बात-बातमें अपनी बड़ाई बघारता हो, उसकी तो यह भण्डभक्ति ही समझी जायगी। फिर भी इस उक्तिके भीतर एक बड़े मार्केका तत्त्व निहित है और वह यह है कि धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति धर्म या अधर्म जाननेसे ही नहीं होती; उसका क्रियात्मक अभ्यास और साधना करनेसे होती है।

यह साधना कैसे की जा सकती है, यह जाननेके पहले हमें यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है; क्योंकि महाभारतमें व्यासजी भुजा उठाकर कह चुके हैं कि धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है। इसलिये काम, भय या लोभसे प्राण बचानेके लिये कभी धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। धर्म तो भाव है और इसलिये लक्षणोंसे ही वह दिखाया जाता है। जिन बातोंसे मनुष्यको अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो, वे धर्म मानी गयी हैं और जिनसे इनके विपरीत फल हो, उनकी गिनती अधर्ममें होती है।

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि अभ्युदय आत्यन्तिक श्रेयके साथ इसीलिये बाँधा गया है कि वह अनुचित उपायोंसे भी हो सकता है, यद्यपि उसे यथार्थ अभ्युदय नहीं कहा जा सकता। लूटपाट, डाके, चोरी इत्यादिसे भी मनुष्यकी लौकिक उन्नति हो सकती है; पर ये उपाय वाञ्छनीय नहीं हैं; क्योंकि धर्मके विरुद्ध हैं। धर्मसे अविरुद्ध उपायोंसे जो उन्नति होती है, वही वाञ्छनीय है। इसलिये निःश्रेयस उसीको प्राप्त हो सकता है जो सदाचारी हो। 'मनुस्मृति' में धर्मके जो दस लक्षण बताये गये हैं, उनसे धर्मके अनुसार चलनेमें सहायता मिल सकती है। वे हैं—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध। इनमें कुछका सम्बन्ध अपने साथ और कुछका दूसरोंके साथ है। अर्थात्—मनुष्यको सदाचारका उपदेश इन दस लक्षणोंद्वारा दिया गया है। धैर्य, दम और शौचका सम्बन्ध अपने ही साथ है; पर क्षमा, चोरी न करने, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोधका अपने और दूसरोंके साथ भी है। एक मनुष्यको समाजमें रहकर इन गुणोंकी बड़ी आवश्यकता होती है।

एक स्थानपर गार्हस्थ्य-धर्म बताया गया है। वहाँ कहा गया है—अहिंसा, सत्य वचन, सब प्राणियोंपर दया, क्षमा और यथाशक्ति दान गार्हस्थ्य-धर्म है। इसके अनुसार गृहस्थके लिये ये ही कर्तव्य हैं। परंतु हमें 'मनुस्मृति' के दस लक्षणोंके साथ इनको मिला देना चाहिये, जिससे इनमें पूर्णता आ जाय। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया, धैर्य, शौच, दम, चोरी न करना, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या और अक्रोध—ये १२ गुण हो जाते हैं। इनके साथ ही जिन दोषोंके कारण इनमें कई गुणोंका विकास नहीं हो पाता या ह्रास होता है, उनपर भी विचार करना कर्तव्य है। शास्त्रमें ये षड्वर्ग अथवा षड्रिपु नामसे वर्णित हुए हैं। ये हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और मत्सर।

इस प्रसंगमें पहला प्रश्न यही उठेगा कि काम तो

चतुर्विध पुरुषार्थका एक अङ्ग है, वह शत्रु कैसे हो सकता है ? प्रश्न ठीक है; क्योंकि सब काम शत्रु नहीं है और न हो ही सकता है। परंतु जहाँ इस कामसे क्रोध, लोभ, मत्सर आदि दुर्गुण उत्पन्न होकर मनुष्यको अहिंसा, सत्य, शौच, दम, चोरी न करना, इन्द्रियनिग्रह आदिमें बाधा डालते हैं, वहीं काम शत्रु है, अन्यत्र नहीं। इसलिये कामके नाशका नहीं, उसके नियन्त्रणका प्रयोजन है।

क्रोध और अक्रोधमें दिन और रात अथवा प्रकाश और अन्धकारका अन्तर है। जब अक्रोध धर्मका लक्षण बताया गया है, तब क्रोध अधर्मका लक्षण आप-ही-आप बन जाता है। पर यहाँ भी वही बात है। अन्याय-अत्याचार-पर क्रोध होना प्राकृत मानवका लक्षण है; अन्यायको दया एवं प्रेमसे जीतना महात्माका लक्षण है।

जहाँ हम दूसरेकी वस्तुको इस दृष्टिसे देखते हैं कि वह हमें मिल जाय और नहीं मिलती दिखती है तो हम उसे चुरानेको तैयार हो जाते हैं, वहाँ तो लोभ निन्दनीय है ही; पर इसके सिवा वहाँ भी लोभ बुरा है जहाँ किसीको कुछ देना उचित है, वहाँ लोभके कारण सामर्थ्य रहते भी हम देना नहीं चाहते। धनकी तीन गतियाँ विद्वानोंने बतायी हैं—दान, भोग और नाश। जो न किसीको देता है और न आप धनका भोग करता है, उसके धनकी तीसरी ही गति होती है—अर्थात् वह नष्ट हो जाता है। ठीक ही कहा जाता है—'जोड़-जोड़ घर जायँगे, माल जवाँई खायँगे।' हम बहुत-से लोभियोंका धन इसी प्रकार नष्ट होते देखते हैं। आप तो भूखे रहकर धन एकत्र करते हैं और मरनेके बाद यार लोग उसे उड़ाते हैं।

अज्ञान, नासमझी, भूल और घबराहटका नाम मोह है। विद्या, बुद्धि और धीरजसे मोह जीता जाता है। यह सचमुच शत्रु है, जिसके पक्षमें कोई बात नहीं कही जा सकती। इससे पिण्ड छुड़ाये बिना कोई मनुष्य अपने कर्तव्योंका पालन नहीं कर सकता। परंतु मान वा अभिमान अच्छा और बुरा यथास्थान हो सकता है। मनुष्यको सद्गुणोंका अभिमान* होना तो अच्छा है, परंतु दूसरोंसे विद्या, धन, सम्पत्ति अथवा कुलीनता और विशाल कुटुम्बका अभिमान निन्दनीय है। इसी प्रकार मत्सर वा ईर्ष्या दूसरोंके सद्गुणोंकी और उनके-से अच्छे बननेकी तो अच्छी है, और सर्वत्र त्याज्य है।

शत्रु-षड्वर्गका जीतना उनको अपने वशमें रखना है। जिस प्रकार कभी-कभी विष भी अमृतका काम करता है, उसी प्रकार इन षड्रिपुओंके वशमें रहनेपर बहुत काम होते हैं। इन्द्रियनिग्रहका अर्थ भी इन्द्रियोंको वशमें रखना है। इन्द्रियोंके दो भेद हैं—अन्तःकरण और बहिःकरण। मन, बुद्धि अहंकार और चित्त—इनकी संज्ञा अन्तःकरण है और दस इन्द्रियोंकी संज्ञा बहिःकरण है। अन्तःकरणकी चारों इन्द्रियोंकी कल्पना भर हम कर सकते हैं, उन्हें देख नहीं सकते; परंतु बहिःकरणकी इन्द्रियोंको हम देख भी सकते हैं।

अन्तःकरणकी इन्द्रियोंमें मन सोचता-विचारता है और बुद्धि उसका निर्णय करती है, उसपर अपना आखिरी फैसला देती है। कहते हैं 'जैसा मनमें आता है, करता है।' मन संशयात्मक ही रहता है, पर बुद्धि उस संशयको दूर कर देती है। चित्त या दिल अनुभव करता है या समझता है। अहंकारको लोग साधारण रूपसे अभिमान समझते हैं, पर शास्त्र उसे स्वार्थपरक इन्द्रिय बताता है।

बहिःकरणकी इन्द्रियोंके दो भाग हैं-एक ज्ञानेन्द्रिय और दूसरा कर्मेन्द्रिय। आँख, कान, नाक, जीभ और खालको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि आँखसे रंग और रूप, कानोंसे शब्द, नाकसे सुगन्ध और दुर्गन्ध, जीभसे रस वा स्वाद और खालसे ठंढे और गर्मका ज्ञान होता है। रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श ज्ञानेन्द्रियोंके गुण हैं। वाणी, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। इनके गुण मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य जानता है; इसलिये बतानेका प्रयोजन नहीं है।

इन चौदह इन्द्रियोंको जो अपने वशमें रखता है, वह जितेन्द्रिय कहाता है; परंतु यह काम बड़ा कठिन है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि कठिन समझकर इसे छोड़ ही दिया जाय। आज-के-आज कोई जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। इसके लिये उसे अभ्यास वा साधनाका प्रयोजन होता है। इन्द्रियाँ जंगली जानवर वा नये बैल या घोड़ेकी तरह बन्धन छुड़ाकर भागना चाहती हैं। जरा-सी लगाम ढीली हुई कि नये घोड़ेकी तरह इन्द्रियाँ मनुष्यको लेकर कहाँ गिरा देंगी इसका कोई ठिकाना नहीं है। इसलिये [illegible]

* सद्गुणोंका अभिमान भी कोई धर्म-प्रवृत्ति, ईश्वरोन्मुखी प्रवृत्ति नहीं। इससे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। किसी प्रकारका भी अभिमान बतने अंशमें भगवान्से वियोग ही है।—सम्पादक

रखनी चाहिये । यही इन्द्रिय-निग्रह है । सच तो यह है कि जो इन्द्रिय-निग्रह कर लेता है, वह कभी हारता नहीं; क्योंकि मनुष्यको दुर्बल करनेवाली इन्द्रियोंके फेरमें वह नहीं पड़ सकता ।

सबसे जबरदस्त काम जो आदमीको करना चाहिये, वह इन्द्रिय-निग्रह ही है । यही मुख्य धर्म है । इसके बाद तो आगेका काम सहज हो जाता है । वह काम कठिन है; पर तो भी छोड़ा नहीं जा सकता ।

सम्पत्ति और धनके कारण भाई-भाई और बाप-बेटेमें भी लड़ाई हो जाती है और एक दूसरेकी जानका गाहक हो जाता है । महाभारत और रामायणकी घटनाओंका सम्बन्ध सम्पत्तिके सिवा स्त्रीसे भी है । द्रौपदी और सीताके कारण भी अनेक घटनाएँ हुई हैं । जो हो, मनुष्यमें लोभ बहुत होता है । वह अपनी वस्तु तो किसीको देना नहीं चाहता, पर दूसरेकी लेनेकी बराबर इच्छा करता है । इसलिये लोभ बड़े अनर्थकी जड़ है । मनुष्य दूसरेकी स्त्रीको कुदृष्टिसे भी देखनेमें आगा-पीछा नहीं करता; पर यदि उसकी पत्नीपर कोई कुदृष्टि डालता है, तो वह नहीं सह सकता । इसलिये विवाह-प्रथा चलायी गयी, जिसमें कोई दूसरेकी पत्नीकी ओर आकर्षित न हो । फिर भी मनुष्य नहीं मानता ।

इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं और मनुष्यको अन्धा कर देती हैं; इसीलिये 'मनुस्मृति'में कहा है कि मनुष्यको जवान माँ, बहिन या लड़कीसे भी एकान्तमें बातचीत न करनी चाहिये । कुछ लोग कहेंगे कि लेखकका मन कलुषित था और वह अपनी ही भाँति सबको समझता था, इसलिये उसने ऐसा लिखा है; पर यह उनका भ्रम है । मनुष्य-हृदय कितना दुर्बल होता है, यह बृहस्पति, विश्वामित्र और पराशर-जैसे ऋषि-मुनियोंके आख्यानोंसे स्पष्ट होता है ।

हमारी समझसे सदाचारकी जड़ इन्द्रिय-निग्रह ही है । इस एक ही साधनासे मनुष्य सदाचारी रह सकता है ।

नीतिमें कहा है कि दूसरेकी स्त्रीको माता मानो, पर हम कहते हैं कि आप माता, बहिन या लड़की कुछ भी न मानें, पर इतना तो अवश्य मानें कि अपनी पत्नी नहीं है, परायी है और इसलिये हमें उसे परायी पत्नीके रूपमें ही देखना चाहिये । बस, स्त्रियोंके विषयमें हमारे अंदर यही भाव आना और इसीको जगानेके लिये हम सबको यत्न करना चाहिये । हमको यह बराबर याद रखना चाहिये कि जिस वस्तुके देखनेसे लोभ बढ़ता हो, उसे देखते रहनेसे बढ़कर कोई पाप नहीं है ।

अन्तमें बुद्ध भगवान्‌का यह उपदेश भी अप्रासङ्गिक न होगा । बुद्धका कहना है—'हम अप्रसन्न हैं; क्योंकि हमारी इच्छाएँ मूर्खतापूर्ण हैं । यदि हम सुखमय जीवन चाहते हैं तो वह अनायास आ जानेवाला नहीं है, वरं सुविचारों, सुशब्दों और सुकर्मोंसे वह बनाया जा सकता है । शिक्षा और साधनासे हम अपने हृदयको पवित्र कर और नैतिक नियमोंका पालन कर अपने स्वभाव बदल सकते हैं । यदि हम दुःखोंसे छूटना चाहते हैं, तो हमें अपनी इच्छाशक्ति प्रबल करनी चाहिये; क्योंकि मनुष्यके स्वभावमें विचार या अनुभूतिकी अपेक्षा इच्छाका स्थान बड़ा है ।'

विदेशमें धर्मके नामपर बहुत मार-काट और युद्ध हुए हैं, पर वास्तवमें वे सब अज्ञानजन्य हैं । जो परलोक और परमेश्वरको नहीं मानते, वे भी सच्चरित्रता और नैतिकताको मानते हैं और इसलिये नैतिकताको ही मानव-धर्म कहा जाय, तो अनुचित न होगा ।

जो लोग मानते हैं कि परमात्मा सबमें व्याप्त है और इस प्रकार सब एक हैं, उन्हें तो अनुभव करना चाहिये कि हम यदि अन्य मनुष्य या मनुष्योंका कोई उपकार करते हैं, तो प्रकारान्तरसे वह अपना ही उपकार है; क्योंकि जो हम हैं, वही वे हैं; हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं है । इसी प्रकार जब सब परमात्माके अंश या रूप हैं, तो हम यदि सबका हितचिन्तन या सबकी सहायता करते हैं, तो यह परमात्माका ही पूजन और उसीकी आराधना है ।

इस ढंगसे सार्वजनिक कामोंमें प्रीति रखना सर्वभूतहित-रत होना है और जो अत्यन्त सर्वहित है, वही उच्चकोटिका धर्म है । परमेश्वरको दीनोंका परिपालक और जनार्दन कहा गया है । इस दृष्टिसे यदि हम दीनोंका परिपालन करते हैं और लोगोंके कष्टोंका निवारण करते हैं, तो परमेश्वरका ही कार्य करते हैं, जो सच्चे भगवद्भक्तका लक्षण है ।

(२)

(लेखक—पं० श्रीव्रजेश्वरजी झा काव्यतीर्थ, व्याकरणाचार्य)

यह चराचर जगत् धर्मसे व्याप्त है । ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका निजी धर्म न हो । इस धर्ममय जगत्‌में चौरासी लाख योनिके अन्तर्गत मानव सर्वश्रेष्ठ जीव है; क्योंकि यह ज्ञानी जीव है । अतः शुभाशुभ कर्मोंका विशेष उत्तरदायित्व

मानवपर ही है, अन्य देहधारी जीवोंपर नहीं । पुराणोंमें भी अशुभ कर्मोंके दण्डका भागी मानव ही माना गया है, अन्य तनधारी जीव नहीं; क्योंकि मनुष्य ही कर्मानुयोनि है । मनुष्येतर योनि भोगानुयोनि है । अतएव मानव जन्मसे मरण-पर्यन्त धर्मके बन्धनसे युक्त है । धर्म सृष्टिके साथ ही प्रादुर्भूत हुआ है । जैसे पटरीसे उतरनेपर रेल, सड़कसे उतरनेपर मोटरकी गति भ्रष्ट हो जाती है, ठीक उसी तरहसे धर्मच्युत मानवकी गति होती है । धर्म तो मानवजीवनका एक उत्तम कोटिका पथ है, जिससे चल करके मानव अपने लक्षित स्थानमें पहुँचता है । अतः धर्मप्रवर्तक महर्षियोंने देश, काल, पात्रानुसार इसमें ह्रास और वृद्धिकी बात कही है । मानवोचित कर्तव्यकी कायिक, वाचिक, मानसिक प्रतिज्ञा करके उसका यथावत् पालन करना ही धर्म है । व्याकरणमें धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति इस रूपमें है कि 'धृञ्' धातुसे मक् प्रत्यय करनेपर धर्म शब्द बनता है । 'धृञ्' धातुका अर्थ ही है 'धृञ् धारणपोषणयोः' अर्थात् किसी भी शास्त्रीय नियमोंका धारण करना एवं उनका यथोचितरूपेण पालन करना ।

देश, काल, जातिके अनुसार धर्मके अनेक भेद माने गये हैं । जैसे देश-धर्म, काल-धर्म एवं जाति-धर्म आदि । किंतु सनातन धर्म ही ऐसा धर्म है जो सर्वत्र है, सर्वदा है । प्राचीन कालसे परम्परागत आया हुआ धर्म ही सनातन धर्म है, जिसके अन्तर्गत देश-धर्म, जाति-धर्म आदि सभी प्रकारके धर्मोंका अन्तर्भाव हो जाता है । धर्म-पालनके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णका स्वयं वाक्य है कि—

> श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

भलीभाँति आचरण किये हुए पर-धर्मसे गुणरहित स्वधर्म ही अच्छा है । इसमें स्वधर्मसे मानवत्व (मानव-धर्म) और परधर्मसे दानवत्व-पशुत्व (दानव एवं पशु-धर्म) को समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि मानवको कभी भी मानवत्व नहीं खोना चाहिये । सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, अस्तेयादि धर्मके अनेक लक्षण या गुण माने जाते हैं, जिनमें परोपकारको श्रेष्ठ माना गया है । इस सम्बन्धमें किसी संस्कृत कविने कहा है—

> अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
> परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अर्थात् अष्टादश पुराणोंमें व्यासजीने दो ही सारांश-पूर्ण वचन बतलाये हैं कि परोपकार ही पुण्य है और परपीडन ही पाप है । इस सम्बन्धमें संत तुलसीदासजीका भी कथन है कि—

> परहित सरिस धरम नहिं भाई ।
> पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

वस्तुतः धर्म ही मानव-जीवनका सार पदार्थ है । यद्यपि इसे निभानेमें मानवोंके समक्ष विविध कठिनाइयाँ अवश्य आती हैं, तथापि जो धर्मके सच्चे अनुरागी होते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है । उदाहरणके लिये हम शिबि, दधीचि, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र प्रभृति महामानवों-को ले सकते हैं जो जीवनकी अन्तिम घड़ीतक स्वधर्मसे कथमपि नहीं डिगे और धर्म भी अन्ततोगत्वा उनका साथ देता रहा । अतः किसी महानुभावने कहा है—

> जो धर्मकी टेक रखता है धर्म उसको बचाता है ।
> धर्मको जो मिटाता है वह खुद भी मिट ही जाता है ॥

यह संसार क्षणभङ्गुर है । इसके अन्तर्गत सभी वस्तुएँ नाशवान् एवं अनित्य हैं, केवल एकमात्र धर्म ही शाश्वत है । अतः इस सम्बन्धमें किसी कविने कहा है—

> अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
> नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंचयः ॥

इतना ही नहीं, जिस मानवने मानव-जैसे अमूल्य तनको प्राप्त करके इसे स्वधर्मपालनद्वारा सार्थक नहीं किया, वही सोचने योग्य है ।

> अध्रुवेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना ।
> ध्रुवं यो नार्जयेद्धर्मं स शोच्यो मूढचेतनः ॥

विद्वानोंने इस संसारको चलायमान माना है, इस नाशवान् संसारमें केवल धर्म ही अचल है और मानवका सच्चा साथी है ।

क्योंकि—

> चलं चित्तं चलं वित्तं चले जीवनयौवने ।
> चलाचले हि संसारे धर्म एको हि निश्चलः ॥

अतएव इस दुर्दान्त कलिकालमें मानवको सदैव धर्मपर स्थिर रहना चाहिये, तभी मानव मानव कहलानेका अधिकारी हो सकता है ।

(४)

(ज्योतिर्विद्भूषण काव्यधुरीण रमलाचार्य पं० श्रीस्वरूपचन्द्रजी शास्त्री)

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

वस्तुतः मानवताके चरम विकासका अजस्र स्रोत केवल मात्र धर्म ही है । अर्थात् श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, सत् आचरण, प्राणिमात्रके साथ सदाशयता एवं कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्धि ही धर्मका मूल बताया गया है । अतः 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् स्वयंके विपरीत पड़नेवाला कोई भी कार्य दूसरोंके लिये मत करो, ऐसा जो कहा गया है वह इसी दृष्टिसे कहा गया है । धर्मकी परिभाषामें श्रुति इस प्रकारसे कहती है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा धर्मिष्ठं वै प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदति तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ॥

आजके इस भौतिक युगमें यदि मानव, मानवके साथ सद्व्यवहार करना नहीं सीखेगा, तो अनतिदूर कालमें वह एक दूसरेको खाने दौड़ने लगेगा । यही कारण है कि वर्तमानमें धार्मिकतासे रहित यह आजकी शिक्षा मानवको मानवताकी ओर नहीं ले जाकर दानवताकी ओर ले जा रही है । आप देख रहे हैं जहाँ एक ओर धर्मविहीन मानव आणवास्त्रोंका निर्माण कर मानव-धर्मको समाप्त करनेमें कटिबद्ध हो रहा है, वहाँ दूसरी ओर उद्जन बमोंका निर्माण कर अपने दानव-धर्मका प्रदर्शन करनेको उद्यत है । ऐसी स्थितिमें आप सोचिये वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाला हमारा स्नेहमय मूल मन्त्र कहाँ गया ? संसारके सभी व्यक्ति जब एक ही परमात्माकी संतति हैं और इसी कारण यह सम्पूर्ण विशाल विश्व एक विशाल परिवारके समान है तो पुनः परस्परमें संघर्ष क्यों ? अतः यह विचार केवल आजका नहीं है जिसे आप नया मान बैठे हैं । समय-समयपर संसारमें प्रवर्तित अनेक प्रमुख धर्मोंमें इस व्यापक तथा परमोदार विचारकणका सामञ्जस्य पुञ्जीभूत है ।

मानवता वास्तवमें मनुष्यका धर्म है । सभी मनुष्योंसे स्नेह करनेका मूल पाठ मानव-धर्म सिखाता है । जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, धर्म, देश आदिके विभिन्न रूपात्मक भेदभाव-के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है । मानव-धर्मका आदर्श एवं इसकी मनोभूमि अत्यन्त ऊँची है तथा इसके पालन-में मानव-जीवनकी वास्तविकता निहित है । मानव-धर्म सभ्यता एवं संस्कृतिकी एक प्रकारकी रीढ़की हड्डी है । इसके बिना सभ्यता एवं संस्कृतिका विकास कल्पनामात्र ही है ।

मानव-धर्मकी वास्तविकता एवं उपादेयता इसीमें है कि मनुष्यत्वके विकासके साथ-ही-साथ संसारभरके लोग सुख, शान्ति और प्रेमके साथ रहें । प्राणीमात्रमें रहनेवाली आत्मा उसी परम पिता परमेश्वरका अंश है । प्रत्येकमें एक ही जगन्नियन्ता प्रभुका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, यह समझ-कर मानवकी ओर आदरभावना बनाये रक्खे, तब ही अन्ताराष्ट्रिय भावनाओंका, चाहे वे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हों, सर्वाङ्गीण विकास सम्भव है ।

मानव-धर्मका आध्यात्मिकता तथा नैतिकतासे महत्त्वपूर्ण सत्सम्बन्ध है । यदि कोई मानव सदाचरणशील नहीं है, चारित्रिक अथवा नैतिक आदर्शोंमें उसकी भावना श्रद्धालु नहीं है, ईश्वरीय सत्तामें यदि उसका लेशमात्र भी विश्वास नहीं है, इसके अतिरिक्त सौजन्य, सहृदयता, सात्त्विकता, सरलता, परोपकारिता आदि सद्गुण उसमें नहीं हैं तो आप यह मानकर चलिये कि अभी उसने मानव-धर्मका स्वर-व्यञ्जन भी नहीं सीखा है । सर्वोदयके उद्गाता श्रीविनोबाने अपने गीता-प्रवचनमें एक स्थानपर लिखा है कि 'मानव-धर्मके विनाशहेतु मानवने अपने चारों ओर एक स्वार्थका संकीर्ण घेरा बना रक्खा है जिसके बाहर वह निकल नहीं पाता और तोड़े बिना, उससे बाहर निकले बिना कोई भी मानव मानवतावादी नहीं बन सकता । अतः अपने हृदयको परमोदार तथा सरल बनानेकी नितान्त आवश्यकता है । प्रेमपयोधिमें स्नान करना परमापेक्षित है । जो व्यक्ति परहित-साधनमें लगा रहता है वही मानवताको अपना धर्म बना सकता है । मानव-धर्मकी प्राप्तिमें परम सहायक नैतिकता तथा आध्यात्मिकताका संबल परमावश्यक है ।

मानव-जीवनका केवलमात्र उच्चतम आदर्श जैसा भगवान् व्यासने कहा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

—होना चाहिये । यही कारण है कि प्राचीन एवं आधुनिक संत-महात्माओंने इस भूपर मानव-धर्मकी रक्षा करने एवं इसको प्रगति देनेहेतु सदा चेष्टा की और उन्होंने कोटि-कोटि मानवोंके उद्धारहेतु एकमात्र मानव-धर्मका प्रचार किया । लोककल्याण तथा लोकसंग्रहका एक ही मार्ग

श्रेयस्कर प्रतीत होता है और वह है मानव-धर्मका पूर्ण विकास एवं इसकी परिपालना। इसी दृष्टिसे स्वामी रामकृष्ण परमहंस, पूज्यपाद विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महापुरुषोंने मानव-धर्मके प्रचारहेतु अपनेको इसकी सेवामें ही लगाकर सर्वत्र घूम-घूमकर अधिकाधिक लोगोंको इस कल्याणमार्गपर चलनेका पूर्ण आग्रह किया। उन्होंने एकमात्र यही उपदेश किया कि परम पिता परमात्माके दरबारमें मानवमात्र समान हैं, सब भगवत्-कृपा एवं भगवद्भक्तिके पात्र हैं। सबको छल, छद्म, कपट, पाखण्ड छोड़कर प्रेमसे रहना चाहिये। किसीके साथ भेदभाव नहीं रखना चाहिये।

मानव-धर्मके विषयमें ऋग्वेद (६।५२।५) में कहा है—

'विश्वदानीं सुमनसः स्याम'

अर्थात् हम सर्वदा प्रसन्न रहें; क्योंकि मनःप्रसादसे समस्त आपदाएँ शान्त हो जाती हैं। दूसरे शब्दोंमें लोक-हितैषणामें लगे रहना ही तो मनःप्रसादका हेतु है जो कि सच्चा मानव-धर्म है। इसी प्रकारसे ऋग्वेदका यह वाक्य भी तो 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' अर्थात् मानव, मानवकी रक्षा करे मानव-धर्मका मूल मन्त्र है। इसी प्रकारसे प्राचीन ग्रन्थोंमें एक नहीं, अनेक सूक्तियाँ मानव-धर्मकी ओर प्रेरित करती हैं। यथा—

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

यह है मानव-धर्मका स्वरूप अर्थात् जिस प्रकार स्वयंके शरीरमें ज्ञान-स्वरूप आत्मा है, वैसे ही दूसरोंके शरीरमें भी है—ऐसी विचारणा जिस व्यक्तिकी बन जाती है वह सुधा-तत्त्वको सुलभतासे प्राप्त कर सकता है।

वर्तमानमें देख रहे हैं कि मानव सर्वथा दुःखावस्थाका अनुभव ही नहीं कर रहा है अपितु इससे इतना ग्रसित हो गया है कि उसके समक्ष केवलमात्र दुःखार्णव ही दिखायी दे रहा है; क्योंकि वर्तमानका मनुष्य जहाँ उसे स्वयंमें निम्नाङ्कित सद्गुणोंका समावेश करना चाहिये, वहाँ वह असद्गुणोंके प्राप्त करनेमें गतिशील बना हुआ है। यदि हम मानव-धर्मप्रेरक सद्गुणों एवं उनकी विरोधी प्रवृत्तियोंको व्यक्त करना चाहें तो संक्षेपमें निम्नलिखित तालिका बनती है—

मानव-धर्मकी ओर ले जानेवाले सद्गुण—	मानव-धर्मके विपरीत असद्गुण
१ परमात्मामें विश्वास	प्रकृतिमें विश्वास
२ परोपकार	स्वार्थ
३ अहिंसा	हिंसा
४ सत्य	असत्य
५ ब्रह्मचर्य	व्यभिचार
६ अपरिग्रह	संग्रह
७ सात्त्विकता	विलासिता
८ सेवाभाव	अधिकार
९ विनय	मद
१० क्रियादक्षता	मूर्खता
११ समता	द्वैष
१२ त्याग	युद्ध
१३ प्रेम	शत्रुता
१४ शान्ति	अशान्त जीवन
१५ सदाशयता	संकीर्णता
१६ सद्विचार	असद्विचार
१७ क्षमा	वैर

अन्तमें मैं यही निवेदन करूँगा कि मानव-धर्मकी ओर प्रवृत्त करनेवाले उपर्युक्त सद्गुणोंको ग्रहण करनेमें ही सबका कल्याण है।

(५)

(लेखक—श्रीयुक्त विष्णुदत्तजी पुरोहित)

शिष्यके प्रणिपात करनेपर आचार्यका यही आशीर्वाद होता है—'वत्स, तुम्हें धर्म-लाभ हो!' इस एक शब्द 'धर्म-लाभ'के साथ ही भगवान् आचार्यने मानो शिष्यको कृतार्थ कर दिया। वास्तवमें कृतार्थता धर्मका रूप है। जीवनमें दिव्यता, विशालता, उदारता तथा सबके प्रति निर्मल प्रेम-धर्मकी सहज अभिव्यक्ति है। सर्वसमर्थ परब्रह्म परमेश्वरमें नित्य स्थिति ही वास्तविक रूपमें धार्मिक जीवनकी कसौटी है। दिव्यता, विशालता, प्रेम आदि जब कभी दूषित वातावरणके अधिक प्रभावसे तिरोहित होने लगते हैं, तभी उनकी स्थिति सुदृढ़ करनेके लिये परमेश्वर प्रकट होते हैं; क्योंकि समस्त लोक धर्मसे धारण किये जाते हैं और धर्मका ह्रास सम्पूर्ण अस्तित्वके ह्रासका द्योतक है। इसलिये धर्म प्राणीका आधार है एवं धर्म प्राणीका जीवन है।

परमेश्वरकी कृपासे मानव-जातिमें समय-समयपर ऐसे

महापुरुष प्रकट होते आये हैं, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण सुखोंको त्यागकर धर्म-लाभके लिये समस्त जीवन अर्पण कर दिया। सत्य-जीवनको अपनाकर परमेश्वरसे सम्पर्क स्थापित किया और उनके चैतन्यमें ही स्थित रहे। ऐसे भगवत्परायण महापुरुष अब भी शरीर-धारणावधितक एवं उसके उपरान्त भी सृष्टिमें भागवत-सत्ताके प्राकट्यका प्रयत्न करते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं अनुयायियोंने नाना मतोंका रूप देकर वास्तविकताको बदल दिया है, किंतु मूलतः समग्ररूपसे समस्त सत्पुरुष केवल एक धर्म—परमेश्वरके प्राकट्यके साधन हैं। ये सभी महापुरुष मानव-जातिके लिये वन्दनीय हैं एवं उनके सदुपदेश ग्राह्य हैं।

आज संसारमें जो नाना मत-मतान्तर दिखायी देते हैं उनमें भी अन्तर केवल इतना ही है कि एक पक्ष किसी एक पहलूको विशेष महत्त्व देता है तो अन्य पक्ष किसी दूसरेको। वास्तवमें अपने सम्पूर्ण जीवनको, अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको भगवदुन्मुखी करना धर्म-लाभकी प्रमुख प्रक्रिया है। जिसके जीवनका प्रवाह केवलमात्र परमेश्वरकी ओर होता है, उससे स्वार्थ, संकीर्णता, द्वेष, भय, क्रूरता आदि सहज ही दूर हो जाते हैं और उसे स्पर्शतक करनेका साहस नहीं करते। व्यक्तिमें परमेश्वरका शुद्ध-बुद्ध प्राकट्य ही उसे सच्चा धार्मिक पुरुष बनाता है।

इसी दिव्य-जीवनकी प्राप्तिके प्रयत्न विविध धार्मिक प्रक्रियाएँ हैं। उसके प्राकट्यके सहायक तत्त्वोंको प्रोत्साहन दिया जाता है तथा उसके विरोधी तत्त्वोंसे उदासीन रहनेका प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि मूल रूपमें दिव्यताके प्रतिपक्षी भाव भी उस अनन्त सत्ता परब्रह्म परमेश्वरके ही हैं, तथापि भगवान्‌के साक्षात् प्रकट होनेमें अवरोध उत्पन्न करनेवाले स्वभावके होनेके कारण उनसे उदासीन रहना उचित बताया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'का शुद्धतम रूप है और उसे प्राप्त करनेके लिये उसके मूल निवास सच्चिदानन्द परमेश्वरकी ओर जीवनकी वृत्तियोंको प्रवाहित करना मानवका मुख्य कर्तव्य है। अनादिकालसे भगवत्-प्राप्त महापुरुष यही कहते आये हैं कि अपना जीवन भगवान्‌के समर्पण [illegible]ना चाहिये। दिव्यताविरोधी भावोंको त्यागकर सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म सार्वभौम मूलसत्ता परमेश्वरको [illegible] करना, सब कुछ उनका मानकर सम्पूर्ण जीवनको उनका चेतन-यन्त्र बनाकर व्यतीत करना भगवत्-समर्पणका मौलिक रूप है। सर्वात्मा परमेश्वरसे प्रेम, उनसे प्रार्थना, उनका नाम-स्मरण-कीर्तन, उनका ध्यान आदि भगवत्समर्पित जीवनके द्योतक हैं; क्योंकि जिसने अनन्तको प्रणिधान किया, उसमें उपर्युक्त भाव सहज ही प्रकट होते हैं एवं क्रमशः उसका जीवन ऊर्ध्वगामी तथा दूसरे शब्दोंमें धार्मिक बनता जाता है।

यही मानव-धर्मका यथार्थ रूप है। तमोगुण, रजोगुण और यहाँतक कि सत्त्वगुणसे भी अतीत स्वयंरूप सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति ही धर्म है। इसीसे प्राणी कृतार्थ होता है। जिस भाग्यवान् भगवत्कृपा-प्राप्त महापुरुषमें धर्मका प्राकट्य होता है, उस निर्भीक, नित्य भगवत्-चैतन्यमें स्थित महापुरुषकी इस पृथ्वीपर उपस्थिति मात्र ही प्राणियोंके लिये परम कल्याणकी हेतु है। जिस धरतीपर वह रहता है वह कृतार्थ होती है; जिस वायुसे वह श्वास लेता है वह वायु कृतार्थ होती है और समस्त सृष्टि परम भागवत दिव्यताका स्पर्श पाकर अत्यन्त कृतार्थ हो जाती है।

ऐसा धर्मलब्ध महापुरुष देह रहते भी भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें लीन रहता है और देह-त्यागके पश्चात् भी भगवान्‌में ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार मानव ही क्या प्राणीमात्रका धर्म भगवत्स्वरूपमें स्थिति है।

(६)

(लेखक—श्रीचन्द्रशेखरदेवजी काव्यतीर्थ, साहित्यविशारद)

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

(मनुस्मृति ८ । १५)

'धर्म' शब्दका व्यापक अर्थ है। प्रत्येक पदार्थमें धर्मका अस्तित्व ज्ञात होता है; क्योंकि धर्मरहित वस्तु है ही नहीं। आजकलके कई लोग धर्म शब्द सुनते ही अनादरकी भावना व्यक्त करते देखे जाते हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने धर्मके व्यापक अर्थको संकुचितरूपसे ग्रहण किया है। अतः धर्मके व्यापक अर्थको जानना अत्यावश्यक है।

वेद, आगम, स्मृति, पुराण तथा महात्माओंकी अनुभवपूर्ण उक्तियोंसे यही सिद्ध होता है कि अनन्तविचित्र रचनारूप जगत्‌का एकमात्र आलम्बन धर्म है। यद्यपि धर्म सबमें उपस्थित है तो भी वह सबको मालूम नहीं पड़ता है। यदि मानव-धर्मको छोड़कर कोई मनमाना आचरण करे तो वह मनुष्यत्वको खो बैठता है; साथ ही पशु बन जाता है।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये सब पशुओं तथा मनुष्योंमें प्रायः समान ही हैं, केवल धर्म ही मनुष्यमें अधिक है। धर्म न रहे तो मनुष्य पशु ही है।

धर्म क्या है ?

'धर्म' शब्द 'धृ' धातुसे बना है। धृ धातु धारण, पोषण और अवस्थान आदि दस अर्थोंमें युक्त होता है। इसी धृ धातुसे ही 'धर्म' निष्पन्न हुआ है। यह मानी हुई बात है कि कारणके गुण कार्यमें प्रविष्ट होते हैं; अतएव धृ धातुका व्यापक अर्थ भी धर्म पदमें पाया जाता है। धर्म शब्दकी परिभाषा इस प्रकार है—'ध्रियत इति धर्मः' 'धार्यत इति धर्मः', 'पतितं पतन्तं पतिष्यन्तं धरतीति धर्मः'—सारा प्रपञ्च जिसके द्वारा धारित होता है, जो प्रपञ्चका आश्रय-स्वरूप है, जो अपनेमें गिरे हुए, गिरते हुए और गिरनेवाले मनुष्योंको अवनतिके मार्गसे बचाकर उन्नतिकी ओर ले जानेकी शक्ति धारण करता है; वही धर्म कहलाता है। एवं जो व्यक्तिसे लेकर समाज तककी व्यवस्था रखनेका सुखमय मार्ग दिखानेका सामर्थ्य रखता हो, जिसमें व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रके कल्याणके लिये नियम, नीति, न्याय, सत्य, सद्गुण, सदाचार, सुस्वभाव, स्वार्थत्याग, कर्तव्य-कर्म और ईश्वरभक्ति आदि उत्तम गुण विद्यमान हों तथा जो लौकिक और अलौकिक श्रेयका साधन हो, वही वास्तविक धर्म कहलाता है, वही परिपूर्ण धर्म है।

धर्मकी आवश्यकता

पुरुषार्थकी प्राप्ति ही पुरुषका परम लक्ष्य है। पुरुषार्थका अर्थ पुरुष-प्रयोजन होता है। पुरुष-प्रयोजन अनन्त होते हुए भी भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार ही माने हैं। इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म पहिला पुरुषार्थ है। अन्तिम सोपानतक पहुँचनेके लिये प्रथम सोपानपर चढ़ना ही पड़ेगा, इसलिये मोक्षरूपी परम और तुरीय पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये धर्मरूपी प्रथम पुरुषार्थकी सिद्धि अत्यावश्यक है।

मोक्ष साध्य है जो धर्मादि तीन साधनोंके द्वारा सिद्ध होता है। अतः हमें धर्मात्मा बनना चाहिये। बिना धर्मके कुछ भी सिद्ध नहीं होगा; अधार्मिकका जीवन सुखमय नहीं बनेगा, धर्मरहित देश घोर अरण्य बन जायगा; धर्मशून्य साम्राज्य स्थिर नहीं हो सकेगा। जैसे जड़रहित पेड़में शाखाएँ, पत्ते, फूल तथा फल उत्पन्न नहीं हो सकते, वैसे ही धर्मरहित जीवन देश और साम्राज्यमें अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकते। और भारतीय संस्कृतिकी यह महान् देन है कि धर्मको प्राणोंसे भी अधिक समझना एवं उसका आचरण करना अत्यावश्यक है।

धर्मका मूल स्रोत

वेद और आगम धर्मके मूल ग्रन्थ हैं। मन्वादि स्मृति और धर्मसूत्र आदि ग्रन्थ भी धर्मका विवेचन करते हैं, जिन्होंने वेद और आगमोंका अनुसरण किया है। इनमें मनुस्मृति अनमोल धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें सारे मानव-समाजके कल्याणोंका प्रतिपादन किया गया है। उसमें सामान्य तथा विशेष धर्मोंका विवरण मिलता है। मानवता ही सामान्य धर्म है, उसीका ज्ञान होना सबके लिये मुख्य विषय है।

मत-मतान्तर

इस दुनियामें सब मानव एक ही तरहके होते हुए भी कई कारणोंसे मानवोंमें अनेक मत-मतान्तर बन गये हैं। कितने ही मत-मतान्तर बनें, लेकिन मानवतारूप धर्म एक ही है; क्योंकि कोई भी मत हो उसमें मानवताकी नितान्त आवश्यकता है। मानवता ही मानवको बचाती है। केवल तत्तत् मतोंके नियम, और आचरण आदिमें भिन्नता मिलती है।

मत या धर्म आचार-विचार तथा उपासना-पद्धतिरूप उपाधिसे भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न नामकी नदियाँ भिन्न-भिन्न मार्गसे अलग-अलग दिशाओंमें बहती हुई अन्तमें प्राप्तव्य स्थान समुद्रमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही चिरसुख, चिरशान्ति, मोक्ष या सत्यान्वेषणकी सिद्धि पाना ही सब मतोंका चरम लक्ष्य है। सब मतोंकी उपासना आदि पद्धतियाँ नदीके बहावके-जैसे उपाधिमात्र हैं। ये उपाधियाँ किसीको नापसंद होती हैं और किसीको अभीष्ट बनती हैं; पर हर एक आदमीका कर्तव्य यह है कि अपने-अपने मनके मूल उद्देश्यको जानना और तदनुसार आचरण करना, यहीं सद्गति एवं सार्थकता निहित है। तभी सर्व-धर्मका समन्वय पूर्ण हो जाता है।

प्रधान धर्मका स्वरूप

एकताकी सिद्धिके लिये प्रधान या सामान्य धर्मको ठीक-ठीक समझे और अनुष्ठान करे। इसीसे सम्पूर्ण विश्वमें अखण्ड सुख मिलता है। राजर्षि मनुने इस मानव (प्रधान) धर्मके स्वरूपको नीचेके श्लोकमें उल्लेख किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनुस्मृति ६। ९२)

धैर्य, सामर्थ्य रहनेपर भी क्षमा करना, मनोनिग्रह करना, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह करना, धर्मविषयक बुद्धि, विद्या, सत्यभाषण करना और क्रोध न करना—ये दस गुण मानवताकी समानताको कायम रखते हैं। ये ही परधर्म-सहिष्णुतामें कारण हैं और विश्व-मानव-धर्मके सोपान हैं। इन मानव-धर्मके सोपानपर चढ़नेके बाद ही मानव-जन्मकी सफलता एवं सार्थकता प्राप्त होती है। अतः इन्हीं दस गुणोंको समझना और ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

इन महागुणोंको जाननेके लिये सरल उपाय यह है कि धार्मिक महापुरुषोंके चरित्र और उपदेशोंको सुनना और समझ करके तदनुसार आचरण करना। मानव-धर्म जब-जब ह्रास होने लगता है, तब-तब सत्पुरुष जन्म लेकर महाधर्म या मानव-धर्मका उपदेश देते हैं। भगवान्‌से प्रार्थना है कि सबको धर्माचरणकी बुद्धि दें।

धर्मं चर। सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु। सत्यं शिवं सुन्दरम्।

(७)

(लेखक—स्व० श्रीकंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु)

[अनुवादक—श्रीपन्दिरेड्डि वेंकटेश्वर्लु, 'साहित्यरत्न']

आजकल संसारमें ज्ञानकी अत्यन्त वृद्धि अवश्य हुई है, परंतु मनुष्यने बाह्य-प्रपञ्चके बारेमें जितना ज्ञान प्राप्त किया, उतना आत्माके बारेमें नहीं। 'आत्मा है'—इसे कहनेवाले बहुत हैं, किंतु उस आत्माको जाननेवाले बहुत ही कम पाये जाते हैं।

मानव और पशु-पक्षीके निर्माणमें अन्तर

'मानव'के दो शरीर होते हैं—(१) पशु-पक्षी, जन्तु आदिकी तरह स्थूल-देह और (२) आध्यात्मिक ज्ञान-देह।

स्थूल-देहका निर्माण समस्त प्राणियोंके देह-निर्माणसे भिन्न नहीं है। इसलिये मनुष्यके स्थूल-देहके धर्म, अन्यान्य प्राणियोंके देह-धर्मोंके समान ही होते हैं।

मानव और पशु-पक्षीमें अन्तर एवं मानवकी विशेषता

परंतु मनुष्यकी एक दूसरी देह होती है, जो आध्यात्मिक ज्ञान-देह है। सभी प्राणियोंमें केवल मनुष्यको ही यह ज्ञान-देह प्राप्त हुई है।

'मानव' शब्दका निर्वचन

महात्मा श्रीविद्याप्रकाशानन्द स्वामीजीने 'मानव' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया है। 'मानव' शब्दमें 'मा' का अर्थ 'अज्ञान' या 'अविद्या' है और 'न' अक्षरका अर्थ है 'बिना' एवं 'व' अक्षरका अर्थ है 'वर्तन करो या वर्ताव करो।' मानव शब्दका भाव यह हुआ कि अज्ञान या अविद्यारूपी मायाको हटाकर आत्म-साक्षात्कारके द्वारा परमेश्वरका सामीप्य प्राप्त करनेवाला ही 'मानव' कहलाने योग्य है।

नीति (सदाचार) से युक्त रहना ही मानवात्माका स्वाभाविक गुण है। नीतिबाह्य होना अस्वाभाविक है। मधुर रससे युक्त रहना आमका स्वाभाविक धर्म है। रस-विहीन होना अस्वाभाविक है। शरीरका स्वस्थ रहना स्वाभाविक धर्म है, रोगोंसे दुर्बल बन जाना अस्वाभाविक है। इसी प्रकार नीति, ज्ञान आदिसे आनन्दका अनुभव करना आत्माका स्वाभाविक गुण है। पाप एवं अज्ञान आदिसे आनन्दित न होकर पीड़ाका अनुभव करना अस्वाभाविक है।

मानवका धर्म

जैसे हर-एक मनुष्यका सर्वप्रथम धर्म अपने शरीरको स्वस्थ रखना है। वैसे ही अपनी आत्माको रोग-पापोंसे सर्वथा दूर रखना भी उसका प्रधान कर्तव्य है। रोगग्रस्त होनेपर औषधोंके सेवनसे अपने शरीरको स्वस्थ रखना जैसे मनुष्यका धर्म है, वैसे ही आत्माके पाप और अज्ञान आदि दुर्गुणोंके आश्रित होकर दुःखी होनेपर उसे 'अनुताप'रूपी औषधसे पाप-विमुक्त बनाकर फिरसे सुख और आनन्द प्राप्त करानेका प्रयत्न करना भी उसका मुख्य धर्म है।

'नीति' (सदाचार) ही मनुष्यका लक्षण है। सदाचार ही मनुष्यका परम धर्म है और सदाचार ही मनुष्यको परमेश्वरके स्नेहसे बाँधनेवाला सूत्र है। अतः सदाचारवर्तनके द्वारा ईश्वर-सामीप्य पाकर नित्यानन्द प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका परम प्रयोजन है। अतः हर-एक मनुष्यको नीति—

सदाचार-मार्गके द्वारा परमेश्वरसे मिलकर अद्वितीय—अलौकिक आनन्द पानेके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ।

मुक्ति-मार्ग

पापोंसे विमुक्त होकर, अच्छे बर्तावसे ईश्वर-सामीप्य पाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव करना ही 'मुक्ति' है । अर्थात् पापोंसे और पशुत्वसे छूटकर शाश्वतानन्द प्राप्त करना ही 'मुक्ति' है । आत्माके गुणोंकी वृद्धि करके उसके अनुकूल बनाना ही 'मुक्ति-मार्ग' है । सभी शक्तियोंकी उन्नति समान रूपसे होना ही 'वृद्धि' है, एककी वृद्धि करके दूसरेकी अवनति करना नहीं । उदाहरणके लिये हमारे शरीरकी उन्नति देखिये । शरीरके सभी अङ्गोंकी उन्नति समान रूपसे करने तथा सबके सुदृढ़ होनेको 'वृद्धि' कहते हैं, न कि किसी एक पेट, सिर या पैर आदि किसी एक अङ्ग-की उन्नतिको । केवल किसी एक अङ्गकी वृद्धि होना तो रोगका लक्षण है । आत्माके विषयमें भी इसी तरह ज्ञान, नीति (सदाचार), प्रेम और ईश्वरके प्रति भक्तिमें समान रूपसे वृद्धि होनी चाहिये । ऐसी वृद्धि प्राप्त करके और पापों-से परिहार पाकर नित्यानन्दके लिये प्रयत्न करना हर एक मनुष्यका सहज गुण है । हमें चाहे जितने भी कष्ट सहने पड़ें, परंतु नीति-मार्ग (सदाचार) नहीं छोड़ना चाहिये । ईश्वर-की आज्ञा मानकर नीतिमार्गका अनुसरण करना ही हमारा कर्तव्य है ।

आत्माभिवृद्धिसे जीव ईश्वरके साथ बन्धुत्वको दृढ़ बनाकर, उसका सामीप्य प्राप्तकर, नित्य-सेवा-भावसे ईश्वर-सङ्ग-सुखका अनुभवकर, पाप-विमुख होकर नित्यानन्द प्राप्त कर सकता है । ईश्वर तो समस्त कल्याण-गुणोंका सागर है । जीवात्मा 'नीतिरस'के प्रवाह हैं । जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलने जाती हैं, उसी प्रकार हमारी आत्माओंको भी परमे-श्वरसे मिलनेके लिये ईश्वराभिमुखी होकर निरन्तर यात्रा करते रहना चाहिये । हमारी आत्माका धर्म है 'नीति'—सदाचार । इस नीतिकी वृद्धि करते-करते हमारी आत्माएँ परमेश्वरके समीप पहुँचती हैं । 'नीति'की वृद्धि करना ही देवत्वकी ओर जाना है । अतः मानुष-नामधारी हर एक प्राणीको प्रतिदिन, प्रतिक्षण परिशुद्ध और निर्मल बनते हुए हृदयके अंदर विराजमान देवांशकी वृद्धि करनेकी कोशिश करनी चाहिये । कोई भी काम या पेशा करना पड़े, परंतु मानवको 'नीति-मार्ग' नहीं छोड़ना चाहिये ।

नीतिकी महत्ता

नीति ही मनुष्यका लक्षण है । नीतिका अभाव ही पशु-का लक्षण है । यह विषय जानकर हमें नीतिबद्ध होकर जीवन व्यतीत करना चाहिये । विश्वके समस्त मानव-कोटिको आपस-में मिलानेवाला प्रत्येक आचार—प्रत्येक साधन 'नीति' ही है । यह साधन 'नीति' अत्यन्त पवित्र एवं समस्त गुणोंके बाँधनेमें दृढ़तर है । नीति-पाशसे ही सभी लोग आपसमें भाई बन जाते हैं । पर यदि ये नीति-सूत्र टूट गये तो 'एकता'का भङ्ग होकर सब लोग आपसमें शत्रु बन जायँगे । उपर्युक्त छोटे-से शब्द 'नीति'में महान् एवं गहरे भाव छिपे हुए हैं । इसके अन्तर्गत सत्य, करुणा, क्षमा तथा परोपकार आदि सभी गुण विद्यमान हैं ।

हवाके वेगसे जैसे रूई उड़ जाती है, वैसे ही नीति-बलके सामने दुनियाके समस्त अनावश्यक गुण मिट जाते हैं । नीतिमान् पुरुष सभी दृष्टियोंसे सर्वोत्कृष्ट है । अतः नीति-बलकी दृष्टिसे अधम जातिके लोग भी पूजनीय बन जाते हैं । ईश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त सर्वश्रेय सभी विषयोंमें नीति-रत ही महोन्नत है ।

(१) धर्ममें रति, (२) युक्तायुक्त-ज्ञानको जानकर उसके अनुसार युक्त आचरण करनेवाला निर्मल मन और (३) अन्तरात्माके शुद्ध उपदेशोंको भगवदाज्ञा समझकर आचरण करनेकी शक्ति आदि मनुष्यके लिये 'गुण-रत्न' हैं । सारे विश्वमें भी इनसे बढ़कर कोई महोन्नत गुण नहीं है । देवताओंमें भी इनसे बढ़कर कुछ भी महत्तर नहीं है । ये सद्गुण ही नीति हैं—सदाचार हैं । इन समस्त गुणोंके सम्पूर्ण रूपसे होनेपर मनुष्य-देवतामें कोई भी अन्तर नहीं होता । तब हमारा भूतल ही स्वर्ग बन जाता है ।

हमारे हृदय-गगनपर जो युक्तायुक्त विवेचना-ज्ञान शोभायमान हो रहा है, वही परमेश्वरके अनुग्रहसे हमें प्राप्त हुआ 'सत्य-वेद' है । इस सत्य-वेदके अनुसरणसे ही अन्य वेदोंकी आवश्यकतानुसार रचना हुई है । हृदय-फलकपर अङ्कित यह नीति ही परमेश्वरके साथ हमारा बन्धुत्व स्थापितकर हमें नित्यानन्द-साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करती है । यही ज्ञानोदय हमको ईश्वर-गुण-सम्बद्ध बनायेगा । इस ज्ञानके प्रकाशसे जिसके हृदयमें 'धर्म-रति' स्थापित होगी, वह उसी दिनसे ईश्वरके साथ अलग न होनेवाली बन्धुताको प्राप्तकर, अपने हृदय-फलकपर सुवर्ण-अक्षरोंमें अंकित की गयी परमेश्वरकी आज्ञाके वश होकर, अन्तरात्मासे शासित नियमोंके अनुसरणको शाश्वतानन्दकी प्राप्तिका मूल (जड़) मानकर, दुनियाके विषयोंकी परवा न करके, अपनी अन्त-रात्माको प्रसन्न करनेके लिये प्रयत्न करता है ।

अन्तरात्माका उपदेश ही शाश्वतानन्दका बीज है

अन्तरात्माके उपदेश ही 'शाश्वतानन्द'रूपी महावृक्षके लिये बीज हैं। यदि हम इन उपदेशोंका अनुसरण करें तो कृतार्थ होकर उत्तरोत्तर सत्य-पदको प्राप्त करेंगे। पर यदि आत्माकी घोषणाको अनसुनी करके, उसके उपदेशोंका तिरस्कार करेंगे तो हमें दुःख-भाजन बनकर, परमेश्वरके अनुग्रहसे वञ्चित हो जाना पड़ेगा। अन्तरात्माके उपदेशोंके अनुसार न्याय-वर्तन प्राप्त करनेवाले सभी आपसमें भाई बन जायँगे। इस बिरादरीके लिये लौकिक-अधिकार, धन-सम्पत्ति और ऊँचे खानदानकी आवश्यकता नहीं। और इनके रहनेपर भी सच्ची बिरादरी प्राप्त नहीं होती। इस बिरादरीके लिये एक 'नीति-रति'की ही आवश्यकता है। अनेक लौकिक सम्पत्तियाँ पानेपर भी यदि मनुष्य नीतिभ्रष्ट बन जाय तो वह धर्मकी दृष्टिसे पशु-प्राय बनकर ईश्वर-प्राप्तिके लिये अयोग्य बन जायगा।

पापोंसे संग्राम करनेवाला, कष्ट-नष्ट तथा बाधाओंसे विचलित न होकर अचञ्चल रहनेवाला और नीति-मार्गपर ही अटल रहनेवाला मनुष्य महामानव समझा जायगा। कष्टोंके समय भी धर्म-मार्गसे न हटनेवाला ही सच्चा मानव है। जब पातकरूपी भयंकर भूत-पिशाचोंका नाश हो जायगा, तभी आत्माको अनिर्वाच्य तथा अनुभवैकवेद्य आनन्द प्राप्त होगा।

सत्कार्यके आचरणमें कुछ मनोधर्मोंकी आवश्यकता है। इनमें प्रथम है (१) मनकी दृढ़ता और (२) आत्म-गौरव। मनकी दृढ़ता प्राप्त करनेके लिये 'आत्मगौरव' की बड़ी आवश्यकता है। अपनी शक्तिमें विश्वास रखना ही 'आत्म-गौरव' है।

दूसरोंके मत हमारे मतसे भिन्न रहनेपर भी, उनका अनादर न करके, उचित गौरव देना हमारा धर्म है; परंतु दूसरोंके मतसे हमारे मत अच्छे एवं ठीक होनेका विश्वास रहनेपर भी दूसरोंके भयसे अपनी टेक नहीं छोड़नी चाहिये। जिसके पास दृढ़ निश्चय करनेकी शक्ति नहीं होगी, वह पराधीन बन जायगा।

कार्य-शूरको 'दृढ़-निश्चय' शक्तिकी आवश्यकता है। ग्रहण-शक्ति एवं साधन-सम्पत्ति पर्याप्त मात्रामें रहनेपर भी कई मनुष्योंमें वाक्-शूरताके सिवा कार्य-शूरता दिखायी नहीं पड़ती। कार्य-भीरुता पुरुषोंका लक्षण नहीं है। जो सत्कार्योंका आचरण करना चाहते हैं, उनको दृढ़-उत्साह और साहससे, दूसरोंसे भय छोड़कर, अपने आदर्शोंका अनुकरण करना चाहिये। कहनेकी अपेक्षा करना श्रेष्ठ है। अतः काम करके दिखाना चाहिये।

उपदेश देनेके पहले यह सोचना चाहिये कि अपने उपदेशोंसे दूसरोंको लाभ होगा या नुकसान। यदि लाभ मिलनेकी सम्भावना हो तो उपदेश देना चाहिये, नहीं तो चुप रहना अच्छा है। आजकल भारतमें उपदेशकोंकी संख्या बहुत अधिक हो गयी है, परंतु उसके अनुसार स्वयं आचरण करनेवालोंकी संख्या बहुत कम है। महापुरुषोंकी जीवनियाँ पढ़ते समय या भाषण सुनते समय लोगोंके हृदयोंमें महान् कार्य करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है, परंतु वे अभिलाषाएँ सदा नहीं रहतीं। उन भाषणोंकी बातोंको आचरणमें उतारना होगा। सत्कार्योंका अनुष्ठान ही मानव-धर्म है।

परोपकार-परायणता

दूसरोंका उपकार करना मानव-धर्म है। निःस्वार्थ-बुद्धिसे सबकी सेवा करनी चाहिये। किसीको भी अपने कामका बदला पाने, नाम कमाने अथवा नाम या फलकी कामना नहीं रखनी चाहिये।

अच्छे काम करते समय, सम्भव है कुछ लोग परिहास करें, भाँति-भाँतिसे डरावें, बन्धुलोग मीठी-मीठी बातें कहकर हमें सत्कार्योंसे हटाकर असत्कार्योंकी ओर लगानेका प्रयत्न करें, पर किसीकी बातमें आकर सत्कार्यका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

मानव-जीवनमें चरित्र या शील-स्वभावका प्रधान स्थान है। विनय, उदारता, लालचमें न पड़ना, धैर्य, सत्य-भाषण, वचनका प्रतिपालन करना, कर्तव्य-परायणता आदि महान् गुण हर-एक मनुष्यमें रहने चाहिये। इन सब गुणोंका सम्पादन ही मानव-धर्म है।

उपर्युक्त सभी गुणोंका अर्जन करना और उनका अनुसरण करना एवं 'नीति'-सिद्धान्तपर सुदृढ़तासे प्रतिष्ठित रहना 'मानव-धर्म' है। जो इस प्रकार अपने कर्तव्योंका पालन कर सद्गुणोंको अपनाता है, वही 'मानव' है। सद्गुणोंको अपनानेमें ही 'मानव-कल्याण' निहित है। जब सभी मानव अपने कर्मोंका ठीक-ठीक सम्पादन करने लगेंगे तभी देश तथा समाजकी यथार्थ उन्नति और मानव-जातिकी वृद्धि होगी और इसीके साथ-साथ मानवके 'सृजन' करनेका भगवान्‌का महान् उद्देश्य भी पूरा हो जायगा।

दलोंमें भारत, फारस, ग्रीस, रोम, जर्मनी, स्कैण्डिनेविया आदि देशोंकी ओर निकल पड़े। पहले कहा जाता था कि तत्कालीन असभ्य भारतीय आदिम अधिवासियों (दस्युओं)को इन्होंने पराजित किया। परंतु आजकल टायनबी (Toynbee) पिगट (Piggott) आदि लेखकोंका मत ठीक इसके विपरीत है। इनके मतसे आर्य अभियात्री निम्नस्तरकी असभ्य जातिके लोग थे।* हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ोके निवासी सुसभ्य थे, परंतु उनसे पराजित हो गये। असभ्य आर्योंने विजित सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यतासे बहुत कुछ ग्रहण किया। वैदिक (सनातनी) धर्म और संस्कृति इस मिश्रित सभ्यताका परिणाम मात्र हैं।

ये दोनों ही मत भ्रमपूर्ण हैं। अनेक प्रमाणोंमेंसे कुछका उल्लेख करके यह स्पष्ट किया जायगा कि वैदिक वर्णाश्रमी जाति इस देशमें ३००० ई० पूर्वसे बहुत पहलेसे ही निवास कर रही है।

१. ज्योतिषका प्रमाण—

(क) भारतमें सुप्रचलित युधिष्ठिराब्द और कल्यब्द कुरुक्षेत्रके युद्धके बाद अनुमानतः ३१०२ ई० पूर्वसे प्रचलित हो गया था। अतएव २५०० से १५०० ई० पूर्वके बीचका 'आर्य-अभियान' नितान्त असत्य बात है।

(ख) बेली (Bailley), वालेस (Wallace) आदि पाश्चात्त्य विद्वानोंने गणितद्वारा प्रमाणित किया है† कि भारतीय ज्योतिषकी सारणी ज्यामितिकी सहायतासे अति प्राचीन कालमें, यहाँतक कि ३००० वर्ष ई०पूर्व निर्णीत और लिपिबद्ध हो गयी थी। अतएव वैदिक सभ्यता उससे बहुत पूर्व वर्तमान थी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

२. यजुर्वेदीय वंशब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मणके अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् महाभारत युग (३१०० ई० पूर्व) से बहुत पहले आम्नात हो गया था। इस उपनिषद्में मधुविद्या (ब्रह्मविद्या) के वंशब्राह्मणमें जो गुरु-शिष्य-परम्परा पायी जाती है, इससे सिद्ध होता है कि इस विद्याके आदि गुरु दधीचि ऋषि पौतिमाष्य मुनिके ४७वीं पीढ़ीके आदिपुरुष थे। गुरु-शिष्यकी एक पीढ़ीमें ५० वर्षका समय मानना असंगत न होगा। अतएव देखा जाता है कि पौतिमाष्यका समय अनुमानतः ३५०० ई० पूर्व माननेपर दधीचि उनसे ५०×४७=२३५० वर्ष पूर्व अर्थात् ५८५० ई० पूर्वमें विद्यमान थे। अतएव अन्ततः ५००० ई० पूर्व वैदिक सभ्यता भारतमें थी, यह विश्वास करना युक्तिहीन नहीं है।

३ सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताका प्रस्तरिक प्रमाण

मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि स्थानोंमें जो प्राचीन ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं, वे २५०० वर्ष ई० पूर्व या इससे भी प्राचीन हैं। यह सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता वैदिक वर्णाश्रम सभ्यता थी, यह निम्नलिखित प्रमाणोंसे प्रतिपादित होती है—

(क) इन स्थानोंमें प्राप्त कुछ मूर्तियोंमें आसनबद्धता, नासाग्रदृष्टि आदि पायी जाती है। आसन योगका एक प्रधान अङ्ग है। आसन लगाकर बैठनेकी पद्धति भारतके बाहर कहीं कभी न थी। यह चीन, जापान और इन्डोनेशिया आदिमें इस देशसे ही गयी है। नासाग्रदृष्टि मनको अन्तर्मुखी करनेका एक यौगिक उपाय है। अतएव सिन्धु-सभ्यताकी संस्कृति वैदिक थी।

(ख) एक सील मुहरपर कलसी, काष्ठ आदिके साथ श्मशानका दृश्य अङ्कित है।

---

* This method of interpretation, however, is one which grew up at a time when the Harappa civilization was still undiscoverd and when it was assumed that the Aryan invaders of India encountered only a rabble of aboriginal savages, who could have contributed little save a few primitive animistic beliefs to Vedic thought, nothing to the structure of later Indo-Aryan Society. But the Aryan advent in India was in fact the arrival of barbarians into a region already highly organized into an empire based on a long established tradition of literate urban culture. The situation is, in fact, almost reversed; for the conquerers are seen to be less civilized than the conquered. (Piggot, Prehistoric India (Pengum p. 257)

† Astronomical tables in India must have been constructed by the principles of Geometry. Some are of opinion that they have been framed from the observations made at a very remote period, not less than 3000 years before the Christian era. (This has been conclusively proved by Bailley.) (Prof. Wallace, in the Edinburgh Encyclopaedic Geometry, p. 191)

(ग) खुदाईके फलस्वरूप कितने ही प्रस्तरमय शिवलिङ्ग* पाये गये हैं। वैदिक सनातनधर्मको छोड़कर अन्यत्र शिवलिङ्गकी पूजा कहीं नहीं होती।

(घ) जो सील-मुहर ध्वंसावशेषमें पाये गये हैं, उनमें जो लिपि है, उसका पाठोद्धार पाश्चात्त्य देशोंमें अभीतक नहीं हुआ है। किंतु सिलचरनिवासी पण्डित श्रीमहेन्द्रचन्द्र काव्यतीर्थ सांख्यार्णवने† कुछ सील-मुहरोंका पाठोद्धार किया है।

एक सीलमें जो चित्र है, उसमें एक वृक्षपर दो पक्षी चित्रित हैं। एक पक्षी फल खा रहा है, दूसरा कुछ खाता नहीं है, केवल देख रहा है। इस चित्रमें सम्भवतः ईश्वर और जीवविषयक एक सुप्रसिद्ध वेदमन्त्रका भाव अङ्कित हुआ है—'द्वा सुपर्णा' इत्यादि।

(ऋक् २।१।६४।२०)

सांख्यार्णव महाशयने इसकी लिपिको पढ़ा है। २ सुवर्ण (मुद्रा)। 'द्वा सुपर्णा' के साथ '२ सुवर्णकी' ध्वनिका सुन्दर मेल है और चित्र भी सम्भवतः इस मेलके कारण इस प्रकारसे अङ्कित हुआ है। यदि यह अनुमान सत्य है और यही सम्भव है तो अन्ततः यह प्रमाणित होता है कि 'सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता' इस वेदमन्त्रके बहुत बादकी है तथा सिन्धु-सभ्यताके लोग वैदिक धर्मका ही पालन करते थे।

और भी कतिपय सीलोंका पाठोद्धार करके सांख्यार्णव महाशयने दिखला दिया है कि वे सब भी विभिन्न मुद्राओंके मानके द्योतक हैं—यथा, ३ धरण, नव निष्क, गुण धरण, रजत द (दी) नार, पल आदि। ये सारे मुद्रा भारतमें प्राचीन युगमें व्यवहृत होते थे तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख प्राप्त होता है। उनके मतसे ये सील व्यवसायी लोगोंके द्वारा हुंडी या वस्त्रादि-विक्रयके द्रव्यादिके ऊपर मुद्राङ्कनके लिये व्यवहृत होते थे। यही सिद्धान्त युक्तिसंगत है। पिगट (Piggot) ने भी 'Prehistoric India' नामक ग्रन्थमें इसके अनुरूप ही मत प्रकाशित किया है।‡

(ङ) इन दोनों नगरोंके ध्वंसावशेषमें ईंटसे बँधे कूप वर्त्तमान हैं। उनके चारों ओर असंख्य मिट्टीके बर्तनोंके टुकड़े राशिरूपमें पड़े हैं। इसको समझनेमें कष्ट नहीं होता कि जल पीनेके बाद वह फेंक दी गयी होगी या तोड़-फोड़ दी गयी होंगी।*

संसारकी दूसरी किसी जातिमें, या किसी देशमें, स्पर्शास्पर्श-विवेक या आहारशुद्धि और आचार, जिसको आजकल व्यङ्ग्य करके कूँढ़ार्पंथ कहते हैं, नहीं था और न है। केवल वर्णाश्रमी जातिके शास्त्रानुसार मिट्टीके बर्तनको एक बार ओठसे लगानेसे ही वह उच्छिष्ट हो जाता है और उसे फेंक देते हैं। सिन्धु-उपत्यकाके अधिवासी वैदिक सनातन (हिंदू) धर्मको मानते थे और आचारका पालन करते थे—यह टूटे-फूटे मिट्टीके बर्तनोंसे पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है। इसके लिये किसी तर्ककी आवश्यकता नहीं और न संदेहके लिये ही कोई जगह रह जाती है। अतएव वर्णाश्रम-धर्म इस देशमें ५००० वर्ष ई० पूर्वमें तथा उससे बहुत पहलेसे विद्यमान था, यह निश्चय हो जाता है।

४. मेगास्थनीजका लेख

ग्रीक सम्राट् सेल्यूकसके दूत मेगास्थनीजने मौर्य-राज्यसभामें कई वर्ष (ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दीके अन्तिम भागमें) व्यतीत किये थे। उनके निबन्ध विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने लिखा है कि 'भारतमें बहुत-से लोग और जातियाँ हैं, परंतु उनमें कोई बाहरसे आया हुआ या विदेशी बाशिन्दा नहीं है।'† १५०० ई० पूर्वतक भारतमें 'आर्य-अभियान' हुआ होता तो उसको प्रायः १००० वर्षके भीतर ही लोग भूले नहीं होते।

अतएव बाहरसे 'आर्यों'के अभियानकी कहानी बिल्कुल

---

* Certain large, smooth, cohesive stones unearthed at Mohenjodaro and Harappa were undoubtedly the Lingas of those days. This association (with the worship of Siva) however seems more probable.'

(Mackay, the Indus Civilization P. 77-8)

† (M. C. Kavyatirtha Sankhyarnava, Mohenjodaro seals deciphered p. 9)

‡ 'Harappa traders by about 2300 B. C., must have had their resident representatives in Ur and Lagash, and other centres of trade using the characteristic seals on merchandise and documents." (Piggot, Prehistoric India, p. 210)

* Round such well-heads have been found innumerable fragments of mass produced little clay cups, suggesting that, as in Contemporary Hinduism, there was a ritual taboo on drinking twice from the same cup, and that each cup was thrown away or smashed after it has been used. (Ibid, p. 171)

† It is said that India, being of enormous size, when taken as a whole, is peopled by races both numerous and divers, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidently indigenous, and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation.

(Mac Grindle, "Ancient India" Megasthenes, p. 31—34)

ही निर्मूल है और कपोलकल्पना मात्र है। अनादिकालसे, ऐतिहासिक मतसे भी, अन्ततः सुदीर्घ प्रायः छः हजार वर्षके ऊपरसे वर्णाश्रमी भारती जाति भारतखण्डमें वास करती आ रही है, इसमें संदेह नहीं है। बहुत-से लोगोंने दूसरा धर्म ग्रहण कर लिया है। परिवारनियोजन, बहुविवाह-निषेध आदिके द्वारा हिंदुओंकी संख्या घटानेकी चेष्टा हो रही है। तथापि आज भी इनकी संख्या नगण्य नहीं, बल्कि ४० कोटिसे ऊपर है।

वर्णाश्रमका अमरत्व और आपेक्षिक गुरुत्व, विभिन्न प्राचीन और नवीन सभ्यताके साथ तुलना

'जातिभेदने भारतका सर्वनाश किया है'—यह बात नितान्त भ्रमपूर्ण है। वर्णाश्रमी वैदिक सभ्यताके प्रकृत महत्त्व और श्रेष्ठत्वको समझनेके लिये विभिन्न प्राचीन और नवीन सभ्यताओंके साथ इसकी तुलना करना आवश्यक है। अनन्त कालसिन्धुमें न जाने कितनी जातियाँ, संस्कृति और सभ्यताएँ, धर्म और सम्प्रदाय बुद्बुदके समान उठकर विलीन हो गये हैं। केवल एकमात्र वर्णाश्रमी सभ्यता और धर्म नाना प्रकारके आँधी-तूफानका आघात सहते हुए आज भी गौरवके साथ टिका हुआ है तथा पुनः राजनीतिक स्वतन्त्रताको भी प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया है।

पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों और ऐतिहासिकोंकी गवेषणा और अभिमतके अनुसार आधुनिक इतिहासका अनुसरण करके मुख्य-मुख्य प्राचीन और अर्वाचीन सभ्यताओंकी रूपरेखा तथा संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि राज्य-विस्तार, जनसंख्या आदिका जो आँकड़ा दिखलाया गया है, वह आपाततः ठीक होते हुए भी केवल आनुमानिक है।

पृथ्वीकी सभ्यताका रेखा-चित्र

पाश्चात्य लेखक ईसाई हैं । ईसाई मत यहूदी धर्मकी ही एक शाखा है । ईसा और उनके शिष्यगण यहूदी थे । अतएव पाश्चात्य जातियोंका धर्मदर्शन सेमिटिक है । इस्लाम-धर्म भी यहूदी और ईसाई मतपर अवलम्बित है । अतिरिक्त इसके पाश्चात्य संस्कृतिका मूलस्रोत ग्रीक और रोमन ऐतिह्य है । अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, इटालियन आदि भाषाएँ भी मूलतः ग्रीक और लैटिनसे निकली हैं; इनकी वर्णमालाका इतिहास भी तदनुरूप है । अतएव वर्तमान यूरोपीय और अमेरिकन सभ्यता सेमिटिक (यहूदी), पैगन (Pagan), ग्रीकरोमीय तथा नार्डिक (Nordic), उत्तर यूरोपीय—इन सब संस्कृतियोंकी खिचड़ी* है । विभिन्न देशोंके नर-नारियोंके अबाध मिलनके फलस्वरूप इन सब समाजोंमें संकरता भी पर्याप्त हुई है ।

केवल एक सौ वर्ष पहले पाश्चात्य लेखकगण अपने ईसाई तथा यहूदी धर्मग्रन्थों (New and Old Testaments) के अनुसार दृढ़तापूर्वक विश्वास करते थे कि पृथ्वीकी सृष्टि और मानवजातिका उद्भव केवल ४००४ ई० पूर्व, अर्थात् आजसे प्रायः ५९६९ वर्ष पूर्व हुआ था ! सनातनधर्मके पुराणोंके अनुसार युगभेदकी बात सुनकर उनमेंसे बहुतेरे नाक-भौं सिकोड़नेसे बाज नहीं आते थे ।

परंतु नृतत्त्व, पुरातत्त्व, भूगर्भ आदि शास्त्रोंकी तथा भौगोलिक और ऐतिहासिक नाना प्रकारकी वैज्ञानिक गवेषणाके फलस्वरूप क्रमशः यह निश्चयपूर्वक प्रमाणित हो गया है तथा और भी हो रहा है कि केवल ६००० वर्ष ही नहीं, पृथ्वीकी सृष्टि कोटि-कोटि वर्ष पूर्वकी घटना है । अन्ततः ४ लाख वर्ष पूर्व भी इस भूपृष्ठपर मनुष्यजातिका अस्तित्व था । ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल (Old Testament) में वर्णित सृष्टि-रचनाकी बात बिल्कुल कल्पित और मिथ्या है । यह बात अब पाश्चात्य लेखकवृन्द भी स्वीकार करनेके लिये बाध्य हो गये हैं ।

यद्यपि वर्णाश्रमी भारतीय वैदिक सभ्यताका उदय और भी अनेक युगोंपूर्व हुआ था, तथापि केवल ४००० वर्ष ईसवीपूर्वसे इसका आरम्भ यहाँ लिया गया है । इसका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे सुदीर्घ ६००० वर्ष पूर्वसे आजतक चला आ रहा है । केवल सुमेरीय ही नहीं, हिण्डाइत, (ग्रीक तथा इटालियन एत्रस्कन (Atruscan) लोग भी हिण्डाइत वंशके हैं) काल्डिया, मिस्री, ईरानी, मेक्सिकन, माया तथा चीन और दक्षिणपूर्व एशियाके अन्यान्य देशोंकी सभ्यताके ऊपर भी वैदिक सभ्यताका प्रभाव स्पष्ट दीखता है ।

इस रेखाचित्रसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आधुनिक पाश्चात्य ऐतिहासिक मतसे भी पृथ्वीकी सारी सभ्यताओंमें भारतीय (वर्णाश्रमीय) सभ्यताने असाधारण और सर्वप्रधान स्थान अधिकृत किया है ।

आधुनिक सभ्यता, जैसे इस्लामी, यूरोपीय, अमेरिकी आदि किस प्रकार थोड़े दिनकी है—यह भी इस चित्रसे स्पष्ट हो जाता है । वस्तुतः केवल स्थायित्वकी दृष्टिसे देखनेपर भी वर्णाश्रमके साथ अन्य किसी संस्कृतिकी तुलना नहीं हो सकती ।

नीचे विभिन्न सभ्यताके उत्थान और पतनका समय, उद्भवस्थान, चरम उत्कर्षका समय, राज्य और संस्कृतिका विस्तार तथा जनसंख्याका एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है । इस तालिकासे विभिन्न प्राचीन जातियोंकी सभ्यताकी तुलनात्मक प्रधानता, आपेक्षिक गुरुत्व तथा परिणति समझमें आ जायगी । भारतीय, हिब्रू और चीनकी सभ्यताके सिवा अन्य सभी सभ्यताएँ एकबारगी लुप्त हो गयी हैं ।

* If we are Jewish or Semitic in our religion, we are Greek in our philosophy, Roman in our Politics, and Saxon in our morality.

(Maxmuller, What India can teach us ? p. 20)

बादशाह अलाउद्दीनको यह समाचार मिला। उसने राणा हमीरके पास संदेश भेजा—'शाही अपराधीको शरण देना तख्तकी तौहीन करना है। रणथम्भौरकी ईंट-से-ईंट बजा दी जायगी, नहीं तो हमारे अपराधीको लौटा दो।'

राणा हमीरका उत्तर सीधा था—'ऐसा नहीं हो सकता कि कोई आर्त मनुष्य प्राणरक्षाके लिये राजपूतकी शरण आये तो क्षत्रिय उसे निराश कर दे। राज्य-नाश अथवा प्राणभयसे हम धर्म नहीं छोड़ेंगे। जो विपत्तिसे दुखीको बचाये नहीं, वह क्षत्रिय कैसा?'

सरदार लोग राणासे सहमत नहीं थे। उनका कहना था—'बादशाहसे शत्रुता लेना ठीक नहीं। यह भगोड़ा सरदार मुसलमान है। यह अन्तमें अपने लोगोंसे मिल जायगा।

राणा हमीर झुक जाते तो 'हमीर-हठ' विख्यात कैसे होता? वे बोले—'मेरा धर्म यह नहीं है कि शरणागत कौन है, क्या किया उसने अथवा आगे क्या करेगा—इसका विचार करूँ। लोभ अथवा भयसे मैं कर्तव्यका त्याग नहीं करूँगा।'

अलाउद्दीनने राणाका उत्तर पाकर भारी सेना भेज दी; किंतु रणथम्भौरका दुर्ग लोहेका चना सिद्ध हुआ। शाही सेनाके छक्के छुड़ा दिये राजपूतोंने। कई बारका आक्रमण व्यर्थ गया तो सेनाने दुर्गपर घेरा डाल दिया। पाँच वर्षतक घेरा डाले बादशाहकी सेना पड़ी रही। उसके सैकड़ों सैनिक मारे गये; किंतु उसे बराबर सहायता मिलती गयी।

रणथम्भौरके दुर्गमें भोजन समाप्त हो गया। सैनिक घटते ही जा रहे थे। मंगोल सरदारने कई बार राणासे कहा कि उसे बादशाहके पास जाने दिया जाय, उसके कारण राणा और विनाश न करायें; किंतु राणाने उसे हर बार रोक दिया—'आपको एक राजपूतने शरण दी है। प्राण रहते आपको वहाँ नहीं जाने दूँगा।'

दुर्गमें उपवास चल रहा था। एक बड़ी चिता बनायी गयी दुर्गके प्राङ्गणमें। दुर्गके भीतरकी सब नारियाँ उस प्रज्वलित चितामें प्रसन्नतापूर्वक कूदकर सती हो गयीं। पुरुषोंने केशरिया वस्त्र पहिने और दुर्गका द्वार खोलकर शत्रुपर टूट पड़े। उनमेंसे एक भी उस युद्धमें जीता नहीं बचा। केवल वह मंगोल-सरदार पकड़ा गया। अलाउद्दीनने उससे पूछा—'तुमको छोड़ दूँ तो क्या करोगे?'

सरदार बोला—'हमीरकी संतानको दिल्लीका तख्त देनेके लिये तुमसे जिंदगी भर तलवार बजाऊँगा।'

क्रूर अलाउद्दीन भला उसे जीवित छोड़ सकता था?

—सु०

कठोर वाणीसे मर्माघात मत करो

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम्॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥

(महाभारत अनु० १०४। ३१-३२)

दूसरोंके मर्मपर आघात न करे, क्रूरतापूर्ण बात न बोले, औरोंको नीचा न दिखाये। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो, ऐसी रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है। अतः वैसी बात कभी न बोले।

वचनरूपी बाण मुँहसे निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है। अतः जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर चोट करते हैं, ऐसे वचन विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न कहे।

सत्य सनातन विश्व-धर्म

[The True Eternal Universal Faith]

(लेखक—दासपति)

श्रीभगवान्‌का शाश्वत भागवत-धर्म एक है। वह अखण्ड है, सार्वभौम है, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। वह भगवान्‌से सदा अभिन्न है। वह स्वयं भगवत्स्वरूप ही है। उस शाश्वत अमृतमय धर्मप्रवाहमें जो भी किसी भी प्रकार आ पड़ता है, वह भगवान्‌को प्राप्त करके ही रहता है, वह भगवान्‌को प्राप्त हो चुका—ठीक वैसे ही जैसे बम्बईको जानेवाली गाड़ीमें जो बैठ गया, वह बम्बई पहुँच ही चुका, पहुँचकर ही रहेगा। यही शाश्वत भागवत-धर्म अनेक नाम-रूपोंसे प्रसिद्ध होते हुए भी अपने मूल रूपमें सदा एक अखण्ड बना रहता है। देश-काल-पात्रानुसार इसीकी आंशिक प्रसिद्धि ही विभिन्न सम्प्रदायोंका रूप धारण किया करती है। इसी एक शाश्वत धर्मकी घोषणा समय-समयपर अनादिकालसे आजतक अनेक महर्षि-मुनि, अवतार, पैगम्बर और धर्माचार्य आदि करते चले आये हैं। संसारके सब धर्म, मत, सम्प्रदाय इत्यादि इसीके अभिन्न अङ्ग हैं। यह सबका प्राण है, सबका सामञ्जस्य करता है, सबको स्वीकार करता है और सबका मित्र है। यही सत्य सनातन विश्वधर्म—The True Eternal Universal Faith है।

परिभाषा—जो सत्य है अर्थात् तर्क और विज्ञानकी कसौटीपर खरा उतरता है, अनुभवसिद्ध तथा विश्वके सब धर्मोंद्वारा अनुमोदित है, वही सत्य है। जो अपौरुषेय है, अनादिकालसे अखण्ड रूपमें चला आया है, वही सनातन है और जिसका विश्वके किसी धर्म, अवतार, आचार्य और पैगम्बर आदिसे कोई विरोध नहीं है, जो सबका सम्मान करता है, जो सम्पूर्ण विश्वको आश्रय देता है, वही विश्व-धर्म या सार्वभौम-धर्म है। यही इस सत्य, सनातन विश्व-धर्मकी परिभाषा हुई। अब तो कोई भी धर्म विश्व-धर्म होनेका दावा कर सकता है। पर इस प्रकारके सत्य, सनातन विश्व-धर्म अर्थात् शाश्वत भागवत-धर्मके दर्शन हमें सर्वप्रथम वेदोंमें, वेदान्तदर्शनमें और भगवद्गीतामें ही होते हैं।

धर्मकी अनिवार्य आवश्यकता—जो इस चराचर सृष्टिको धारण किये हुए है, वही धर्म कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा यह सब अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होता है, वही धर्म है। तब फिर ऐसे धर्मसे विमुख होकर कौन रह सकता है? मानव-जीवनमें संतुलन स्थापित करनेके लिये धर्मकी नितान्त आवश्यकता है। अपने-अपने अधिकारके अनुसार जीवनमें धर्मका समावेश करनेपर ही सामञ्जस्य और संतुलन स्थापित होकर शान्ति प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं।

देश-काल-पात्रानुसार धर्मका रूपान्तर—जिस शाश्वत वैदिक विज्ञानका विकास करके आज भौतिकवाद इतना उन्नत हो गया है, उसी वैदिक अध्यात्मवादका समयोचित विकास करके हमें अध्यात्मवादको इतना ऊँचा उठाना होगा कि वह भौतिकवादको अपने काबूमें कर ले। पूर्वकालमें हमने ऐसा किया भी था। राम और रावण इसके ऐतिहासिक वैज्ञानिक प्रमाण हैं। ऐसा किये बिना केवल भौतिकवाद, संशयवाद, साम्यवाद और नास्तिकवाद और फिर विषयलिप्सावादको केवल कोसते रहनेसे काम न चलेगा। हमें कर्म-क्षेत्रमें आना पड़ेगा। कठिन परिश्रम, तप और त्यागका अनुष्ठान करके प्रखर आत्मशक्ति जगानी होगी, जिसके प्रकाशमें भौतिकवाद अपने-आप म्लान पड़ जायगा और 'भूप राज तज होहिं बिरागी'—की उक्ति चरितार्थ होने लगेगी। जिस प्रकार जर्मनीने कठिन परिश्रम करके विज्ञानकी उन्नति की, उसी प्रकार हम भारतीय भी कठिन तप करके अध्यात्मवादकी उन्नति कर सकते हैं। ऐसा हम करते आये हैं। यह हमारी बपौती है।

आजका धर्म—आज विश्वको जिस शान्तिक, सार्वभौम प्रत्यक्ष धर्मकी आवश्यकता है, उसकी पूर्ति केवल हमारा सत्य, सनातन विश्व-धर्म ही कर सकता है। इसके सक्रिय विश्वव्यापी प्रचार-प्रसारके लिये हर भारतीयको कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार इस सत्य, सनातन विश्व-धर्मको विश्वव्यापी बनानेमें यथाशक्ति सहयोग देनेका दृढ़ संकल्प आज ही कर लेना चाहिये।

पाश्चात्त्य देशोंमें धर्म-पिपासा—आजकल हम भारतीय आम तौरपर पाश्चात्त्योंके प्रति यह दोषारोपण करते हैं कि वे अधार्मिक हैं, धर्मको नहीं मानते। किंतु

बात ऐसी नहीं है। पाश्चात्योंने केवल बहुत बड़े अनुपातमें कट्टर पंथवादी, साम्प्रदायिक ईसाई धर्मका परित्याग अवश्य किया है; किंतु आज उनकी धर्मपिपासा संसारमें सर्वाधिक बढ़ी हुई है, धर्मके लिये सब प्रकारका त्याग करनेको वे तैयार हैं, किंतु उन्हें चाहिये वैज्ञानिक धर्म। ऐसा धर्म उन्हें कौन बताये ? उन्हें भारतसे बड़ी आशा थी; किंतु स्वतन्त्र भारत तो आज पाश्चात्योंकी जूठन चाटनेपर, उनका अनुकरण करके उनका उल्टा चेला बननेपर उतारू हो चुका है। परिणामतः पाश्चात्य धर्मपिपासु दिनोंदिन हताश होते जा रहे हैं।

विश्वकल्याण किस बातमें है—भौतिकवादी पाश्चात्योंकी यह धर्म-पिपासा मिटानेमें ही आज विश्वका कल्याण है, अन्यथा वे महान् प्रयत्नशील कर्मठ पुरुष भीषण पुरुषार्थके द्वारा जड़ान्नति करके विश्वको चौपट कर डालेंगे !

भारतका हित—हर राष्ट्रकी कोई-न-कोई वास्तविकता और विशेषता हुआ करती है। उसे ही अपनाये रहनेमें उस राष्ट्रका हित है। उसीमें उसका जीवन निहित रहता है। इस परम पुनीत विश्वगुरु भारतकी विशेषता और वास्तविकता धर्म, अध्यात्मवाद, सभ्यता और संस्कृतिमें है। इसे अपनाये रहनेमें ही हमारा हित है। इसे छोड़कर हम अवश्यमेव विनाशको प्राप्त हो जायँगे, हम कहींके भी न रहेंगे और वैसा हो भी रहा है। यदि शीघ्रातिशीघ्र हमें अपना हित करना है तो शीघ्रातिशीघ्र हमें अपने जन्मजात जगद्गुरु-पदपर आरूढ़ हो जाना चाहिये। सम्पूर्ण विश्वको हमारे प्रचण्ड अध्यात्मवादसे मुग्ध करके उसमें दीक्षित कर देना चाहिये। इसीमें हमारा परम हित है।

वर्तमान धर्म-संकट और उससे बचनेके उपाय—यों तो संसारके सभी धर्म आज भौतिकवादकी अभिवृद्धिके कारण संकटग्रस्त हैं, किंतु हिंदू-धर्म सबसे अधिक है। इसके तो कोई रक्षक ही नहीं हैं, जो हैं वे अत्यन्त कमजोर हैं। कारण इसका केवल एक ही है। हमारी श्रद्धा पश्चिमोन्मुखी हो गयी है। हम पाश्चात्योंके अन्धानुकरण करनेवाले अनुचर भक्त हो गये हैं। अतः 'खग जानै खग ही की भाषा' की उक्तिके अनुसार यदि पाश्चात्य लोग धार्मिक हो जायँ तो हम भी हो जायँ। इसलिये हमें चाहिये कि हम पाश्चात्योंको अधिक-से-अधिक संख्यामें हमारे अनुयायी बनायें। उनके सक्रिय सहयोगसे ही भारतमें धार्मिक पुनर्जागरण हो सकता है, अन्यथा नहीं। बिना ऐसा किये आजका धर्म-संकट बहुत उपाय करनेपर भी मिटनेका नहीं।

अन्ताराष्ट्रीय धर्मदूत-संघ—एक दिन वह था, जब भारतने प्रचण्ड धर्मदूत-ओज (Missionary Spirit) जाग्रत् करके सम्पूर्ण विश्वको भारतीय धर्मोंमें दीक्षित कर दिया था। वह हमारे उत्कर्षका उच्चतम युग था। आज हम उसी धर्मदूत ओज (Missionary Spirit) को खोकर दीन, हीन, म्लान हो गये हैं। आज भारत स्वतन्त्र है, अतः हमें पुनः प्रचण्ड धर्म-प्रचार-ओज जाग्रत् करना होगा। हमें अन्ताराष्ट्रीय धर्मदूत-संघोंकी स्थापना करके संसारके सम्पूर्ण देशोंमें योग्य धर्मदूतों (Missionaries) को भेजना होगा। हमारा जो राष्ट्रीय उत्थान हमारे हजारों वैज्ञानिक और सिपाही नहीं कर सकते, वह केवल कुछ थोड़े-से ही धर्मदूत कर सकेंगे।

हरिनाम और भगवद्गीताका विश्वव्यापी प्रचार—हरिनाम-प्रचारकी महिमासे हमारे ग्रन्थ भरे पड़े हैं। गीताके प्रचारकी महिमा भगवान्ने स्वयं गीतामें बतायी है, कितनी अधिक है वह। पर हम वैसा कहाँ कर रहे हैं, हमारा साधु-समाज और साधक-समाज कहाँ इधर ध्यान दे रहा है। भारतीयो! उठ खड़े होओ! विश्वभरमें हरिनामकी गूँज उठा दो। भारतके घर-घरमें और विश्वके कोने-कोनेमें भगवद्गीताका संदेश सुना दो। तुम भगवान्के वचनानुसार उनके सबसे अधिक प्रिय होओगे; फिर तुम्हारी रक्षा और सहायता वे क्यों न करेंगे, अवश्य करेंगे। तुम अवश्य सफल होओगे। उठ खड़े होओ, शीघ्रातिशीघ्र कटिबद्ध हो जाओ। सम्पूर्ण विश्वको 'सत्य-सनातन विश्वधर्म'में दीक्षित कर दो। भगवान्का नाम और उनका प्रिय संदेश गीता सब संसारको सुना दो और इस प्रकार सहज ही भगवान्के सर्वाधिक प्रियजन बन जाओ। इसीमें तुम सबका कल्याण है। इसीमें भारतका सर्वाधिक हित है और इसीमें विश्वका वास्तविक कल्याण है। यही आज भगवान्की सबसे बड़ी सेवा है, जिसकी आज उन्हें और सम्पूर्ण मानवजातिको अत्यन्त आवश्यकता है। यही सत्य-सनातन विश्वधर्मका सक्रिय प्रचार है।

धर्मका सत्य-स्वरूप

(लेखक— राजयोगी डॉ० स्वामी श्रीबालब्रह्मानन्दजी एम्० डी०, एन्० एस्० डी०, एन्० डी०, आइ० एम्० एस्०)

अव्यक्त स्वरूपसे मैंने व्यक्त रूप धारण किया, फिर मैं वासना-का शिकार हुआ और पञ्चमहाभूतोंके महाप्रासादमें आकर फँस गया। यहाँ आधि, व्याधि और उपाधियोंद्वारा पछाड़ा गया, उन्होंने मुझे अभिभूत कर दिया। तब मुझमें सद्विवेक-बुद्धि जाग्रत् हुई। फिर भावनाओंमें उफान आने लगी। विचार-रविने उनका मन्थन किया और उनमेंसे जो ज्ञानरूप नवनीत सत्त्वके फेनके साथ ऊपर आया, वही आप सबको खाद्यरूपमें भेंट कर रहा हूँ। मात्र जबर्दस्ती किसीसे न की जायगी। जिनमें रुचि-इच्छा हो, उन्हें ही यह पचेगा, पसंद पड़ेगा। वे इसे अवश्य ग्रहण करें, भरपेट खाकर तृप्त हों, किसी तरहका संकोच न करें। संकोचसे हानि होगी। संकोच प्रगतिका शत्रु और विपरीत गतिका मित्र है।

अपने आस-पास चारों ओर फैले प्रकृति-सौन्दर्यपर दृष्टि दौड़ाइये। उसकी प्रतिक्षणकी हलचलपर सतर्कतासे ध्यान दीजिये। उसकी बदलती अवस्थासे क्षणभर एकरूप बनिये और उसकी परिवर्तित अनुपम स्थितिका बारीकीसे अवलोकन कीजिये।

वह देखिये, पूर्वकी ओरसे धीरे-धीरे मन्थर गतिसे ऊपर उठ रहा सूर्यबिम्ब! वह देखिये, तरु-लताओंपर स्वच्छन्द डोलनेवाली रम्य कलिकाएँ! नींदसे जगे व्यक्तिके अर्धोन्मीलित नेत्रद्वयकी तरह वही स्वस्थतासे धीरे-धीरे वे अनेक पँखुड़ियाँ खोले जा रही हैं। क्षणभरमें उन पँखुड़ियोंके बीच छिपा परिमलयुक्त परागकुम्भ अब सुस्पष्ट दीखने लगा। उसमें भरे सुधामृतका आकण्ठ प्राशन करनेके लिये गुञ्जार करते हुए आनेवाला वह अलि-पटल! सभी कुछ एक ही क्षणमें!

सुगन्ध दीखती नहीं। उसकी अनुभूति केवल श्वासोंको ही होती है! फिर भी कितना मस्त और मतवाला बनानेवाले हैं वे पराग-कण और उनका वह परिमल, जिससे मलिन मनको सद्भावनाका आकार प्राप्त होता है और वह अपनी मस्तीमें झूमने लगता है! पर क्षणभरमें जाने कहाँसे गुञ्जार करते भ्रमर आते हैं और वे चराचरको हँसाने-खिलानेवाले फूलोंके परिमलयुक्त मकरन्द बिन्दुओंका पान करके तत्काल जिस रास्ते आये, उसी रास्ते गुंजार करते हुए ही निकले जा रहे हैं। हम केवल आँखें मूँद डोलते ही रहते हैं।

यह सारा क्या है? इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है? कैसा बोध मिलता है? प्रत्येकके कर्तव्य-कर्म भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक धर्म भिन्न-भिन्न! कारण, धर्म ही हर-एकसे कर्म-कर्तव्य करा लेता है। धर्मके हाथों कर्मकी सार्वभौम सत्ता है। धर्मके कारण ही एक बार नियतकर्म तबतक, जबतक कि वह साकार स्वरूपमें बना हुआ है, बदल नहीं सकता।

माताके उदरसे जन्म ग्रहण करनेवाला प्रत्येक जीव अपने साथ धर्म लेकर ही जन्मता है। जन्म लेना भी एक धर्म ही है। बिना ज्योतिके प्रकाश नहीं। बिना अग्निके धूम नहीं। इसी तरह बिना धर्मके कर्म नहीं। पहले धर्म और उसके बाद कर्म।

धर्म चराचरकी प्रत्येक वस्तुमें अदृश्यरूपमें निवास करता है। धर्मके बिना कोई क्षणभर भी जी नहीं सकता। जिसमें धर्म नहीं, वह पार्थिव है। जहाँ धर्मका आगत-स्वागत नहीं, वह भूमि भी श्मशानवत् है!

श्मशान सभीके लिये समष्टिरूपसे देखनेका एक महान् आदर्श केन्द्र है। वहाँ पहुँचनेपर रंक और रावमें पूर्ण साम्ययोगका दर्शन होता है। वहाँ किसीकी द्वैतबुद्धि ही नहीं रहती। उस पवित्र भूमिमें सभी जीवोंको अद्वैत-भावनाका परिपाठ पढ़ाया जाता है। केवल वह पाठ सबके जीवनपर अन्तिम क्षणके बाद, वह भी उतना ही सत्य है! हाँ, वहाँ जानेके लिये लोग डरते अवश्य हैं और वही भय अधर्मका द्योतक है।

किसीकी निन्दा नहीं। किसीसे द्वेष नहीं। न कोई बड़ा है, न कोई छोटा ही है। कहीं आवाज नहीं, कहीं शोरगुल नहीं। कितना रम्य और कितना प्रशान्त है वह स्थल! कोई भी आये और अग्नि माताकी पवित्र गोदमें शयनकर धीरे-धीरे महानिद्राका अपरिमेय आनन्द लूट ले! किसीको वहाँ रोक नहीं। किसीको वहाँ अटकाव नहीं। इतना अवश्य है कि आजतक माया-मोहके इस

असार वातावरणमें जीव पञ्चभूतोंकी जो पोशाक पहनता है, जो अपने-अपने स्वार्थवश धूलि-धूसरित हो गयी है, अग्निमाता उसे पसंद नहीं करती। कारण, वह ठहरी अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त शुचिभूत! माया-मोहके अनेक संतापोंसे तपकर, प्रत्यक्ष अनुभव लेकर, असार जीवनसे ऊबकर सदाके लिये चिरविश्रामार्थ आये हुए दुःखी-जीवोंको क्या वह यों ही अपने पवित्र, विशुद्ध अङ्कपर चिरविश्रामार्थ स्थान देती है? पहले ही जीवनभर कर्तव्य-कर्म करके यह बेचारा जीव थक जाता है। उस समय निद्रामाता उसका संगोपन करती है। किंतु जब यह जीवात्मा अधिक थक जाता है और फिर विश्रामका सुख चाहता है, तब खोजनेपर भी अग्नि-माताकी गोदके सिवा वैसा एकान्त, नितान्त स्थल कहीं नहीं मिलता। इसलिये वह उस स्थितिमें निर्जीव रूप धारण करता है, अचेतन बनता है। उसे अग्निमाताके पास जो जाना है। किंतु उस समय उसमें एक कदम चलनेकी भी शक्ति नहीं रहती। ऐसे समय मृत्यु उसे मूर्छित कर देती है। उसीके ज्ञाति-बान्धव उसे उठाकर ले जाते हैं और यह पूर्ण विश्वास हो जानेपर कि अब यह होशमें नहीं आ सकता और न किसी तरह हलचल ही कर पायेगा, श्मशानमें अग्नि-माताके हवाले कर देते और वापस लौट जाते हैं। फिर वह जीवात्मा अग्नि-माताकी गोदमें मत्था टेककर विश्राम लेता है। उसे गाढ़ निद्रामें सोया और मृत्युसे पूर्व मूर्छित किया देख, ममतामयी अग्नि-माता अपने कुसुम-कोमल करसे उसके ऊपरका वह सारा परिधान निकाल डालती है, जिसे वह लज्जाके संरक्षणार्थ पहने रहता है और जो वासनामय देहके पञ्चभूतसे बने सुन्दर वस्त्र कहे जाते हैं। फिर वह माता उसपर अपनी ज्वाला-छाया फैलाकर इस पार्थिव, असार संसारका सदाके लिये नाता छुड़ाकर उसे ऐसी नयी दुनियामें ले जाती है, जहाँ उसे अद्वैत, शाश्वत, चिर सुख-समाधान और शान्ति मिलती है।

सारांश, यह सब धर्मकी अनुज्ञासे ही हुआ करता है। अङ्कुरकी सम्पूर्ण वृद्धिके लिये मृत्तिका, पानी और पवन—तीनोंको सर्वथा, सर्वाधिक ध्यान रखना पड़ता है। फिर बीजसे अङ्कुर फूटकर एक महत्-शाख—शाखीके रूपमें, महावृक्षके रूपमें रूपान्तरण होता है। उसे बहुसंख्य पुष्प और फल आते हैं और पुनः पूर्ववत् बीज-निर्माण होता है। यह सारा चक्रनेमि-क्रमसे घूमनेवाला सृष्टिचक्र तभीतक चलता है, जबतक उसमें धर्म विराजमान हो। उसके बाद तो उसे भी अग्नि-माताकी ही गोद गहनी पड़ती है।

वृक्ष कहते ही शाखा, पत्ते, फूल, फलोंसे सम्पन्न उसका ढाँचा सामने खड़ा हो जाता है। ये सारे उसके अङ्ग वृक्षका धर्म हैं। कली खिलनेपर उसका सुन्दर फूलमें रूपान्तरण होकर उसके पराग-कणोंका परिमल आसमन्तात् फैलाना पुष्पोंका धर्म है। अर्थात् प्रत्येकके तत्तत्-कर्मानुसार अपने-अपने धर्मकी तरह-तरहकी अर्थ-गर्भ व्याख्याएँ की जा सकती हैं। कारण, धर्मका जन्म ही कर्मके उदरसे होता है। प्रत्येकके कर्तव्य-कर्मसे ही उसका गुण या धर्म निर्धारित किया जाता है।

वास्तवमें जो सत्य है, उसे 'सत्य' माननेके लिये हम तैयार ही नहीं होते। आप ही बतायें, निसर्गके नियम आजतक कोई बदल सका है? क्या कभी किसीने पूर्वका सूर्य पश्चिमकी ओर उगते हुए देखा है? क्या कभी आपने सुना है कि उसने अपने उदयका समय बदल दिया? कभी मध्यरात्रिमें, निशीथमें, तो कभी सायंकाल प्रदोषमें उसे किसीने देखा है? अपने जन्मसे इस क्षणतक किसने ऐसी अद्भुत घटना देखी है? चन्द्रकी कलाएँ धारणकर सूर्य-सा स्वयं प्रकाशित होते हुए पूर्णिमाके शीतल प्रकाशको बिखेरते हुए कभी किसीने सूर्यको प्रदोषमें उदित और प्रभातमें डूबते देखा है? अपनेको लगानेवाले आजके बुद्धिवादी वैज्ञानिक यह कीमिया दिखाते तो रात्रिको पक्षपातका यह अवसर ही न मिल पाता कि वह गरीबोंकी झोंपड़ियोंमें 'ब्लैक-आउट' कर देती, टिम-टिमाते दीप जलाती और श्रीमानोंके प्रासादोंमें बटन दबाते ही प्रकृष्ट प्रकाश छा देती! ऐसे करोड़ों प्रश्न हैं, जिनका उत्तर आजतक कोई नहीं दे पाया और भविष्यमें भी न दे सकेगा।

धर्म हमें कहता है कि भले ही आप कितना ही झूठ बोलें, बखाना करें, आत्मश्लाघा बघारें कि 'हमने यह किया, वह किया', पर मूलतः आपने कुछ भी नहीं किया। धर्म हमें पुकार-पुकारकर पूछता है कि क्या आप रक्त बना सके? मांस बना सके? अस्थि बना सके? टूटे हुए और विलग हुए अवयवोंको जोड़कर पुनः उनमें चेतना ला सके? मिट्टी, पानी, हवा, निसर्गकी हर किसी चीजको क्या आप बना पाये? दूध बना पाये? मृतकोंको जीवन दे सके? इतना ही नहीं, जिस पञ्चभूतके रम्य प्रासादमें आप जन्मसे मरनेतक डेरा जमाये बैठे हैं, क्या उसे आपने

बनाया ? क्या किया आपने ? मैं कौन हूँ—आत्मा या देह, ब्रह्म या विश्व, ईश्वर या परमेश्वर ?' इस तत्त्वकी शोध करते समय मुझे लगता है कि 'मैंने किया, सदा मैंने किया'—इस मिथ्या अहंके सिद्धान्तका पल्ला पकड़कर आप केवल दाम्भिकता-भरा घमंड दिखाते हैं। अकारण अज्ञानमें पड़कर सत्-चित् यानी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के पवित्र स्वरूपकी ओर जानेको—सत्यका यथार्थ न पकड़कर चिल्लाते फिरते हैं कि 'मैंने किया, सदा मैंने किया, अखिल विश्व मेरी सत्तासे चल रहा है'—और अन्तमें जन्म-जन्म दुःखके गहरे गड्ढेमें जा गिरते हैं। बस, इसके सिवा और कुछ भी नहीं !

इतना तो सत्य ही है कि हमी प्रयत्नवादी हों; कारण कर्तव्य-कर्म स्वयं करनेसे मानव स्वयं सिद्ध बनता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उस कर्मका सब कुछ हम ही करते हैं। कुछ हमें पूर्ति करनी पड़ती है, तो कुछ धर्म अर्थात् प्रकृति करती है। उदाहरणार्थ, उचित समयपर खेत जोतकर बीज बोना मानवका कर्तव्य है। उसके बाद मानवीय कर्तव्य पूर्ण हो जाता है। अब केवल ऊपर-ऊपरसे देख-रेखका काम ही शेष रहता है। हवा, पानी और मिट्टी बादमें प्रकृतिके नियमानुसार उस कठोर बीजमें अपने सहवाससे मृदुता ला देते हैं। उसे भलीभाँति सब तरहसे मथ देते हैं। तुरंत अङ्कुर फूटता है। फिर पौधा और पौधेसे पेड़ बनता है। फिर फली आती, फूल खिलते हैं। मान लीजिये, कपासका बीज बोनेसे कपास पैदा होता है। अर्थात् बीजको मिट्टीरूपी मशीनमें डालनेके बादसे फली आनेतक और उससे कपास निकलनेतकके अपने-आप होनेवाले सारे काम स्पष्ट है कि निसर्ग ही, प्रकृति ही करती है। मानवको केवल देख-रेख ही रखनी पड़ती है। कपास पैदा होनेके बाद उससे धागा और धागेसे तरह-तरहके रंग-बिरंगे कपड़े तैयार करनेका काम मानवका होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सब कुछ निसर्ग या प्रकृति ही करती है। इसी निसर्ग या प्रकृतिका दूसरा नाम है—'धर्म'। निसर्गको विसर्ग देते ही उसमेंसे धर्मका सत्यस्वरूप प्रकट होता है। जन्मसे मरनेतक हमें धर्म ही शिक्षा देता है, कुशल और निर्भीक बनाता है। धर्मसे ही हमलोग जीते हैं। धर्मके कारण ही हमारे अवयव हलचल करते हैं। जिस दिन धर्म हमारा साथ छोड़ देता है, वह हमारा अन्तिम दिन है !

अन्तःकरणमें शुभ वासनाओंका उदय होना ही वास्तविक आध्यात्मिक सौन्दर्य है। इसी सौन्दर्यमें हमें सच्चे धर्मका दर्शन मिल सकता है। मैं-तूका संकोच मिटाकर अखिल विश्व ही जब आत्मरूप बन जाता है, तब वह किसी समतल मैदान-सा भासने लगता है। उसमें ऊबड़-खाबड़पन या ऊँचा-नीचापन नहीं दीखता। सूर्य आसमानसे नीचे टूट पड़े, चन्द्रमा मिट्टीमें—धूलमें मिल जाय या आकाशमण्डलके नक्षत्र लुप्त हो जायँ तो आपको आश्चर्य लगने-जैसा क्या है ? चन्द्र, सूर्य, तारोंका नाश हो सकता है, पर आपका नाश कभी सम्भव नहीं। कारण, सूर्य, देश और सर्व कालको एकमात्र आधार आपका ही है। यह ध्यानमें रखते हुए कि मैं अविनाशी आत्मा हूँ, किसी भी प्रसङ्गमें न घबराते हुए पर्वतकी तरह अचल रहें। श्वासोच्छ्वासकी क्रिया चालू रहते मनसे सद्धर्मका विचार करते जायँ। यदि अन्तरमें आप यह दृढ़ भावना किया करें कि श्वास लेते हुए हम अखिल विश्वको भीतर खींच रहे हैं और उच्छ्वासके साथ उसे पुनः बाहर निकाल फेंके जा रहे हैं तो निसर्गसे आपका तादात्म्य होने लगेगा। फिर आप और विश्व—यह पृथक्भाव नहीं रहेगा। तब आपको एकतानता प्राप्त होगी और इसी अवस्थामें आपको वास्तविक धर्मका विराट् दर्शन हुए बिना नहीं रहेगा। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अवस्थापर पहुँचनेका यह प्रथम सोपान है।

'धर्म' बाजारमें बिकनेकी वस्तु नहीं कि उठाया तराजू और दे दी जाय—तौलकर ! धर्मको अन्तरकी अनुभूतिसे पहचानना पड़ता है।

धर्मका अर्थ है—आत्मानुभूति, आत्मसंयमन और आत्म-साक्षात्कार ! चतुर्विध पुरुषार्थोंमें धर्मको ही प्राधान्य दिया गया है। चारों पुरुषार्थोंका श्रीगणेश ही धर्मसे होता है।

अखिल विश्व-ब्रह्माण्डके एक-एक व्यक्तिका जीवन धर्मकी शक्तिसे प्रारम्भ होता है। धर्म ही मनका जीवन है, आत्मा है। इस धर्मका सत्यस्वरूप पहचाननेके लिये प्रथम चित्त स्थिर करना पड़ता है। फिर आसन लगाकर सहज समाधिकी दृढ़ स्थिति प्राप्त करनी होती है। इसी समाधि-अवस्थामें स्थिर रहते प्रत्येकको निस्संदेह धर्मके समग्र वास्तव स्वरूपका दर्शन हुए बिना नहीं रहेगा।

धर्म क्या है ?

(लेखक—श्रीधनंजयजी भट्ट 'सरल')

धर्म जितने भी हैं, सबकी नींव वास्तवमें विश्वासपर है, तर्कपर नहीं । इसलिये धर्मसम्बन्धी बातोंमें तर्कको सर्वथा स्थान न देकर यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि धर्म सब बड़े-बड़े बुद्धिमानोंके बुद्धितत्त्वका निचोड़ है ।

धर्म मनुष्य-जीवनकी आचारसंहिता है, जो हमें कर्तव्य-पालनकी शिक्षा देता है या व्यष्टि-जीवनको समष्टिमें विलीन करनेका उपदेश देता है । धर्म वैसा ही है, जैसा आकाश । जैसे घटाकाश, मठाकाश कहनेसे आकाश अनेक नहीं होता, वैसे ही विभिन्न नाम होनेसे धर्म अनेक नहीं हो सकता । जैसे घटाकाश, मठाकाश आकाशके सिकुड़े हुए रूपोंके नाम हैं वैसे ही धर्मके विभिन्न नाम एक ही धर्मके सिकुड़े हुए रूपोंके नाम हैं ।

धर्मकी परिभाषा

धर्म वह वस्तु है जिसको सभी मनुष्य, सभी समाज, सभी मतावलम्बी सर्वोत्कृष्ट मानते हैं । धर्म वह वस्तु है, जिसे सभी मत-मतान्तर सुखकी प्राप्तिका हेतु समझते हैं । धर्म वह वस्तु है, जिसके लिये सभी सम्प्रदायवाले उपदेश देते हैं कि संसारकी अच्छी-से-अच्छी वस्तुको छोड़कर धर्म धारण करो । सभी ज्ञानी महात्मा, चाहे वे किन्हीं धर्मग्रन्थोंको माननेवाले हों, यही शिक्षा देते हैं कि धर्मसे अच्छी संसारमें कोई वस्तु नहीं है । कोई-कोई तो यह भी कहते हैं कि धर्म धारण करनेसे मनुष्य देवता बन जाता है । सभी महापुरुषों-संतोंने धर्मकी महिमा गायी है और धर्मके लिये ही अपना जीवन बलिदान किया है । गीता, वेद, उपनिषद् आदि अनन्त कालसे हमें धर्मका ही उपदेश दे रहे हैं ।

धर्मका सिद्धान्त

धर्मका सिद्धान्त है—अपनेको स्वाधीन रखना, चोरी न करना, किसी जीवको कदापि दुःख न देना, भूलकर भी हिंसा न करना, झूठ न बोलना, दूसरेकी स्त्री, बहन या बेटीको माँके समान समझना, प्राणीमात्रको अपने समान समझना, क्रोध न करना, लालचसे हमेशा दूर हटे रहना, सहनशील बनना, दूसरा कोई यदि तुम्हें कुछ कहे भी तो उसे सहन कर लेना, संकट आ जानेपर धीरज धारण किये रहना, प्राणीमात्रमें किसीसे द्वेष न करना, अभिमानमें आकर ऐसा कृत्य न करना जिससे किसीके हृदयको चोट पहुँचे, मीठे-हितकर वचन बोलना, अपनी थोड़ी हानि उठानेसे किसीको बहुत बड़ा लाभ होता हो तो उससे मुँह न मोड़ना, इत्यादि । ये ही सब धर्मके सिद्धान्त और उसूल माने गये हैं, जो समाजके जीवनको पुष्ट रखनेवाले और समाजको उसी तरह पोषण करनेवाले हैं, जैसे पेड़की जड़में जल सींचनेसे पेड़ हरा-भरा रहकर फलता-फूलता रहता है । जिस समय मनुष्यमें ये गुण पूरी तरह विद्यमान थे वही सत्ययुग था । ज्यों-ज्यों मनुष्यके स्वभाव और व्यवहारमें अन्तर पड़ता गया और वे सब बातें कम होती गयीं, त्यों-त्यों युगका भी ह्रास होता गया और वह त्रेता और द्वापरके नामसे कहलाया जाने लगा । इस समय ये उत्तम गुण मनुष्यमें बिल्कुल कम हो गये हैं, इसलिये वर्तमान समयको हम कलियुग कहने लगे हैं ।

प्राचीन कालकी धर्म-व्यवस्था

हमारे यहाँ भी उस युगके समय जब हम धर्मके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करते थे, राम, युधिष्ठिर, बुद्ध, अर्जुनके समान वीर प्रतापी और महात्मा होते थे और सीता, सावित्री, गार्गीके समान बुद्धिमती, विदुषी स्त्रियाँ होती थीं । ऐसे ही माता-पिताके पुष्ट रज-वीर्यसे वीर पुरुषार्थी पुत्र उत्पन्न होते थे, जो इस समयकी तरह बनावटी परछाईं देखकर डर जानेवाले न थे । उनका धर्म पुरुषार्थी होना, सत्यपर अटल रहना, जन्मभर एकपत्नीव्रत-धारी होना, आस्तिकतापर पूर्ण विश्वास रखकर परमात्माको न भूलना, परोपकारमें तत्पर रहना, अपने कुटुम्ब तथा देश-के लोगोंसे भाईके समान व्यवहार करना और दीनोंपर दया रखना था । पर इस समय हमलोग ऐसे हो चले हैं कि हमें सत्य-असत्यका कुछ ज्ञान ही नहीं रहा और मिथ्यावादपर ही सर्वथा कमर कसे हुए हैं । जहाँ कोई अपना स्वार्थ हो, वहाँ तो झूठका कहना ही क्या । जहाँ कोई मतलब न हो, वहाँ भी चित्तको प्रसन्न रखने और मनोविनोदके लिये ही झूठ बोलते हैं ।

धर्म एक कार्यान्वित जीवन है

धर्म एक कार्यान्वित जीवन है । जीवनमें जो कुछ है,

जो कुछ भी सार है, वही धर्म है। धर्म केवल आत्मा-परमात्माका सम्बन्ध स्थापित करनेवाला ही नहीं है, बल्कि हमारे सभी कर्म, सभी व्यवहार, क्रोध, करुणा, दया, स्नेह, त्याग, तप, तितिक्षा आदिका द्योतक है और इसीके ही सहारे सभी मानव-व्यापार—व्यवहार होते हैं और सभी मानववृत्तियाँ अपना कार्य करती हैं। केवल यही एक ऐसा मार्ग है, जहाँ हम सब एक हो जाते हैं और सभी मानवजातिको एक ही रंगमें रँगा हुआ और एक ही सूत्रमें सबको बँधा हुआ देखते हैं।

धर्म ही संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। वह मनुष्यके महत्त्व और कीर्तिको पराकाष्ठातक पहुँचाती है। धर्म करनेवालेको इस जगत्में अर्थ और सुख तो मिलता ही है, साथ ही परलोकमें भी अभ्युदय और इसकी प्राप्ति होती है और अन्तमें मोक्ष-लाभ होता है। परंतु वास्तविक धर्मका पालन लोहेके चने हैं। इसलिये परिणाम कल्याणमय होनेपर भी धर्मनिष्ठको धर्मके मार्गपर चलनेके लिये आरम्भमें क्षति अवश्य उठानी पड़ती है।

धर्मका अर्थ

जो वस्तु धारणायुक्त अर्थात् मनुष्यको संयुक्त रखनेवाली हो वही धर्म है। जीवोंके प्रभव अर्थात् कल्याणके लिये धर्मका विधान किया गया है, अतएव जो वस्तु प्रभवसंयुक्त हो, जिससे प्रजाका कल्याण हो, उसीको निश्चयपूर्वक धर्म समझना चाहिये। चोरी, अन्याय, वध इत्यादिसे मनुष्यको क्लेश न हो, इसीलिये धर्मका विधान किया गया है। जो वस्तु अहिंसायुक्त हो अर्थात् प्रजाके क्लेश और दुःखोंको दूर करनेवाली हो, उसीको निश्चयपूर्वक धर्म समझना चाहिये और जो मनुष्य नित्य सबका भला चाहता है, मन, वचन, कर्मसे सबके हितमें लगा रहता है वही धर्मका जाननेवाला है। धर्मात्मा वही है, जिसकी आत्मा निष्पाप और जिसका चरित्र विमल हो। उसको उबलता हुआ तेलका कड़ाहा भी बर्फके समान ठंडक पहुँचाता और पापात्मा जिसका अन्तःकरण मलिन है, उसे जूहीका हार भी जलते हुए अङ्गारकी-सी व्यथा देता है।

धर्मकी व्याख्या

धर्मकी परिभाषा करते हुए कणादने कहा है—

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय, सर्वाङ्गीण उन्नति हो और मानव-जीवनके लक्ष्य निःश्रेयस न्याय—मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।' मनुने धर्मके दस लक्षण—धृति, क्षमा आदि बताये हैं।

महाभारतमें मानवकी निम्नाङ्कित दस प्रवृत्तियोंको धर्मका मूल माना गया है। तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ, क्रिया, क्षमा, शुद्धभाव दया, सत्य और संयम।

पुराणमें भी मानवताके इन्हीं गुणोंको धर्मका अङ्ग माना गया है। श्रीमद्भागवतके अनुसार विद्या, दान, तप और सत्य—धर्मके चार पाद हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें धर्मकी परिभाषा करते हुए दैवी सम्पत्तिके नामसे अभय आदि २६ लक्षण बतलाये हैं। (१६ । १–४)।

अपने भक्तोंका स्वभाव-गुण बताते हुए भगवान्‌ने धर्म्यामृतके नामसे भक्तिके लक्षण कहे हैं, जो धर्मकी बड़ी मार्मिक व्याख्या है (देखिये गीता १२ । १३–२०)।

वाल्मीकि-रामायणमें तत्कालीन धर्माचरणका श्रीरामने इस प्रकार उल्लेख किया है—

> सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
> भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
> द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
> पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

> परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
> पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

धर्मसे लाभ

धर्मसे बढ़कर संसारमें कोई लाभ नहीं है। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि मनुष्यको सुख नहीं देते अपितु इनमें आसक्ति-ममता होनेके कारण मनुष्य परम सुखसे वञ्चित हो अधर्म करने लगता है।

धर्मकी उपयोगिता बताते हुए मनुने कहा है—

> एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति च।

अर्थात् संसारमें सच्चा साथी धर्म है। अतः हमें सदैव साथ देनेवाले धर्मका ही पालन करना चाहिये। जिन वस्तुओंका हम सदैव चिन्तन करते हैं, जिनके प्राप्त करनेको कठिन परिश्रम और अनेक प्रकारके कष्ट सहते हैं, वे वस्तुएँ भी अन्तमें हमारा साथ नहीं देतीं। मृत्युके समय क्लेशसे तड़पते हुए जीवकी रक्षा उपर्युक्त वस्तुएँ नहीं कर सकतीं। जिन भाई-बन्धुओं, नौकरों, मित्रों और परिवारवालोंके लिये

हम सर्वस्व-त्याग करनेको उद्यत रहते हैं, अन्त समय वे भी असमर्थ ही रहते हैं। यमदूत उनके देखते-देखते ही जीवको कष्ट देते हुए ले जाते हैं। मोटर, बँगले, मील, कारखाने, दूकान, आफिस—कोई भी जीवको रोक नहीं पाते। जिसके लिये हम नाना प्रकारके अन्याय करके धनोपार्जन करते हैं, वह वैभव व्यर्थ पड़ा रह जाता है। अन्त समयमें केवल धर्म ही साथ देता है और वही साथ जाता है। इसलिये जो सर्वदा हमारा साथ दे, लोक-परलोक दोनोंमें ही हमारी रक्षा करे, उस धर्मको ही सच्चा साथी बनाना चाहिये और उसीके लिये सब कुछ त्याग करना चाहिये। धर्मके लिये 'भूप राज तज होहिं बिरागी'—राजा विरागी बनते हैं।

धर्मकी उपयोगिताको आचार्य क्षेमेन्द्रने इस प्रकार व्यक्त किया है—

विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः।
परलोके धनं धर्मः शीलं सर्वत्र वै धनम्॥

धर्म-साधनके उपाय

धर्मका सबसे बड़ा साधन आत्ममर्यादा है। आत्म-मर्यादाका सोपान आत्मगौरव है और आत्मगौरवका आधार सदाचार है। आत्ममर्यादा एक ऐसा धन है, जो सम्पद् और विपद् दोनोंमें सदा समान बना रहता है। इस ऐश्वर्यसे जो समृद्ध हैं, वे अभ्युदयकी मोह-मदिरासे मतवाले नहीं होते। जनकनन्दिनी जानकीजी इसका आदर्श स्वरूप हो गयी हैं, जिनका हिमालय-सा अचल हृदय और सागर-सा गम्भीर मन वनवासका दुःख सहते हुए भी आत्ममर्यादासे विमुख न हुआ। रावणके अनेक प्रलोभन-पर भी पातिव्रतकी मर्यादाको उन्होंने न छोड़ा। दमयन्ती, सावित्री आदि कितनी स्त्रियाँ इसी आत्ममर्यादाके पालनसे ही ललनागणोंमें सर्वश्रेष्ठ हो गयी हैं। पुरुषोंमें श्रीराम और युधिष्ठिर तथा आबालब्रह्मचारी भीष्म इसी मर्यादा-पालनके कारण सर्वमान्य हुए। आत्ममर्यादा ही धर्मका प्रधान अङ्ग है और 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् धर्मकी जो रक्षा करता है, उसकी धर्म स्वयं रक्षा करता है—इसका तात्पर्य भी आत्ममर्यादाकी ही रक्षा है। धर्मका तात्पर्य मनुष्यको ऐसी विधि बताना है, जिससे वह संसारमें रहकर जीवन-के घोर संग्राममें अपने भीतर और बाहरके शत्रुओंपर विजय पाते हुए मनुष्यमात्रकी उन्नतिमें दत्तचित्त हो, सब प्रकारके बन्धनोंसे छूटकर पूर्ण स्वतन्त्रता और मोक्षको प्राप्त करे। वास्तवमें मोक्ष ही मनुष्यकी उन्नतिरूपी सीढ़ीकी अन्तिम पैड़ी है। परंतु जो लोग यह समझते हैं कि मनुष्यके लिये निर्धारित कर्तव्यकर्मको छोड़कर हम मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, वे धर्मकी मर्यादाको नहीं समझते और अन्तमें असफल ही होते हैं।

दम-धर्मकी श्रेष्ठता

क्रोधो हन्ति हि यद् दानं तस्माद् दानात् परं दमः।
अदृश्यानि महाराज स्थानान्ययुतशो दिवि॥
ऋषीणां सर्वलोकेषु यानीतो यान्ति देवताः।
दमेन यानि नृपते गच्छन्ति परमर्षयः॥

(महाभारत अनुशासन० ७५। १६-१७)

दान करते समय यदि क्रोध आ जाय तो वह दानके फलको नष्ट कर देता है; इसलिये उस क्रोधको दबानेवाला जो दम-नामक गुण है, वह दानसे श्रेष्ठ माना गया है। महाराज! नरेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंमें निवास करनेवाले ऋषियोंके स्वर्गमें सहस्रों अदृश्य स्थान हैं, जिनमें दमके पालनद्वारा महान् लोककी इच्छा रखनेवाले महर्षि और देवता इस लोकसे जाते हैं; अतः 'दम' दानसे श्रेष्ठ है।

धर्मो रक्षति रक्षितः

धर्माचरणका प्रभाव

काशीके धर्मनिष्ठ ब्राह्मण धर्मपालका पुत्र प्रारम्भिक अध्ययन समाप्त करके उच्च शिक्षा प्राप्त करने तक्षशिला गया था। वहाँ एक समय आचार्यके युवा पुत्रकी मृत्यु हुई तो वह बोल पड़ा—'अरे, यहाँ तो युवक भी मरते हैं!'

उसके सहपाठियोंको उसके वचन बहुत बुरे लगे। जब सब लोग शोकमग्न हों, कोई इस प्रकारकी बातें करे तो बुरा लगना ही था। लोगोंने व्यंग किया—'तुम्हारे यहाँ क्या मृत्यु तुमसे सलाह लेकर वृद्धोंके लिये ही आती है?'

'हमारे कुलमें तो सात पीढ़ियोंमें कोई युवा मरा नहीं।' उसने अपनी बात दुहरा दी।

बात आचार्यतक पहुँची। उनको भी बुरा लगा। कुछ कार्यवश उन्हें काशी जाना ही था, परीक्षा लेनेका निश्चय कर लिया। जब वे काशी पहुँचे तो अपने साथ मरे बकरेकी थोड़ी हड्डियाँ भी लेते गये। वे हड्डियाँ धर्मपालके सामने डालकर रोनेका अभिनय करते हुए आचार्यने कहा—'हमें यह सूचित करनेमें बहुत दुःख हो रहा है कि आपका पुत्र अचानक मर गया।'

ब्राह्मण धर्मपाल हँसा—'आप किसी भ्रममें पड़ गये हैं। मरनेवाला निश्चय कोई दूसरा होगा। हमारे कुलमें सात पीढ़ियोंसे कभी कोई युवा नहीं मरा।'

आचार्यने उसी खिन्न स्वरमें कहा—'अबतक कोई युवा नहीं मरा तो आगे भी नहीं मरेगा, ऐसा नियम तो है नहीं। मृत्युका क्या भरोसा। वह वृद्ध, युवा, बालक—किसीका ध्यान नहीं रखती।'

'देखिये! हम सावधानीसे अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं, अधर्मसे दूर रहते हैं, सत्सङ्ग करते हैं और दुर्जनोंकी निन्दा न करके उनके सङ्गसे बचते हैं। दान देते समय वाणी तथा व्यवहारमें नम्रता रखते हैं। साधु, ब्राह्मण, अभ्यागत, अतिथि, याचक एवं दीनोंकी यथाशक्ति सेवा करते हैं। हमारे घरकी स्त्रियाँ पतिव्रता हैं और पुरुष एकपत्नी-व्रती तो हैं ही, संयमी हैं। यमराजके लिये भी हमारे यहाँ किसीको अकालमें—युवावस्थामें मारना सम्भव कैसे हो सकता है?' ब्राह्मण धर्मपालने बड़े विश्वाससे अपनी बातका समर्थन किया।

'आप ठीक कहते हैं। आपका पुत्र जीवित तथा सुरक्षित है।' आचार्यने अपने आचरणका कारण स्पष्ट किया।

'धर्म जिसकी रक्षा करता है, उसे मार कौन सकता है?' ब्राह्मणने कहा। 'हम सब धर्मकी रक्षा करते हैं, अतः धर्म हमारी रक्षा करेगा—इसमें हमारे घरके किसी सदस्यको कभी संदेह नहीं होता।'

—सु०

काम-क्रोधादिमें रत लोग भगवान्‌को नहीं जान सकते

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥
लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥
काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे भव कूप॥

(दोहावली)

कलियुगका प्रधान धर्म—दान

[विश्वको भारतीय संस्कृतिकी एक विशिष्ट देन]

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान ॥*

धर्मके चार पद—पैर कौन हैं, इसपर यद्यपि भागवत (१२ । ३) आदिमें किंचित् भिन्न मत भी हैं, तथापि सर्वाधिक सम्मतियाँ मनुजीके इस निम्नलिखित मतकी ओर ही प्राप्त हैं—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

यह श्लोक मनु १ । ८६, पद्मपुराण सृष्टिखण्ड १८ । ४४०, पराशरस्मृति १ । २३, लिङ्गपुराण १ । ३९ । ७, भविष्यपुराण १ । २ । ११९ तथा बृहत्पाराशर-स्मृति १ । २२ । २३ आदिमें भी इसी प्रकार पाया जाता है। शतपथ-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यकके अन्तर्गत 'द' की आख्यायिकामें भी मनुष्यका प्रधान धर्म दान बतलाया गया है। शास्त्रोंके अनुसार दानसे बढ़कर कोई भी धर्म नहीं—

दानधर्मात् परो धर्मो भूतानां नेह विद्यते।

राजनीति-ग्रन्थोंमें भी यह सामादि चार उपायोंमें एक प्रधान उपाय है और सामके बाद इसे ही स्थान दिया गया है। (कूर्म०) महाभारत, अनुशासन० दानधर्म तथा अग्निपुराण आदिके अनुसार दान परम श्रेयस्कर है। इससे सभी वशीभूत हो जाते हैं, श[त्रु] भी मित्र बन जाते हैं, दानसे सारे क्लेश मिट जाते हैं—

दानेन भूतानि वशीभवन्ति
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानाद्
दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

भर्तृहरिने कहा है कि दान, भोग और नाश—ये ही धनकी तीन गतियाँ हैं। इनमें प्रथम गति श्रेष्ठ, शेष नेष्ट तथा नष्ट हैं—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥
(नीतिशतक)

यद् ददात्यन्योन्यभोगाय तदेव सफलं मतम्।
अन्यथा तु विनाशोऽस्य भाव्येवेति सुनिश्चितम् ॥
(शार्ङ्ग० प०)

गोस्वामीजी भी यही कहते हैं—

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी ॥
(मानस, उत्तरकाण्ड)

आयासशतलब्धस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसः।
गतिरेकैव वित्तस्य दानमन्या विपत्तयः ॥
(पञ्चतन्त्र)

सनातन धर्ममें दानधर्मपर असंख्य ग्रन्थ हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्म' पर्व है। इसके कुम्भकोणम्-संस्करणमें १७४ तथा पूना-संस्करणमें १६८ अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त भी महाभारतके सभी पर्वोंमें 'दान' पर पर्याप्त विवेचन है। वाल्मीकिके राम तो लेते ही नहीं, सदा दान ही करते हैं—

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किंचिदप्रियम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः ॥
(वाल्मीकीय सुन्दर० ३९)

इसके अतिरिक्त हेमाद्रि, वीरमित्रोदय, कृत्यकल्पतरु, अपरार्क—आदिके दानखण्ड बहुत प्रसिद्ध हैं। बल्लाल सेनका 'दानसागर' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। (यह एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्तासे प्रकाशित है।) भविष्योत्तरपुराणका अधिकांश भाग दानधर्म ही है। अपरार्कने इसका बहुत अंश ले लिया है। विष्णुधर्मोत्तरमें भी कई अध्याय हैं। पद्म० सृष्टि० तथा स्कन्दपुराणमें भी इसपर बहुत-सी रोचक कथाएँ हैं।

* गोस्वामीजीका यह वचन उपनिषद्के प्रसिद्ध वचन 'श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्' आदिपर आधृत है, यद्यपि किन्हीं उपनिषदोंमें 'अश्रद्धया अदेयम्' पाठ भी है।

स्कन्दपुराणके मही-सागर-संगमकी कथामें नारदजीका चरित्र इस सम्बन्धमें अवश्य ध्येय है। वहाँ दानके २ हेतु, ६ अधिष्ठान, ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक बतलाये गये हैं। श्रद्धा, भक्ति—ये दो हेतु; धर्म, काम, अर्थ, व्रीडा, भय तथा हर्ष—ये ६ अधिष्ठान तथा दाता, ग्रहीता, देयवस्तु, देश, काल और श्रद्धाको षडङ्ग बतलाया गया है। दुष्फल, निष्फल, हीन, तुल्य, विपुल और अक्षय—ये दानके छः परिणाम बतलाये गये हैं। अन्न, दधि, मधु, गौ, भूमि, सुवर्ण, अश्व, गज और अभय—ये उत्तम दान हैं। अपने मुँहसे कहने, पश्चात्ताप करने आदिसे भी फल नष्ट होता है†। प्रियवचन एवं श्रद्धासहित ५। दुर्लभ माना गया है—

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके॥
(हि० १। १६१

विशेष जानकारीके लिये तत्तन्निबन्धग्रन्थोंको देखनेका कष्ट करें।

धर्म ही जीवनका आधार

(रचयिता—श्रीमहावीरप्रसादजी अग्रवाल)

धर्म है जन-जीवन-आधार।
धर्मसे चलता यह संसार॥
धर्मसे चालित है ब्रह्माण्ड।
धर्मसे पालित है ब्रह्माण्ड॥
धर्म है जीवन-पथका लक्ष्य।
धर्म है सब सत्योंका सत्य॥
धर्म है प्रभुकी पावन मूर्ति।
धर्म है जीवनकी शक्ति-मूर्ति॥
धर्म है मुरलीधरकी तान।
धर्म धनुधरका शर-संधान॥
धर्म है सूरदास-अरदास।
धर्म है तुलसीका विश्वास॥
धर्म कविराकी औघड़ चाल।
धर्म मीराँका गिरिधरलाल॥
धर्म जब होता तमसाच्छन्न।
प्रसारें प्रभु प्रकाश प्रसन्न॥
धर्म हित धरें ईश अवतार।
धर्मकी नाव लगावें पार॥
धर्मके लिये वार निज प्राण।
किया करते जन जगती-त्राण॥

धर्मसे मिटता तन-मन-ताप।
धर्मसे मिल जाते प्रभु आप॥
धर्म है स्नेह, साम्य, सौभाग्य।
धर्मका मार्ग सुगम, सुश्लाघ्य॥
धर्ममें सब जगती अनुरक्त।
धर्ममें शक्ति, मुक्ति औ भक्ति॥
धर्म है जहाँ, वहाँ भगवान।
धर्म है जहाँ, वहाँ उत्थान॥
धर्मसे विभव, भूति औ वित्त।
धर्मसे निर्मल होता चित्त॥
धर्मसे मिटता भव-जंजाल।
धर्मसे डरे कालका व्याल॥
धर्म बिन सूना सब व्यवहार।
धर्म बिन बढ़ता अत्याचार॥
धर्ममें मानवताका प्राण।
धर्ममें जन-जनका कल्याण॥
धर्म-धुर धरता जब-जब देश।
तभी होता नव-नव उन्मेष॥
धर्मपर चढ़े नित्य अनुराग।
धर्मसे पावें सब सुख-भाग॥

---

* इस सम्बन्धमें कल्याण २८। १२ में प्रकाशित हमारा 'दुर्भिक्ष-निवारण' लेख देखना चाहिये।

† स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्डमें यह बहुत विस्तारसे है, अवश्य देखना चाहिये। सं० स्कन्दपुराणाङ्क में भी इसका हिंदी-अनुवाद है।

दान-धर्मके आदर्श

(१)

दैत्यराज विरोचन

दैत्यराज भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादके पुत्र थे विरोचन और प्रह्लादके पश्चात् ये ही दैत्योंके अधिपति बने थे। प्रजापति ब्रह्माके समीप दैत्योंके अग्रणीरूपमें धर्मकी शिक्षा ग्रहण करने विरोचन ही गये थे। धर्ममें इनकी श्रद्धा थी। आचार्य शुक्रके ये बड़े निष्ठावान् भक्त थे और शुक्राचार्य भी इनसे बहुत स्नेह करते थे।

अपने पिता प्रह्लादजीका विरोचनपर बहुत प्रभाव पड़ा था। इसलिये ये देवताओंसे कोई द्वेष नहीं रखते थे। संतुष्टचित्त विरोचनके मनमें पृथ्वीपर भी अधिकार करनेकी इच्छा नहीं हुई; स्वर्गपर अधिकार करना, भला, ये क्यों चाहते। वे तो सुतलके दैत्यराज्यसे ही संतुष्ट थे।

शत्रुकी ओरसे सावधान रहना चाहिये, यह नीति है और सम्पन्न लोगोंका स्वभाव है अकारण शङ्कित रहना। अर्थका यह दोष है कि वह व्यक्तिको निश्चिन्त और निर्भय नहीं रहने देता। असुरों एवं देवताओंकी शत्रुता पुरानी है और सहज है; क्योंकि असुर रजोगुण-तमोगुणप्रधान हैं और देवता सत्त्वगुण-प्रधान। अतः देवराज इन्द्रको सदा यह भय व्याकुल रखता था कि यदि कहीं असुरोंने अमरावतीपर आक्रमण कर दिया तो परम धर्मात्मा विरोचनका युद्धमें सामना करना देवताओंकी शक्तिसे बाहर है, उस समय पराजय ही हाथ लगेगी।

शत्रु प्रबल हो, युद्धमें उसका सामना सम्भव न हो, तो उसे नष्ट करनेका प्रबन्ध पहिले करना चाहिये। इन्द्र आक्रमण करके अथवा धोखेसे विरोचनको मार दें तो शुक्राचार्य अपनी संजीवनी विद्याके प्रभावसे उन्हें जीवित कर देंगे और आजके प्रशान्त विरोचन क्रुद्ध होनेपर देवताओंके लिये विपत्ति बन जायँगे। अतएव देवगुरु बृहस्पतिकी मन्त्रणासे इन्द्रने ब्राह्मणका वेश बनाया और सुतल पहुँचे।

विरोचनने अभ्यागत ब्राह्मणका स्वागत किया। उनके चरण धोये, पूजा की। इसके पश्चात् हाथ जोड़कर बोले—'मेरा आज सौभाग्य उदय हुआ कि मुझ असुरके सदनमें आपके पावन चरण पड़े। मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

इन्द्रने बहुत-बहुत प्रशंसा की विरोचनकी दान-शीलताकी और विरोचनके आग्रहपर बोले—'मुझे आपकी आयु चाहिये।'
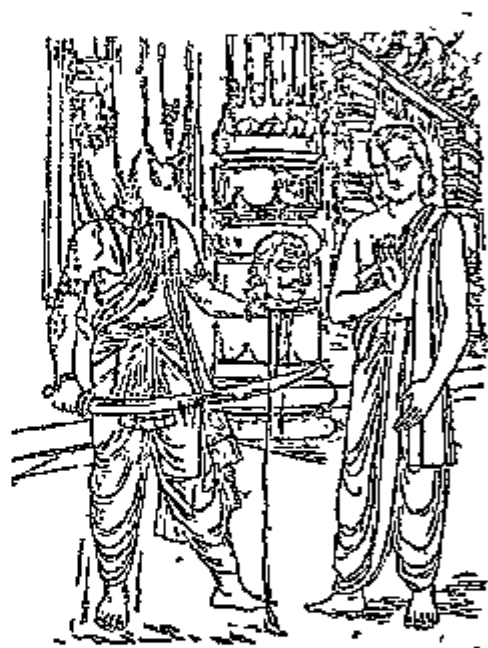
दैत्यराजका सिर माँगना व्यर्थ था; क्योंकि गुरु शुक्राचार्यकी संजीवनी कहीं गयी नहीं थी। किंतु विरोचन किंचित् भी हतप्रभ नहीं हुए। उन्होंने प्रसन्नतासे कहा—'मैं धन्य हूँ। मेरा जन्म लेना सफल हो गया। मेरा जीवन स्वीकार करके आपने मुझे कृतकृत्य कर दिया।'

विरोचनने अपने हाथमें खड्ग उठाया और मस्तक काटकर दूसरे हाथसे ब्राह्मणकी ओर बढ़ा दिया। वह मस्तक लेकर इन्द्र भयके कारण शीघ्र स्वर्ग चले आये। विरोचनको तो भगवान्ने अपना पार्षद बना लिया। —सु०

(२)

महादानी दैत्यराज बलि

आचार्य शुक्र अपने महामनस्वी शिष्यपर परम सुप्रसन्न थे। उन्होंने सर्वजित् यज्ञ कराया था और उस यज्ञमें अग्निने प्रकट होकर बलिको रथ, अश्व, धनुष, अक्षय भोग तथा अभेद्य कवच दिये थे। इन दिव्य उपकरणोंसे संनद्ध बलिने असुर-सेनाके साथ जब स्वर्गपर आक्रमण किया, तब देवताओंको अपना घर-द्वार छोड़कर भाग जाना पड़ा। इन्द्र उस समय तेजःसम्पन्न बलिके सामने पड़नेका साहस नहीं कर सकते थे।

शतक्रतु इन्द्र होता है, यह सृष्टिकी मर्यादा है। सौ अश्वमेध यज्ञ किये बिना जो शक्तिके बलसे अमरावती अधिकृत कर लेगा, सृष्टिका संचालक उसे वहाँ टिकने नहीं देगा। बलिने स्वर्गपर अधिकार कर लिया तब शुक्राचार्यको अपने शिष्यका वैभव स्थायी बनानेकी चिन्ता हुई। स्वर्गलोक कर्मलोक नहीं है। अतः बलिको समस्त परिकरोंके साथ लेकर आचार्य नर्मदाके उत्तर तटपर आये और उससे अश्वमेध यज्ञ कराना प्रारम्भ किया। निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो गये और अन्तिम सौवाँ यज्ञ चलने लगा।

इसी कालमें देवमाता अदितिकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उनके यहाँ वामनरूपसे अवतार ग्रहण किया। उपनयन सम्पन्न हो जानेपर मौञ्जी मेखला पहिने, छत्र, दण्ड तथा जलपूर्ण कमण्डलु लिये भगवान् वामन बलिकी यज्ञशालामें पधारे। उन सूर्योपम तेजस्वीको देखकर सब ब्राह्मण तथा असुर उठ खड़े हुए। बलिने उनको आसन देकर चरण पखारे और चरणोदक मस्तकपर चढ़ाया। पूजाके अनन्तर बलिने कहा—'विप्रकुमार! मुझे लगता है कि ऋषियोंकी सम्पूर्ण तपस्या आपके रूपमें मूर्तिमान् होकर मुझे सनाथ करने आज मेरे यहाँ आयी है। आप अवश्य किसी प्रयोजनसे पधारे हैं। अतः जो इच्छा हो, बिना संकोचके माँग लें।'

वामनने बलिके कुल-पुरुषोंके शौर्य-पराक्रम, दानशीलताकी प्रशंसा करके अन्तमें कहा—'विरोचन-नन्दन! जिसकी भूमिपर कोई तप, साधनादि करता है, उस भूमिके स्वामीको भी उस तप आदिका भाग प्राप्त होता है। इसलिये मैं अपने लिये अपने पैरोंसे तीन पदमें जितनी भूमि माप सकूँ, उतनी भूमि आपसे चाहता हूँ।'

बलि हँसे। नन्हे-से वामन, नन्हे-नन्हे सुकुमार चरण। बलिको लगा कि ये, भला, भूमि कितनी माप सकेंगे। वे बोले—'आप अभी बालक हैं, भले आप कितने भी विद्वान् हों। मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ। मेरे पास आकर आपको भूमि ही माँगनी है तो कम-से-कम इतनी भूमि लीजिये कि उससे आपकी आजीविका भली प्रकार चल सके।'

वामन बड़ी गम्भीरतासे बोले—'राजन्! तृष्णाका पेट भरा नहीं करता। मैं यदि थोड़ी भूमिपर संतोष न करूँ तो सप्तद्वीपवती पृथ्वी तो क्या, त्रिलोकी भी क्या तृष्णाको तुष्ट कर सकेगी? अतः अपने प्रयोजनसे अधिक मुझे नहीं चाहिये।'

'अच्छा लो! जितनी चाहते हो, उतनी भूमि दूँगा।' बलिने कहा और भूमिदानके लिये संकल्प करनेको कमण्डलु उठाया।

'ठहरो!' शुक्राचार्य इतने समयतक बड़े ध्यानसे वामनको देख रहे थे। उनकी दृष्टिने श्रीहरिको इस छद्मरूपमें भी पहिचान लिया। अतः वे बोले—'बलि! मुझे तो लगता है कि दैत्यकुलपर महान् संकट आ गया है। ये विप्रकुमार नहीं, साक्षात् विष्णु हैं। तुमने दानका संकल्प किया तो पृथ्वी इनके एक पदको होगी। दूसरा पद ब्रह्मलोक पहुँचेगा और तीसरे पदको स्थान ही नहीं होगा। अपनी जीविकाका उच्छेद करके दान नहीं किया जाता। तुम इन्हें यह भूमि-दान मत दो।'

'आपकी बात मिथ्या नहीं हो सकती।' दो क्षण सोचकर बलिने कहा। 'परंतु यज्ञके द्वारा जिन यज्ञपुरुषकी आराधना आप मुझसे करा रहे हैं, वे ही मेरे यहाँ भिक्षुक बनकर पधारें तो क्या मैं उन्हें निराश कर दूँ? 'दूँगा' कहकर प्रह्लादका पौत्र अस्वीकार कर दे, यह नहीं होगा। सत्पात्र-

के आनेपर उसे अर्थदान न करना युद्धमें प्राण देनेसे भी कठिन है। ये कोई हों और कुछ भी करें, मैं इन्हें कृपण बनकर दानसे वञ्चित नहीं करूँगा।'

'तू अब भी मेरी बात नहीं मानता, इसलिये तत्काल ऐश्वर्यभ्रष्ट होगा।' क्रोधमें आकर शुक्राचार्यने शाप दे दिया; किंतु बलिको उससे दुःख नहीं हुआ। उन्होंने प्रसन्न मनसे वामनको भूमिदानका संकल्प किया। संकल्प लेते ही भगवान् वामनने विराट्रूप धारण कर लिया।

'तुझे गर्व था कि तू त्रिलोकीका स्वामी है। पृथ्वी मेरे एक पदसे तेरे सामने माप ली गयी और मेरा दूसरा पद तू देखता है कि ब्रह्मलोकतक पहुँच गया है।' विराट्स्वरूप भगवान्ने कृत्रिम क्रोध दिखलाते हुए कहा। 'अब मैं तीसरा पद कहाँ रक्खूँ ? तूने मुझे ठगा है। जितना तू दे नहीं सकता, उतनेका संकल्प कर दिया तूने। अतः अब तुझे कुछ काल नरकमें रहना होगा।'

'देव! सम्पत्तिसे सम्पत्तिका स्वामी बड़ा होता है। यदि आप समझते हैं कि मैंने आपको ठगा है तो यह ठीक नहीं। मैं अपना वचन सत्य करता हूँ। यह मेरा मस्तक है। आप अपना तीसरा पद इसपर रक्खें!' स्वस्थ, प्रसन्न, दृढ़ स्वरमें बलिने कहा और मस्तक झुका दिया।

भगवान्ने बलिके मस्तकपर अपना पद रक्खा। बलि निहाल हो गये। बलिके न चाहनेपर भी असुरोंने वामनपर आक्रमण करनेकी चेष्टा की; किंतु भगवान्के पार्षदोंने उन्हें मारकर भगा दिया। भगवान्के संकेतपर बलिको गरुड़ने बाँध दिया। प्रह्लादजी पधारे और उन्होंने बलिके ऐश्वर्य-ध्वंस होनेको भगवत्कृपा माना; वे बोले—'प्रभो! धन तथा पदके मोहसे विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। आपने इसके धन-वैभवको छीनकर इसका महान् उपकार किया है।'

किंतु सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी व्याकुल हो गये। उपस्थित होकर, हाथ जोड़कर उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! बलिको बन्धन प्राप्त होगा तो धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। आपके श्रीचरणोंमें श्रद्धापूर्वक चुल्लूभर जल तथा दो तुलसीदल देनेवाला आपका धाम प्राप्त कर लेता है और बलिने तो आपको शत्रुपक्षका जानकर भी अव्यग्रचित्तसे त्रिलोकीका राज्य आपके चरणोंमें चढ़ाया है।'

'ब्रह्माजी! प्रह्लादका यह पौत्र मुझे बहुत प्रिय है।' भगवान्ने कहा। 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन-वैभव छीन लिया करता हूँ; क्योंकि जब मनुष्य धनके मदसे मतवाला हो जाता है, तब मेरा तथा सब लोगोंका तिरस्कार करने लगता है। जिसको कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदिका घमंड न हो, समझना चाहिये कि उसपर मेरी बड़ी कृपा है। यह बलि मेरा ऐसा ही कृपापात्र है। गुरुके शाप देने, धन छीने जाने और मेरे द्वारा कृत्रिम रोषसे भी आक्षेप किये जानेपर यह विचलित नहीं हुआ। धर्मकी यह दृढ़ता इसे मेरे अनुग्रहसे प्राप्त है। अब यह सुतलका राज्य करेगा और अगले मन्वन्तरमें मैं इसे इन्द्र बनाऊँगा। तबतक सुतलमें इसके द्वारपर गदा लिये मैं स्वयं द्वारपाल बनकर उपस्थित रहूँगा।'

'प्रभो! दयाधाम! मुझ अधम असुरपर यह अनुग्रह?' बलिका कण्ठ गद्गद हो गया। 'मुझसे कहाँ आपकी अर्चना हुई? मैंने तो केवल आपके चरणोंमें प्रणाम करनेका प्रयत्नमात्र किया था।'

'आपके शिष्यके यज्ञमें जो दोष रह गये, जो त्रुटि है, उसे अब आप दूर करा दें।' भगवान्‌ने शुक्राचार्यको आदेश दिया।

'जहाँ यज्ञपुरुष स्वयं संतुष्ट होकर विराजमान हैं, वहाँ त्रुटि कैसी? यज्ञिय त्रुटि तो आपके नामकीर्तन-मात्रसे दूर हो जाती है। फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।' शुक्राचार्यने यज्ञका अपूर्ण कार्य यह कहकर सम्पूर्ण कराया।

बलि असुरोंके साथ सुतल चले गये। इन्द्र-को स्वर्गका राज्य मिला। बलिके इस महादानके कारण संसारमें उत्कृष्ट त्यागको बलिदान कहा जाने लगा। —सु०

(२)
महादानी कर्ण

एक बार इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंकी सभामें श्री-कृष्णचन्द्र कर्णकी दानशीलताकी प्रशंसा करने लगे। अर्जुनको यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा—'हृषीकेश! धर्मराजकी दानशीलतामें कहाँ त्रुटि है जो उनकी उपस्थितिमें आप कर्णकी प्रशंसा कर रहे हैं?'

'इस तथ्यको तुम स्वयं समयपर समझ लोगे।' यह कहकर उस समय श्रीकृष्णने बातको टाल दिया।

कुछ समय पश्चात् अर्जुनको साथ लेकर श्यामसुन्दर ब्राह्मणके वेशमें पाण्डवोंके राजसदनमें आये और बोले—'राजन्! मैं अपने हाथसे बना भोजन करता हूँ। भोजन मैं केवल चन्दनकी लकड़ी-से बनाता हूँ और वह काष्ठ तनिक भी भीगा नहीं होना चाहिये।'

उस समय खूब वर्षा हो रही थी। युधिष्ठिरने राजभवनमें पता लगा लिया, किंतु सूखा चन्दन काष्ठ कहीं मिला नहीं। सेवक नगरमें गये, किंतु संयोग ऐसा कि जिसके पास भी चन्दन मिला, सभी भीगा हुआ मिला। धर्मराजको बड़ा दुःख हुआ, किंतु उपाय कुछ भी न था।

उसी वेशमें वहाँसे सीधे श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी राजधानी पहुँचे और वही बात कर्णसे कही। कर्णके राजसदनमें भी सूखा चन्दन नहीं था और नगरमें भी नहीं मिला। लेकिन कर्णने सेवकोंसे नगरमें चन्दन न मिलनेकी बात सुनते ही धनुष चढ़ाया। राजसदनके मूल्यवान् कलाङ्कित द्वार चन्दनके थे। अनेक पलंग चन्दनके पायेके थे। कई दूसरे उपकरण चन्दनके बने थे। क्षणभरमें बाणोंसे कर्णने उन सबको चीरकर एकत्र करवा दिया और बोला—'भगवन्! आप भोजन बनावें।'

यह आतिथ्य प्रेमके भूखे गोपाल कैसे छोड़ देते। वहाँसे तृप्त होकर जब बाहर आ गये, तब अर्जुनसे बोले—'पार्थ! तुम्हारे राजसदनमें भी द्वारादि चन्दनके ही हैं। उन्हें देनेमें पाण्डव कृपण भी नहीं हैं। किंतु दानधर्ममें जिसके प्राण बसते हैं, उसीको समयपर स्मरण आता है कि पदार्थ कहाँसे कैसे लेकर दे दिया जाय।'

× × ×

'आज दानशीलताका सूर्य अस्त हो रहा है।' जिस दिन कर्ण युद्धभूमिमें गिरे, सायंकाल शिविर-में लौटकर श्रीकृष्ण खिन्नमुख बैठ गये।

'अच्युत! आप उदास हों, इतनी महानता क्या कर्णमें है?' अर्जुनने पूछा।

'चलो! उस महाप्राणके अन्तिम दर्शन कर आयें। तुम दूरसे ही देखते रहना।' श्रीकृष्ण उठे। उन्होंने वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाया। रक्तसे कीचड़ बनी, शवोंसे पटी, छिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्रोंसे पूर्ण युद्धभूमिमें रात्रिकालमें शृगालादि घूम रहे थे। ऐसी भूमिमें मरणासन्न कर्ण पड़े थे।

'महादानी कर्ण!' पुकारा वृद्ध ब्राह्मणने।

'मैं यहाँ हूँ, प्रभु!' किसी प्रकार पीड़ासे कराहते कर्णने कहा।

'तुम्हारा सुयश सुनकर बहुत अल्प द्रव्यकी आशासे आया था!' ब्राह्मणने कहा।

'आप मेरे घर पधारें!' कर्ण और क्या कहते?

'मुझे जाने दो! इधर-उधर भटकनेकी शक्ति मुझमें नहीं!' ब्राह्मण रुष्ट हुए।

'मेरे दाँतोंमें स्वर्ण लगा है। आप इन्हें तोड़कर ले लें!' कर्णने सोचकर कहा।

'छिः! ब्राह्मण अब यह क्रूर कर्म करेगा!' ब्राह्मण और रुष्ट हुए।

किसी प्रकार कर्ण खिसके। उन्होंने पास पड़े एक शस्त्रपर मुख पटक दिया। शस्त्रसे टूटे दाँतों-का स्वर्ण निकला; किंतु रक्तसना स्वर्ण ब्राह्मण कैसे ले। धनुष भी चढ़ानेकी शक्ति जिसमें नहीं थी। मरणासन्न, अत्यन्त आहत कर्णने हाथ तथा घायल मुखसे धनुष चढ़ाकर वारुण अस्त्रके द्वारा जल प्रकट कर स्वर्ण धोया और दान किया। श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। अन्तिम समय कर्णको दर्शन देकर कृतार्थ करने ही तो पधारे थे लीलामय श्यामसुन्दर! उनके देवदुर्लभ चरणोंपर सिर रखकर कर्णने देहत्याग किया! —सु०

(४)

दानधर्मकी महिमा

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम पञ्चवटीमें निवाससे पूर्व जब प्रथम बार महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर पहुँचे तो उनका सत्कार करके महर्षिने विश्वकर्माका बनाया एक दिव्य आभूषण उन्हें देते हुए कहा—'यह धारण करनेवालेको निर्भय रखता है, उसे अनेक आपत्तियोंसे बचाता है।'

क्षत्रियके लिये दान लेना उचित नहीं है। श्रीरामने तो वनमें तपस्वी वेषमें रहनेका व्रत लिया था, किंतु महर्षिके आग्रहपर उनका प्रसाद मानकर वह आभूषण लेकर उन्होंने श्रीजानकीको दे दिया। आभूषण स्वीकार करते हुए उन्होंने पूछा—'यह आपको कैसे प्राप्त हुआ?'

अगस्त्यजीने बतलाया—'मैं एक बार वनमें यात्रा कर रहा था। एक विशाल वनमें पहुँचनेपर मुझे एक योजन लंबी झील मिली। सुन्दर स्वच्छ जल था उसका और उसके किनारे एक आश्रम भी था; किंतु आश्रममें कोई नहीं था। उस वनमें मुझे कोई पशु-पक्षी नहीं दीखा। ग्रीष्म ऋतु थी। मैं यात्रासे थका था। अतः मैं उस आश्रममें एक रात्रि रहा। प्रातःकाल मैं स्नानके लिये उस झीलकी ओर चला तो मार्गमें एक शव मिला। हृष्ट-पुष्ट देह देखकर मैंने समझा कि यह तपस्वीका शव नहीं है। इतना सुन्दर, सुपुष्ट व्यक्ति उस वनमें कहाँसे आया, यह मैं सोचने लगा। इतनेमें एक विमान आकाशसे उतरा। उससे निकलकर एक देवोपम मनुष्यने झीलमें स्नान किया और फिर उस शवका मांस मुखसे ही काटकर उसने भरपेट खाया। मुझे यह देखकर बड़ी ग्लानि हुई।'

'तुम कौन हो? यह घृणित आहार तुम क्यों करते हो?' जब वह व्यक्ति विमानमें बैठने लगा, तब मैंने उससे पूछा।

उस व्यक्तिने कहा—'कभी मैं विदर्भ देशका राजा श्वेत था। राज्यसे वैराग्य होनेपर तप करने मैं इस आश्रममें आया। दीर्घकालतक तप करके मैंने देहत्याग किया। तपके प्रभावसे मुझे ब्रह्मलोक मिला; किंतु वहाँ भी मुझे क्षुधा पीड़ित करने लगी।'

भगवान् ब्रह्माने कहा था—'श्वेत! पृथ्वीपर दान किये बिना इस लोकमें कोई वस्तु मिलती नहीं। तुमने किसी भिक्षुकको भिक्षा तक नहीं दी। केवल अपने देहको नाना प्रकारके भोगोंसे पुष्ट किया। देहको ही सुखाकर तुमने तप किया। तपका फल तो तुम्हारा इस लोकमें आना है। तुम्हारा देह पृथ्वी-पर पड़ा है। वह पुष्ट और अक्षय कर दिया गया है। तुम उसीका मांस खाकर क्षुधा मिटाओ। अगस्त्य ऋषिके मिलनेपर तुम इस घृणित भोजनसे परित्राण पाओगे।'

'तबसे यह देह मेरा आहार है। मेरे प्रतिदिन भक्षणसे भी यह घटता नहीं।' श्वेतने बतलाया।

'मैं ही अगस्त्य हूँ।' मैंने उसे बतलाया, तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बड़े आग्रहसे यह आभूषण मुझे दिया। मुझे इसका क्या करना था, किंतु उसके उद्धारके लिये मैंने उसका यह दान स्वीकार कर लिया।'

महर्षि अगस्त्यने आभूषणकी यह कथा श्रीराम-को सुनायी। —सु०

(५)

दानधर्मके आदर्श राजा हर्षवर्धन

तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुनाके संगमपर पता नहीं कबसे जब बृहस्पति मिथुन राशिपर आते हैं (प्रायः बारहवें वर्ष) कुम्भ महापर्व होता है। उससे आधे कालमें अर्धकुम्भीका पर्व माना जाता है। यद्यपि कुम्भपर्व भारतमें चार स्थानोंमें पड़ता है, किंतु अर्ध-कुम्भी प्रयागमें ही मानी जाती है। इस प्रकार प्रति छठे वर्ष प्रयागमें कुम्भ अथवा अर्धकुम्भीका पर्व पड़ जाता है।

भारतसम्राट् शिलादित्य हर्षवर्धन इस कुम्भ या अर्धकुम्भी पर्वके आनेपर प्रयाग अवश्य आते थे। सम्राट्की ओरसे मोक्षसभाका आयोजन होता था। सनातन-धर्मी विद्वान्, साधु तो आते ही थे, देशके सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् तथा भिक्षु भी आते थे। सम्राट् सबके ठहरने और भोजनादिकी व्यवस्था करते थे। एक महीने निरन्तर धर्मचर्चा चलती थी।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि हर्षवर्धनने अपनेको कभी राजा नहीं माना। वे अपनेको अपनी बहिन राज्यश्रीका प्रतिनिधि ही मानते थे। तपस्विनी राज्यश्रीका कहना था—'प्रयागकी यह पावन भूमि तो महादानकी भूमि है। इसमेंसे कुछ भी घर लौटा ले जाना अत्यन्त अनुचित है।'

यह मोक्षसभाका प्रथम आयोजन था। हर्षने सर्वस्व-दानकी घोषणा कर दी थी। राज्यश्रीने भी सब दान कर दिया था। धन, रत्न, आभूषण, वस्त्र, पात्र आदि सब कुछ दान कर दिया गया। शरीर-परके पहिननेके वस्त्रतक राज्यश्रीने सेवकोंको दे दिये। लेकिन उसे तब चौंकना पड़ा जब उसके भाई सम्राट् हर्ष केवल धोती पहिने, बिना उत्तरीय-के अनावरण उसके सम्मुख आये और बोले—'बहिन! हर्ष तुम्हारा राज्य-सेवक है। यह अधोवस्त्र नापितको दे देनेका संकल्प कर चुका है। अपने इस सेवकको एक वस्त्र नहीं दोगी?'

राज्यश्रीके नेत्र भर आये। उसके शरीरपर भी एकमात्र साड़ी बची थी। उसने ढूँढ़ा तो एक पुराना वस्त्र शिविरमें पड़ा मिल गया। वह इसलिये बच गया था कि फटकर चिथड़ा हो चुका था। किसी-को देनेयोग्य नहीं रहा था। वह चिथड़ा हर्षने ले लिया और उसे लपेटकर धोती नापितको दे दी।

इसके पश्चात् तो यह परम्परा ही बन गयी। प्रति छठे वर्ष हर्षवर्धन सर्वस्व-दान करते थे और बहिन राज्यश्रीसे माँगकर एक फटा चिथड़ा लेते थे। कटिमें वह चिथड़ा लपेटे वह भारतका सम्राट् नग्नदेह कुम्भकी भरी भीड़में पैदल बहिनके साथ जब विदा होता था, उस महादानीकी शोभा क्या सुरोंको भी स्वप्नमें मिलनी शक्य है?

वह चिथड़ा भी हर्षके पास रह नहीं पाता था। प्रयागके उस संगम-क्षेत्रसे बाहर निकलते ही कोई-न-कोई नरेश आगे आ जाता—'सम्राट्! आपने सर्वस्व-दान किया है। आपका यह कटिवस्त्र पानेकी कामना लिये आया है यह आपका सेवक!'

राजाओंके स्नेहपूर्वक मिले उपहार तो सम्राट्-को स्वीकार करने ही थे। वह कटिवस्त्र जिसे मिलता, वह अपनेको कृतार्थ एवं परम सम्मानित मानता। —सु०

(६)

दानशीलता-धर्मके आदर्श—विद्यासागर

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर बहुत ही सादे वेशमें रहते थे। एक दिन कलकत्तेमें वे कहीं जा रहे थे। मार्गमें एक व्यक्तिको बहुत खिन्न देखकर उन्होंने उसके दुःखका कारण पूछा। पहले तो उसने बतलाना नहीं चाहा। बहुत पूछनेपर उसने

बतलाया—'मुझे अपनी पुत्रीके विवाहमें ऋण लेना पड़ा था। रुपये देनेका प्रबन्ध हो नहीं पा रहा है और महाजनने दावा कर दिया है। अब तो जेल काटना ही भाग्यमें है।'

विद्यासागरने उसका नाम-पता पूछ लिया। उसके साथ सहानुभूति प्रकट की और चले गये। मुकदमेकी तारीखपर वह अदालतमें गया तो पता लगा कि उसकी ओरसे किसीने रुपये जमा कर दिये हैं। मुकदमा समाप्त हो गया है। रुपये किसने जमा किये, यह सोच पाना उसके लिये सम्भव नहीं था। मार्गमें देहाती-जैसे दीखनेवाले पुरुषका यह काम होगा, ऐसा अनुमान वह कैसे कर सकता था।

विद्यासागरका स्वभाव ही था कि वे अभावग्रस्त, दीन-दुखियोंका पता लगा लिया करते थे और उनको प्रायः इस प्रकार सहायता देते थे कि सहायता पानेवाला यह न जान सके कि उसे किसने सहायता दी है। यही तो सर्वोत्तम दान है। —सु०

हमारा धर्म और शिक्षा

(लेखक—साहित्यभूषण श्रीभगवानसिंहजी चन्देल, 'चन्द्र')

हमारा भारतवर्ष सदैवसे ही धर्मप्राण देश रहा है; क्योंकि 'धर्म' ही मानवका संरक्षण और पोषण करता है। धर्मका नाश करनेपर धर्म-परित्यागीका विनाश ही हो जाता है। हमारे आचार्योंका भी इस सम्बन्धमें यही कथन है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

धर्म क्या है ?

"जिससे इस संसारमें उन्नति हो और परलोकमें कल्याणकी प्राप्ति हो सके, वही 'धर्म' है।" ये महर्षि कणादके वचन हैं।

'धर्म'से लोक और समाजका कल्याण सम्भव होता है। धर्मरहित समाज उच्छृङ्खल बन जाता है। धर्म ही हमको भगवत्प्रेमकी ओर प्रेरित करता है। उसीके अनुवर्तनसे अनुशासित होकर हम स्वेच्छाचारितासे सुरक्षित रह सकते हैं। इसीलिये हमको ईशोपनिषद् इस प्रकार आदेश प्रदान करता है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् इस दृश्य जगत्में जो कुछ भी है, वह सब ईश भगवान् परब्रह्म परमात्मासे ओतप्रोत है। इस संसारका उपभोग त्याग-भावसे ही करो। कभी किसीका धन मत छीनो।

जीओ और जीने दो

उक्त प्रकारका आदर्श-वाक्य हमारे भारतका एक मुख्य साधना-तत्त्व रहा है। इसी कारण हमारे देशने किन्हीं विदेशी और विजातीय राष्ट्रोंपर सेना लेकर आक्रमण करनेकी नीतिको स्वीकार नहीं किया, किसी जाति अथवा राष्ट्रको भयाकुल और संत्रस्त करके धन-सम्पत्तिका अपहरण करना उपयुक्त नहीं समझा। इसके विपरीत आजकी भौतिकवादी सभ्यता, जो स्वेच्छाचारिताको प्रोत्साहन देकर अन्यान्य राष्ट्रोंका स्वत्वापहरण करना धर्म मान रही है, घोर पाप है। इस प्रकारकी अधर्म-नीति संसारके लिये एक महान् अनर्थकारी अभिशाप प्रमाणित हो रही है। वर्तमानमें जिसको लोग 'स्वतन्त्रता' कहते हैं, वह वास्तवमें स्वतन्त्रता न होकर स्वच्छन्दता ही है। इस प्रकारकी उच्छृङ्खल स्वतन्त्रतासे न तो व्यक्तिगत उन्नति हो सकती है और न समाज एवं राष्ट्रका यथार्थ कल्याण ही सम्भव है। इस प्रकारकी उद्दण्डतापूर्ण दुष्प्रवृत्तिसे मानवताका विनाश अवश्य ही संनिकट उपलब्ध होगा।

हमारे देशने संसारके कल्याणार्थ विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेमकी कल्पनाके शुभ संदेश मानव-जातिको प्रदान किये हैं। हमारे धर्मने 'जीओ और जीने दो'—इस सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप देकर संसारके सामने एक भव्य और नव्य संदेश प्रस्तुत किया है। देखिये, वेद—भगवान् इसी संदेशका उद्घोष करते हुए कहते हैं—

मानव और वेद

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
(ऋग्वेद १०। १९१। २)

अर्थात् तुम सब मिलकर रहो। तुम अपने धर्ममें निरत रहो। एक बात बोलो। अपने मनमें उन बातोंकी एक ही व्याख्या करो। एकचित्त होकर जिस प्रकार देव तुम्हारे प्रदान किये हुए हव्यको ग्रहण करता है, उसी प्रकार अपने सभी विरोधोंको परित्याग करके उसके समान ही हव्यभागका आदर करो।

> समानो मन्त्रः समितिः समानी
> समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
> समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
> समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
> (ऋग्वेद १० । १९१ । ३)

अर्थात् सबका मन्त्र एक हो। इसकी उपलब्धि भी सबके लिये समान हो। अन्तःप्रदेश, विचार-धारा और ज्ञानावलोकन सभीके लिये समान सुलभ हो। तुम्हारे हृदयोंमें दूसरोंका हित-साधन करनेके लिये एक ही प्रकारका सिद्धान्त निवास करता हो। तुम्हारे मनोंमें ईश्वराधनार्थ आहुति-दानकी एक समान भावना निवास करती हो।

> समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
> समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
> (ऋग्वेद १० । १९१ । ४)

अर्थात् तुम सबकी चेष्टा एक समान हो। तुम सबका निश्चय एक समान हो। तुम्हारे हृदय एक हों। तुम सबका हृदय एक समान ही उदारता रखना हो। तुम सबका एक समान रहन-सहन हो।

आदर्श समाजका पथ

उक्त आदर्श एक ऐसे समाजका है, जो सब प्रकारसे एकरूपताके आधारपर अपना आचार-विचार बनाता है और धर्मके महाप्रसादसे जन-कल्याणकारी पथकी यात्राके लिये प्रयाण करनेकी सद्भावना रखता है। ऐसे समाजमें आपाधापीके लिये स्थान-स्थान नहीं होती। पारस्परिक कोई विरोध-भाव नहीं होता। एक व्यक्ति दूसरेको नीचे गिराकर मत्स्य-न्यायके दूषित संदेशके सम्बन्धमें कहींसे कोई प्रोत्साहन प्रदान नहीं करता। आजके विश्वकी संकटापन्न अवस्थाको अवलोकन करते हुए वर्तमानकालीन स्थितिमें मानवीय सद्गुणोंको सीखने-सिखानेका प्रयास किया जाना नितान्त ही आवश्यक हो रहा है। सबसे पूर्व हमारे भारतवर्षको ही इस दिशामें पहल करना है।

कहनेके लिये हमारा देश स्वाधीन अवश्य है। पर धर्माचरणके दृष्टिकोणसे हम आज भी पराधीन हैं। आज भाषा, वेष-भूषा, आचार-विचार, खान-पान इत्यादिके विषयमें हमने भौतिकवादी पाश्चात्त्य संसारका अन्धभक्तिके साथ अनुसरण करना ही अपना आदर्श—उद्देश्य बना रक्खा है ? इस प्रकारकी दुष्प्रवृत्तिसे हमें सुरक्षित बनना होगा। हम जानते हैं कि संसारके अन्यान्य राष्ट्रोंके साथ हमको भी उद्योगी बनकर जीवित रहना हमारा एक दायित्वपूर्ण कर्तव्य है। स्वाधीन राष्ट्रोंकी विचार-धाराके अनुसार हम भी इस संसारमें मानव-कल्याणकारी नि- साम्राज्यके संचालन और परीक्षणार्थ एक महान् स्वप्नका आभास पा रहे हैं।

हमें अपने धार्मिक विश्वासके अनुसार ही, किसी देश और जातिके प्रति कोई ईर्ष्या अथवा घृणाभाव नहीं है। हम अपने धर्म, संस्कृति और राष्ट्रकी रक्षा करते हुए समुचित रूपमें, अपने मान-सम्मान और धर्मका आश्रय प्राप्त करके ही राष्ट्रोत्थानकी दिशामें प्रगतिशील रहना चाहते हैं। हम अपनी विगत शताब्दियोंकी दासता-जन्य आसुरी शिक्षा-दीक्षाका दुर्वह भार उतार फेंकनेके लिये व्यग्र बन रहे हैं। हम चाहते हैं कि सत्य, दया, न्याय, अहिंसा, उदारता, स्वावलम्बन, शौर्य, सत्साहस और सद्विवेक इत्यादि मानवी गुणोंको धारण करके, एक नवीन क्रान्तिको जन्म प्रदान किया जाय। हमारी यथेष्ट प्रगतिमें आजकी दूषित शिक्षा हमारे मार्गका रोड़ा बनकर हमें अग्रगामी पथकी ओर अग्रसर नहीं होने दे रही है। अतः इस विकृति-मूलक शिक्षाका बहिष्कार हमारे देशसे शीघ्रातिशीघ्र होना ही अनिवार्य है।

यह धर्महीन शिक्षा !

आजकी भौतिकवादी शिक्षा, मनुष्यको केवल सांसारिक सुख-उपभोग करनेका ही साधन प्रदान करती है। इस शिक्षाका लक्ष्य धर्म और संस्कृतिसे कुछ भी सम्पर्क नहीं रखता। इस कुशिक्षाका, बस, केवल यही एक लक्ष्य है—

> यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् जबतक जीओ, सुखपूर्वक जीओ; मनमाना आचार-व्यवहार पालन करो। धर्म-कर्मका कोई भी विवेक रखनेकी आवश्यकता नहीं है। सुखोपभोगके लिये चाहे

जितना ऋणी क्यों न बनना पड़े, कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि कदाचित् फिर इस प्रकारका स्वच्छन्दता-पूर्ण व्यवहार कर सकनेका सुअवसर प्राप्त हो अथवा न हो।

आज हमारे देशमें अर्थ-चक्र बहुत बुरी प्रकारसे परि-चालित हो रहा है। इसीके दुष्प्रभावसे गाँव-शहर, शिक्षित-अशिक्षित, पुरुष-स्त्री, शासकीय-अशासकीय, सेवक-किसान, श्रमिक, व्यापारी, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य और हरिजन इत्यादि सभी कोई—सभी स्थानपर और सभी समय—छल-छिद्र, बेईमानी, भ्रष्टाचार, मिलावट, चोरी, जुआ, शराब, व्यभिचार और अनेकानेक घृणित कुकर्मोद्वारा 'धनार्जन' करनेके लिये कटिबद्ध बन रहे हैं। इस प्रकार हमारे देशके इस घोर अधर्माचरणको कुशिक्षाका ही दूषित परिणाम कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। अंग्रेजी शिक्षाने हमारे देशके नवयुवक और युवतियोंके मन-मस्तिष्कको इतना कुण्ठित बना दिया है कि हम स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् भी उन्मादित अवस्थामें कालयापन कर रहे हैं? कितने परिताप और पश्चात्तापका विषय है कि जिस देशमें लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू-जैसे त्यागी नेताओंने आजादीके लिये अनेकों कष्ट सहन किये हैं और देशके हजारों व्यक्तियोंने अपने आत्मबलिदानसे भारत-माताके चरणोंमें सर्वस्व समर्पण कर दिया है, आज हम उन सभी बलिदानोंको ठुकराकर रोजी-रोटीके टुकड़ोंके लिये मर रहे हैं!

भूतकालीन शिक्षा

हमारी भारतीय शिक्षाका लक्ष्य पूर्णतया सात्त्विक प्रवृत्ति-को प्रश्रय प्रदान करनेका रहा है। संसारमें जीवित रहनेका अधिकार तो सभीका है, किंतु यह अधिकार उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत करनेके लिये नहीं है। हमारा लक्ष्य यह हो कि हम मानवीय सत्कर्मोंका पालन करते हुए अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका कभी भी विस्मरण न करें। देखिये भूतकालीन शिक्षा अपना कितना उच्चादर्श रखती थी—

> विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
> पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

अर्थात् 'विद्यासे नम्रता प्राप्त होती है। नम्रताद्वारा पात्रताकी उपलब्धि होती है। पात्रताद्वारा ही धनार्जन किया जा सकता है। इस प्रकारके सत्प्रयाससे प्राप्त किये गये धन-द्वारा धर्म-सम्पादन होता है और उससे वास्तविक सुखोपलब्धि होती है।'

नवीन शिक्षाद्वारा क्रान्ति

हमारे स्वाधीन देशके अंदर विविध प्रकारके कार्य-क्रम प्रसारित हो रहे हैं। अनेक प्रकारकी राष्ट्रोद्धारक पंचवर्षीय योजनाओंका कार्यान्वयन हो रहा है। भारतके कोने-कोनेसे हिंदी राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओंके द्वारा जन-मानसका नूतन संस्करण होनेकी आवाज उठायी जा रही है। हम उस घड़ीकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब देशमें साम्प्रदायिकताकी सीमासे बाहर रहकर केवल भारत-राष्ट्रोत्थानके लक्ष्यसे यहाँकी शिक्षा-दीक्षाका पुनर्निर्माण हमारी भारत-सरकार करनेके लिये उद्यत बनेगी। जबतक भारतीय धर्मके उन्नत सिद्धान्तोंके साथ पाश्चात्त्य संसारके उपयुक्त दृष्टिकोणका पारस्परिक समन्वय होकर शिक्षा-सिद्धान्त निर्धारित नहीं किये जायँगे, तबतक हमारा राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकेगा। हम पूर्व-पश्चिम-के भँवरजालमें ग्रसित हैं। अतः आइये, हम सब अपनी सरस्वतीदेवीकी पूजा वेदध्वनिसे करनेके लिये प्रस्तुत हों और संतत राष्ट्रके जीवनको इस नूतन क्रान्तिद्वारा परितोष प्रदान करें।

घोर अविद्या, अविद्या, विद्या

> घोर अविद्या जो मानवको कर दे पापोंमें संलग्न।
> असुर-भाव भर रखे त्याज्य जो अर्थ-काममें नित्य निमग्न॥
> वह भी निश्चय विषम अविद्या जो मनमें भरकर अज्ञान।
> वैभव-भोगरत रखे, भुला प्रभुको जो उपजा कर अभिमान॥
> विद्या वह जो दैवी-सम्पदसे भर दे, कर प्रभुका दास।
> सदा रखे प्रभु-सेवामें जो मिटा द्वन्द्व—सारे अभिलाष॥

सामान्य-धर्म और विशेष-धर्म

धर्म दो प्रकारके हैं—सामान्य और विशेष* । सामान्य धर्म सर्वलोकोपकारी, शास्त्रसम्मत, सबके लिये यथायोग्य अधिकारानुसार आचरणीय और सर्वथा वैध होता है । वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, पिता-माता, पति-पत्नी, पुत्र-सखा, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदिके विभिन्न आदर्श व्यक्ति-धर्म भी—सब सामान्य धर्ममें आ जाते हैं । इसमें शास्त्र-विरुद्ध विचार और आचार सर्वथा निषिद्ध हैं । अपने-अपने क्षेत्र तथा अधिकारानुसार शुभका ग्रहण तथा अशुभका परित्याग सावधानीके साथ किया जाता है । पिता, पति, गुरु, राजा आदिकी सेवा पूर्णरूपसे की जाती है, संतानका पालन-पोषण, पत्नीका सुख-हित-साधन, शिष्यका प्रिय-हित-साधन, प्रजाका पालन भी पूर्णरूपसे किया जाता है । पर यह सब होता है शास्त्रसम्मत । पिताकी, पतिकी, गुरुकी और धर्मात्मा राजाकी आज्ञा वहींतक स्वीकार की जाती है, जहाँतक उस आज्ञाके पालनसे उन आज्ञा देनेवाले पूजनीय जनोंका अहित न हो, भले ही अपने लिये कुछ भी त्याग करना पड़े । पर जो आज्ञा शास्त्रविरुद्ध होती है, जिसके अनुसार कार्य करनेसे आज्ञा देनेवालोंका भी अहित होता है, वह आज्ञा नहीं मानी जाती । जैसे पिताकी आज्ञासे पुत्रका चोरी, डकैती, खून करना; पतिकी आज्ञासे पत्नीका पर-पुरुषसे मिलना या पतिके व्यभिचारादि कुकर्मोंमें सहायक होना । इसी प्रकार पिता, पति, गुरु, राजा, मित्र, देश एवं जातिके लिये भी बड़े-से-बड़ा त्याग करके वही कार्य किये जाते हैं, जो वैध—शास्त्र-सम्मत होते हैं और ऐसा ही करना भी चाहिये । जो शास्त्र-विधिका त्याग करके मनमाना आचरण करते हैं, उनको परिणाममें न सफलता मिलती है, न सुख मिलता है और न परम गति ही प्राप्त होती है (गीता १६ । २३) ।

जो निज-सुखके लिये—इन्द्रियोंकी वासना-तृप्ति या काम-क्रोध-लोभवश अवैध कर्म—शास्त्र-विरुद्ध आचरण करते हैं, वे तो प्रत्यक्ष पाप करते ही हैं; परंतु जो दूसरोंके लिये भी शास्त्र-विपरीत आचरण करते हैं, वे भी पापी हैं । अतएव शास्त्र-विरुद्ध आचरण किसी भी समय किसी भी हेतुसे किसीके भी लिये नहीं करना चाहिये । यही सर्वसाधारणके लिये पालनीय सनातन धर्म है ।

पर एक विशेष धर्म होता है, जिसमें निज स्वार्थका त्याग तो होता ही है, प्रिय-से-प्रिय सम्बन्धियों, वस्तुओं और परिस्थितियोंका त्याग भी सुखपूर्वक कर दिया जाता है । एक परम धर्मके लिये सभी छोटे-छोटे धर्मोंका त्याग हो जाता है । इसी प्रकार आत्मीय-स्वजनोंका त्याग भी होता है ।

> पिता तज्यौ प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
> बलि गुरु तज्यौ, कंत ब्रज बनितनि, भये जग मंगलकारी ॥

भगवान्‌से द्रोह रखनेवाले पिताकी बात प्रह्लादने नहीं मानी, विभीषणने बड़े भाई रावणका त्याग कर दिया । भरतने रामविरोधिनी मातासे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, बलिने गुरु शुक्राचार्यकी बात न मानकर वामनभगवान्‌को दान किया और व्रजाङ्गनाओंने अपने-अपने पतियोंको छोड़ दिया । पर ये कोई भी पापी नहीं हुए, न परिणाममें इन्होंने दुःख ही भोगा, वरं सारे संसारके लिये इनका चरित्र कल्याणकारी हो गया ।'

इनमें प्रह्लाद तथा बलिका त्याग तो बड़े धर्मके लिये छोटे धर्मका त्याग है । विभीषणका त्याग कुछ विशेष धर्मका है; क्योंकि उसमें रावणसे द्रोह किया गया है । भरतका त्याग उससे भी ऊँचा विशेष धर्मका है; क्योंकि उसमें माताके प्रति भरतका क्रोध है तथा उनके प्रति अपशब्दोंके प्रयोगके साथ ही उनका बहिष्कार है । श्रीगोपाङ्गनाओंका त्याग सर्वथा विशुद्ध विशेष धर्मका है, जिसमें स्व-सुख-वाञ्छासे रहित केवल प्रियतम-सुखार्थ लोक-वेद-मर्यादाका—शास्त्रका प्रत्यक्ष उल्लङ्घन है । जहाँ कोई स्व-सुख-कामना है, जहाँ शुभ-अशुभका ज्ञान है और जहाँ कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध है, वहाँ शास्त्र-उल्लङ्घनरूप विशेष धर्मका आचरण नहीं हो सकता । बड़े धर्मके लिये छोटे धर्मका त्याग बुद्धिमानी है, विशेष लाभका परिचायक है । पर जहाँ धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य, शुभ-अशुभका कोई बोध ही नहीं है, जहाँ केवल विशुद्ध अनुराग है, वहाँ केवल 'एक'मात्र सम्बन्ध

* मनुस्मृतिमें कथित धृति, क्षमा आदिके सदृश मानवमात्रके लिये पालन करनेयोग्य धर्मोंको 'सामान्य धर्म' और वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म आदिको 'विशेष धर्म' माना जाता है—यह सर्वथा ठीक और माननीय है । यहाँ इस लेखमें 'सामान्य धर्म' और 'विशेष धर्म' पर दूसरे दृष्टिकोणसे विचार किया गया है ।

भगवानका आवाहन

रह जाता है। उसीका अनन्य चिन्तन होता है। उसीकी एकान्त स्मृति रहती है, जीवनका प्रत्येक स्तर और प्रत्येक कार्य सहज-स्वाभाविक ही उसी 'एक'से सम्बन्धित हो जाता है। जहाँ अपना जीवन, अपना कार्य है ही नहीं, वहीं इस विशेष-धर्मका पूर्ण प्रकाश हुआ करता है और इसका एकमात्र सर्वोच्च उदाहरण है—'महाभाग्यवती श्रीगोपाङ्गना'।

भगवान्‌ने स्वयं अपनेको उनका चिर ऋणी माना है और उनके लिये कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

वे मेरे मनवाली, मेरे प्राणवाली हैं और मेरे लिये उन्होंने अपने सारे दैहिक सम्बन्धों तथा कर्मोंको छोड़ दिया है। अर्थात् वे मेरे ही मनसे मनस्विनी हैं, मेरे ही प्राणोंसे अनुप्राणित हैं और केवल मुझसे ही सम्बन्ध रखकर मेरे ही कर्म किया करती हैं।

इनसे निम्नकोटिके भी बहुत-से उदाहरण हैं। एकमात्र पितृभक्तिके लिये परशुरामजीके द्वारा माताका वध, भ्रातृभक्त लक्ष्मणका पिता दशरथ आदिपर क्रोध, पतिभक्ता शाण्डिलीका पतिको वेश्यालय ले जाना, पतिव्रता ओघवतीका पतिके आज्ञानुसार अतिथिको देह समर्पण कर देना आदि। इन सभीमें उनके धर्मकी रक्षा हुई है। वे पापसे बचे ही नहीं, पापकर्म-सम्पादनसे भी प्रायः बचा लिये गये हैं। ऐसे ही गुरुभक्तिके, आतिथ्यके, मातृभक्तिके, देशभक्तिके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। पर इस विशेष धर्मका आचरण विशेष परिस्थितिमें पहुँचे हुए परम सदाचारी, त्यागी, विरागी, एकनिष्ठ व्यक्तियोंके द्वारा ही सम्भव है। देखादेखी न तो इसका आचरण करना चाहिये, न उससे लाभ ही है, वरं उलटे हानि हो सकती है। पाप तो पल्ले बँध जाते हैं, निष्ठा रहती नहीं, इससे पतन ही हो जाता है। यहाँ विशेष-धर्मके चार उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१)

प्रेमधर्मकी विशिष्ट सजीव प्रतिमाएँ श्रीगोपाङ्गना

श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णप्रेमरूप 'अनन्य विशेष धर्म'की सजीव मूर्तियाँ थीं। उनका चित्त-मन, बुद्धि-अहंकार—सब कुछ प्रियतम श्रीकृष्णके समर्पित हो चुका था। शारदीय पूर्णिमाकी उज्ज्वल-धवल सुधा-शीतल रात्रिमें प्रकृतिकी अपरिसीम शोभा-सुषमासे संयुक्त रमणीय अरण्यमें भगवान् श्रीकृष्णने रसमयी रासक्रीडा करनेका—दिव्य प्रेमरसास्वादनरूप निज स्वरूपानन्द-वितरणका संकल्प करके मधुर मुरलीकी मधुमयी तान छेड़ी, बड़े ही मधुर स्वरमें श्रीगोपाङ्गनाओंका आवाहन किया। गोपाङ्गनाएँ तो 'श्रीकृष्णगृहीतमानसा' थीं ही। मुरलीकी मधुर ध्वनिने उनकी प्रेमलालसाको अदम्यरूपसे बढ़ा दिया। वे सब उन्मत्त होकर चल दीं—

मुरलीके मधु स्वरमें सुनकर प्रियतमका रसमय आह्वान।
हुईं सभी उन्मत्त, चलीं तज लज्जा, धैर्य, शील, कुल, मान॥
पति, शिशु, गृह, धन, धान्य, वसन,
भूषण, घी, कर भोजनका त्याग।
चलीं जहाँ जो जैसे थीं, भर मनमें प्रियतमका अनुराग॥

जो गोपियाँ गाय दुह रही थीं, वे दुहना छोड़कर; जो चूल्हेपर दूध औटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर; जो भोजन बना रही थीं, वे अधूरा ही बना छोड़कर; जो भोजन परस रही थीं, वे परसना छोड़कर; जो छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पिला रही थीं, वे दूध पिलाना छोड़कर; जो पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं, वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर; जो स्वयं भोजन कर रही थीं, वे भोजन छोड़कर प्रियतम श्रीकृष्णके पास चल दीं। जो अपने शरीरमें अङ्गराग, चन्दन और उबटन लगा रही थीं और जो आँखोंमें अञ्जन आँज रही थीं, वे इन सब कामोंको अधूरा छोड़कर—यहाँतक कि वस्त्रोंको भी उलटे-पलटे (ओढ़नी पहन तथा घाघरा ओढ़कर) पहनकर तुरंत चल पड़ीं। किसीने एक दूसरीको न बताया, न कुछ कहा। कहतीं-बतातीं कैसे? मन-इन्द्रियाँ तो सब श्रीकृष्णमें तन्मय थीं। वे सब प्रियतम श्रीकृष्णके समीप पहुँच गयीं।

श्रीकृष्णने उनके विशेष धर्म—एकमात्र प्रेम-धर्मकी परीक्षाके लिये अथवा उनके प्रेमधर्मकी महिमाका विस्तार करनेके लिये उन्हें भाँति-भाँतिके भय दिखलाये, गृहस्थीके कर्तव्य तथा समस्त जनोंके अवश्य पालन करने योग्य सामान्य धर्मकी महत्त्वपूर्ण बातें समझायीं और उनसे लौट जानेका अनुरोध किया। भगवान् बोले—

'महाभागाओ! तुम्हारा स्वागत है; कहो तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? इस समय तुम क्यों आयीं? व्रजमें कुशल तो है न? देखो—घोर रात्रि है, भयानक जीव-जन्तु घूम रहे हैं; तुम सब लौट जाओ। घोर जंगलमें रातके समय रुकना ठीक नहीं। तुम्हारे माता-पिता, पति-पुत्र, बन्धु-

बान्धव तुमको न देखकर भयभीत हुए ढूँढ़ रहे होंगे । तुमने वनकी शोभा देख ही ली । अब जरा भी देर न करके तुरंत लौट जाओ । तुम सब कुलीन महिलाएँ हो, सती हो । जाओ, अपने पतियोंकी सेवा करो । देखो, तुम्हारे छोटे-छोटे बच्चे रो रहे होंगे और गायोंके बछड़े रँभा रहे होंगे । बच्चोंको दूध पिलाओ, गौओंको दुहो । मेरे प्रेमसे आयी हो सो उचित ही है । मुझसे सभी जीव प्रेम करते हैं । परंतु कल्याणी गोपियो ! स्त्रियोंका परम धर्म ही है पतियोंकी, उनके भाई-बन्धुओंकी सेवा करना और संतानका पालन-पोषण करना । जिन स्त्रियोंको श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति अभीष्ट हो, वे एक पातकी (भागवद्विमुख) पतिको छोड़कर बुरे स्वभाववाले, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी और निर्धन पतिका भी त्याग न करके उसकी सेवा करें । कुलीन स्त्रियोंके लिये उपपतिकी सेवा करना सब तरहसे निन्दनीय, लोकमें अकीर्ति करनेवाला, परलोकको बिगाड़नेवाला और स्वर्गसे वञ्चित करनेवाला है । इस अत्यन्त तुच्छ क्षणिक कुकर्ममें कष्ट-ही-कष्ट है । यह सर्वथा परम भय—नरक-यातना आदिका हेतु है । मेरा प्रेम तो दूर रहकर कीर्तन-ध्यानसे प्राप्त होता है । अतएव तुम तुरंत लौट जाओ ।'

श्रीकृष्णका यह भाषण सुनकर गोपियाँ एक बार तो बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं, पर पवित्र प्रेमका स्मरण आते ही उन्होंने कहा—'प्रियतम ! तुम हमारे मनकी सब जानते हो । हमारे तो एकमात्र धर्म-कर्म सब कुछ तुम ही हो; तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर हम कहाँ जायँ और कहीं जाकर भी क्या करें ।' भगवान्‌ने उनकी परम त्यागमयी तथा अनन्य भावमयी—रसमयी प्रीतिका आदर किया और उन्हें पहलेसे ही अपना रखता है—इसका प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया । श्रीगोपाङ्गनाएँ इस विशेष धर्मकी प्रत्यक्ष जीवित प्रतिमाएँ हैं । उनका भाव और मनोरथ है—

स्वर्ग जायँ या पड़ी रहें हम घोर नरकमें आठों याम ।
यश पायें या कहलायें व्यभिचारिणि-कुलटा- हो बदनाम ॥
सुख पायें या घिरी रहें हम नित दुःखोंमें ही अविराम ।
देखे बिना न रह सकतीं पल हम मोहन-मुख-चन्द्र ललाम ॥

पड़े पैर-हाथोंमें बेड़ी-कड़ी, बँधे बन्धन विकराल ।
पीना पड़े हलाहल विष, फिर पड़े सिरपर नंगी तलवार ॥
रहे भूलती जीवन-कराल नित भीषण दुःखोंकी ज्वाल ।
भूलें नहीं भूलकर, पलभर, हम प्राणप्रियतम नँदलाल ॥

भक्त थे। वे पिताकी आज्ञाका पालन करना ही अपना एकमात्र धर्म मानते थे। जमदग्निने परशुरामसे कहा—'पुत्र! अपनी इस पापिनी माताको तू अभी मार डाल और मनमें किसी प्रकारका खेद मत कर।' परशुरामजीने पिताकी आज्ञा पाते ही उसी क्षण फरसा लेकर माताका मस्तक काट दिया।

रेणुकाके मरते ही जमदग्निका क्रोध सर्वथा शान्त हो गया और वे प्रसन्न होकर कहने लगे—'बेटा! तूने मेरी बात मानकर वह काम किया है, जिसे करना बहुत कठिन है। इसलिये तू अपनी मनमानी सब चीजें माँग ले।' पिताकी बात सुनकर विचारशील परशुरामजीने कहा—'पिताजी! मेरी माता जीवित हो जायँ और उन्हें मेरेद्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे। उनके मानस पापका सर्वथा नाश हो जाय। मेरे चारों भाई पूर्ववत् स्वस्थ, बुद्धिमान् हो जायँ। युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं दीर्घ आयु प्राप्त करूँ।' जमदग्निजीने वरदान देकर परशुरामजीकी सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं। इस प्रकार पितृ-आज्ञा-पालनरूप विशेष धर्मके पालनसे परशुरामजी पापसे ही मुक्त नहीं हुए, वरं उच्च स्थितिको प्राप्त हो गये।

(३)

भ्रातृभक्त लक्ष्मण

भगवान् श्रीरामके वनगमनकी बात सुनकर लक्ष्मणजीको बड़ा क्षोभ हुआ और वे इसे पिता दशरथ एवं माता कैकेयीका अन्याय मानकर उन्हें दण्ड देनेको तैयार हो गये। उन्होंने कहा—'भाईजी! मैं पिताकी और जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके लिये प्रयत्नमें लगी हुई है, उस कैकेयीकी सारी आशाको जलाकर भस्म कर दूँगा—

अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥
(वा० रा० अयोध्या० २३ । २३)

फिर जब राम वन जाने लगे, तब तो लक्ष्मण रो पड़े और श्रीरामजीके पैर पकड़कर बोले—'भैया! मैं आपके बिना यहाँ नहीं रह सकता। अयोध्याका राज्य तो क्या है—मैं आपके बिना स्वर्ग जाने, अमर होने या देवत्व प्राप्त करने तथा समस्त लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता।'

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥
(वा० रा० अयोध्या० ३१ । ५)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी उस समयका वर्णन करते हुए लक्ष्मणजीकी उन्हें साथ ले चलनेके लिये विनीत प्रार्थनाका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—भगवान् राम जब लक्ष्मणको नीतिका उपदेश करके घर रहनेका अनुरोध करते हैं, तब लक्ष्मण अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, प्रेमवश उत्तर नहीं दे पाते और अकुलाकर चरण पकड़ लेते हैं तथा कहते हैं—

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ॥
दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरनरत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

इसके पहले जनकपुरमें धनुषयज्ञके अवसरपर भगवान् श्रीरामके वहाँ समुपस्थित रहते जब जनकजीने 'वसुन्धराको वीर-विहीन' बता दिया, तब लक्ष्मणजीने उसे श्रीरामका अपमान समझा और वे जनकका तिरस्कार कर बैठे। फिर परशुरामजीके साथ जो खरी-खोटी चर्चा हुई, उससे भी स्पष्ट होता है कि लक्ष्मणजी श्रीरामका किसी प्रकार तनिक-सा भी तिरस्कार नहीं सह सकते।

चित्रकूटमें जब भरतजीके दल-बल आनेकी बात सुनी, तब राम-प्रेमवश वहाँ भी आप उत्तेजित हो उठे। भगवान् रामने अयोध्यामें भी, यहाँ भी लक्ष्मणको समझाया, सँभाला; पर लक्ष्मणजी अपने विशेष धर्म भ्रातृ-प्रेमके लिये सब कुछ करनेको तैयार थे।

(४)

पतिपरायणा शाण्डिली

नाम तो था शैब्या, किंतु शाण्डिल्य गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण लोग उन्हें शाण्डिली कहते थे। उनका विवाह

प्रतिष्ठानपुरके कौशिक नामके ब्राह्मणसे हुआ था। विधाता-का विधान भी कैसा है—शाण्डिली परम सुन्दर, शीलवान् एवं धर्मनिष्ठ थीं और कौशिक अपने दुष्कर्मोंके कारण कोढ़ी हो गया था। इतनेपर भी उसकी इन्द्रियलोलुपता मिटी नहीं थी।

पतिकी सेवा ही नारीका परम धर्म है—यह निश्चय रखनेवाली वे महनीया कोढ़ी पतिके घाव धोतीं, उसके पैरोंमें तेल लगातीं, उसे नहलातीं, वस्त्र पहिनातीं और अपने हाथसे भोजन करातीं। लेकिन ब्राह्मण कौशिक क्रोधी था। वह अपनी पत्नीको डाँटता-फटकारता रहता था।

एक दिन उस कोढ़ी ब्राह्मणने घर बैठे-बैठे मार्गसे जाती वेश्याको देख लिया। उसका चित्त बेचैन हो गया। स्वयं तो कहीं जा सकता नहीं था, निर्लज्जतापूर्वक पत्नीसे ही उसने अपनेको वेश्याके पास ले चलनेको कहा। पतिव्रता पत्नीने चुपचाप पतिकी बात स्वीकार कर ली। कमर कस ली और पर्याप्त शुल्क ले लिया; क्योंकि अधिक धन पाये बिना तो वेश्या कोढ़ीको स्वीकार करनेवाली नहीं थी। इसके बाद पतिको कंधेपर बैठाकर वे घरसे चलीं।

संयोगकी बात, उसी दिन माण्डव्य ऋषिको चोरीके संदेहमें राजाने शूलीपर चढ़वा दिया था। शूली मार्गमें पड़ती थी। अन्धकारपूर्ण रात्रि, आकाशमें मेघ छाये, केवल बिजली चमकनेसे मार्ग दीखता था। पतिको कंधेपर बैठाये शाण्डिली जा रही थीं। शूली शरीरमें चुभी होनेसे माण्डव्य ऋषिको वैसे ही बहुत पीड़ा थी, अन्धकारमें दीख न पड़नेके कारण कंधेपर बैठे कौशिकके पैर शूलीसे टकरा गये। शूली हिली तो ऋषिको और पीड़ा हुई। ऋषिने क्रोधमें शाप दे दिया—'जिसने इस कष्टकी दशामें पड़े मुझे शूली हिलाकर और कष्ट दिया है, वह पापात्मा, नराधम सूर्योदय होते ही मर जायगा।'

बड़ा दारुण शाप था। सुनते ही शाण्डिलीके पद रुक गये। उसने भी दृढ़ स्वरमें कहा—'अब सूर्योदय ही नहीं होगा।'

प्राणका भय बड़ा कठिन होता है। मृत्यु सम्मुख देख-कर कौशिक ब्राह्मणकी भोगेच्छा मर गयी। उसके कहनेसे शाण्डिली उसे लेकर घर लौट आयीं। किंतु समयपर सूर्योदय नहीं हुआ तो सारी सृष्टिमें व्याकुलता फैल गयी। धर्म-कर्म—सबका लोप होनेकी सम्भावना हो गयी। देवता व्याकुल हो गये। ब्रह्माजीकी शरण ली देवताओंने। ब्रह्माजीने उन्हें महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाजीके पास भेजा। देवताओंकी प्रार्थनासे अनसूयाजी उस सतीके घर पधारीं।

'देवि! आपने पधारकर मुझे कृतार्थ किया। पतिव्रताओंमें आप शिरोमणि हैं। आपके आनेसे मेरी श्रद्धा पति-सेवामें और बढ़ गयी। मैं और मेरे पतिदेव आपकी क्या सेवा करें?' शाण्डिलीने अनसूयाजीको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उनसे पूछा।

'तुम्हारे वचनसे सूर्योदय नहीं हो रहा है। इससे धर्मकी मर्यादा नष्ट हो रही है। तुम सूर्योदय होने दो; क्योंकि पतिव्रता नारीके वचनको टालनेकी शक्ति त्रिलोकीमें दूसरे किसीमें नहीं है।' अनसूयाजीने कहा।

'देवि! पति ही मेरे परम देवता हैं। पति ही मेरे परम धर्म हैं। पतिसेवा छोड़कर मैं दूसरा धर्म-कर्म नहीं जानती।' शाण्डिलीने कातर प्रार्थना की।

'डरो मत! सूर्योदय होनेपर ऋषिके शापसे तुम्हारे पति प्राणहीन तो हो जायँगे; किंतु मैं उन्हें पुनः जीवित कर दूँगी।' अनसूयाजीने आश्वासन दिया।

'अच्छा ऐसा ही हो!' ब्राह्मणीने कह दिया। तपस्विनी अनसूयाजीने अर्घ्य उठाया और सूर्यका आवाहन किया तो तत्काल क्षितिजपर सूर्यबिम्ब उठ आया। सूर्य उगते ही ब्राह्मण कौशिक प्राणहीन होकर गिर पड़ा।

'यदि मैंने पतिको छोड़कर संसारमें और कोई पुरुष जाना ही न हो तो यह ब्राह्मण जीवित हो जाय। रोगहीन युवा होकर पत्नीके साथ दीर्घकालतक सुख भोगे।' अनसूयाजीने यह प्रतिज्ञा की। ब्राह्मण तुरंत जीवित होकर बैठ गया। उसके शरीरमें रोगके चिह्न भी नहीं थे। वह सुन्दर, स्वस्थ युवा हो गया था।

—सु०

सर्वधर्मान् परित्यज्य

(१)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें अर्जुन मोहग्रस्त होकर जब धनुष-बाण छोड़कर रथके पिछले भागमें बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'भैया अर्जुन ! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे हो गया ? यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित है, न स्वर्गदायक है और न कीर्ति ही करनेवाला है। पार्थ ! तू नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तू युद्धके लिये उठ खड़ा हो।'

इससे भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें ही युद्धके लिये आज्ञा दे दी; परंतु अर्जुन तैयार नहीं हुए और उन्होंने अपनी मानसिक स्थितिके कारणोंका निर्देश करते हुए कहा कि 'मेरे लिये जो कल्याणकारक निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये। मैं आपका शिष्य हूँ; शरणागत हूँ। मुझ दीनको आप शिक्षा दीजिये।—शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

अर्जुन भगवान्के प्रिय सखा थे, आहार-विहारमें साथ रहते थे; पर न तो कभी अर्जुनने शरणागत होकर कुछ पूछा, न भगवान्ने ही कुछ कहा। आज कहनेका अवसर उपस्थित हो गया। परंतु भगवान् कुछ कहते, इससे पहले ही अर्जुनने अपना मत प्रकट कर दिया, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—'न योत्स्ये'। अर्जुन यदि यह न कहते तो शायद भगवान्ने गीताके अन्तमें जो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का सर्वगुह्यतम उपदेश दिया है, अभी दे देते; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन अत्यन्त प्रिय थे। उनका सारा भार वे उठा लेना चाहते थे। वे स्वयं साध्य-साधन बनकर अर्जुनको निश्चिन्त कर देना चाहते थे। परंतु भगवान्की कृपा तथा मङ्गल-विधानसे ही अर्जुन बोल उठे—और इससे अर्जुनको शरणागतिके लिये पूर्णरूपसे प्रस्तुत न देखकर भगवान्ने कर्म, भक्ति, ज्ञानकी विविध सुधाधारा बहायी। नहीं तो, शायद जगत् इस महान् गीता-ज्ञान-सुधा-रससे वञ्चित ही रहता ! अस्तु !

भगवान्ने गीतामें गुह्य-से-गुह्य ज्ञानका उपदेश किया। जगत्के विविध क्षेत्रोंके सभी अधिकारियोंके लिये महान् दिव्य शिक्षा प्रस्तुत हो गयी। ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्मयोगी ही नहीं, संसारके विविध उलझनोंमें फँसे हुए तमोग्रस्त सभी लोगोंके लिये गीता दिव्य प्रकाशस्तम्भ बनकर सभीको उनके अधिकारानुसार पथ-प्रदर्शन करने लगी। इसीसे अरण्यवासी विरक्त साधुके हाथमें भी गीता रहती है और क्रान्तिकारी युवकके हाथमें भी गीता है। दोनों ही उससे प्रकाश पाते हैं। गीताके उपदेशमें बीच-बीचमें भगवान्ने अत्यन्त रहस्यमय गुह्यतम बातें भी कहीं—जैसे 'राजविद्या राजगुह्य'-रूप नवम अध्यायमें स्वयं सारे योगक्षेमका भार उठानेकी प्रतिज्ञा करते हुए अन्तमें स्पष्ट कह दिया—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
>
> (९ । ३४)

'तू मुझ (श्रीकृष्ण) में मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार अपनेको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवान्ने अपनेसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़नेके लिये यह 'राजगुह्य—गुह्यतम' आदेश दे दिया। पर अर्जुन कुछ नहीं बोले। तदनन्तर चौदहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अपनेको 'ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा' बतलाकर अर्जुनका ध्यान खींचा, इसके पश्चात् पंद्रहवें अध्यायमें बहुत स्पष्ट शब्दोंमें अपनेको 'क्षर' (नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्र) से सर्वथा अतीत और अविनाशी 'अक्षर'—जीवात्मासे या 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (गीता ८ । ३) के अनुसार ब्रह्मसे उत्तम बतलाकर कहा—

> यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
> स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥
> इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
> एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥
>
> (१५ । १९-२०)

'भारत ! जो मूर्ख नहीं है, वह ज्ञानी पुरुष मुझ (श्रीकृष्ण) को ही 'पुरुषोत्तम' जानता है और वही सर्वज्ञ है; इसलिये वह सब प्रकारसे निरन्तर मुझ (श्रीकृष्ण)को ही भजता है। निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया। इसको तत्त्वसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है।'

यहाँ भगवान्‌का स्पष्ट संकेत है कि 'अर्जुन ! तू मुझ पुरुषोत्तमके ही सब प्रकारसे शरण हो जा। इससे तू कृत-कृत्य हो जायगा।' पर अर्जुन कुछ नहीं बोले। तदनन्तर १६वें अध्यायसे १८वें अध्यायके ५३वें श्लोकमें विविध ज्ञानका वर्णन करके ५४ तथा ५५के श्लोकोंमें 'पराभक्ति' की बात कहकर भगवान्‌ने फिर अपनी ओर लक्ष्य कराया। पर जब अर्जुन फिर भी कुछ नहीं बोले, तब जरा डाँटकर इससे स्वयं और अपनेको अलग-से हटाते हुए भगवान्‌ने कहा—

'यदि अहंकारके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। तू जो अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या है। तेरी प्रकृति ही तुझे युद्धमें लगा देगी। कौन्तेय ! जिस कर्मको तू मोहके कारण नहीं करना चाहता, उसको अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा विवश होकर करेगा।'

इसके बाद भगवान्‌ने अपना सम्बन्ध बिल्कुल हटाकर अन्तर्यामी ईश्वरकी ओर लक्ष्य कराते हुए अर्जुनसे कहा—

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
> इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
> विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥
>
> (गीता १८। ६१–६३)

'अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रपर आरूढ़ सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी ईश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें जा। उसकी कृपासे तू परमशान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा। इस प्रकार मैंने तो यह 'गुह्याद् गुह्यतर' गुह्योंसे भी गुह्य ज्ञान तुझसे कह दिया। अब इसपर भलीभाँति विचार करके तू जैसा जो चाहता है सो कर।'

भगवान्‌के इन शब्दोंसे स्पष्ट यह ध्वनि निकलती है—मानो वे अर्जुनसे कह रहे हैं कि 'अर्जुन ! तूने कहा था कि मैं आपके शरण हूँ और मैंने यही समझकर तेरा सारा भार वहन करना भी चाहा, तुझे कई प्रकारसे समझाया, संकेत किया, स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनी महत्ता बतलाकर तुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रयत्न किया, पर मैं नहीं कर पाया। मैंने अपनी महत्ताके अतिरिक्त तुझको और जो कुछ कहा है—बताया है, वह भी कम महत्त्वका नहीं है। वह भी गोपनीय-से-गोपनीय है। मालूम होता है तुझे तेरा अन्तर्यामी भ्रमा रहा है; अतएव अब तू मेरी नहीं, उस अन्तर्यामीकी ही शरणमें जा, वही तुझे शान्ति देगा। मैं तो जो कुछ कह सकता था, कह चुका; अब तेरी जैसी इच्छा हो, वही कर; मेरी कोई जिम्मेवारी नहीं है।'

अर्जुनने भी समझा कि 'भगवान् जो कुछ कह रहे हैं, ठीक है। इतना समझाने-सिखानेपर भी मैं अबतक नहीं समझा। इनकी महत्ता जानकर भी मैंने नहीं जानी। इसीसे तो हताश-से होकर मेरे परम आश्रय प्रियतम प्रभु आज मुझे दूसरेका आश्रय लेनेके लिये कह रहे हैं। इसीलिये तो आज्ञा-आदेश न देकर मुझे इच्छानुसार करनेकी (यथेच्छसि तथा कुरु) बात कह रहे हैं। मैं कितना मूर्ख हूँ !' इस प्रकार समझकर अर्जुन अत्यन्त विषादग्रस्त हो गये और मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए भगवान्‌की ओर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे देखने लगे। वाणी बंद हो गयी। शरीर अवश-सा होकर गिरने लगा। यह सब इसीसे सूचित होता है कि 'यथेच्छसि तथा कुरु' कहनेके बाद अर्जुनके बिना कुछ कहे ही भगवान्‌का रुख बदल गया और वे अत्यन्त स्नेहभरे शब्दोंमें अपनी ओरसे पुनः अपनी महान् महत्ताकी बात कहने लगे। मालूम होता है अर्जुनकी विषादयुक्त मुखाकृति देखकर भगवान्‌का स्नेह उमड़ आया। भगवान् तो यही परिस्थिति लाना चाहते थे, जिसमें अर्जुन सर्वतोभावसे शरणागत हो जाय, वह ऐसी स्थितिमें आ जाय, जिसमें वह भगवान्‌को ही एकमात्र साध्य-साधन—सब कुछ मानकर अपनेको पूर्ण रूपसे समर्पण कर दे। भगवान्‌ने अर्जुनके हावभावसे यह निश्चित-रूपसे जान लिया कि अब 'शक्ति' ग्रहण करनेके लिये शिष्य पूर्ण रूपसे प्रस्तुत है और इसीलिये तुरंत शक्तिपात करके उसे शक्तिमान् बना दिया। भगवान्‌ने कहा—

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

'भैया ! तू सर्वगुह्यतम मेरे परम श्रेष्ठ वचनको फिर भी सुन। तू मेरा दृढ़ इष्ट है—अतिशय प्रिय है; अतएव तेरे ही हितके लिये यह कह रहा हूँ।' अभिप्राय यह कि भगवान् अर्जुनको उदास देखकर उन्हें गले लगाकर अब वह बात

कहना चाहते हैं, जो 'सर्वगुह्यतम' है। गुप्त (गुह्य), गुप्तोंमें भी गुप्त (गुह्यतर), उसमें भी गुप्त (गुह्यतम), बात हुआ करती है; पर यह तो गुह्यतममें भी सबसे अधिक गुह्यतम—'सर्वगुह्यतम' है, जो अत्यन्त अन्तरङ्गता हुए बिना कही जा सकती ही नहीं। तू मेरा प्रिय ही नहीं, ऐसा प्रिय है कि उसमें कभी अन्तर पड़ नहीं सकता। इसीसे तेरे ही हितके लिये यह बात कह रहा हूँ—और वह ऐसी बात है कि जो सबसे श्रेष्ठ है; पहले भी इसे कह चुका हूँ, तूने ध्यान नहीं दिया। अब तू फिरसे सुन।' इस प्रकार कहकर मानो भगवान्‌ने वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उसकी भूमिका बाँधी है। अथवा अब अगले दो श्लोकोंके रूपमें जो महान् दिव्य रत्न प्रदान करना चाहते हैं, उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये मञ्जूषाके नीचे-का हिस्सा दिखाया है। इसमें वे रत्न रखकर, फिर उसके ऊपरका ढक्कन देंगे ६७ वें श्लोकके रूपमें। वे अमूल्य परम गोपनीयोंमें गोपनीय रत्न क्या हैं—

> **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
> **मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥**
> **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
> **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**
>
> (गीता १८। ६५-६६)

'तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको ही प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोच मत कर।'

भगवान्‌ने इन शब्दोंके द्वारा अर्जुनसे कहा है कि 'अबतक जो बात कही, वह तो गुप्तसे गुप्त होनेपर भी प्रायः सबको कही जा सकती थी। अब यह ऐसी बात है, जिसका सम्बन्ध तुझसे और मुझसे ही है। तू क्यों किसी बखेड़े-झगड़ेमें पड़ता है? मन लगाने योग्य, भक्ति-सेवा करने योग्य, पूजा करने योग्य और नमस्कार करने योग्य समस्त चराचर विश्वमें और विश्वसे परे भी यदि कोई है तो वह एकमात्र मैं ही हूँ। लोग मुझे न जान-मानकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि जो यों मान लेता है, वह मुझ ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठास्वरूप मुझ भगवान्‌को पाता है। तू मेरा प्रिय है—अन्तरङ्ग इष्ट है। इसीसे अपना निजका यह महत्त्वपूर्ण रहस्य तुझे बतलाया है। तू यही कर। अबतक जो कुछ धर्म मैंने बतलाये हैं, उन सबकी तुझे आवश्यकता नहीं; छोड़ उन सबको। सब धर्मोंका परम आश्रय तो मैं हूँ, तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। धर्मोंके त्यागसे पापका भय हो तो तू डर मत, जरा भी चिन्ता न कर—तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा। असल बात तो यह है—जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं आ सकता, वैसे ही मेरी शरणमें आये हुएके समीप पाप-ताप आ ही नहीं सकते। तू निश्चिन्त हो जा।'

अर्जुनने इसकी मूक स्वीकृति दी—मुखमण्डलपर विलक्षण आनन्दकी छटा लाकर। तब भगवान्‌ने कहा—देख भैया! यह अत्यन्त ही गोपनीय रहस्यकी बात है—

> **इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।**
> **न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥**
>
> (१८। ६७)

'यह सर्वगुह्यतम तत्त्व किसी भी कालमें जो तपरहित हो—जो सर्वत्यागरूपी कष्ट सहनेको न तैयार हो, जो मेरा भक्त न हो, जो सुनना न चाहता हो और जो मुझमें दोष देखता हो—उससे कभी कहना ही मत।'

इस श्लोकके द्वारा मानो भगवान्‌ने रत्नोंकी पेटीके ढक्कन लगा दिया। अतएव इस श्लोकमें जो 'सर्वधर्मत्याग'-की आज्ञा है, वह ठीक इसी अर्थमें है। इस प्रकार सर्वधर्मत्याग करके शरणागत हो जानेवाला पुरुष सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, किसी भी ऊहापोहमें न पड़कर वह अपने शरण्यके कथनानुसार सहज आचरण करता है। सहज रूपमें ही शरण्यके अनुकूल आचरण करना उसका एकमात्र धर्म होता है। वह और किसी धर्मको जानता ही नहीं। सब धर्मोंको भुलाकर वह इस एक ही धर्मका अनन्य सेवन करता है। यह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोक ही भगवद्गीताका अन्तिम उपदेश है। अब अर्जुन इस तत्त्वको जान-मान गये हैं। उनका मुख-मण्डल एक परम स्निग्ध उज्ज्वल दीप्तिसे चमचमा उठा है। तब भगवान् पुनः निश्चय करनेके लिये उनसे पूछते हैं, 'क्यों अर्जुन! मेरे इस सर्वगुह्यतम उपदेशको तूने पूरा मन लगाकर सुना? और इसे सुनकर तेरा मोह दूर हुआ?' अर्जुन उत्तरमें कहते हैं—

> **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**
> **स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥**
>
> (१८। ७३)

'अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति प्राप्त कर ली। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आप जो कहेंगे, वही करूँगा।'

इस श्लोकमें अर्जुनके द्वारा शरणागतिकी स्वीकृति है। अथवा यही शरणागतिका स्वरूप है। अर्जुन कहते हैं—मेरे मोहका नाश हो गया (नष्टो मोहः)। मैं अहंकारवश कह रहा था कि युद्ध नहीं करूँगा! यह मोह था। अब मुझे स्मरण हो आया कि मैं तो आप यन्त्रीके हाथका यन्त्रमात्र हूँ (स्मृतिर्लब्धा)। पर यह मोहनाश और स्मृतिकी प्राप्ति भी मेरे पुरुषार्थसे नहीं हुई, यह आपकी शरणागतवत्सलतारूप कृपासे हुई है (त्वत्प्रसादात्) और इस कृपाकी भी मैंने साधनसे उपलब्धि नहीं की, अच्युत ! आप अपने विरदसे कभी च्युत नहीं होते, अतः स्वभावसे ही आपने कृपा की है। अब मैं यन्त्ररूपमें स्थित हो गया (स्थितोऽस्मि)। मेरे सारे संशय-भ्रम मिट गये (गतसंदेहः)। अब तो बस, आप जो कुछ कहेंगे, वही करूँगा (करिष्ये वचनं तव)।' यही 'शरणागति-धर्म' है।

और सचमुच अर्जुन इस शरणागतिके सिवा और सब धर्मोंके ज्ञानको भूल गये! इसका पता लगता है तब, जब अश्वमेधपर्वमें अर्जुन भगवान्से उन धर्मोंको फिरसे सुनना चाहते हैं और कहते हैं कि 'मैं उनको भूल गया।' उस समय भगवान् उन्हें उलाहना देते हुए कहते हैं कि "मैंने उस समय तुम्हें 'गुह्य' ज्ञान सुनाया था जो स्वरूपभूत शाश्वत-धर्म था।"

> श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम्।
> धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान्॥

यहाँ 'गुह्य' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने श्रेष्ठ वचन (परमं वचः) के रूपमें जो 'सर्वधर्मत्याग' करके अनन्य शरणागतिका 'सर्वगुह्यतम' उपदेश किया था, उसे अर्जुन नहीं भूले थे। वे तो उसी 'गुह्य'को भूल-से गये थे, जिसका त्याग करनेके लिये भगवान्ने कहा था। इसीसे यहाँ 'गुह्य' शब्द आया है।

अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि इस श्लोकमें सब धर्मोंको त्यागकर अनन्य शरणागतिका ही उपदेश है और यही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

(२)

(लेखक—आचार्य श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम० ए० [द्वय स्वर्ण-पदक-प्राप्त, डिप० एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

उपर्युक्त वाक्य भगवान्ने गीताके अन्तमें अर्जुनसे कहा है। इसमें सभी श्रुतियों और सभी शास्त्रोंका सार अन्तर्निहित है। इस चरम श्लोकमें एक ऐसा संकेत है, जो सभी दुःखों और पापोंसे मानवताको बचाकर उसे परमात्माके समीप पहुँचा देता है। संसार-सागरसे पार होनेके लिये भगवान्ने पहले अर्जुनको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग बतलाये। इन मार्गोंकी जटिलता देखकर अर्जुन भयभीत हो गये। कर्मयोगके लिये अनासक्त एवं निष्काम तथा निर्लिप्त होकर कर्म करना आवश्यक है। यह होगा कैसे? ज्ञानयोगके लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है, पर स्थितप्रज्ञ हम होंगे कैसे! भोग-वासनासे प्रेरित विषय-सुखमें लिपटी हुई हमारी बुद्धि कैसे स्थिर होगी? वाक्य-ज्ञानसे, लम्बी-लम्बी वक्तृता देनेसे और शास्त्रार्थ करनेसे हमारा मन जड-शरीरके सुख-भोगका मोह छोड़कर अव्यक्त आत्माका अन्वेषण नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनको विषय-भोगकी ओर घसीटती हैं, फिर ज्ञानयोगमें हम सफल कैसे होंगे!

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।

भक्तियोगमें कर्म और ज्ञान—दोनोंका समन्वय है। भगवन्निमित्त कर्म करनेसे कर्म भी अनासक्त हो जाता है और भगवान्का आधार पाकर बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। भक्तियोगमें कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों सहायक हैं; पर भक्तियोगकी सफलताके लिये सदैव परमात्माका मनन और चिन्तन आवश्यक है। तैलधारावत् भगवान्का ध्यान होना चाहिये।

मन ते सकल बासना त्यागै। केवल राम चरन लय लागै॥
तन ते कर्म करहु विधि नाना। मन राखहु जहँ कृपा निधाना॥

यह सत्य है कि भक्ति कर्म और ज्ञान दोनोंसे सुलभ है; पर भक्तिके लिये भी यह आवश्यक है कि परमात्माका ध्यान कभी टूटने न पाये। कौन जानता है कि मरनेके समय जब हम बेहोश हो जायँगे, हमें परमात्माका ध्यान लगा ही रहेगा। जीवन-कालमें भी तो मन भगवान्की ओर नहीं जाता।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक हरामी।
भरि-भरि उदर विषय कौं धायो, जैसें सूकर ग्रामी॥

इन्हीं कठिनाइयोंको देखकर अर्जुन कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोगसे भी भयभीत हो गये। ये सभी मार्ग संयम और सदाचारका सम्बल लिये भगवान्‌की ओर चले जाते हैं; पर विषय-वासनासे पीड़ित मानव विघ्न-बाधाओंके डरसे इन मार्गोंपर चलनेसे अपनेको असमर्थ पाता है। श्रीयामुनाचार्यने कहा है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्य
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥
(आलवन्दारस्तोत्रम्)

परा-भक्तिका सबसे सुगम रूप प्रपत्ति है। जब जीव कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा अन्य सभी साधनोंमें अपनेको असमर्थ और निस्सहाय पाता है, तब उसके समक्ष केवल एक ही उपाय रह जाता है—भगवान्‌के चरणोंपर अपने-आपको न्योछावर कर देना। इसीका नाम प्रपत्ति है—इसीका नाम शरणागति है। इसी शरणागतिकी ओर भगवान्‌ने ऊपरके चरम श्लोकमें संकेत किया है।

'प्रपत्ति' भगवान्‌से मिलनेका सर्वोत्तम साधन है। प्रपत्तिका अर्थ है—भगवान्‌के प्रति अनन्य और अकिंचन-भावसे शरणागत हो जाना तथा भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको समर्पित कर देना। 'भक्त' समझता है कि 'ममैवासौ' अर्थात् भगवान् मेरे हैं तथा भक्ति, साधना एवं सेवाके द्वारा मैंने भगवान्‌को अपना लिया है। 'प्रपन्न' समझता है कि 'तस्यैवाहम्' अर्थात् मैं भगवान्‌का हूँ, मैंने भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको सौंप दिया है। अब मेरा तन, मन, धन—सब कुछ भगवान्‌का है। प्रपन्न आर्त, दीन और अकिंचन हो जाता है, वह किसी दूसरेका भरोसा नहीं करता। वह अपना पिता, माता, बन्धु-बान्धव-सब कुछ एकमात्र भगवान्‌को ही समझता है—

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चासि जगताम्।

'तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं माता हो, तुम्हीं स्त्री-पुत्र हो, तुम्हीं प्रिय सुहृद् हो, तुम्हीं मित्र हो, तुम्हीं इस जगत्‌में गुरु हो और तुम्हीं गति हो।'

प्रपन्न अपनेको भगवान्‌की ही वस्तु और उन्हींका किंकर समझता है—'त्वदीयस्त्वद्भृत्यः'। भगवान्‌के अनुकूल कैंकर्य करना ही प्रपन्नका धर्म है।

भक्त और प्रपन्नमें वही अन्तर है, जो 'सेवक' और 'पत्नी'में पाया जाता है। सेवक भी अपने स्वामीके आज्ञानुसार सभी कैंकर्य करता रहता है, पर पत्नीका तो पति सर्वस्व ही है। मालिकके छोड़ देनेपर भी नौकर अपना निर्वाह कर लेता है। पर पतिके परित्याग करनेपर पत्नी कहाँ जाय? क्या करे? पत्नीको तो पतिके अतिरिक्त और कोई शरण ही नहीं है। पत्नीने तो अपने आपको पतिके चरणोंमें सौंप दिया है, पति उसे जिस अवस्थामें भी रक्खे, वह रहनेको तैयार है। पति ही उसका उपाय है, पति ही उसका अवलम्ब है। पतिके अतिरिक्त वह अन्य किसीको नहीं जानती। उसको अपनी कोई निजी इच्छा नहीं रहती, पतिकी प्रसन्नता ही पत्नीका आधार है। इसी प्रकार प्रपन्नका भी आधार, अवलम्ब और उपाय एकमात्र भगवान् ही हैं। भगवान् उसे जिस अवस्थामें रक्खें, वह उसीमें संतुष्ट रहता है। वह सुखमें रहे या दुःखमें, वह भगवान्‌को कभी नहीं भूलता। विपत्ति पड़नेपर भी वह भगवान्‌को नहीं कोसता।

पत्नी चाहे कितनी ही साध्वी क्यों न हो, वह सदा-सर्वदा अपने दोषोंको ही देखती रहती है, अपनेको अपराधिनी ही समझती है और पतिके पद-रजकी ही कामना करती है। इसी प्रकार प्रपन्न भी भगवान्‌से कहता है—

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥

प्रपन्नके लिये नीचानुसंधान आवश्यक है। जबतक हम अपनेको अनन्त अपराधी, निराधार और आर्त्त नहीं समझेंगे, तबतक प्रपत्तिकी भावना हमारे अन्तःकरणमें नहीं आ सकेगी। पत्नी कभी यह नहीं सोचती कि मेरा गुजारा कैसे होगा। पतिने जब हाथ पकड़ ही लिया है, तब फिर सोच क्यों? और पत्नीकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करना पतिका धर्म है, जो वह स्वयं जानता है। प्रपन्न भी अपनी रक्षाका भार भगवान्‌को देकर स्वयं निश्चिन्त हो जाता है। 'रक्षिष्यतीति विश्वासः।' पत्नीको विश्वास है कि स्वामी

बिना कहे भी रक्षा करेंगे ही; उसी प्रकार प्रपन्न भी समझता है कि भगवान् बिना कहे भी बन्धनसे मुक्त करेंगे ही। पत्नी अपनी रक्षाके निमित्त अपने पतिको छोड़कर अन्य किसी उपायका अवलम्बन नहीं करती, उसी प्रकार प्रपन्न भी अपने मोक्षके लिये भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी उपायका ग्रहण नहीं करता। प्रपन्न यदि भगवान्‌को छोड़कर अपनी रक्षाके लिये यन्त्र, मन्त्र, ओझा, डाइन, भूत-प्रेत तथा देवान्तरकी शरण ग्रहण करता है तो उसकी प्रपत्तिकी भावना ही नष्ट हो जाती है। भगवान्‌की प्राप्तिमें भगवान् ही उपाय हैं। मनुष्य सदैव भूल करता रहता है। वह तो कमजोरीका पुतला है। उसके हृदयमें वासना-सर्पिणी फुफकार मारा करती है। उसके अन्तःकरणमें तृष्णाका हाहाकार है—भोग-वासनाका विषभरा मधुर नर्त्तन है। वह क्या करे? वह भी सोचता है कि इन्द्रियोंको जीतना चाहिये, पापसे मनको हटाना चाहिये; पर उसका संकल्प बहुत क्षीण और दुर्बल रहता है। उसकी प्रवृत्ति व्यतीत कर्मोंका रस पीकर बलवती हो गयी है, वह बलपूर्वक इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर ले जाती है। दुर्बल मानव क्या करे? भोगवासना अपने संकेतपर मनुष्यको नचाती रहती है—

इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥

वह किस प्रकार अपने बलपर भगवान्‌को पानेकी आशा करे? तिमिरमयी रजनीमें संकीर्ण पिच्छल पथपर वह प्रकाशकी ओर जानेकी चेष्टा करता है, दोनों ओर खाइयाँ हैं और पैर फिसलनेका डर है। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् ही रक्षक हैं और वे ही पार लगा सकते हैं। शक्तिहीन मानव पाप करता है, दुःख भोगता है, पछताता है और फिर पाप नहीं करनेकी प्रतिज्ञा भी करता है, किंतु प्रलोभनके भँवरमें पड़कर वह अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता है और फिर उसी पापगर्तमें डूब जाता है। वह जीवनकी झोलीमें फूल चुनने आया है, पर केवल कंकड़-कण्टक भर लेता है। वह ठीक ही सोचता है—

ऐसा निन्दित कर्म नहीं है,
जिसे न शतशः कर आया हूँ।
जीवनकी झोलीमें प्रभुवर!
कंकड़-कण्टक भर लाया हूँ॥

छिपे धूलकण काम-क्रोधके
यौवनकी आँधी चलती है।
जीवन-रस, मादकमधु पीकर
जहरीली नागिन पलती है॥
तिमिरमयी नीरव रजनीमें
भ्रान्त पथिक-सा भटक रहा हूँ।
कानन-शिलाखण्डपर कर्मों-
की गठरी मैं पटक रहा हूँ॥
पथ पिच्छल है, अन्धकारमें
खाईमें गिरनेका भय है।
अन्तस्तलमें छिपी वासनाका
अभिनय मादक मधुमय है॥
काञ्चन और कामिनीकी
क्रीड़ासे थका व्यथित जीवन है।
दुर्बल, शक्ति-हीन हूँ—फिर भी
प्रबल कामनाका नर्त्तन है॥
सदा वासना मेरे अन्त-
स्तलमें प्रभु क्रीडा करती है।
माया शुभ्र वसन धारणकर
मेरा मन मन्थन करती है॥

यदि हम इस भरोसे बैठे रहें कि जिस दिन हमारे सारे कर्म पवित्र हो जायँगे, जिस दिन हमारा जीवन अनासक्त और निर्लिप्त हो जायगा, उस दिन अपने-आप मोक्ष मिल जायगा, तो यह हमारी भूल होगी। अपने-आप न तो कभी वासनाका हनन होगा और न कभी मोक्ष ही मिलेगा। वासना तो प्रारब्ध और क्रियमाण—दोनों कर्मोंको बाँधनेवाली कड़ी है। न्यायके बलपर मोक्षकी आशा करना दुर्लभ है। वासनाके विराट् अन्धकारमें विवेकका टिमटिमाता हुआ प्रकाश क्षणिक और चञ्चल है। प्रलोभनोंके निकट भोग-सामग्रियोंके बीचमें हमारा संकल्प स्थिर नहीं रह पाता। विषयोंके प्रबल झंझावातमें ज्ञानकी कमजोर दीपशिखा काँपने लगती है और कभी-कभी बुझ भी जाती है। हमारा बाह्य रूप तो सुन्दर, पवित्र और आकर्षक रहता है; पर हमारे अन्तर्जगत्‌में तृष्णा, स्वार्थ और भोग-लिप्साका ताण्डव नृत्य जारी रहता है, हम हंसके रूपमें कौएका हृदय लिये हुए संसारकी आँख बचाकर दुष्कर्म भी कर लेते हैं और अपने यश तथा प्रतिष्ठापर जरा भी आँच नहीं आने देते। संसार हमें महात्मा तथा साधु समझ ले, पर भगवान् तो

अन्तर्यामी हैं, वे हमारे सभी छिपे अपराधोंको देख लेते हैं। इसीलिये श्रीस्वामी यामुनाचार्यजीने कहा है—

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।

प्रपत्तिका आधार भगवत्कृपा है। न्यायके अधिकारसे नहीं, भगवत्कृपाके बलपर हम मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं। अपने बलपर निष्काम कर्मके द्वारा हमारा मोक्ष प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है; क्योंकि हमारे कर्मोंका सर्वथा निष्काम होना आसान नहीं है। इसलिये जबतक हम अनन्य, अकिंचन होकर दीन-हीन-अपराधीकी तरह काँपते हुए भगवान्‌के चरणोंमें आत्मसमर्पण नहीं कर देंगे और शरणागतिके द्वारा भगवान्‌की प्राप्तिमें भगवान्‌को ही उपाय नहीं समझ लेंगे, तबतक उद्धार होना असम्भव-सा है।

प्रपत्तिमें अनन्यशेषत्व, अनन्यशरणत्व और अनन्य-भोग्यत्वका होना आवश्यक है। 'अनन्यशेषत्व'का तात्पर्य है—भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसीका दासत्व स्वीकार नहीं करना। 'अनन्यशरणत्व'का लक्ष्य है—भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसीकी शरणमें नहीं जाना। 'अनन्यभोग्यत्व'का अर्थ है—भगवान्‌को छोड़कर अपनेको अन्य किसीका भोग्य नहीं समझना। पर अनन्यताका यह अर्थ नहीं है कि परमात्माके अतिरिक्त हम किसी अन्य देवताकी आराधना तो नहीं करते, पर कामिनी और काञ्चनके हाथ अपनेको बेच डालते हैं। अनन्यताका तात्पर्य है कि परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी-को भी हृदयमें स्थान नहीं दें, चाहे वह कोई देवता हो या मनुष्य, चाहे कोई रूपवती युवती हो या काञ्चनका भंडार। हमारे हृदयमन्दिरमें जब एकमात्र प्रभुका ही आधिपत्य रहता है, तब अनन्यता सार्थक होती है। हमारी ममताके एकमात्र विषय वे ही हों।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

शरीरसे हम जो भी कर्म करते रहें, पर मनको भगवान्‌में लगाये रक्खें। बिना प्रेमके भगवान् नहीं मिलते।

तन ते कर्म करहु बिधि नाना। मन राखहु जहँ कृपानिधाना॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग जप नेम बिरागा॥

जिस प्रकार पत्नी पतिकी सेवा प्रेमसे करती है, भार समझकर नहीं, उसी प्रकार प्रपन्न भी भगवत्कैंकर्य बड़े प्रेम-से और प्रसन्नतासे करता है, भार समझकर नहीं। प्रपन्न भगवान्‌से कहता है—

कोटिन मुख कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार॥
विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तातें सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि, बनसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो।
यहि बिधि बेगि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥

प्रपत्ति भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सबसे सुलभ साधन है। लङ्कामें विभीषण जब भगवान्‌की शरणमें आ रहे थे और सोचते आते थे—

देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

इस प्रकार मनोरथ करते हुए विभीषण आये। वानरों-ने भगवान्‌को सूचना दी, भगवान्‌ने सेनापति सुग्रीवसे राय पूछी। उसी समय सुग्रीवने भगवान्‌से कहा—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

किंतु भगवान् तो शरणागतवत्सल हैं। उन्होंने उत्तर दिया—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भगवान्‌का व्रत है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

“एक बार भी जो मेरे शरणागत हो जाता है और कह उठता है कि 'नाथ! मैं आपका ही हूँ,' उसको मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।”

जीव अपने पापको देखकर डर जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—कई मार्गोंको देखकर कुछ उलझनमें भी पड़ जाता है। वह नहीं सोच पाता कि भगवान्‌के पास पहुँचनेका सबसे सुगम राजपथ कौन-सा है।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। सुलभ न अधिक अधिक अरुझाई॥

ऐसी ही किंकर्तव्यविमूढ़ स्थितिमें भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर तुम एक मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।'

प्रपत्ति ही भगवत्प्राप्तिका सबसे सुलभ साधन है। प्रपत्तिमें जीव अपना भार भगवान्‌को दे देता है और स्वयं निश्चिन्त होकर उनका कैंकर्य करता है।

कर्मयोगका आदेश है कि हम आसक्ति और फलाभिलाषा छोड़कर निष्कामभावसे कर्म करें। कर्म करनेपर भी हमारे मनमें कोई विकार, कोई लहर उत्पन्न न हो। हम सिद्धि-असिद्धिमें सम रहें। यह भी वास्तवमें तभी हो सकता है जब हम अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दें। जब हमने भगवान्‌के चरणोंपर आत्म-समर्पण कर दिया, तब तो फिर अपने लिये—भोग-वासनाकी तृप्तिके लिये कोई कर्म ही नहीं करना है; जो कुछ करना है, सब केवल भगवन्निमित्त ही करना है। प्रपन्नके कर्मोंका ध्येय भगवान्‌की प्रसन्नता है। फिर हमारा अपना क्या रहा? शरीर, मन, आत्मा—सभी कुछ तो भगवान्‌को दे दिया; फिर हमें जो कुछ करना है, सब कुछ भगवान्‌की प्रीति और प्रसन्नताके लिये ही करना है और सब कुछ उन्हींके आज्ञानुसार करना है। इस प्रकार वासना अपने-आप मर जाती है, प्रपन्नका सारा जीवन ही भगवत्कैंकर्य हो जाता है। शरीर-रक्षाके निमित्त, परिवारके भरण-पोषण, समाज-रक्षा एवं लोक-कल्याणके लिये कर्म करना सभी भगवत्कैंकर्य है। जब हम भोग-बुद्धिसे प्रवृत्ति और वासनासे प्रेरित होकर केवल स्वार्थ-सिद्धिके लिये कर्म करते हैं, तब वही कर्म बन्धन है; और जब हम कर्तव्यसे प्रेरित होकर कैंकर्य-बुद्धिसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, तब वह कर्म अपने-आप निष्काम और निर्लिप्त हो जाता है और बन्धनका कारण नहीं बनता।

प्रपन्नके लिये सबसे बड़ा आदेश है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।

१—भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना—जिस कार्यसे भगवान्‌की प्रसन्नता हो, उसी कार्यको करनेकी चेष्टा। जिस प्रकार पत्नी अपने पतिके इच्छानुसार अपना जीवन बना डालती है, उसी प्रकार प्रपन्न भगवान्‌के अनुकूल अपना जीवन बना डालता है।

२—भगवान्‌के प्रतिकूल सभी कर्मोंका सर्वथा त्याग—जो कर्म दूषित और अपवित्र हैं, जो कर्तव्य और शिष्टाचारके विरुद्ध केवल प्रवृत्ति और भोग-वासनासे प्रेरित होते हैं, जिनसे अपना या पराया, समाजका और विश्वका कल्याण नहीं होता, वे कर्म भगवान्‌की इच्छाके प्रतिकूल हैं और उनका बहिष्कार होना चाहिये।

प्रपत्तिका मुख्य अङ्ग है—आत्मसमर्पण अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना। फिर प्रपन्नको यह अधिकार ही नहीं रह जाता कि वह अपने समय, धन तथा शक्तिका अपव्यय या दुरुपयोग करे। वह एक क्षण भी भगवत्कैंकर्यसे विमुख नहीं रह सकता। श्रीयामुनाचार्य स्वामीने कहा है—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्॥

'सचमुच वह शरीर, वह प्राण, वह सुख, वह आत्मा, वह चाहे जो कुछ भी हो, यदि ये सभी पदार्थ भगवत्कैंकर्यके बाहर हों, तो प्रपन्न उन्हें एक क्षणके लिये भी नहीं सह सकता।'

समय, शक्ति और धनका दुरुपयोग प्रपन्नके लिये महान् अपचार है। अपने समयको, अपनी शक्तिको और अपने धनको ऐसे कार्योंमें लगाना, जिनसे न तो अपना और न किसी अन्यका उपकार होता हो, इनका अपव्यय है, उसी प्रकार जैसे ताश खेलकर या व्यर्थके गप-शपमें, या अन्य व्यसनोंमें समय लगाना समयका अपव्यय है। समयका अपव्यय न तो लाभप्रद है और न अधिक हानिप्रद; किंतु ऐसे कार्योंमें समय, शक्ति और धनको लगाना, जिनसे अपना या समाजका अनिष्ट होता हो—जैसे निन्दा, हिंसा, द्वेष, कपट, चोरी, व्यभिचार इत्यादि—इनका सर्वथा

दुरुपयोग है। प्रपन्नके लिये समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय एवं दुरुपयोग—दोनों ही वर्जित हैं। प्रपन्नका जो समय है, प्रपन्नकी जो शक्ति है, प्रपन्नका जो धन है—वह तो अपना नहीं है; वह तो सर्वथा भगवान्को समर्पित है। फिर उसको कोई अधिकार नहीं रह जाता कि वह समयके एक क्षणका भी, शक्तिके एक कणका भी, धनके एक अणुका भी दुरुपयोग कर सके। धनका वह न्याय तथा धर्मके अनुकूल उपार्जन करता है भगवान्के निमित्त—भगवत्कैंकर्यके लिये। नारीका वह शास्त्रोक्त सेवन करता है—भोग-वासनाकी तृप्तिके लिये नहीं, किंतु भगवान्के आज्ञापालनार्थ संतानोत्पत्तिके लिये। पत्नी तो वस्तुतः जीवन-संगिनी तथा कर्तव्य-पथकी सहायिका है। बच्चोंका प्यार, परिवारका भरण-पोषण, समाजकी सेवा—सभी तो भगवत्कैंकर्य हैं।

प्रपत्ति वस्तुतः भगवत्प्राप्तिका सबसे सुलभ साधन है। इसी प्रपत्तिके आधारपर गीतामें कहा गया है—

> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

प्रपत्तिका कितना सुन्दर रूप श्रुतियोंमें वर्णित है—

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
> यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
> तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
> मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
>
> (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १८)

इसी शरणागतिका संदेश भगवान् श्रीकृष्णने गीताके चरम श्लोकमें संसारके कल्याणके निमित्त हमें प्रदान किया है। शरणागत होनेपर हमें अभयका वरदान मिल जाता है और उसके बाद हमारा कर्तव्य रह जाता है केवल भगवत्कैंकर्य—भगवान्के निमित्त जीवनके सारे कर्मोंको भगवदाज्ञा समझकर करते जाना और उन्हींको समर्पित कर देना। पर भगवत्कैंकर्य करनेके लिये हमें भगवान्का स्वरूप जानना आवश्यक है। भगवान् विश्वरूप हैं। 'सीयराम मय सब जग जानी।' अतः भगवान्की सेवा संसारकी सेवा है। पीड़ित व्यथित मानवताकी सेवा भगवान्की सेवा है। राष्ट्रकी, देशकी और मानवसमाजकी गरीबी, अशिक्षा तथा रोगको दूर करना, गिरे हुएको उठानेकी चेष्टा, मानवताको असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर लानेका प्रयास भगवत्सेवा ही है।

जब यह सारा संसार ही ईश्वरका रूप है, जब सर्वत्र ही ईश्वरका वास है, तब हम किसके साथ द्वेष और घृणा रक्खें और कौन-सा ऐसा एकान्त स्थल है, जहाँ हम छिपकर पाप और दुष्कर्म कर सकें? भगवद्वस्तु समझकर हमें अपने शरीरकी रक्षा करनी है और शरीर-रक्षाके निमित्त अपनी इन्द्रियोंको भी यथोचित भोजन देना है। पर त्यागपूर्वक भगवत्प्रसाद समझकर संसारके भोगमें हम अपना भाग ले सकते हैं, किंतु दूसरेके अधिकारको एवं जो धन तथा भोग अन्यके लिये निर्धारित हैं, उन्हें हमें अपनी स्वार्थ-सिद्धि तथा भोग-वासनाकी तृप्तिके लिये हड़पना नहीं है। इस प्रकार कर्म करनेसे कर्म हममें लिप्त नहीं होगा।

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
>
> (ईशावास्योपनिषद् २)

भगवान्का जो परब्रह्मरूप है, वह इन्द्रियोंसे अगोचर है। ऐसे पर-वासुदेवकी सेवा शरीरसे और इन्द्रियोंसे नहीं हो सकती। वह परब्रह्म माया-मण्डलसे परे विरजाके पार त्रिपाद्विभूतिमें वर्तमान है—

> पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
>
> —ऋग्वेद, दशम मण्डल

वे श्रीमन्नारायण तमके परे हैं।

> 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
> मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
>
> —शुक्लयजुर्वेद, पुरुषसूक्त

इस श्रीमन्नारायण भगवान्की सेवा उनका ध्यान, चिन्तन और मनन है। शरीरसे सारे कर्मोंको करते हुए भगवान्में अनवरत मनको लगाये रखना, उनके साथ हृदयका एकाकार हो जाना परब्रह्मका कैंकर्य है। परमात्माके इस प्रकारके साक्षात्कारसे हृदयकी गाँठें आपसे आप खुल जाती हैं।

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
>
> (मुण्डकोपनिषत् २। २। ८)

प्रपन्न बलपूर्वक अपनी इन्द्रियोंका निग्रह नहीं करता, परमात्माके ध्यानसे उसके अन्तःकरणसे अपने-आप आसक्ति और कर्मोंका रस मिट जाता है। इसी परब्रह्मका कैंकर्य भगवान्की शरणागतिमें और भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको अकिंचन और निःस्पृह भावसे समर्पित कर देना है

भगवान्‌का सूक्ष्म रूप अन्तर्यामी रूप है, जो हमारे तथा सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें तथा सर्वत्र वर्तमान है। इनकी सेवा निम्नलिखित तीन रूपोंसे की जा सकती है—

(१) अन्तर्यामी भगवान् हमारे अन्तःकरणमें वर्तमान हैं, अतः अपने अन्तःकरणको पवित्र रखना, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, काम, क्रोध, लोभ इत्यादिकी गंदगीसे अपने मनको स्वच्छ तथा निर्मल रखना अन्तर्यामी भगवान्‌का कैंकर्य है।

(२) अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र हैं, अतः कोई भी ऐसा स्थल नहीं है, जहाँ मनुष्य छिपकर पाप या दुष्कर्म कर सके।

(३) अन्तर्यामी भगवान् सभी प्राणियोंके अन्तःकरण-में वर्तमान हैं, अतः प्रत्येक नर-नारीका शरीर परमात्माका मन्दिर हुआ। परमात्मा प्रकाशके समूह हैं और जीवात्मा प्रकाशका एक कण है। अतः संसारके सभी प्राणी परमात्मा-के साकार रूप हैं। अतः सभी प्राणियोंकी सेवा परमात्माकी ही सेवा है। किसीके साथ द्वेष रखना, किसीकी बुराई सोचना, मनसे, वचनसे और कर्मसे किसीको पीड़ा पहुँचाना, किसीकी निन्दा करना और अमङ्गल चाहना अन्तर्यामी भगवान्‌की अवहेलना मात्र है। पीड़ितोंकी सेवा, मानवताका कल्याण, पथ-भ्रष्टोंको सच्चे मार्गपर लाना, भूखेको अन्न, प्यासेको जल, रोगीको औषध और मूर्खोंको विद्या देना अन्तर्यामी भगवान्‌का कैंकर्य है।

भगवान्‌ने गीतामें प्रपन्नोंके लिये दिनचर्या बना दी है—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
>
> (श्रीमद्भगवद्गीता ९।२७)

यहाँ केवल मैं दो आदेशोंको लेता हूँ। भगवान् कहते हैं कि 'तुम जो कुछ करो और जो कुछ खाओ, उसे मुझको अर्पित कर दो।' अर्थात् बिना भगवान्‌को अर्पित किये न तो हम कोई अन्न खा सकते हैं और न कोई कर्म कर सकते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवत्प्रसादके रूपमें हम वही अन्न खा सकते हैं, जो भगवान्‌को अर्पित हो सके, अर्थात् जो पवित्र हो तथा शरीरको सबल और स्वस्थ बना सके। इसी प्रकार हम वही कर्म कर सकते हैं, जो पवित्र हो और मानव-कल्याणके निमित्त किया जाय। अपवित्र अन्न और अपवित्र कर्म तो भगवान्‌को अर्पित नहीं हो सकते, अतः प्रपन्न उन्हें ग्रहण भी नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रपन्नके जीवनमें आहार और आचरणकी शुद्धता आपसे आप आ जाती है।

अतः भगवान्‌ने जो अर्जुनको उपदेश दिया—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
>
> (गीता १८।६६)

इसीमें सभी धर्मोंका सार, सभी शास्त्रोंका आशय छिपा हुआ है।

(३)

गीताका चरम श्लोक—एक व्याख्या

(प्रे०—पूज्यचरण आचार्य श्रीराघवाचार्यजी महाराज)

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्याय के ६६वें श्लोकमें भगवच्छरणागतिमार्गका विधान किया है उनके शब्द हैं—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें यह श्लोक 'चरम श्लोक'के नामसे प्रसिद्ध है। आचार्य श्रीपराशर भट्टने अष्टश्लोकीके अन्तिम दो श्लोकोंमें इसकी व्याख्या की है। पहला श्लोक है—

> मत्प्राप्त्यर्थतया मयोक्तमखिलं संत्यज्य धर्मं पुन-
> र्मामेकं मदवाप्तये शरणमित्यार्तोऽवसायं कुरु।
> त्वामेवं व्यवसाययुक्तमखिलज्ञानादिपूर्णो ह्यहं
> मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकैर्विरहितं कुर्यां शुचं मा कृथाः॥

इस श्लोकके अनुसार भगवान्‌का कथन यह है कि 'यदि तुम मुझको प्राप्त करना चाहते हो तो मैंने अबतक जो कर्म-योग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोगके रूपमें धर्मका उपदेश किया है, उसको छोड़ दो। आर्तभावनासे युक्त होकर मुझ एकको ही मेरी प्राप्तिके लिये उपायके रूपमें वरण करो। यह निश्चय कर लो कि मैं (भगवान्) ही तुम्हारे लिये उपाय हूँ। तुम जानते हो कि मैं ज्ञान आदि समस्त कल्याण-गुणोंसे परिपूर्ण हूँ। मुझे उपाय मान लेनेपर मैं उन सारे पापोंसे तुमको मुक्त कर दूँगा, जो मेरी प्राप्तिके विरोधी हैं। तुम किसी प्रकारका शोक मत करो।'

दूसरा श्लोक है—

निश्चित्य त्वदधीनतां मयि सदा कर्माद्युपायान् हरे
कर्तुं त्यक्तुमपि प्रपत्तुमनलं सीदामि दुःखाकुलः।
एतज्ज्ञानमुपेयुषो मम पुनस्सर्वापराधक्षयं
कर्तासीति दृढोऽस्मि ते तु चरमं वाक्यं स्मरन्सारथे॥

इस श्लोकमें आचार्य भगवान्‌को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'हे भगवन्! मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं सदा तुम्हारे अधीन हूँ; कर्मयोग आदि उपायोंमेंसे किसीको अपनाने या छोड़नेमें असमर्थ हूँ। शरणागति करनेमें भी मैं अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ। दुःखसे व्याकुल होकर मैं क्लेश पा रहा हूँ। ऐसी स्थितिमें हे पार्थसारथे! मुझे आपके 'सर्वधर्मान्परित्यज्य······' श्लोकका स्मरण आता है। आप ही मेरे उपाय (साधन) हैं। यह ज्ञान प्राप्त हो जानेसे मुझे विश्वास हो गया है कि आप मेरे सारे पापोंको नष्ट कर देंगे। अतः मेरा दुःख दूर हो गया है। मैं निर्भय हो गया हूँ।

(४)

(लेखक—पं० श्रीसुधाकरजी द्विवेदी 'द्वन्द्व')

भगवद्गीताके १८ वें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें जो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पद है, वह शङ्कनीय है। क्या उसका अर्थ 'सब धर्मोंको त्यागकर' है? क्या भगवान्‌ने अर्जुनको यही आदेश दिया था कि हे अर्जुन! तू सब धर्मोंको त्यागकर मेरी शरणमें आ जा? यद्यपि गीताके टीकाकारोंने इस श्लोकके गूढार्थपर प्रकाश डाला है, किंतु उस कथनको प्रमाणित नहीं किया।

'गीता-सतसई'का अनुवाद करते समय इन पंक्तियोंके लेखकको इसका प्रामाणिक गूढार्थ उपलब्ध हुआ। पाठकोंकी सेवामें उसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है। पूरा श्लोक निम्नलिखित है। यथा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इस श्लोकके 'धर्मान्' तथा 'परित्यज्य' इन दो शब्दोंपर ही विचार करना है। प्रथम 'धर्म' शब्दको लीजिये। गीताकारने धर्म-शब्दकी परिभाषा अनेकार्थक की है। गीतामें 'धर्म' शब्दकी व्याख्या मुख्यतः तीन साधनोंके लिये प्रयुक्त हुई है। उदाहरणके लिये तीन निम्नाङ्कित श्लोक देखिये—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें तीन गूढार्थ हैं। प्रथम श्लोक दूसरे अध्यायका ४० वाँ है, उसमें कर्मयोगका उल्लेख है। द्वितीय श्लोक नवें अध्यायका तीसरा है, उसमें 'ज्ञानयोग' तथा तीसरा श्लोक चौदहवें अध्यायका २७ वाँ है, उसमें 'भक्तियोग' का उल्लेख है। यहाँपर धर्म-शब्दकी त्रिविध परिभाषा है। प्रोक्त तीनों ही श्लोकोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया गया है।

इतना स्पष्टीकरण होनेपर भी श्लोकका भावार्थ संदिग्ध ही है। वस्तुतः इस (१८। ६६) श्लोकमें 'परित्यज्य' शब्द ही विशेष रहस्यमय है, जिसका रहस्योद्घाटन किया जा रहा है।

'परित्यज्य' या त्यागकी परिभाषा गीताके द्वारा ही प्रमाणित है; यथा—

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

अर्थात्—समस्त कर्मोंके फलके त्यागको ही बुद्धिमान् लोग 'त्याग' कहते हैं। देखी आपने 'परित्यज्य' या त्यागकी परिभाषा? परित्याग या त्याग फलाशाका त्याग अर्थात् निष्काम होना है।

इस प्रकार 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'··············· इस संदिग्ध या तिलकी ओट पहाड़वाले पूरे श्लोकका तात्पर्य निम्न दोहेमें अनूदित है—

सबै 'कर्मफल धर्म' तजि, लै मम शरण अवार।
मुक्त करौं सब पापसे, मत कर सोच-बिचार॥

निष्कर्ष यह है कि भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! तू कर्म, ज्ञान तथा भक्तिरूप सभी धर्मोंको त्यागकर अर्थात् उनकी फलेच्छा छोड़कर निष्काम बनकर मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझको सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा; तू चिन्ता मत कर, शरणमें तो आ।'

'धर्मान्' अर्थात्—धर्मोंका या सारे धर्मोंका परित्याग करनेके लिये नहीं कहा गया कि धर्म-कर्म ही छोड़ दे, प्रत्युत उनकी फलाशाका त्यागना ही गीताकारको अभीष्ट है।

सामान्य-धर्म और विशेष-धर्म तथा इनके आदर्श

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

सामान्य-धर्मका परिचय

सामान्य धर्म वह है, जिसे सर्वसाधारण लोग करते हैं, जैसे कि माता-पिता एवं गुरुवर्गकी आज्ञाओंका पालन एवं स्वजनोंके साथ बर्ताव तथा उचित प्रतिकार-रूपमें युद्ध करना एवं पितृकर्म आदि गृहस्थोंके कर्तव्योंका पालन करना। इस सामान्य धर्मके द्वारा सकामतासे लौकिक सुख एवं स्वर्ग आदिकी प्राप्ति तथा निष्कामतासे परम्परया ज्ञानोपासनाद्वारा मोक्ष-सुख भी प्राप्त होता है। अतएव इसमें—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।

(महा० कर्ण० ६९। ५८)

—इस धर्मके अर्थकी पूर्ण सार्थकता है। श्रीजनकजीने इसी कर्मयोगके द्वारा ज्ञानकी परम अवस्था प्राप्त की है, यथा—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः॥

(गीता ३। २०)

सामान्य धर्मके आदर्श श्रीरामजी

इस सामान्य धर्मका आदर्श-संस्थापन भगवान्‌ने अपने श्रीरामावतारसे किया है; यथा—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४। ८)

'धर्म-संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ।' तथा—

चारित्रेण च को युक्तः (वाल्मीकि० १। १। ३)

'किसका चरित्र (सर्वसाधारण) लोगोंके ग्रहण करने योग्य है?' श्रीवाल्मीकिजीके इस प्रश्नपर श्रीनारदजीने श्रीरामजीको ही कहा है; तथा—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।

(श्रीमद्भागवत ५। १९। ५)

भगवान् श्रीरामजीका मनुष्यावतार केवल रावण आदि राक्षसोंका वध करनेके लिये ही नहीं हुआ, प्रत्युत मनुष्योंको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये हुआ है।

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥

(श्रीमद्भाग० ९। १०। ५५)

श्रीरामजी पवित्र और एकपत्नीव्रतधारी होकर जिस गृहस्थ-धर्मका राजर्षियोंने आचरण किया था, उसका उपदेश देनेके लिये आचरण करने लगे।

श्रीरामजीने जहाँ-तहाँ अपने सामान्य धर्मकी शिक्षा दी है—

(१) सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

(रा० च० मानस, अयो० ४१)

(२) धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥

(रा० च० मानस, अयो० ४६)

(३) मातु पिता गुर स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥

(रा० च० मानस अयोध्या० ७०)

(४) निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥
निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

(रा० च० मानस, अरण्य० ९)

श्रीकैकेयीजीने श्रीरामजीकी वनयात्रा 'होत प्रात' ही माँगी थी। तदनुसार शीघ्र जानेका उसने श्रीरामजीसे अनुरोध किया। उसपर श्रीरामजीने माता कौसल्याको और पाणिगृहीता पत्नीको समझानेके लिये उससे सहेतु अनुरोध करके मुहूर्तभरका समय लिया और चौदह वर्षके बाद लौटने-पर एक प्रहर पश्चात् श्रीअवध आये; इसीलिये श्रीभरतजीके धैर्यके लिये प्रथम ही श्रीहनुमान्‌से अपने आनेका समाचार दे दिया, ऐसा श्रीवाल्मीकीय रामायणमें है। फिर श्रीसीताजीके आग्रहपर उन्हें साथ ले ही गये; क्योंकि अग्निसाक्षीसे पाणिगृहीता पत्नीका त्याग सामान्य धर्ममें अनुचित था।

सामान्य-धर्मकी व्यावहारिक आशङ्काओंके समाधान

सामान्य-धर्ममें कहा गया है—

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(महा० शान्ति० १०९। ३०)

जो मनुष्य जिस विषयमें जैसा व्यवहार करता हो, उससे वैसा व्यवहार करना धर्म है। कपटीको कपट व्यवहारोंसे बाधित करना चाहिये और साधु आचरणवालेके साथ वैसा सदाचरण करना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि कोई लाठीसे प्रहार करता हो तो उसे लाठीसे रोकना सामान्य-धर्ममें उचित ही है। आगे ऐसे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) श्रीरामजीने युद्धार्थ आये हुए आक्रमणकारी राक्षसोंका प्रतिकार-रूपमें युद्ध करके वध किया ही है।

(२) श्रीरामचरितमानस अरण्य० १६में विधवा शूर्पणखाके 'तातें अब लगि रहिउँ कुमारी।' ऐसे मिथ्या कथनके प्रत्युत्तरमें श्रीरामजीने भी वैसा ही 'अहइ कुआर मोर लघु भ्राता।' कहा है। अतः वैसा करना दूषित नहीं है।

(३) श्रीमद्भगवद्गीता १८। ५९-६०में अर्जुनको उनकी प्रकृतिके अनुकूल उनकी क्षत्रिय-धर्मकी रुचि दिखाकर उन्हें सामान्य-धर्मके अनुसार युद्धार्थ आये हुए प्रतिपक्षियोंसे हिंसात्मक युद्ध ही करवाया है, जो उपयुक्त ही है।

(४) महा० कर्ण० ९१। ४–६ में श्रीकृष्णभगवान्ने कर्णके धर्म दिखाकर अर्जुनसे भूमिमें फँसे हुए अपने रथको निकालनेका समय माँगनेपर उसके किये हुए पूर्वके अपकारोंका स्मरण कराकर बदलेमें अर्जुनके द्वारा उसका वध करवाया है।

(५) महा० कर्ण० ६९। ६२–६५ में कहा गया है कि यदि झूठी शपथ खानेसे कोई चोरोंके बन्धनोंसे छूटे तो दोष नहीं, किंतु चोरोंको धन न दे; देनेसे नरक होता है।

(६) महा० शान्ति० १६५। ३० तथा कर्ण० ६९। ६२ में कहा गया है कि हास्यरसके प्रत्युत्तरमें मिथ्या कथनका दोष नहीं होता।

(७) मनु० ८। ३५०-३५१ में लिखा है कि आततायी-का बिना विचार किये वध कर डालना चाहिये, उस वधमें दोष नहीं होता।

इन दृष्टियोंसे सामान्य धर्मके व्यावहारिक कार्योंमें कठिनाइयाँ नहीं रहतीं। हाँ, अपनी ओरसे किसीके प्रति अन्याय एवं मिथ्या कथन कभी नहीं होना चाहिये।

विशेष धर्मका परिचय

अनन्य भावसे ईश्वर-शरणागतिको विशेष धर्म कहते हैं। इसमें मुमुक्षु माता-पिता आदि समस्त सम्बन्धियोंके द्वारा चर जगत्‌में एवं अचर जगत्‌में व्याप्त एक ईश्वरको ही अपना सब प्रकारसे संरक्षक जानकर उसीको आत्मसमर्पण कर उसकी उपासनाद्वारा अपना उभय-लोकमें कल्याण चाहता है। इस निष्ठामें मुमुक्षु सामान्य-धर्मको पालनीय और विशेष धर्मको अवश्य पालनीय मानता है। जहाँ दोनोंमें विरोध पड़ता है, वहाँ सामान्य-धर्मकी उपेक्षा करके विशेष-धर्मको सम्पन्न करता है, किंतु विशेष-धर्ममें न्यूनता नहीं आने देता। इसके अवशिष्ट लक्षण आगे विशेष धर्मके आदर्शके चरित्रोंसे ज्ञात होंगे।

विशेष-धर्मके आदर्श श्रीलक्ष्मणजी

श्रीलक्ष्मणजीने शिशुपनसे ही श्रीरामजीको स्वामी मानकर उनमें अपनी अनन्य भक्ति-निष्ठा रखी है। यथा—

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥
(रा० च० मानस बाल० १९७)

बचपनसे ही श्रीरामजीको अपना हितैषी और स्वामी मानकर श्रीलक्ष्मणजीने उनके चरणोंमें प्रीति मानी है। तथा—

"......परम धरम रत निरमल करम बचन अरु मन के।
......चातक चतुर राम स्याम घन के॥"
(विनय-पत्रिका ३७)

अर्थात् यहाँ श्रीगोस्वामीजीने श्रीलक्ष्मणजीको 'विशेष-धर्म' का पर्यायी 'परम धरम रत' कहा है और साथ ही उनकी मन, वचन और कर्मगत निर्मलता भी कही है एवं इनको श्रीरामरूपी श्यामघनके चतुर चातक कहकर इनकी अनन्य-भक्ति-निष्ठा भी कही है। इसीसे ये श्रीराम-वनयात्रा-के प्रसङ्गमें वियोग-सम्भावनापर व्याकुल हो उठे, यथा—

मीनु दीन जनु जल तें काढ़े।
(रा० च० मा० अयो० ६९)

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
(वाल्मी० २। ५३। ३१)

श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे कहा है कि मैं और श्रीसीता

जी आपसे पृथक् रहकर मुहूर्तभर भी नहीं जी सकते उसी प्रकार जैसे जलसे पृथक् कर देनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं।'

श्रीलक्ष्मणजी अपनी विशेषधर्म-निष्ठाके साथ-साथ सामान्य-धर्मका भी पालन करते थे। जब स्वामी श्रीरामजीने वन-यात्राका निश्चय किया और श्रीलक्ष्मणजीने सुना, तब वे व्याकुल हो उठे; उनका शरीर काँपने लगा; शरीर पुलकित हो गया और आँसू गिरने लगे। तब उन्होंने अधीर होकर स्वामीके चरण पकड़कर साथ चलनेकी चेष्टा प्रकट की।

इसपर स्वामी श्रीरामजीने अपने सामान्यधर्मकी दृष्टिसे उन्हें माता-पिता एवं स्वामीकी शिक्षा धारणकर घरपर रहनेको कहा, तब श्रीलक्ष्मणजीने अपनी विशेषधर्मकी दृष्टिसे आलोचना करते हुए कहा है—

नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ॥
दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नर बर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

(रा० च० मा० अयो० ७१)

विशेष—'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह'—हे नाथ! मैं दास हूँ और आप स्वामी हैं, यदि आप मेरा त्याग ही करेंगे तो फिर मेरा क्या वश! अर्थात् मेरा दासत्व और आपका स्वामित्व नित्य सिद्ध है, यह सम्बन्ध निरुपाधिक है। यथा—

स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्।

जीवात्मामें स्वत्व (धन) का भाव है और ब्रह्ममें उसके स्वामी (धनी-भोक्ता) का भाव है। अतः जीवात्माका ब्रह्मसे नियत 'स्व-स्वामि' सम्बन्ध है। यथा—

दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च॥

सभी जीवात्मा परमात्माके स्वतःसिद्ध दास हैं, उन जीवों-के बद्ध और मुक्त अवस्थामें अन्य प्रकारके लक्षण नहीं हो सकते। भाव यह कि मैं अपने नियत अधिकारानुसार इन चरणोंकी सेवा ही चाहता हूँ; इसपर परम समर्थ स्वामी आप यदि त्याग ही करेंगे तो मेरा वश ही क्या!

इसपर यदि स्वामी कहें कि मैंने तो तुम्हें अच्छी ही शिक्षा दी है, मैं स्वयं उसी सामान्य धर्मपर आरूढ़ हूँ, तो उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए और अपनी विशेष धर्मकी वृत्तिके समक्ष उसका निराकरण करते हुए कहते हैं—'दीन्हि मोहि सिख नीकि……' सामान्यधर्मकी शिक्षा तो अच्छी ही है; पर मैं अपनी कायरतासे इसे भारका रूप एवं असाध्य मानकर डरता हूँ और अगम समझता हूँ। इस प्रकार उन्होंने स्वामीके स्वाभिमत धर्मका समर्थन किया। आगे उसके अधिकारियों-का वर्णन करते हैं—

'नर बर धीर……' भाव यह कि सामान्य धर्मका निर्वाह करनेमें आप (श्रीरामजी) के समान समर्थ लोग ही सफल हो सकते हैं। वे ही वेदवर्णित सामान्यधर्म और राजनीतिके अधिकारी हैं, वे सामान्यधर्म-मार्गके बड़े-बड़े कष्ट धैर्यसे सहन करनेमें समर्थ हो सकते हैं। 'मैं सिसु प्रभु सनेह……' अपनेको शिशु कहकर अनन्याश्रय, असमर्थ एवं उपायशून्य सूचित किया कि ऐसे ही लोग विशेष धर्म (शरणागति) के अधिकारी होते हैं। यहाँ वैदिक धर्म एवं माता-पिताकी सेवा आदि सामान्यधर्म सुमेरु गिरि और राजनीति मन्दराचल-के समान हैं, मराल (हंस) के समान असमर्थ मैं इनको नहीं उठा सकता।

हंसकी उपमासे यह भी सूचित किया कि जो हंसवत् विवेकी हैं, वे श्रीरामस्नेहमें ही जीवन रखते हैं; उन्हें उक्त धर्म और नीति मेरु-मन्दरके समान भार प्रतीत होते हैं। अतः इन व्यवहारोंसे वे डरते हैं। हंस विवेक-निपुणतामें शोभा पाता है, बोझा ढोनेमें नहीं।

श्रीलक्ष्मणजी बचपनसे ही राम-स्नेह करते हैं, इससे इन्हें ऐसी सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्राप्त है। अतः वे विशेष-धर्मके उत्तम अधिकारी हैं।

ऊपर 'नतरु तात होइहि बड़ दोषू।'

(रा० च० मा० ७०)

—से श्रीरामजीने सामान्यधर्म (माता-पिताकी सेवा आदि) के त्यागपर बड़ा दोष कहा था; उसके प्रति कहते हैं—'गुर पितु मातु…जहँ लगि जगत…मोरें सबइ एक तुम्ह…'—गुरु, पिता-माता आदि समस्त चर जगत्‌के द्वारा आपने ही प्रेरणा करके मेरे संरक्षण आदिके बर्ताव कराये हैं। अतः

उन श्लोकोंके द्वारा आपने ही मेरे सभी उपकार किये हैं। अतः मैं अन्यको कुछ न जानकर आपको ही सब कुछ मानता हूँ। मेरी दीनतापर दया-दृष्टि करके मेरे हृदयके भाव जान लीजिये। मैं सबके मूलरूप मानकर आपको ही आत्म-समर्पण करता हूँ। अतः आप मेरी इस विशेष-धर्म-निष्ठाको सफल करें।

भाव यह कि यदि मैं गुरु, पिता आदिकी सेवा न कर सकनेपर इन सबके मूलरूप आपकी सेवामें आत्म-समर्पण कर दूँगा तो इनके सेवा-त्यागका दोष मुझे न लगेगा। यथा—

> यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
> तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
> प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
> तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
>
> (श्रीमद्भागवत ४। ३१। १४)

'जैसे जड़के सींचनेसे वृक्षके सभी अङ्ग एवं प्राणोंके तृप्त होनेसे इन्द्रियाँ सचेत होती हैं, वैसे ही श्रीहरिका पूजन करनेसे सभीका पूजन हो जाता है (अर्थात् भगवान् सबकी आत्मा हैं, उन्हें आत्म-समर्पण करके तृप्त करनेपर सबकी तृप्ति हो जाती है)'—यह श्रीनारदजीने प्रचेताओंसे कहा है।

इसपर यदि स्वामी कहें कि यह सामान्य-धर्म भी तुम्हारे समान श्रेष्ठ लोगोंके लिये ही है, तब तुम उनकी अवहेलना क्यों करते हो? इसपर सामान्य-धर्मके अधिकारियोंका वर्णन करते हैं—

'धरम नीति उपदेसिअ ताही। ……'—उक्त सामान्य-धर्म एवं राजनीतिका उपदेश उसे देना चाहिये, जिसे जगत्‌में कीर्ति-स्थापन, ऐश्वर्य-प्राप्ति एवं परलोकमें सद्गतिकी काङ्क्षा हो; क्योंकि ये उस धर्म और नीतिके फल हैं; यथा—

> मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
> साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥
>
> (रा० च० मानस अयोध्या० ३०५)

भाव यह कि मुझे सामान्य धर्मके फलोंकी आकाङ्क्षा नहीं है। अतः मैं केवल आपके चरणोंका स्नेह ही चाहता हूँ। इससे विशेष धर्मका ही अधिकारी हूँ, यही आगेकी अर्धालीसे स्पष्ट करते हैं—

मन क्रम बचन चरन रत……'—जब उक्त रीतिसे मैं मन, वचन और कर्मसे सामान्य धर्मसे मुँह मोड़कर केवल आपके चरणोंका ही स्नेही हूँ और फिर आप 'कृपासिंधु' हैं तो क्या ऐसे अनन्य भक्तका त्याग किया जाता है? भाव यह कि ऐसे भक्तका तो कोई निष्ठुर भी त्याग नहीं करता। तथा—

> भीतिप्रदानं शरणागतस्य
> स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।
> मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
> भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे॥
>
> (महा० महाप्रस्थानिक० ३। १६)

हे इन्द्र! शरणागतोंको भय देना, स्त्रीवध, ब्राह्मण-धन-हरण और मित्रद्रोह—ये चार पाप हैं; मैं भक्त-त्यागके पापको भी वैसा ही मानता हूँ' ऐसा श्रीयुधिष्ठिरजीने कहा है। तथा—

> देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
> न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
> सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
> गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
>
> (श्रीमद्भागवत ११। ५। ४१)

'जिसने सारे कृत्योंका त्याग करके सर्वात्मना भगवान्‌की शरणागति कर ली है, वह देव, ऋषि, आप्तपुरुष और पितरोंका न ऋणी है और न दास है।' ऐसे विशेष धर्म-निष्ठोंके द्वारा उनके रुचि-विरोधी सामान्य-धर्मसे आराध्योंकी उपेक्षा भी देखी जाती है।

विशेष-धर्मनिष्ठ श्रीलक्ष्मणजीने जब देखा कि स्वामी श्रीरामजी वन जा रहे हैं, तब उपर्युक्त विचारके अनुसार इन्होंने गुरु, पिता और माता आदिसे आज्ञातक नहीं माँगी, धर्मपत्नीको भी कुछ न कहा; क्योंकि उनकी अस्वीकृतिपर इनके विशेष-धर्ममें विरोध पड़ता। माताके यहाँ तो स्वामी श्रीरामजीकी आज्ञासे गये; क्योंकि स्वामी श्रीरामजीको उपासना-शक्ति श्रीसुमित्राजीसे इन्हें विशेष धर्म-निष्ठाकी शिक्षा दिलानी थी, यथा—

> गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
> राम प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥
> पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
> अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥ ७३
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। रत।
(रा० च० मानस अयोध्या० ७३–७५)

इसपर इनकी प्रशंसा ही हुई है, जैसा कि भरतजीने कहा है—

(१) जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा॥
(रा० च० मानस अयोध्या० १८१)

(२) अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्।
भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥
महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥
(वाल्मीकि० २।४०।२५-२६)

श्रीलक्ष्मणजीने अपने विशेष धर्मकी दृष्टिसे अपने इष्ट श्रीरामजीके अपमानपर मार्जन करते हुए सामान्य-धर्मसे सम्मान्योंकी उपेक्षा भी की है, इसपर भी वे प्रशंसित ही हुए हैं। यथा—

(१) श्रीरामचरितमानस, धनुष-यज्ञ-प्रसङ्गमें श्रीरामजीके प्रति अपमानपरक श्रीजनकजीके वचनोंमें उनपर कुछ आक्षेपात्मक वचन कहे थे। सामान्य-धर्मकी दृष्टिसे एक बड़े-बूढ़े राजर्षिके सम्मानकी अवहेलना हुई है, पर वे इसपर प्रशंसित ही रहे हैं।

(२) वहींपर श्रीपरशुरामजीने इनके स्वामी श्रीरामजीके सम्मानकी अवहेलना की है, तब इन्होंने उनसे उचित प्रतिवाद किये हैं—'बोले परसु धरहि अपमानें।' पीछे सावधान होनेपर परशुरामजीने इनकी प्रशंसा ही की है।

(३) श्रीराम-वनवासपर पिताके द्वारा स्वामीका घोर अपमान समझकर पिताजीको भी कठोर वचन कहे हैं। जब पीछे जाना कि पिताजीने श्रीराम-शपथकी परवशतामें वैसा किया है, अन्यथा श्रीरामजीका ही अकल्याण होता, तब उसपर पश्चात्ताप किया है। यथा—

प्रेम निधि पितु को कहे मैं परुष बचन अघाइ।
पाप तेहि परिताप तुलसी उचित सहे सिराइ॥
(गीतावली अ० ३०)

(४) श्रीभरतजीके दल-बलसमेत चित्रकूट जानेपर इन्हें श्रीराम-विरोधी जान लक्ष्मणजीने उनके अपमानपर भी बहुत कठोर वचन कहे हैं। जब आकाशवाणीसे उनका भाव जाना, तब ये बहुत लज्जित हुए। उसपर श्रीरामजीने इनके उक्त नीतिपरक वचनोंपर प्रशंसा ही की है।

(५) समुद्रतटपर श्रीविभीषणजीके मतपर श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीका अपमान माना था; क्योंकि आगे रावणने उसीको लेकर श्रीरामजीके बल-बुद्धिकी निन्दा की है। अब वहाँ स्वामीपर भी उन्हींकी प्रतिष्ठा-रक्षाके लिये कुछ कठोर वचन (महा० शान्ति० १।१।८२–८४ के आधारपर) कहे थे। उसपर श्रीरामजीने हँसकर इन्हें आश्वासित किया था।

इसमें गुप्त रहस्य था। श्रीविभीषणजी ऐश्वर्य जानकर शरण हुए थे। पर सम्मुख देखनेपर वे माधुर्यमें मुग्ध हो गये। तब श्रीरामजीके कुलगुरु सागरके द्वारा वे श्रीराम-बल-पौरुष देखना चाहते थे, कुलगुरु सागर भी रावणका पड़ोसी होनेसे उसका बल जानता था, उसका भी श्रीरामपर वात्सल्य था, इससे उसने तीन दिनतक न आकर अवहेलना करके राम-बल-पौरुष देख सुखी हो मार्ग दिया था—

देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥
(रा० च० मानस सुन्दर० ५९)*

यदि उसका उक्त भाव न होता तो अपमानित होनेपर वह लज्जित होता। इन्हीं भावोंको लेकर श्रीगोस्वामीजीने इनके यशको रघुपति-कीर्तिका पताका-दण्ड कहा है—

बंदउँ लछिमन पद जलजाता।……
रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥
(रा० च० मानस बाल० १६)

श्रीलक्ष्मण-मूर्च्छापर श्रीरामजीने भी कहा है—

सेवक सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथये हैं।
निज करनी करतूति तात तुम्ह सुकृती सकल जये हैं॥
(गीतावली, लङ्का ५)

---

* इन पाँचों स्थलोंके विवेचनसे श्रीलक्ष्मणजीके सूक्ष्म विचार मेरे ग्रन्थ 'व्याख्यान-विवेकागार' के २७वें निबन्ध 'विशेष-धर्मके आदर्श श्रीलक्ष्मणजी' में विस्तारसे लिखे गये हैं। यहाँ विस्तार-भयसे सूक्ष्म ही लिखे गये हैं।

वात्सल्य-धर्म

(लेखक—श्रीबद्रीप्रसादजी पंचोली, एम्० ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न)

'धर्म' शब्दसे प्राकृतिक धर्म, शारीरिक धर्म तथा सामाजिक धर्मकी व्यञ्जना होती है। यह शब्द 'धृञ्—धारणे', 'धृङ्—अवस्थाने' अथवा 'डुधाञ्—धारणपोषणयोः' धातुओंसे व्युत्पन्न माना गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि इन धातुओंसे व्युत्पन्न तीन पृथक्-पृथक् शब्द कभी प्रचलित रहे होंगे, जिनके स्वर उच्चारण अर्थभेद कराते रहे होंगे। कालान्तरमें स्वरभेदपरसे दृष्टि हट जानेपर समाजमें तीनोंके स्थानपर एक श्लिष्ट रूप प्रचलित हो गया। तब पदार्थकी अवस्थितिमें सहायक तत्त्व, पदार्थके धारक तत्त्व तथा समाजद्वारा निर्धारित सामाजिक मर्यादा—ये तीनों अर्थ एक ही 'धर्म' शब्दसे व्यञ्जित होने लगे।

धर्म-शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें सर्वप्रथम देखनेको मिलता है। एक मन्त्रमें यज्ञके साथ धर्मका उल्लेख हुआ है —

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्[1]।

यहाँ दो यज्ञोंकी ओर संकेत है, जिनमेंसे द्वितीय यज्ञ देवताओंद्वारा प्रवर्तित है, जो प्रथम धर्म या धारक तत्त्वोंका कारणभूत है। प्रथम यज्ञ प्रजापतिका कामप्र[2] या संकल्परूप यज्ञ है, जिसे वह सप्त ऋषि-प्राणों तथा पितृ-प्राणोंकी सहायतासे क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। स्वयम्भू प्रजापति, परमेष्ठी प्रजापति, सूर्यरूप इन्द्र, सोम तथा अग्नि—इन पाँच रूपोंसे वह कामप्र यज्ञका प्रवर्तन करता है[3]। इस कामप्र यज्ञसे ही त्रिधस्थ—आदित्यात्मक एकादश, वायुरूप एकादश तथा अग्निरूप एकादश देवता उपर्युक्त द्वितीय यज्ञको प्रवर्तित करते हैं। प्रथम धर्मका सम्बन्ध इस यज्ञसे है। इस यज्ञका उद्देश्य है—प्रजापतिका स्वयंको बहुत रूपोंमें प्रकट करना। नामरूपात्मक जगत्के माध्यमसे ही वह ऐसा कर सकता है। इसलिये प्रथम धर्म नामरूपात्मक जगत्के मन, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक सात मूल-तत्त्व हैं, जिन्हें प्रजापतिकी असीम सत्ताको छन्दित—सीमित कर देनेके कारण छन्द भी कहा गया है। पञ्चभूतोंका पञ्च-ज्ञानेन्द्रियसे विषय-विषयि-सम्बन्ध है। ये सब धारक तत्त्व हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी कार्य-प्रणाली समानान्तर चलती है। ब्रह्माण्डके सूर्यादि तथा पिण्डके इन्द्रियरूप देवोंका अपने कार्यके माध्यमसे प्रजापति-प्रवर्तित यज्ञमें सहायक होना ही ऋग्वेदके उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार धर्म-संज्ञासे अभिधेय है।

प्रजापतिके यज्ञ और उसमें योग देनेवाले देवताओंके धर्मों या कर्तव्योंका उल्लेख वेदादिमें अनेकधा हुआ है। उनके द्वारा मानवसमाजकी विभिन्न संस्थाओं तथा उनके कार्योंका निर्धारण हुआ है। भगवद्गीतामें कहा गया है—

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्[4]॥

प्रजापतिने यज्ञके रूपमें इस विश्वको ही उत्पन्न किया था, जिसमें सूर्यादि देवगण कर्मरत रहते हुए आहुति दिया करते हैं। यह यज्ञ प्रजापतिके काम या संकल्पका दोहन करनेवाला हुआ। इसीलिये प्रजापतिने प्रजाओंसे कहा कि 'इस यज्ञद्वारा वे भी वृद्धिको प्राप्त होंगी।' यह यज्ञरूप सृष्टि प्रजाओंकी अभीष्ट-कामधेनु कही गयी है। अथर्ववेदके अनुसार इसीमें समस्त देवशक्तियोंका निवास है[5]। जब मनुष्य यज्ञभावनासे कर्म करता हुआ स्वयं देवताओंको इष्ट-भोग प्रदान करता है, तब वे यज्ञभावित देव भी उसे अभीष्ट प्रदान किया करते हैं[6]। देवशक्तियोंके कामोंके अनुकरणपर अपने कर्तव्योंका निर्धारण करके उनमें लग जाना ही देवोंको इष्टभोग प्रदान करना है। क्षत्रियका ऐन्द्र तथा ब्राह्मणका आग्निक कर्म है[7]। अतः इन कामोंसे इन्द्र

---

१. ऋग्वेद १ । १६४ । ५०, १० । ९० । १६

२. स परमेष्ठी पितरम् प्रजापतिमब्रवीत् कामप्रं वा अहं यज्ञमदर्शं तेन त्वा याजयानीति—शतपथ ११ । १ । ६ । १७

३. आ वा एषः सर्वैर्देवता एतेन कामप्रेण यज्ञेनाप्नोति।

—शतपथ ११ । १ । ६ । २०

४. श्रीमद्भगवद्गीता ३ । १०

५. अथर्ववेद—९ । ७ तुलनीय महाभारत आश्वमेधिकपर्व १०३ । ४५—५९, पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५० । १५५—६४, भविष्यपुराण उ० प० १५६ । १६—२०, स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड ८३ । १०४—१२

६. श्रीमद्भगवद्गीता ३ । १२

७. ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः।

—महाभारत, शान्तिपर्व [illegible] । २४

और अग्नि तुष्ट होते और यज्ञभावित हो जानेसे अभीष्ट फल प्रदान करते हैं।

सृष्टिकर्ममें प्रवृत्त होनेवाले देवगण एक ही शक्तिके विविध रूप माने गये हैं। सृजनको वेदोंमें गतिका पर्याय माना गया है। अतः उसे गो भी कहा गया है [८]। विविध देवोंके साथ गोका सम्बन्ध उल्लिखित है [९]। है तो वह गो एक ही, परंतु सृजनकी प्रवृत्तिके आधारपर इसके विविध रूप वर्णित हैं। कामधेनुः पृश्नि, बृहती, वशा, अघ्न्या, विराज, वासवी, सौम्या, ऐन्द्री, पारमेष्ठिनी, बार्हस्पत्या, स्वायम्भुवी आदि नामोंसे गोके स्वरूपपर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। इस गोको ऋग्वेदमें देवमाता, देवस्वसा तथा देवदुहिता-के रूपमें उपस्थित किया गया है [१०]। अदिति नामसे प्रसिद्ध इस देवमाताका वात्सल्य ही इस जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है। देवगण यज्ञमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा इस महाधेनुके वात्सल्यसे ही पाते हैं। गीताके उपर्युक्त कथनमें स्पष्ट संकेत मिलता है कि सृष्टिरूपिणी कामदुघा अभीष्ट सिद्ध करनेवाली है। वत्सला कामधेनुकी यह विचार-परम्परा ऋग्वेदसे आज-तक साहित्यमें व्याप्त है और इसने भारतीय सामाजिक संस्थाओंके विकास तथा वैयक्तिक साधनाके मार्गको निश्चित स्वरूप प्रदान करनेमें महत्त्वपूर्ण योग दिया है। महाधेनुका आध्यात्मिक वात्सल्य व्यावहारिक क्षेत्रमें मानवधर्मका अभिन्न अङ्ग बन गया है और भारतीय साधना और समाजव्यवस्थाके मूलाधारके रूपमें उसको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। प्रस्तुत निबन्धमें 'वात्सल्य-धर्म' का इस रूपमें अध्ययन करनेकी चेष्टा की गयी है।

महाधेनु

तान्त्रिकोंकी महात्रिपुरसुन्दरी अथवा महामाया, शाक्तोंकी महाविद्या, महावाणी, महालक्ष्मी अथवा महाकाली, वैष्णवों-की उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी श्रीदेवी (जिसके सीता, राधा आदि रूप हैं) तथा वैदिक वशा, बृहती, अदिति, अघ्न्या आदि एक ही सृजनशक्तिके विविध रूप हैं, जिसे महाधेनु भी कहा जा सकता है। मातृत्वमें धेनुका सर्वोपरि स्थान है। ऋग्वेदमें तो उसके मातृत्वका उद्घोष है ही, अथर्ववेदमें उसे मातृत्वका आदर्श माना गया है [११]। यह भी कहा गया है कि जैसे मांसाहारीका मन मांसमें, सुरासेवीका सुरामें, जुआरीका जुआमें तथा समर्थ पुरुषका मन स्त्रीमें निरत होता है, इन सबसे अधिक गौका चित्त वत्समें निरत होता है [१२]। महाभारतके अनुसार गौएँ सब भूतोंकी माता और सुखप्रदा होती हैं—

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः [१३]।

गौके इस आदर्श मातृत्वको दृष्टिमें रखकर ही आदि-सृजक-शक्तिको गौके प्रतीकके माध्यमसे वैदिक साहित्यमें प्रस्तुत किया गया ज्ञात होता है। इसे ही अन्य सृजक-शक्तियोंकी (गौओंकी) जननी अद्वितीय उषा भी कहा गया है, जो स्वयं गोरूप है [१४]। उसका वत्स सूर्य है [१५]। पुराणोंमें भी सब गौओंका एकत्व उनकी माता सुरभिमें देखा जाता है [१६]। ऋग्वेदके अनुसार ऋतके सदनमें वह एक धेनु अग्निकी परिचर्या करती है [१७]। अपने अन्य धेनुरूपोंके साथ वह एक धेनु ही सबका पालन करती है [१८]। यद्यपि विविध देवशक्तियोंके साथ वह अपने विविध-रूपोंसे ही सहयोग करती है, इस विभिन्नतामें भी एकता विद्यमान है और अन्ततोगत्वा एक धेनु ही ऋषि, धाम, यज्ञ आदि नाना रूपोंमें व्यक्त होती है और उसके बाहर कुछ भी नहीं है [१९]। वह सृजक-देवकी सामर्थ्य मात्र ही नहीं है, वरं उससे अभिन्न भी है [२०]।

८. देखो लेखकका शोध-प्रबन्ध 'ऋग्वेदमें गोतत्त्व' राज० विश्वविद्यालय, १९६४

९. वही, 'गो व अन्य देवता' नामक अनुच्छेद द्रष्टव्य।

१०. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।—ऋग्वेद ८। १०१। १५

११. तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव।—अथर्ववेद ३। २३। ४

१२. अथर्ववेद ६। ७०। १, मन्त्र २ व ३ भी द्रष्टव्य।

१३. महाभारत, अनुशासनपर्व ६९। ७

१४. गवां जनित्री।—ऋग्वेद १। १२४। ५; माता गवाम्,—ऋग्वेद ४। ५२। २, ३, ७। ७७। २

१५. ऋग्वेद १। ५८। १ तथा १। ११३। २

१६. सुरभी च गवां प्रसूः। देवीभागवतपुराण ९। १। १२४, ९। ४९। २

१७. ऋग्वेद ३। ७। २

१८. वही ३। ३८। ७

१९. 'वैदिक दर्शन'—डा० फतहसिंह, पृष्ठ २४७ पर अथर्ववेद ८। ९। २६ के आधारपर निकाला गया निष्कर्ष।

२०. 'आ या गावः स जनास इन्द्रः।'—ऋग्वेद ६। २८। ५

महाधेनु शब्दका प्रयोग यहाँ धेनुरूप महत्-तत्त्वके लिये हुआ है। जगत्की आदि-सृजनावस्थाका नाम महत् है। इस अवस्थामें प्रकृतिकी साम्यावस्थामें प्रथम बार चैतन्यके स्पन्दनके कारण गति उत्पन्न होती है। इसी कारण इसे गो कहा गया है। पं० मधुसूदन ओझाके अनुसार गति और स्थिति मात्र ही जगत्के मूल हैं, जिनमें अग्नि गति-तत्त्व है और सोम स्थिति-तत्त्व है। इन दोनोंका योगरूप रजोभाव ही आपस् है[२१]। अथर्ववेदके अनुसार आपस्-तत्त्व और अघ्न्या—गो अभिन्न हैं[२२]। यहाँ गोको वरुणसे भी अभिन्न कहा गया है। डा० फतहसिंहने वरुणको महत्-तत्त्व ही माना है[२३]। इस प्रकार गो, वरुण, आपः आदि सृष्टिकी प्रथम सृजमान स्थितिकी वैदिक संज्ञाएँ हैं। यह जगत् वरुणका साम्राज्य है, गोका वत्स है और आपोमय है। सृष्टिकी यह प्रथम सृजक-शक्ति ही अनेक रूपोंमें नित्य सृजनमें योग दिया करती है। इसीलिये इसे महाधेनु कहा गया है।

ऋग्वेदके अनुसार महत्-तत्त्व देवोंका असुरत्व है और सभी देवोंमें वह एक ही है[२४]। इसे परवर्ती साहित्यमें देवीमायाके नामसे जाना गया ज्ञात होता है। शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है कि प्रजापतिके मुखसे तेज स्रवित हुआ, जो गो या वृषभ बन गया[२५]। पद्मपुराणके अनुसार ब्रह्माके मुखसे निकलनेवाला यह तेज महत्-रूप था—

पुरा ब्रह्ममुखाद्भूतं कूटं तेजोमयं महत्[२६]।

वायुपुराणके अनुसार चतुर्मुखी जगत्-जननी प्रकृति ही गो है—

चतुर्मुखी जगद्योनिः प्रकृतिर्गौः प्रकीर्तिता[२७]।

चतुर्मुख ब्रह्मा महत्-तत्त्वसे अभिन्न है और महाधेनुका ही नाम है।

२१. रजोवाद—पं० मधुसूदन ओझा, पृ० ८–९

२२. अथर्ववेद ७।८९।२

२३. वैदिक-दर्शन, पृ० ६८–८०

२४. 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'—ऋग्वेद ३।५५।१–२२ महत्—'मह् वृद्धौ' धातुसे व्युत्पन्न होनेसे ब्रह्म या ब्रह्माका पर्यायवाची है।

२५. शतपथ ६।३।७।१४

२६. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५०।१२०

२७. वायुपुराण २३।५५

महाधेनुका वात्सल्य

वेदोंमें सृजक-शक्तिको वाक् भी कहा गया है जो धेनुसे अभिन्न है[२८]। सारा संसार वाक्-शक्तिका ही विलास है। वह धेनु है और मन उसका वत्स है। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार तथा हन्तकार, जिनसे वह देवों, पितरों तथा मनुष्योंका पोषण करती है—

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः[२९]।

इस कथनसे स्पष्ट है कि देव, पितर तथा मनुष्योंको जन्म देकर इस महाधेनुने अपने वात्सल्यका विषय बनाया है। असुर या प्राणोंका असत् रूप इन तीनोंके पहलेका है। यज्ञरूप जगत्के द्वारा देवोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। असत् प्राणोंका 'सत्' रूप ही जगत् है। सृजनका आरम्भ महाधेनुके वात्सल्यके प्रदर्शनके रूपमें हुआ।

ऋग्वेदमें गोको देवमाता अदिति कहा गया है[३०]। वह सभी देवोंकी माता है, परंतु रुद्रों, मरुतों, आदित्यों आदिकी माताके रूपमें उसका विशेषरूपसे उल्लेख मिलता है[३१]। ये देवता गोकी प्रेरणा प्राप्त करके विश्व-यज्ञमें भाग लेते हुए महाधेनुके वात्सल्यके अधिकारी बनते हैं।

ऋग्वेदमें यह स्पष्ट किया गया है कि ऋतकी धेनुने उत्पन्न होते ही इस संसारको दूहा—ऋतस्य धेनुः अदुहज्जायमानाः[३२]। अथर्ववेदमें वशा, विराज, ब्रह्मगवी तथा शतौदना नामक गौओंका उल्लेख मिलता है। इनमेंसे वशा सृजक-शक्तिरूप गोकी वह अवस्था कही जा सकती है, जब वह प्रलयके समय सृजनमें असमर्थ—वन्ध्या रहती है[३३]। आगे वह अपने इस वन्ध्या-स्वरूपको त्यागकर गर्भिणी हो जाती है। कबीरदासने कहा है कि यह कामधेनु

२८. ऋग्वेद—८।१००।१०, ११ तथा ८।१०१।१५-१६

२९. बृहदारण्यकोपनिषद् ५।८।१

३०. ऋग्वेद ८।१०१।१५

३१. 'ऋग्वेदमें गोतत्त्व'—पञ्चम अनुच्छेद

३२. ऋग्वेद १०।६१।१९

३३. देखो—'वशा और उसका स्वरूप'—हरदीप्रसाद पंचोली, वेदवाणी १७।२।

गर्भिणी रहनेपर अमृत स्रवण करती है, परंतु प्रसन्न होनेके उपरान्त दूध नहीं देती[३४]। यह वशा धेनुका ही परवर्ती रूप ज्ञात होता है। ब्रह्मगवी वशाके सृजक रूप बार्हस्पत्या गोका नाम है[३५]। विराज गौ सम्राज व स्वराज नामक सृजक-शक्तियोंकी राजसत्ताका नाम है। शतौदना प्रकृतिरूपी गोकी उस अवस्थाका नाम है, जब वह विविध रूपोंसे सृष्टिमें अनन्तरूपमें व्याप्त हो जाती है। पुराणोंमें इसे शतरूपा कहा गया ज्ञात होता है। डा० फतहसिंहने अदिति, पृथिवी, वाग्देवी और प्रकृतिको अभिन्न माना है और अदितिके भक्षक और पोषक रूपोंका उल्लेख भी किया है[३६]।

स्पष्ट है कि गो नामकी एक ही शक्ति—गति अपने सृजन, पालन और प्रलय रूपोंसे विभिन्न नामोंसे जानी जाती है। उसका सृजक रूप समस्त विश्वको वात्सल्य प्रदान करता है—अपने पोषक रूपसे। सौम्या गोके नामसे सुज्ञात वह शक्ति ही परम वत्सला होनेसे सबका पोषण करनेवाली कामधेनु कही गयी है। डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार यह विश्वधायस् धेनु है, जिसका काम ही दूध है और विश्व ही उससे दुग्ध दोहनेवाला वत्स है[३७]।

वात्सल्यकी समाजमें प्रतिष्ठा

भारतीय जीवनमें व्याप्त विचारों एवं विश्वासोंके आधार वेद हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार उसी मधुमय उत्ससे भारतीय अध्यात्म-शास्त्रके निर्झर प्रवाहित हुए हैं[३८]। वेदोंमें प्रतीकात्मक शैलीके द्वारा सृष्टिके गूढ़ रहस्योंको व्यक्त किया गया है। गोके प्रतीकद्वारा वहाँ सृष्टिरूपी वत्सकी माता अनन्त प्रकृतिकी ओर संकेत किया गया है। परवर्ती कालमें इस गो प्रतीककी समाजमें दो तरहसे प्रतिष्ठा हुई। प्रथमतः वात्सल्य-प्राप्तिके हेतु गोतत्त्वकी उपासनाका समारम्भ हुआ। द्वितीयतः गो एवं वत्सका सम्बन्ध सामाजिक जीवनकी एक विशिष्ट परम्पराका वाचक बन गया और उसके अनुकरणपर विशिष्ट समाजतन्त्रका विकास हुआ। ऋग्वेदमें साधारणतः गो-शब्द प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है, परंतु कहीं-कहीं उसे वस्तु-प्रतीक भी माना जा सकता है[३९]। कालान्तरमें शब्दकी प्रतीकात्मकता गौण हो गयी और श्लिष्ट अर्थोंद्वारा ऐसे स्थानोंपर काम चलाया जाने लगा। ऐसे समयमें गो-पशु भी समाजमें मातृत्व और प्रजननका प्रतीक बनकर पूजाका अधिकारी बन गया। पुराणोंकी कतिपय निम्न उक्तियोंमें पशु-गोके विषयमें भारतीय जनताके विचार द्रष्टव्य हैं—

१—गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं परम्।
अन्नमेव परं गावो देवानां हविरुत्तमम्[४०]॥

२—गावः पवित्रं परमं गावो माङ्गल्यमुत्तमम्।
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः[४१]॥

३—गावः पवित्रा माङ्गल्या गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः[४२]।

४—पृष्ठे ब्रह्मा सदा लोकाः प्रतिष्ठन्ति स्वभावतः[४३]।

५—सर्वदेवमयः साक्षात्सर्वसत्त्वानुकम्पकः[४४]।

६—देवी गौर्धेनुका देवाद्यादिदेवी द्विजप्रिया।
प्रसादाद्यस्य यज्ञानां प्रभवो हि विनिश्चितः[४५]।

७—गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति भुवनान्येकविंशतिः[४६]।

८—नमोऽस्तु विश्वमूर्तिभ्यो विश्वमातृभ्य एव च[४७]।

महाभारतमें भी गौके विषयमें ऐसे ही विचार मिलते हैं—

१—यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजंगमम्।
तां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम्[४८]॥

२—देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै[४९]।

३—गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम्।
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा[५०]।

४—यज्ञाङ्गकथिता गावो यज्ञ एव च वासवः[५१]।

---

३४. कबीर-ग्रन्थावली—पदावली पद १५८।

३५. देखो 'ब्रह्मगवी'—बद्रीप्रसाद पंचोली, वैदिकधर्म (मासिक) अगस्त १९६५।

३६. 'वैदिक दर्शन' पृ० १०१।२। अत्तीति अदितिः तथा अदते इति अदितिः—इन निर्वचनोंसे अदितिके इन रूपोंकी ओर संकेत मिलता है।

३७. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'—भूमिका, पृ० १९

३८. 'कल्पवृक्ष' भूमिका, पृ०क

३९. 'ऋग्वेदमें गो-शब्द'—गो प्रतीकके रूपमें—नामक अनुच्छेद द्रष्टव्य।

४०. अग्निपुराण (मनसुखराय मोर संस्करण), २९२।१२।

४१. अग्निपुराण २९२।१३।

४२. अग्निपुराण २९२।१४।

४३. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५०।१३०

४४. वही ५०।१३२

४५. वही ५०।१३५

४६. मत्स्यपुराण २७७।१२

४७. वही २७७।१२

४८. महाभारत, अनुशासनपर्व ८०।१५

४९. वही ८१।४

५०. वही ८१।१२

५१. वही ८१।१७

इन विचारोंसे स्पष्ट है कि पशुओंमें गौको पूजनीय स्वीकार किया गया और आध्यात्मिक साधनामें उसे प्रतीकके रूपमें विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया। भारतकी बौद्ध, जैन और वैदिक परम्परामें गौको इसी रूपमें स्वीकार किया गया है।

वैदिक परम्परामें वात्सल्य

वैदिक परम्परामें समस्त श्रेष्ठ कर्म यज्ञ कहे जाते हैं—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'[52]। आचरणपूर्वक विशिष्ट मेधाका विकास यज्ञका मुख्य उद्देश्य है। यज्ञको मेध कहनेका यही कारण ज्ञात होता है। 'यज्' और 'मेधृ' धातुओंका मेल करना अर्थ है। अतः इन धातुओंसे व्युत्पन्न 'यज्ञ' और 'मेध' शब्दोंको पर्यायवाची मानना सर्वथा उपयुक्त है।

अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेधका वैदिक यज्ञोंमें विशिष्ट स्थान है। ये तीनों समाजकी विशिष्ट संरचनाके परिचायक हैं। अश्व, गो तथा पुरुष समाज-संगठनकी विशिष्ट परम्पराओंके लिये प्रयुक्त पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं। पुरुष-यज्ञकी समाजशास्त्रीय व्याख्या डा० फतहसिंहने 'वैदिक समाजशास्त्र—मूलाधार' तथा 'वैदिक समाजशास्त्रमें यज्ञकी कल्पना' नामक ग्रन्थोंमें की है। गोमेधपर इन पंक्तियोंके लेखकने अपने कई लेखोंमें विचार प्रकट किये हैं। इन सभी यज्ञोंका उद्देश्य—मेधाप्राप्ति आचरणद्वारा सिद्ध होता है। इस प्रकार यज्ञका आधार आचरण माना जा सकता है। वाल्मीकि-रामायणमें अश्वमेधयाजी सगरको अश्वचर्यामें लीन कहा गया है[53]। श्रीमद्भागवतपुराणमें गोचर्याका वर्णन भी मिलता है[54]। अश्वचरी तथा गोचरी वृत्तिके लोगोंके ही कदाचित् बौद्ध-ग्रन्थ चूलनिद्देसमें अश्व-व्रतिक व गोव्रतिक कहा गया है। अश्वचरी वृत्ति केवल विजेता क्षत्रियोंद्वारा ही अपनायी गयी, परंतु गोचरी वृत्ति सर्व-साधारणमें ही विशेषरूपसे प्रचारित हुई। यही कारण है कि यह वृत्ति अब भी भारतमें जीवित है। इस वृत्तिका आदर्श वात्सल्य है और प्राप्तव्य गौका परमपद। परवर्ती साहित्यमें इस वृत्तिका जो रूप मिलता है, उसकी वेद-संहिताओंसे पुष्टि हो जाती है।

ऋग्वेदमें आदिशक्तिका गौके रूपमें वर्णन मिलता है—

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां
वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं
सा वर्धतां महते सौभगाय॥[55]

इस मन्त्रमें वत्सके प्रति गमन करनेवाली वात्सल्यमयी गौका वर्णन है तथा वत्सका मनसे सम्बन्ध भी ध्वनित होता है। कुछ लोगोंने इस मन्त्रके प्रथम एवं तृतीय चरणोंके प्रथमाक्षरोंके संयोगसे हिंदू-शब्द-की निष्पत्ति मानी है। इस प्रकार हिंदू-शब्दका अर्थ गौ (प्रकृति) का दोहन करनेवाला होगा। अथर्ववेद तथा पुराणोंमें स्पष्ट ही प्रकृतिरूपी गौके दोहनका वर्णन मिलता है। ऋग्वेदमें इसी वत्सला गौको सहवत्सा,[56] वत्सिनी,[57] नित्यवत्सा[58] आदि विशेषणोंसे विभूषित किया गया है। ऋग्वेदमें वत्स तथा पुनर्वत्स ऋषियोंका उल्लेख भी मिलता है। पुनर्वत्स-शब्दका अर्थ है—जो पुनः वत्स बन जाय—'A weaned calf that begins to suck again' ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ इस क्रमसे संन्यासके रूपमें ब्रह्मचर्यको अपना लेना ही पुनर्वत्सकी कल्पनाका मूल है। पुनर्वत्स ऋषिद्वारा दृष्ट सूक्तके एक मन्त्रमें इस व्यवस्थाका ऋषिसे तीन सरोवरोंके दोहनके रूपमें उल्लेख मिलता है[59]। समाजकी इस व्याख्याको आश्रम-व्यवस्था कहा गया है। आश्रम-शब्द-का अर्थ है—जिसमें श्रम व्याप्त हो (आसमन्तात् श्रमः यस्मिन्)। वत्स कदाचित् संवत्स है, जिसका अर्थ है—पूर्ण वत्स। एक मन्त्रमें संवत्सका उपमानके रूपमें प्रयोग मिलता है[60]। सम्पूर्ण जीवनको वत्सके रूपमें बिताता हुआ संन्यासी या बाल-ब्रह्मचारी ही संवत्स कहा जा सकता है। वत्स-दृष्ट सूक्तके अनुसार पर्वतोंके प्रान्तों, नदियोंके संगम-स्थलपर कर्म-सामर्थ्यसे विप्र उत्पन्न होता है[61] और वह प्रज्ञावान् (चिकित्वान्) होकर ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है,[62] जहाँ वे प्रथम शक्तिदाता इन्द्रकी निवासप्रद ज्योतिको देखते हैं[63]। समस्त प्राणी इस भेदमें इन्द्रका ही वरण करते हैं[64]। इन्द्र गौसे अभिन्न है—इमा या गावः स जना स

५२. शतपथब्राह्मण १ । ५ । ४ । ५
५३. रामायण, बालकाण्ड ३९ । ६
५४. श्रीमद्भागवतपुराण ११ । १८ । २९
५५. ऋग्वेद १ । १६४ । २७
५६. ऋग्वेद १ । ३२ । ९
५७. ऋग्वेद ७ । १०३ । २
५८. अथर्ववेद ९ । १०९ । १
५९. ऋग्वेद ८ । ७ । १० इस मन्त्रमें सरोवरोंके नाम शर्य, ककुदादि हैं।
६०. संवत्स इव मातृभिः—यथा संवत्स अपनी माताओंसे मिलता है, ऋग्वेद ९ । १०५ । २
६१. ऋग्वेद ८ । ६ । २८
६२. ऋग्वेद ८ । ६ । २९
६३. ऋग्वेद ८ । ६ । ३०
६४. ऋग्वेद ८ । ६ । ४४

इन्द्रः [65]। इसे मन और हृदयसे प्राप्त किया जा सकता है। मन और हृदयसे इन्द्रको प्राप्त करना ही यहाँ 'गोष' कहा गया है। यह शब्द परवर्ती साहित्यमें भी इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि वत्स-दर्शन वैयक्तिक साधना-द्वारा वात्सल्य-प्राप्तिपर तथा पुनर्वत्स-दर्शन सामाजिक साधनाद्वारा वात्सल्य-प्राप्तिपर बल देता है। वात्सल्य-प्रदात्री शक्ति गो है। इन्द्रादि उसी सृजक-शक्तिके पुं-रूप हैं। आश्रमव्यवस्थाके अनुकूल श्रम करता हुआ साधक शर्ममें या शर्मीमें स्थित होता है, जिसमें गो जन्म ग्रहण करती है—शम्या गौर्जगार [66]। डा० फतहसिंहके अनुसार सूक्ष्मतम शरीरकी शक्ति शमी, सूक्ष्म शरीरकी शची तथा स्थूल शरीरकी शक्ति श्रमके रूपमें अभिव्यक्त होनेवाली है। शची इन्द्र-पत्नी है और प्राणमय कोशकी शक्ति है। मनोमय कोशमें उसका सूक्ष्मरूप शमीके रूपमें इन्द्ररूप गौको जन्म दिया करता है। उसका वात्सल्य पाना ही साधकका अभीष्ट होता है।

इस संक्षिप्त विवेचनके आधारपर हम यह सोचनेके लिये स्वतन्त्र हैं कि ऋग्वेदमें शरीरस्थित चैतन्य-सत्ताको असीमसे ससीम बनाने और इस प्रकार मित करनेवाली सृजक-प्रकृतिको माता कहा गया है और वह ससीम सत्ता—जीव संसारमें खूँटेसे बँधा हुआ वत्स है। प्रलयरात्रिसे ही वह अपनी मातासे अलग रहा है। जब सृजनावस्थाके उषाकालमें विशिष्ट प्रक्रियासे वह इस गौका वात्सल्य प्राप्त करता है, तब उसका परिचय गौके माध्यमसे उसकी गतिके प्रेरक असीम चैतन्य-तत्त्वसे भी हो जाता है। यह प्रेरक-तत्त्व गतिरूप ब्रह्माण्डकी नाभि है, जिसे प्राप्त करके साधक नाभानेदिष्ठ (नाभिके निकटतम) हो जाता है। [67]

गौका सम्बन्ध ज्योतिसे माना गया है। अदितिकी अजस्र-ज्योतिका उल्लेख मिलता है [68]; उरुज्योति [69], अमृतं ज्योतिः [70], महि ज्योतिः [71], पृथु ज्योतिः [72] आदिका सम्बन्ध भी गौसे ज्ञात होता है। निरुक्तके अनुसार गो रश्मिवाचक भी है और सम्भवतः वह चैतन्य पुरुषकी ज्योतिको वहन करनेवाली है। उपर्युल्लिखित नाभि और अमृतज्योति अभिन्न हैं। इस गौके माध्यमसे अमृतज्योति प्राप्त कर लेनेवाले साधकको ही सम्भवतः परवर्ती साहित्यमें पुङ्गव या ऋषभ विशेषण दिया गया है, जो बादमें श्रेष्ठता-वाचक बन गया। पुरुषर्षभ, मुनिपुङ्गव, पुरुषपुङ्गव, त्रिदश-पुङ्गव, नरपुङ्गव आदि शब्दोंमें इन विशेषणोंको देखा जा सकता है। रामायणमें वसिष्ठको अनेकधा मुनिपुङ्गव कहा गया है। भवभूतिने उन्हें उत्तररामचरितमें 'आविर्भूतज्योतिः' कहा है [73]। दिव्यशक्तिको साधनाद्वारा प्राप्त करनेवाला दूसरेके प्रति वत्सल होनेमें समर्थ है। नरपुङ्गव राम भ्रातृवत्सल [74], रिपुवत्सल [75] और पितृवत्सल [76] कहे गये हैं। पार्थिवर्षभ दशरथ पुत्रवत्सल हैं [77] तथा जनक धर्मवत्सल [78]। समाजमें वात्सल्य-धर्मकी प्रतिष्ठा सर्वसाधारणके वत्सवत् आचरण तथा सिद्ध पुरुषोंके गोवत् आचरणके कारण होती है। सिद्ध पुरुष समाजमें गोचरी-वृत्ति अपनाकर वत्सवत् आचरण करनेवाले सामान्यजनोंके प्रेरणा-स्रोत बनकर सामाजिक मर्यादाओंके प्रतिष्ठापक बनते हैं।

वैयक्तिक साधना एवं सामाजिक-व्यवहारमें वात्सल्यका उद्भव वत्स एवं वत्सलके सम्मिलनसे होता है। आध्यात्मिक जगत्‌में विज्ञानमय कोशकी परशक्ति ही वत्सला गो है, जो विविधरूपसे मनोमयकोश, प्राणमयकोश तथा अन्नमयकोशमें इच्छा, ज्ञान और क्रियाके रूपमें व्याप्त रहती है। समाजमें गोचरी-वृत्तिमें लीन सिद्ध पुरुष ही साधारण व्यक्तियोंके प्रति वात्सल्य प्रकट करनेमें समर्थ है।

वत्सको वात्सल्यका अधिकारी बननेके लिये अपने स्वरमें अभावकी सांकेतिक अनुभूति, मातृ-वियोगकी पीड़ा, पुन-र्मिलनकी उत्कण्ठा, आशा, विश्वास और कारुणिकताकी समुचित अभिव्यक्तिको समाविष्ट करना होता है। संगीतमें ऋषभस्वर गोस्वर अथवा चातकस्वरके समान माना गया

६५. ऋग्वेद ६।२८।५
६६. ऋग्वेद १०।३१।१०
६७. 'वैदिक समाजशास्त्रमें यज्ञकी कल्पना'—पृ० [illegible]
६८. ऋग्वेद ७।८२।१०, ८२।१०
६९. ऋग्वेद ७।५।६, १०।४
७०. ऋग्वेद ५।७६।४
७१. ऋग्वेद ३।३१।[illegible]
७२. ऋग्वेद ५।४६।४
७३. उत्तररामचरित ४।१८
७४. रामायण, अ० का० [illegible]
७५. वही २१।६
७६. वही १२।१२
७७. वही, बालकाण्ड ७१।२४, अयोध्याकाण्ड [illegible]
७८. वही, बालकाण्ड ५०।६

है[79] । चातकके समान कारुणिकता वत्सके स्वरमें ही प्राप्त होती है। इसलिये सम्भवतः ऋषभस्वर वत्सके समान करुणा जगानेवाला माना गया होगा। गोमें वात्सल्य वत्सके स्वरसे ही जागता है । डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार गोके शरीरमें कोई ऐसी रसायनशाला है, जो जलको दूधमें बदल देती है। परंतु वत्सके बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है[80], वत्सवत् आचरण करनेवाला व्यक्ति श्रम-साधनाद्वारा अपने मनको संयत करके स्वयंको वात्सल्यका अधिकारी बना लेता है। एक मन्त्रके अनुसार मनरूप वत्स संयत होकर परम स्थानसे अग्रणी अग्निको वाणीद्वारा प्राप्त करनेकी इच्छा करता है[81] ।

वत्स तथा वत्सलके सम्मिलनके लिये की जानेवाली शारीरिक तथा मानसिक साधना ही 'मेध' कही जाती है। गोमेध-शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें नहीं मिलता।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वर्णित गोमेध

गोमेधको गवालम्भ भी कहा गया है; क्योंकि इसमें गोको प्रतीकरूपमें ग्रहण किया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें गोसव तथा गवामयनके रूपमें गोमेधका वर्णन मिलता है। इन दोनोंका उद्देश्य भी यही है, जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है।

गोसव-शब्द 'षु—प्रसवैश्वर्ययोः'—अथवा 'षुञ्-अभिषवे' धातुसे व्युत्पन्न है; इसलिये इसका अर्थ है—गौओंका प्रसव, गौओंके ऐश्वर्यसे युक्त होना, गौओंका दोहन करना। गोसवको स्वाराज्य-यज्ञ कहा गया है—अथैष गोसवः स्वाराज्यो वा एष यज्ञः[82] । परमेष्ठी प्रजापतिका नाम स्वाराज्य है[83] और उन्हींका यह यज्ञ है। गोसवमें प्रतिष्ठा-तत्त्व या दिक्-तत्त्वको उपासनाका विषय बनाया जाता है। प्रतिष्ठाका आधार पोषण है। समस्त पोषकतत्त्वोंका सूक्ष्म रूप वेदोंमें आपस्तत्त्व माना गया है। आपोमण्डलके अधिष्ठाता ऋतदेव विष्णु हैं। इस यज्ञमें विष्णुकी उपासना की जाती है[84] । ऋग्वेदके अनुसार विष्णुके परमपद अर्थात् परमेष्ठी-मण्डलमें भूरिशृङ्गा गौएँ निवास करती हैं[85] । यज्ञमें इस मन्त्रके भावोंके अनुसार समृद्धिके लिये अयुत—दस सहस्र गौएँ एकत्र की जाती हैं और साधना-समाप्तिके उपरान्त उनको दान कर दिया जाता है[86] । ये गौएँ सम्भवतः प्रतिव्यक्ति एकके हिसाबसे २०००० यज्ञमें भाग लेनेवाले विद्वानोंको दुग्धादि प्रदान करनेके लिये होती थीं। इन आगन्तुकोंकी संगतिमें यजमान स्वर्ग-सुखका अनुभव करके अपने सामाजिक गौरव तथा प्रशासनिक-पदादिको भुलाकर आत्म-दक्षिण हो जाता है। इस निरभिमानताके फलस्वरूप वह विद्वत्समाजका वात्सल्य पा लेता है। इस प्रकार विष्णुकी उपासना करते हुए समाजके प्राज्ञ-वर्गका वात्सल्य पाकर उत्कृष्ट सामाजिकसंगठनमें बँध जाना ही 'गोसव' का उद्देश्य है।

गवामयनमें काल-ब्रह्मकी उपासना की जाती है जो संवत्सर पर्यन्त चलती है अथवा संवत्सरके प्रतीकके रूपमें स्वीकृत नव दिनोंतक चलती है। इनमेंसे आठ दिन आठ दिशाओंके प्रतीक हैं तथा नवम स्वर्गलोकका प्रतीक है। वे दिन हैं—विश्वजित्, ज्योति, गो, आयु, विष्णुवत्, आयु, गो, ज्योति तथा अभिजित्। गवामयनमें शरीरगत मन, प्राण और वाक्‌के द्वारा चलनेवाले चेतनाके यज्ञको काल-ब्रह्मके साथ संयुक्त किया जाता है, जिससे आयु, गो तथा ज्योति नामक तत्त्व, जिन्हें त्रिककुद् कहा जाता है, परमज्योतिकी उपलब्धिमें सहायक बन जायँ। कालब्रह्मकी उपासनाका यह नवबासरीय क्रम ही शिवके प्रलयंकर महाकाल रूपकी उपासनाका प्रारूप प्रतीत होता है, जो नवरात्रमें शक्ति-संयुक्त अथवा अकेले शिवकी ही की जाती है। शिवको ऋषभवाहन माना जाता है। वे स्वयं ऋषभरूप हैं और पुङ्गव होनेके कारण वात्सल्य प्रदान करनेमें समर्थ हैं। अर्द्धनारीश्वरशिवमें वत्सला-शक्ति भी समाविष्ट है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि गोसव एवं गवामयनमें प्रतिष्ठा-ब्रह्म एवं काल-ब्रह्मकी उपासना करते हुए साधकको

---

७९. 'शब्दकल्पद्रुम' प्र० खण्ड पृ० २८७

८०. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय-संस्कृति' भूमिका, पृ० १९

८१. ऋग्वेद ८। ११। ७ इस मन्त्रमें सायणने वत्सको ऋषि-विशेषका नाम माना, जो अग्निके मनको अपनी ओर खींचते हैं, परंतु बृहदारण्यकोपनिषद्‌ने मनको 'वत्स' कहा गया है। अतः यहाँ वत्स और मनको विशेषण-विशेष्यके रूपमें स्वीकार करना सर्वथा संगत है। यदंति इति वत्सः निरुक्तिको भी मन्त्रमें प्रयुक्त गिरा-शब्दसे समर्थन प्राप्त होता है।

८२. ताण्ड्य-महाब्राह्मण १९। १३। ?

८३. वही १९। १३। ६

८४. देखो—'गोसव' लेख—पंचोली, संकल्प-पत्रिका ८। ७

८५. ऋग्वेद १। १५४। ६

८६. ताण्ड्य-महाब्राह्मण [illegible]। १३। [illegible]

वत्सवत् जीवन व्यतीत करते हुए स्वयंको वत्सल-शक्तियोंके स्नेहका पात्र बनाना होता था।

जैन और बौद्ध परम्परामें वात्सल्य

जैन एवं बौद्ध परम्पराओंको सामान्यतः वेद-विरोधी माना जाता है, परंतु इन दोनों परम्पराओंने भी वैदिकजीवन-दृष्टि तथा याज्ञिकभावनाको अपनाया है। दोनोंमें ही यज्ञका आध्यात्मिक रूप ग्राह्य माना गया है, जिसका वर्णन उपनिषद् और आरण्यकोंमें मिलता है। बुद्धने गौओंको माता-पिताके समान या अन्य जाति-भाइयोंके समान परम मित्र, अन्नदात्री, बलदात्री, वर्णदात्री तथा सुखदात्री माना है[४७]। वे पाद या विषाणसे किसीकी हिंसा नहीं करतीं और घड़ा भरकर दुग्ध प्रदान किया करती हैं[४८]। बुद्ध-शब्दका एक पर्यायवाची 'ऋषभ' भी प्रचलित रहा है[४९]। बुद्धने आर्यप्रवेदित धर्मकी ओर संकेत किया है[५०]। सम्भवतः ऐसे स्थलोंपर उनका संकेत वैदिकधर्मकी ओर ही रहा है। इस प्रकार बुद्धका ऋषभत्व गोचरीवृत्तिसे ही सिद्ध होना सम्भव है। आर्योंके गोचरमें लीन होनेकी बातका बुद्धने स्वयं उल्लेख किया है[५१]। अमदारा यह सब साम्य है। अतः यह मार्ग श्रमण-मार्ग कहा गया है।

जैन-परम्परामें वात्सल्यको सम्यक्-जीवनके आठ अङ्गोंमें प्रमुख स्थान प्राप्त है। ये आठ अङ्ग हैं—निःशंकित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना।[५२] इनमें प्रभावना, पूर्ण सिद्धावस्थाका नाम है और वात्सल्य उसका साधन है। इसे सम्यक्-चारित्रसे अभिन्न माना जा सकता है।[५३] उपर्युक्त आठमेंसे प्रथम चार निषेधात्मक हैं। पञ्चम अङ्ग इन्द्रियोंको बाह्य-विषयोंसे खींचकर अन्तर्मुखी बनानेसे सम्बद्ध है। स्थिति-करण सम्यक्-दर्शनसे तथा प्रभावना सम्यक्-ज्ञानसे अभिन्न है। अतः स्पष्ट है कि वात्सल्यका जैनधर्मके रत्नत्रयमें प्रमुख स्थान है। वात्सल्यका जैनधर्ममें वही स्थान है, जो बौद्धमतमें करुणाको, इस्लाममें भ्रातृभावनाको, वैदिकपरम्परामें विश्व-बन्धुत्व तथा सर्वभूतहितकामनाको, ईसाई-मतमें दयालुताको, पारसी-मतमें परोपकारको तथा तान्त्रिक-मतमें आत्मवत्तिको है।[५४]

वात्सल्यकी परिभाषा देते हुए स्वामीकुमारने कहा है—

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जंपन्तो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स[५५]।

यहाँ भक्ति, प्रियवचन, श्रद्धा तथा तदनुकूल आचरण—ये चार बातें वात्सल्यके अधिकारी बननेके लिये आवश्यक मानी गयी हैं। आचार्य अमृतचन्द्रके अनुसार निरन्तर अहिंसामें, शिव-सुख-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारणभूत धर्ममें एवं सधर्मी बन्धुओंमें वात्सल्यका अवलम्बन किया जाना चाहिये—

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिष्वपि परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्[५६]।

जैन-साधक अपने इष्टदेवके वत्सल रूपका आह्वान करते रहे हैं—

त्वं नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य
कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य।
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय
दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि[५७]।

जैनधर्ममें परमेष्ठी ऋषभादि माने गये हैं, परंतु इस बातको भुला नहीं दिया गया है कि वात्सल्य मातृशक्तिसे ही पूर्णता पाता है। इसीलिये तीर्थंकरोंकी भी आराध्या देवियोंकी सत्ता मानी गयी है। ऐसी देवियोंमें चक्रेश्वरी सबसे प्रधान है। वह मूलतः वैष्णवीशक्ति है। अन्य देवियाँ चक्रेश्वरीकी ही विभूतियाँ हैं। जैन-साधक वत्स बनकर इन्हीं मातृशक्तियों-का वात्सल्य प्राप्त करते हैं। जैन साधु गोचरी-वृत्तिका पालन करते हुए अपनी तपोज्योतिको समाजमें विकीर्ण किया करते हैं[५८]।

पुराणोंमें वात्सल्य

विष्णुपुराणके अनुसार वात्सल्यसे सम्पूर्ण संसारकी अर्चना

४७. सुत्तनिपात, चूळवग्ग, ब्राह्मण-धम्मिक सुत्त १३-१४
४८. वही २४
४९. धम्मपद २६। ४०
५०. सुत्तनिपात, चूळवग्ग, किंसीलसुत्त ७
५१. 'अरियानं गोचरे रता'—धम्मपद २। २
५२. चारित्रपाहुड (आचार्य कुन्दकुन्द) ७
५३. 'जैनधर्ममें वात्सल्य' पंचोली, अमृतोपासक, बीकानेरके गोपालजी (२०२८) अङ्कमें प्रकाशित।
५४. 'गोचरी-वृत्ति' पंचोली, श्रीछोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थमें मुद्र्यमाण (जयपुर)।
५५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२०।
५६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २९
५७. कल्याणमन्दिर-स्तोत्र, ३९।
५८. 'गोचरीवृत्ति' नामक लेख द्रष्टव्य

हो जाती है—वात्सल्येनाखिलं जगत्[99]। यहाँ वात्सल्य गृहस्थ-धर्मके रूपमें उल्लिखित है। मुनि-जीवन अपना लेनेपर गोचरी वृत्ति अपनानेकी ओर भी संकेत मिलता है। श्रीमद्भागवत-पुराणमें वैदिकोंके गोचरीमें विचरण करनेका वर्णन मिलता है—गोचर्यां नैगमश्चरेत्[100]। पुराणोंमें ज्ञानकी तीखी तलवारसे विषयबन्धनोंको काटकर भूमिपर विचरण करते हुए गोचरी वृत्ति अपनानेका उपदेश मुनियोंको दिया गया है,[101] तो अनेक व्रतोंके माध्यमसे सामान्य जनोंको वत्स-जीवन अपनानेकी प्रेरणा भी दी गयी है। गोपद्मव्रत,[102] गोवत्सद्वादशीव्रत,[103] गोवर्धन-पूजा,[104] गो-त्रिरात्रव्रत[105], गोपाष्टमी[106], पयोव्रत[107] आदिका उल्लेख पुराणोंमें मिलता है। कई कथाओंद्वारा लोगोंकी इस ओर प्रवृत्ति जगानेका प्रयत्न भी दिखायी पड़ता है।

तान्त्रिक तथा भक्ति-सम्प्रदायोंमें वात्सल्य

अनेक दृष्टिकोणोंसे देखी हुई वस्तुके सत्यको आत्म-साधनाके द्वारा नवीन और अपने ही दृष्टिकोणसे देखना तन्त्र-साधनाका उद्देश्य है। कुछ लोग तन्त्र-मार्गको अवैदिक मानते हैं। वस्तुतः दार्शनिकोंके अद्वैतवादका साधनागत रूप ही तन्त्रके नामसे जाना जाता है। तान्त्रिकोंके अनुसार स्वतन्त्रता जीवनका साधनामय स्वरूप है और उसका उद्देश्य है—स्वराज्य। स्वतन्त्रताका मार्ग योगसाधनाका मार्ग है। योगसाधनामें जीव अपने पशुभावको पराजित करके दिव्यत्व-की प्राप्तिके लिये सचेष्ट होता है। इस कार्यमें वह परमपुरुष—शिवकी अर्द्धाङ्गिनी—उमाकी सहायता चाहता है और इसके लिये वह शरीरस्थ चैतन्य-केन्द्रोंको कुण्डलिनी जगाकर प्रभावित करता है। शिवकी इस शक्तिको महावाणी, महाविद्या आदि कई नामोंसे जाना जाता है—

> महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती।
> आर्या ब्राह्मी कामधेनुर्वेदगर्भा च धीश्वरी[108]॥

महाशक्तिके विविध नामोंसहित पराक्रमोंका वर्णन 'देवीभागवत पुराण' आदिमें देखा जा सकता है। ये देवियाँ एक ही शक्तिके विविध रूप हैं और इनका वात्सल्य प्राप्त हुए बिना योगसिद्धि मिलना सम्भव नहीं है।

तान्त्रिक मार्गमें वामाचार बढ़ जानेपर सात्त्विक उपासना-को भक्तिके रूपमें पृथक् स्थान मिला। सभी भक्तोंने अपने इष्टदेवोंके भक्तवत्सल रूपोंको ही उपासनाका विषय बनाया। इसीलिये सूरदास-जैसे भक्तशिरोमणिद्वारा श्रीकृष्णके चरितका लोकरक्षक पक्ष उपेक्षित रह गया। तुलसीदासने व्यापक दृष्टिकोणको सामने रखकर रामको भक्तवत्सल—लोकवत्सल और धर्मवत्सलके रूपमें काव्यका विषय बनाया। तुलसीने भी रामभक्तिको अपर्याप्त मानकर रामके साथ उनकी उद्भव-स्थिति-संहार-कारिणी वल्लभा सीताको अपनी उपासनाका लक्ष्य बना लिया है। 'बसहिं राम-सिय मानस मोरे'—उनकी भक्ति-साधनाका यही उद्देश्य रहा है। सूरके श्रीकृष्ण भी राधाके बिना अधूरे ज्ञात होते हैं। इन सारे भक्त कवियोंने अपने इष्टदेव एवं इष्टदेवीसे सदैव 'वात्सल्य'की आकाङ्क्षा की है।

लोक-जीवनमें वात्सल्यकी प्रतिष्ठा

समाजके विश्वास और विचारोंका प्रभाव लोक-जीवनपर भी पड़ा। समाजका प्राज्ञवर्ग गोचरी वृत्तिका आचरण करने लगा और सामान्यजन वत्सवत् आचरण करके वात्सल्यके पात्र बननेका प्रयत्न करने लगे। समाजकी वैचारिक एकताको इससे बड़ा बल मिला। समाजके प्रज्ञाबल तथा कर्मबलका समायोजन राज्य-तन्त्रके समानान्तर गणतन्त्रके विकासमें सहायक हुआ। भारतमें इन दोनों व्यवस्थाओंका बिना किसी प्रतिस्पर्द्धाके साथ-साथ विकास हुआ[109]। बुद्ध और महावीरने तो आध्यात्मिक गणतन्त्रोंकी स्थापनाका अपूर्व स्वप्न देखा[110]। जैन साधुओंको श्रावक अब भी नित्य गोचरीके लिये आमन्त्रित करता है। पिता, माता, गुरु, धर्मोपदेशक, समाजसेवी, संन्यासी आदि समाजमें वत्सल हैं और पुत्र, शिष्य, रोगी, सामान्य गृहस्थ आदि वत्स। इस प्रकार समाजके संगठनका आधार ही वात्सल्य बना हुआ है।

राष्ट्रीयता और वात्सल्य

राष्ट्रीयताका सम्बन्ध राजमान जनसमाजकी अपनी भूमिसे

९९. विष्णुपुराण ३। ९। १०।
१००. भागवतपुराण ११। १८। २९।
१०१. भागवतपुराण ११। १८। १७।
१०२. भविष्योत्तरपुराण
१०३. वही।
१०४. हेमाद्रि
१०५. कूर्मपुराण
१०६. कूर्मपुराण
१०७. श्रीमद्भागवतपुराण
१०८. मार्कण्डेयपुराण, देवीमाहात्म्य, प्राधानिक-रहस्य १६
१०९. 'प्राचीन भारतमें गणतान्त्रिक शासनव्यवस्था'—पंचोली, शोधपत्रिका, उदयपुर १५। १
११०. 'वर्द्धमान महावीरद्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा'—पंचोली, मुनि हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, ब्यावर।

होता है। इस भूमिके साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित करके जब सारे भूमिवासी एकताके सूत्रमें बँधकर अपने प्राणोंके पुष्प समर्पित करनेके लिये कृतसंकल्प हो जाते हैं, तभी उनमें सच्ची राष्ट्रीयताका आविर्भाव होता है। भूमिसे आत्मीयताका भाव स्थापित करनेके लिये भारतीयोंने उसके साथ मातृत्वकी भावनाको संयुक्त किया है—माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः[111]। इस मन्त्रको भारतीय राष्ट्रीयताका बृहद्‌घोष या मैग्नाकार्टा माना जा सकता है। भारतमें पृथ्वी भौतिक सत्तामात्र नहीं मानी गयी है। वरं गो, अदिति, पूषा, इला, मही आदि[112] नामोंसे अभिधेय दिव्य-सत्ताके रूपमें स्वीकार की गयी है। यह भौतिक समृद्धि, आध्यात्मिक शान्ति और दिव्य वर्चस्व प्रदान करनेमें समर्थ कामदुघा है[113]। इसीलिये कहा गया है—'उपसर्प मातरं भूमिम्' अर्थात् मातृ-भावसे भूमिको प्राप्त होओ[114]। स्पष्ट है कि भूमिका वात्सल्य प्राप्त करनेके लिये भी भारतीय सचेष्ट रहे हैं और दिव्य राष्ट्रकी कल्पना भारतीयोंकी रुचिका विषय रहा है।

वात्सल्य-धर्म

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि आदि-सृजकशक्ति 'गो' है और इस सृष्टिके समस्त पदार्थ उसीसे प्रादुर्भूत हुए हैं। उन पदार्थोंमें भी अनेक रूप धारण करके वह सृजक-शक्ति व्याप्त होती है तथा इस प्रकार नित्य सृजन चला करता है। इस प्रकार वह सृष्टिकी प्रतिष्ठाका मूल कारण तो है ही, पदार्थोंके धारक तत्त्वोंके रूपमें भी वही शक्तिमान् है। अन्नरूप बनकर वही प्राणियोंकी पोषिका बनती है। सारा संसार उसीके वात्सल्यका विस्तार है। अथर्ववेद तथा पुराणोंमें उसके दोहनका वर्णन मिलता है, जिससे उसके वात्सल्यका भी परिचय मिल जाता है। सृजक-शक्तिके धारण, पोषण एवं प्रतिष्ठा आदि कार्योंका मूल वात्सल्य है। अतः उसे धर्म कहना उचित है। आधिदैविक सृष्टिका यह वात्सल्य मानव-समाजके विकासमें बहुत ही प्रेरणादायक सिद्ध हुआ है। वह सामाजिक मर्यादाका आदर्श बन गया है और इस प्रकार उसे मानव-धर्मके एक महत्त्वपूर्ण गुणके रूपमें आचरणका विषय बना लिया गया है। मनरूपी वत्सको संयत करके प्राणरूपी वृषभ तथा वाक्‌रूपी गौके वात्सल्यका पात्र बनाकर परम-तत्त्वको पा लेना एवं परमपदमें, जिसे अहिंसा या आर्योंका गोचर भी कहा जाता है, रमण करना वैदिक दृष्टिकोणसे वैयक्तिक साधनाका विषय है। इसी तरह समाजमें गोचरी वृत्तिमें लीन लोगोंका, जो समाजके प्रज्ञाबलके प्रतीक हैं, वत्सवत् आचरण करते हुए सामान्यजनों,—जो समाजकी क्रियाशक्तिके प्रवर्तक हैं,—के साथ वात्सल्यकी दृष्टिसे संगम कराना भारतीय सामाजिक साधनाका उद्देश्य रहा है। भारतीय जीवन-साधनाकी यह विशेषता वैदिक तथा जैनादि अवैदिक परम्पराओंमें समानरूपसे प्राप्त है।

आसुर-मानव और उसकी गति

मनसा कर्मणा वाचा प्रतिकूला भवन्ति ये। तादृशानासुरान् विद्धि मर्त्यांस्ते नरकालयाः॥
हिंसाश्चौराश्च धूर्ताश्च परदाराभिमर्शकाः। नीचकर्मरता ये च शौचमङ्गलवर्जिताः॥
शुचिविद्वेषिणः पापा लोकचारित्रदूषकाः। एवंयुक्तसमाचारा जीवन्तो नरकालयाः॥
लोकोद्वेगकराश्चान्ये पशवश्च सरीसृपाः। वृक्षाः कण्टकिनो रूक्षास्तादृशान् विद्धि चासुरान्॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

जो मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा सबके प्रतिकूल ही आचरण करते हैं, उनको असुर समझो। उन्हें नरकमें निवास करना पड़ता है। जो हिंसक, चोर, धूर्त, परस्त्रीगामी, नीच कर्मपरायण, शौच तथा मंगलाचारसे रहित, पवित्रतासे द्वेष रखनेवाले, पापी और लोगोंके चरित्रपर कलंक लगानेवाले हैं—ऐसे आचारवाले अर्थात् आसुरी-स्वभाववाले मनुष्य जीते-जी ही नरकमें पड़े हुए हैं। जो लोगोंको उद्वेगमें डालनेवाले, पशु, साँप-बिच्छू आदि जन्तु तथा रूखे और कँटीले वृक्ष हैं, वे सब पहले आसुर स्वभावके मनुष्य ही थे—ऐसा समझो।

---

१११. अथर्ववेद १२। १। १२। ११२. निरुक्त १। १ में पृथिवीके नाम द्रष्टव्य। ११३. अथर्ववेद १२। १। ६१।
११४. अथर्ववेद १८। ३। ४९।

श्रीधर्म-तत्त्व-मीमांसा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

धर्मकी व्युत्पत्ति और अर्थ

'धृञ्—धारणे' धातुसे 'अर्तिस्तुसु' 'मन्' इस उणादि सूत्रद्वारा 'मन्' प्रत्यय होनेपर 'धर्म' शब्द बना है। (माधवीया धातुवृत्ति० १ । ८८४ सिद्धान्त चं० पृ० २७१ दशपादी उणादि वृ० पृ० १४)। मत्स्यपुराण १२४। १७, महाभारत, कर्णपर्व ६९। ५७-५८, शान्तिपर्व १०९। १८–१९ आदिमें भी यही कहा गया है—

धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते।
धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते॥
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

कोशकारोंने धर्म,पुण्य, न्याय और आचारादिको पर्याय माना है—

धर्मः पुण्ये यमे न्याये स्वभावाचारयोः क्रतौ। (मेदिनी २५। १९ विश्व-प्रकाश, अमर-कोश आदि)

धर्मका स्वरूप, परिभाषा और लक्षण

'विश्वामित्र-स्मृति' कहती है—

यमार्याः क्रियमाणं तु शंसन्त्यागमवेदिनः।
स धर्मो यं विगर्हन्ते तमधर्मं प्रचक्षते॥

अर्थात् आगमवेत्ता आर्यगण जिस कार्यकी प्रशंसा करते हैं, वह तो धर्म तथा जिसकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है।

मनु (२। १ में) कहते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

मीमांसाकी 'उज्ज्वल' टीकामें गागाभट्टका कथन है—अलौकिकश्रेयः साधनत्वेन विहितक्रियात्वं हि धर्मत्वम्। मूलमीमांसा १। १। २ में वेदोक्त प्रेरणाको धर्म माना गया है। वैशेषिकदर्शनके प्रशस्तपादभाष्यमें ईश्वरचोदनाको धर्म कहा है—तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेः (ग्रन्थ-प्रयोजन-प्रकरण २)। इसके भाष्यविवरणमें दुण्ढिराजने लिखा है—ईश्वर-चोदना ईश्वरेच्छाविशेषः। उदयनाचार्य ईश्वरचोदनाका अर्थ वेद करते हैं। वैशेषिकसूत्रवृत्तिमें भरद्वाज महर्षिने 'अभ्युदय'का अर्थ सुख किया है। पर इसकी 'उपस्कार'-व्याख्यामें शंकरमिश्रने 'अभ्युदय'का अर्थ तत्त्वज्ञान किया है। गीताभाष्यके आरम्भमें आचार्य शंकरने प्रवृत्ति-निवृत्ति लक्षणोंसे धर्मको द्विविध माना है। वैशेषिक-व्याख्यादिमें भी इसका समर्थन है *। 'लक्षणकोश' तथा सिद्धान्त-लक्षण-संग्रहमें धर्मके अनेक लक्षण प्रभाकरादिके मतानुसार दिये गये हैं; पर लोगाक्षिभास्करादि अधिकांशने वेदोक्त योगादिको ही धर्म माना है। (द्रष्टव्य पृष्ठ १०४)

धर्मके स्रोत तथा प्रमापक

मनु तथा याज्ञवल्क्यके अनुसार वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, उभय मीमांसा तथा वेदविद् संतोंके शील एवं सदाचार धर्मके स्रोत तथा प्रमापक हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥
(याज्ञ० १। ३)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
(मनु० २। ६)

विधि तथा श्रद्धापूर्वक वेद-पुराणोंके अधिगन्ता विद्वान्को मनुने शिष्ट कहा है और उनके आचारको शिष्टाचार कहकर प्रमाण माना है—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥
(मनु० १२। १०९)

सम्प्रदाय, कुलाचार एवं देशाचार

मनु आदिके अनुसार सम्प्रदाय-क्रमागत तथा कुल-क्रमागत धर्म आचरणीय हैं। यथा—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न रिष्यते॥
(मनु० ४। १७८)

* द्र० वैशेषिकसूत्रभाष्यादि० १। १। २, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

* राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥

देशकालके अनुसार देशाचार भी मान्य है । यथा—

येषु देशेषु ये देवा येषु देशेषु ये द्विजाः ।
येषु देशेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः ।
तत्र तान् नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः ॥
यस्मिन् देशे पुरे ग्रामे त्रैविद्यनगरेऽपि वा ।
यो यत्र विहितो धर्मस्तं धर्मं न विचालयेत् ॥

(स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड, पृ० २५में देवल-वचन)

युगानुरूप धर्म

मनु० अध्याय १ । ८६, पद्मपुराण १ । १८ । ४४०, पराशरस्मृति १ । २३, लिङ्गपुराण १ । ३९ । ७ भविष्यपुराण १ । २ । ११९ आदिमें युगानुरूप धर्म इस प्रकार बतलाया गया है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

अर्थात् सत्ययुगमें तपकी, त्रेतामें ज्ञानकी, द्वापरमें यज्ञकी और कलियुगमें दान-धर्मकी प्रधानता होती है । इसी प्रकार कलियुगमें स्वल्पानुष्ठानसे ही विशेष धर्मकी प्राप्ति कही गयी है । (देखिये ३९वें वर्षके विशेषाङ्कमें हमारा—'और युगन ते कमलनयन कलियुग अधिक कृपा करी' शीर्षक लेख) यथा—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ ॥

(पराशर० स्मृ०, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराणादि)

युगानुरूप तीर्थ

कलियुगमें गङ्गाकी विशेष महिमा कही गयी है । यथा—

पुष्करं तु कृते सेव्यं त्रेतायां नैमिषं तथा ।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गां समाश्रयेत् ॥

(स्मृतिचन्द्रिका पृ० २८ पर विष्णुधर्मोत्तरका वचन)

योनियोंके अनुरूप धर्म

वामनपुराणके ११वें अध्यायमें ऋषियोंने सुकेशीसे धर्मका तत्त्व कहा है । तदनुसार यज्ञ और स्वाध्याय देवताओंके धर्म हैं । दैत्योंका धर्म युद्ध, शिवभक्ति तथा विष्णुभक्ति है । ब्रह्मविज्ञान, योगसिद्धि आदि सिद्धोंके धर्म हैं । नृत्य, गीत, सूर्यभक्ति—ये गन्धर्वोंके धर्म हैं । ब्रह्मचर्य, योगाभ्यासादि पितरोंके धर्म हैं । जप, तप, ज्ञान, ध्यान और ब्रह्मचर्य ऋषियोंके धर्म हैं । इसी प्रकार दान, यज्ञ, दया, अहिंसा, शौच, स्वाध्याय, भक्ति आदि मानव-धर्म हैं—

स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च ।
अकार्पण्यमनायासो दया हिंसाक्षमादमः ॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते ।
शंकरे भास्करे देव्यां धर्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥*

(वामनपुराण ११ । २२-२४)

इसी प्रकार वहाँ गुह्यक, राक्षस, पिशाचादिके भी धर्म बतलाये गये हैं । † पुनः मानवधर्मको विस्तारसे बतलाया गया है और अधर्मसे होनेवाले नरकोंको भी बतलाया गया है । (अ० १२) ‡

धर्म-सर्वस्व-सार

महाभारतादि अनेक स्थलोंमें धर्म-सर्वस्व-सार इस प्रकार बतलाया गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

(यह श्लोक श्रीविष्णुधर्म० ३ । २५३ । ४४, पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड १९ । ३५५-६ पूनासं०, महाभारत,शान्तिपर्व २५९, अनुशासनपर्व ११३ । ८ तथा पञ्चतन्त्र ३ । १८२ आदि अनेकानेक स्थलोंपर बहुत-से दूसरे ऐसे ही श्लोकोंके साथ प्राप्त होता है ।)

अर्थात् धर्मका सार सुनिये और सुनकर उसे हृदयमें धारण भी कर लीजिये । वह है यह कि अपने आपको जो बुरा लगे, उसे दूसरेके लिये भी न करें । (जो अपनेको भला लगे, उसे ही करें ।)

---

* मनु० ६ । ९३ के धर्म-प्रकरणानुसार तथा अग्नि, वायुपुराण, नारदपरि० उप०, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदिके अनुसार मानव नहीं संन्यासीका धर्म दीखता है ।

† भट्टिकाव्य १ में भी राम-मारीचादि संवादमें विभिन्न योनियोंके धर्मकी कुछ चर्चा है ।

‡ इसी प्रकार वर्णधर्म, आश्रमधर्म, स्त्रीधर्म आदिपर वहाँ बहुत-सी बातें हैं, जो अन्य निबन्धोंमें मिल सकेंगी।

आतिथ्य-धर्मके आदर्श

(१)

महर्षि मुद्गल

एक बात स्पष्ट समझ लेने योग्य है कि अधिकांश ऋषि-मुनि गृहस्थ ब्राह्मण थे। वे वीतराग, तपस्वी तथा भजन-निष्ठ होनेके कारण प्रायः जनपद-से दूर झोपड़ियोंमें रहते थे। अध्ययन-अध्यापन करते थे।

महर्षि मुद्गलने शिलोञ्छ-वृत्ति अपना रक्खी थी। कृषक जब खेतसे अन्न काटकर ले जा चुके तो जो अन्न खेतमें गिरा रह गया, उसे 'शिल' कहते हैं और अन्नके बाजारमें दूकानें बंद हो जानेपर जो कुछ दाने गिरे-पड़े रह गये, उन्हें 'उञ्छ' कहते हैं। मुद्गलजी तथा उनके परिवारके लोग समयके अनुसार ये 'शिल' अथवा उञ्छ'के दाने चुन लाते थे और इसीसे उनकी आजीविका चलती थी। इसमें भी उन्होंने नियम कर रक्खा था कि ३४ सेरसे अधिक अन्न कभी नहीं रक्खेंगे।

विषयी पुरुष भोगप्रिय होते हैं। ऋषि एवं ऋषि-परिवार तो तपस्वी था। जीवनका एक-एक क्षण मूल्यवान् है, उसे भगवान्के स्मरण-भजनमें लगना चाहिये। अतः भोजन तो महर्षि मुद्गलके परिवारमें केवल अमावस्या और पूर्णिमाको होता था। उस समय भी चूल्हा-चौकाकी खटपटमें समय व्यर्थ न जाय, इसके लिये एकत्र अन्नका सत्तू भून-पीसकर रख लिया जाता था। अमा या पूर्णिमाको सत्तू खा लिया और भजनमें लगे रहे। शरीर-धारणके लिये इतना आहार पर्याप्त था।

'भगवन्! इस कँगालका आतिथ्य ग्रहण करके इसे कृतार्थ करें!' एक अमावस्याको महर्षि दुर्वासा मुद्गलजीकी झोपड़ीपर पधारे तो मुद्गलने उनके चरण धोये, आसन दिया, पूजा की और आहार-ग्रहणकी प्रार्थना की।

'मैं क्षुधापीड़ित ही आया हूँ!' दुर्वासाने प्रार्थना स्वीकार कर ली। इतना शुद्ध सात्त्विक आहार, इतने स्नेह-श्रद्धासे प्राप्त हो तो क्षुधा तो नित्य-तृप्त सर्वलोकमहेश्वर तकको लग आती है। दुर्वासा-जी भोजन करने बैठे और जितना सत्तू था, सब साफ कर गये। सुप्रसन्न विदा हुए। मुद्गलजीको तो भजनकी भूख थी, अब अन्न एकत्र करनेके लिये खटपट कौन करता? भोजन टाल दिया गया अगले पर्वके लिये और सब लोग भजनमें लग गये। लेकिन दुर्वासाजीको यह सत्तू इतना स्वादिष्ट लगा कि वे अगले पर्वपर भी आ पहुँचे। इस प्रकार वे ६ पर्व—अमावस्या एवं पूर्णिमाके आते रहे। महर्षि मुद्गल उनका उसी उत्साह तथा श्रद्धासे आतिथ्य करते रहे। पूरे तीन महीने उनके परिवारने अनाहार किया।

'महाभाग! आप विमानमें बैठें। स्वर्ग आप-को पाकर अपनेको धन्य मानेंगे!' देवदूत विमान

लेकर मुद्गलजीको सशरीर स्वर्ग ले जानेके लिये आये; किंतु धन्य ऋषिका विवेक एवं त्याग। उन्होंने देवदूतों-से स्वर्गका विवरण विस्तारपूर्वक पूछा और अन्तमें कह दिया—'मैं नहीं जाता वहाँ। वहाँ भी अतृप्ति, असंतोष, अपनेसे अधिक भोग एवं पद-प्राप्तके प्रति ईर्ष्या, असूयादि हैं तो वहाँ जानेसे लाभ? वहाँ तो दुःख, अभाव साथ ही लगे हैं।'

ऐसे त्यागीको तो परमपद प्राप्त होना ही था।

—सु०

(२)

महाराज मयूरध्वज

महाभारतका महायुद्ध समाप्त हो चुका था। सम्राट् युधिष्ठिरने अश्वमेध-यज्ञ करनेके लिये अश्व छोड़ा था। उसी समय रत्नपुरके नरेश परम धार्मिक एवं भगवद्भक्त राजा मयूरध्वजने भी अश्वमेध-यज्ञ प्रारम्भ किया था और उस यज्ञका अश्व भी छूटा था। उस अश्वकी रक्षा राजकुमार ताम्रध्वज कर रहे थे। युधिष्ठिरके यज्ञीय अश्वकी रक्षा करते हुए अर्जुन मणिपुर पहुँचे तो रत्नपुर-का यज्ञीय अश्व भी वहाँ पहुँचा। फलस्वरूप दोनों दलोंमें युद्ध छिड़ गया।

अर्जुन समझते थे कि 'मुझ-सा वीर कोई नहीं है और मेरी भक्ति इतनी प्रबल है कि श्रीकृष्ण उसके वशमें हैं। मेरे-जैसा भक्त भला कौन होगा।'

भगवान् तो गर्वहारी हैं। अपने भक्तोंके चित्तमें वे गर्व रहने नहीं देते। मणिपुरके इस युद्धमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन पराजित हो गये। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों युद्धमें मूर्छित हो गये। राजकुमार ताम्रध्वज दोनों अश्वोंको पिताके समीप ले गये। मन्त्रीने बड़े उत्साहसे इस विजयका समाचार दिया।

'तू मेरा पुत्र नहीं, शत्रु है!' प्रसन्न होनेके स्थानपर मयूरध्वज अत्यन्त क्षुब्ध तथा दुखी हुए। 'साक्षात् भवभयहारी श्रीहरिके दर्शन प्राप्त करके भी तू उनकी सेवामें नहीं गया और घोड़ा ले आया। उन भक्तवत्सलके अनुग्रहभाजन युधिष्ठिरके यज्ञमें तूने बाधा दी। तू इतना भी नहीं समझता कि यज्ञ पूर्ण कर लेना मेरा उद्देश्य नहीं है। मैं तो इन यज्ञोंके द्वारा उन्हींकी पूजा करता हूँ। उनकी प्रसन्नता ही मुझे इष्ट है।'

उधर युद्धभूमिमें मूर्छा टूटनेपर अर्जुन बहुत दुखी हुए। अश्वके बिना धर्मराजका यज्ञ अपूर्ण रहेगा, यह चिन्ता उनको व्याकुल किये थी। उनके बलका गर्व तो नष्ट हो चुका था; किंतु भक्तिका गर्व अभी नष्ट होना शेष था। श्रीकृष्णने उन्हें आश्वासन दिया। स्वयं ब्राह्मणका वेश बनाया और धनञ्जयको शिष्य बनाकर साथ लिया। एक माया-सिंह भी साथ ले लिया और रत्नपुर पहुँचे।

'स्वस्ति राजन्!' पहुँचते ही आशीर्वाद दिया मयूरध्वजको।

'भगवन्! यह आप अनुचित आचरण क्यों करते हैं! ब्राह्मणको प्रणाम करनेपर ही आशीर्वाद देना चाहिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। आज्ञा करें।' मयूरध्वजने श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके निवेदन किया।

'राजन्! हम आपके अतिथि हैं और बड़ी महत्त्वाकांक्षा लेकर आये हैं!' ब्राह्मणवेशधारी श्रीकृष्णने कहा। 'इधर मैं अपने पुत्रके साथ आ रहा था। यह भूखा सिंह उसे खा ही लेता; किंतु मेरे बहुत अनुनय करनेपर यह मान गया कि यदि आपकी पत्नी तथा पुत्र आपके शरीर-को आरेसे चीरकर देहका दाहिना भाग दें तो उसे खाकर यह तृप्त हो लेगा।'

'मेरा परम सौभाग्य कि नाशवान् देह ब्राह्मण-के काम आ सकेगा!' मयूरध्वजने तुरंत स्वीकार कर लिया।

'मैं महाराजकी अर्धाङ्गिनी हूँ!' रानीने कहा। 'सिंह! मुझे खा ले तो नरेशका आधा अङ्ग उसे मिला माना जायगा।'

'देवि! आप सत्य कहती हैं; किंतु' ब्राह्मणने आपत्ति प्रकट की। 'रानी पुरुषका वामाङ्ग है और सिंह-को नरेशका दक्षिणाङ्ग चाहिये।'

'पुत्र पिताका ही स्वरूप होता है। मैं महाराजका स्वरूप हूँ और दक्षिणाङ्ग भी।' राजकुमारने कहा। 'सिंह मेरा भक्षण करे। महाराज जीवित रहें।'

'भद्र! तुमने सुना है कि तुम और तुम्हारी माता आरेसे चीरें तो वह अर्द्धाङ्ग सिंहका भोज्य होगा।' ब्राह्मणने कहा। 'तुम पिताके प्रतीक हो; किंतु अपना अङ्ग तुम स्वयं चीर तो नहीं सकते।'

राजाके मन्त्रियों, सभासदों आदिने बहुत आपत्ति की; किंतु नरेशने उन्हें यह कहकर चुप रहनेपर विवश कर दिया कि—'जो मेरे हितैषी हैं, जो मेरा कल्याण चाहते हैं, उन्हें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।'

आरा लगाया गया। 'माधव, गोविन्द, मुकुन्द' कहते महाराज मयूरध्वज आरेके नीचे शान्त, स्थिर बैठ गये। उन्होंने मुकुट उतार दिया था। रानी तथा राजकुमारने आरा पकड़ा। राजा मयूरध्वजका मस्तक चिरने लगा। रक्तकी धारा चल पड़ी। साथ ही उनके वाम-नेत्रसे दो बिन्दु अश्रु ढुलक पड़े।

'मैं दुःखपूर्वक दिया गया दान स्वीकार नहीं करता!' ब्राह्मण रुष्ट हुए।

'भगवन्! मेरे वाम नेत्रसे अश्रु आये हैं।' मयूरध्वजने कहा। 'इस वाम भागको यह दुःख है कि वह अभागा रह गया। शरीरका दक्षिण भाग आपकी सेवामें लगकर सार्थक हो रहा है और वाम भाग उससे वञ्चित रह जाता है।'

'तुम धन्य हो!' सहसा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी नवजलधर सुन्दर श्रीकृष्णका रूप प्रकट हो गया। आरा उठाकर उन्होंने फेंक दिया। उनका कर-स्पर्श होते ही मयूरध्वजका शरीर स्वस्थ हो गया। अर्जुन अपने वेशमें दीखने लगे और सिंह अदृश्य हो गया। भगवान्ने वरदान माँगनेको कहा।

'आपके चरणोंमें मेरी अविचल भक्ति हो!' मयूरध्वज प्रभुके चरणोंपरसे उठते हुए बोले। 'एक प्रार्थना है और दयासागर! आप भक्तोंकी इतनी कठिन परीक्षा फिर न लें।'

'एवमस्तु!' श्रीकृष्णसे दूसरा कुछ सुननेकी सम्भावना ही कैसे की जा सकती है?

'मेरे अपराध क्षमा करें देव!' पार्थ चरण पकड़ने झुके तो राजाने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। अर्जुनका गर्व नष्ट हो चुका था।

'आप अपना यज्ञिय अश्व ले जायँ।' मयूरध्वजने स्वतः कहा। 'धर्मराजसे इस राजकुमारकी धृष्टताके लिये क्षमा चाहता हूँ मैं। सम्राट्-पदके वही अधिकारी हैं। उन श्रीकृष्णके जनका अनुगत होनेमें मेरा गौरव ही है।'

सत्कृत होकर अपने नित्य सारथिके साथ धनञ्जय अश्व लेकर रत्नपुरसे विदा हुए। —सु०

(३)

श्रीकृष्णका अतुलनीय अतिथि-सत्कार

महर्षि दुर्वासा एक बार यह कहते घूम रहे थे—'मुझे निवासके लिये स्थान चाहिये। मुझे कोई अपने यहाँ ठहरायेगा? किंतु तनिकसे भी अपराधपर मुझे क्रोध आता है, यह बात पहले सोच-समझ लेनी चाहिये।'

बड़ी-बड़ी जटाएँ, हाथमें बिल्वदण्ड और चीरवसनधारी क्षीणकाय, प्रसिद्ध तपस्वी होनेके

साथ सुप्रसिद्ध क्रोधी महर्षि दुर्वासाको कौन अपने यहाँ ठहराये ? किसे अकारण विपत्ति बुलानेकी धुन चढ़ी है ? तीनों लोकोंमें किसीने दुर्वासाजीको अपने यहाँ रखनेकी इच्छा नहीं की । घूमते हुए महर्षि द्वारका पहुँचे । जो त्रिलोकीके परमाश्रय हैं, पापी-पुण्यात्मा, क्षमाशील-क्रोधी सब जिनके चरणोंमें आश्रय पाते हैं, उनके द्वारसे एक आश्रय ढूँढ़ता ऋषि निराश लौट जाय, यह कैसे सम्भव था ? श्रीकृष्णने दुर्वासाजीको आदरपूर्वक बुलाया और अपने निज सदनमें निवास दिया ।

दुर्वासाजीका ढंग संसारसे पृथक् था । वे कभी कई सहस्र मनुष्योंका भोजन अकेले खा लेते और कभी छोटे शिशु जितना खाते । कभी घरसे निकल जाते तो लौटते ही नहीं, अथवा रात्रिमें आकर भोजन माँगते । लेकिन विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार जिनकी सामान्य क्रीड़ा है, वे योगमाया जिनकी सेवामें करबद्ध उपस्थित रहती हैं, उनके लिये दुर्वासाजी कोई असुविधा कैसे उत्पन्न कर सकते थे ? ऐसी क्या व्यवस्था है जो इच्छा होते ही उपस्थित न मिले ।

एक दिन महर्षिने अपने ठहरनेके स्थानपर सब सामग्रियोंमें आग लगा दी । वहाँ जो कुछ प्राणी-पदार्थ थे, सब जलकर भस्म हो गये और वे दौड़े-दौड़े आकर बोले—'वासुदेव ! मैं अभी खीर खाना चाहता हूँ ।'

'आप आसन ग्रहण करें !' श्रीकृष्णचन्द्र सहसा उठ खड़े हुए । उन्होंने आदरपूर्वक दुर्वासाजीके चरण धोये । उन्हें आसन दिया । महारानी रुक्मिणीने स्वर्णपात्रमें खीर परोस दी ।

'अब इस जूठी खीरको तुरंत अपने अङ्गोंपर पोत लो ।' दुर्वासाजीने ढेर-सी खीर जूठी छोड़ दी और आज्ञा दी ।

'जैसी आज्ञा !' श्रीकृष्णने खीर पूरे शरीरमें लगा ली । रुक्मिणीजी खड़ी-खड़ी देख रही थीं । दुर्वासाने आज्ञा देकर उनके शरीरमें भी खीर पुतवा दी ।

सारे शरीरमें खीर लिपटी हुई थी ऐसी रुक्मिणीसे कहा—'तुम रथमें जुतो, मैं उसपर बैठूँगा ।' महर्षिने आज्ञा दी । रुक्मिणीको मुनिने रथमें जोत दिया । उसी रथपर वे बैठे और चाबुक फटकारने लगे । राजसदनसे बाहर खुले राजपथपर महारानी रथमें जुती रथ खींच रही थीं । यादवोंको बड़ा क्लेश हुआ; किंतु कोई बोलनेका साहस कैसे करे ?

रुक्मिणीजी जब अत्यन्त श्रमित होकर बार-बार लड़खड़ाने लगीं तब सहसा दुर्वासा रथसे कूद पड़े और दक्षिण दिशाकी ओर पैदल भागने लगे । श्रीकृष्ण भी बिना रास्तेके दौड़ते हुए दुर्वासाजीके पीछे-पीछे उसी तरह सारे शरीरमें खीर लिपटे हुए ही दौड़ने लगे और बोले—'भगवन् ! प्रसन्न होइये !' तब दुर्वासा खड़े हो गये और बोले—'महाबाहो वासुदेव ! तुमने क्रोधको जीत लिया है । तुम सम्पूर्ण विश्वको प्रिय होगे । तुमने पूरे शरीरमें खीर लगायी, अतः तुम्हारा शरीर समस्त अस्त्र-शस्त्रोंसे अभेद्य रहेगा; किंतु तुमने पैरके तलवेमें खीर क्यों नहीं लगायी ? ये तुम्हारे पादतल निर्भय नहीं बन सके ।'

'कल्याणी ! तुमको रोग तथा जरा स्पर्श नहीं करेगी । तुम्हारी अङ्गकान्ति कभी म्लान नहीं होगी । तुम्हारा यश त्रिभुवनको पवित्र करेगा ।' महर्षिने रुक्मिणीजीको आशीर्वाद दिया और वहीं अदृश्य हो गये ।

—सु०

(४)

दुर्गादास

बादशाह औरंगजेबने जोधपुर-राज्यको हस्तगत करनेकी बहुत चेष्टा की; किंतु वह अपने प्रयत्नोंमें सफल नहीं हुआ । महाराज जसवन्तसिंहके उपकार वह भूल चुका था । किसीके उपकार और सम्बन्ध स्मरण रखना उसके स्वभावमें ही नहीं था । राजनीतिमें वह निष्ठुर था और अपने धर्ममें अत्यन्त संकीर्ण—दुराग्रही । किंतु जसवन्तसिंहके बालक पुत्र अजीतसिंहका संरक्षक बनकर जो राठौर वीर दुर्गादास जोधपुरमें तलवार

निकाल चुका था, उससे बादशाहकी चल नहीं पाती थी ।

बादशाहने अपने पुत्रको सेनाके साथ दुर्गादासका दमन करने भेजा । वह लगभग घिर चुका था; किंतु उसने जब मित्रताकी प्रार्थना की, दुर्गादासने उसे अस्वीकार नहीं किया । यह समाचार बादशाहको मिला तो उसने पुत्रके विरुद्ध सेना भेज दी । पितासे शत्रुता करना भी पुत्रको अच्छा नहीं लगा । वह ईरान चला गया । शाही सेनाको दुर्गादासके हाथों पराजय प्राप्त हुई ।

शाहजादा ईरान जाते समय अपने पुत्र बुलन्द-अख्तर तथा पुत्री सफायतुन्निशाको जोधपुर ही छोड़ गया था । यात्रामें बच्चोंको लेकर वह कहाँ भटकता । बादशाहको यह समाचार भी मिला । शाही सेना हारकर लौट चुकी थी । बादशाहने अपना प्रतिनिधि बनाकर ईश्वरदास नागरको जोधपुर भेजा ।

दुर्गादासने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया—'शाही बच्चोंको मैं स्वयं सुरक्षित दिल्ली पहुँचा दूँगा; किंतु बादशाहको अजीतसिंहको जोधपुर-नरेश स्वीकार करना चाहिये ।'

बादशाहके पास दूसरा उपाय नहीं रहा था । उन्होंने शर्त स्वीकार कर ली । दुर्गादास जितने वीर थे, उतने ही नीति-कुशल थे । औरंगजेब-की बात विश्वास करने योग्य नहीं है, यह वे जानते थे । वे अकेली पुत्रीको लेकर दिल्ली गये; किंतु पुत्रको उन्होंने जोधपुर रहने दिया । बादशाहके लिये यह चेतावनी थी कि 'यदि तुमने धोखा किया तो तुम्हारा पौत्र हमारे सरदारोंके हाथमें है ।'

उस समय औरंगजेब दिल्लीसे दूर ब्रह्मपुरी-में था । पौत्रीने पहुँचकर उसके कदमोंमें सिर झुकाया तो प्यारसे उसे पास बैठाकर वह बोला—'बेटी ! तुम सोलह वर्षकी हो गयी । अबतक तुम्हें अपने मजहबका पता नहीं है । काफिरोंके साथ तुम्हें रहना पड़ा । अब कुरान पढ़नेमें मन लगाओ ।'

पौत्रीने कहा—'बाबाजान, मैंने तो कुरान पढ़ा है । चाचा दुर्गादासजीने मुझे पढ़ानेके लिये एक मुसलमान औरत लगा दी थी । आप पूछ देखिये, मुझे कुरानकी पूरी आयतें याद हैं ।'

'ओह ! हिंदुओंकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं कि उनमें उनका मुकाबला शायद फरिश्ते ही कर सकें ।' बादशाह पौत्रीकी बात सुनकर प्रसन्न हो गया ।

'यह हमारा कर्तव्य था जहाँपनाह !' यह कहते हुए उसी समय दुर्गादासने आकर प्रणाम किया । वे कह रहे थे—'हमारा किसी धर्मसे द्वेष नहीं । अपने स्वामीकी रक्षाके लिये हम तलवार उठाते हैं, किंतु दिल्लीके अन्यायी बादशाहसे हमारी दुश्मनी है, किसी धर्मसे अथवा आपके बच्चोंसे नहीं है ।'

बादशाह बोला—'दुर्गादास ! तुम फरिश्ते हो ।' उसने राठौड़ शूरमाको सम्मानपूर्वक बैठाया । अजीतसिंहको जोधपुर-महाराज माननेका फरमान लिख दिया । —सु०

(५)
आतिथ्यरूप धर्मका फल

प्रतिष्ठानपुरके राजा सातवाहन आखेटके लिये वनमें जाकर अपने सैनिकोंसे पृथक् होकर मार्ग भूल गये । वनमें भटकते समय उन्हें एक भीलकी झोपड़ी दीखी । भूखे-प्यासे राजा उस झोपड़ीपर पहुँचे । वनवासी भील राजाको क्या पहिचाने; किंतु उसने अतिथिका स्वागत किया । दूसरा कुछ तो उसके पास था नहीं, उसने जल तथा सत्तू दिया । वह सत्तू खाकर राजाने भूख मिटायी ।

भीलकी झोपड़ी छोटी थी । शीतकालकी रात्रि थी । संयोगवश वर्षा भी प्रारम्भ हो गयी । भील-ने अतिथिको झोपड़ीमें सुलाया और स्वयं बाहर वर्षामें भीगता रहा । उसे सर्दी लगी और वह रात्रिमें ही मर गया ।

प्रातःकाल सैनिक अपने नरेशको ढूँढ़ते पहुँच गये । बड़े सम्मानसे भीलकी अन्तिम क्रिया राजाने करायी । भीलकी पत्नीका पता लगाकर उसे बहुत धन दिया । यह सब करके राजा नगर लौट तो आये;

किंतु चित्तको शान्ति नहीं मिली। उनको यह चिन्ता रात-दिन सताने लगी—'मेरे कारण उस भीलकी मृत्यु हुई।'

राजाको चिन्तासे दुर्बल होते देखकर महापण्डित ज्योतिर्विद् वररुचि उनको लेकर नगरसेठके घर गये। नगरसेठका नवजात पुत्र राजाके सामने लाया गया तो पण्डितजीके आदेशपर बोल उठा—'राजन्! मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। आपको सत्तू देनेके कारण मैं यहाँ नगरसेठका पुत्र बना और उसी पुण्यके प्रभावसे मुझे पूर्वजन्मका स्मरण है।' —सु०

(६)

महाराणा प्रताप और उनकी कन्या

हिंदूकुल-सूर्य महाराणा प्रतापने चित्तौड़का त्याग कर दिया था और महारानी, नन्हे राजकुमार तथा राजकुमारीके साथ अरावलीके वनमें शरण ली थी। अकबरकी शक्तिशाली सेना पीछे पड़ी थी। गुफामें, नालेमें, वनमें—कभी कहीं और कभी कहीं रात्रि व्यतीत करनी पड़ती थी। वनमें न कन्द थे और न फल। खाये जा सकें, ऐसे पत्ते भी नहीं मिलते थे। घासके बीज पत्थरोंपर पीसकर रोटी सेंकती थीं स्वयं महारानी और वह भी कई-कई दिनपर मिलती थी। पूरा परिवार सूखकर कंकाल हो गया था।

इन्हीं विपत्तिके दिनोंकी बात है। कई दिनोंतक लगातार उपवासके पश्चात् घासके थोड़े बीज एकत्र हुए। उन्हें पीसकर एक रोटी बनायी जा सकी। महाराणा और महारानीको उपवास करना ही था। दोनों बच्चोंको आधी-आधी रोटी दी गयी। राजकुमार बहुत अबोध था। उसने अपनी आधी रोटी उस समय खा ली। राजकुमारी भी बच्ची ही थी; किंतु परिस्थिति समझती थी। उसने अपने भागकी रोटी पत्थरके नीचे दबाकर रख दी। छोटे भाईको फिर भूख लगे तो उसे देना आवश्यक था।

वहाँ वनमें भी एक अतिथि महाराणाके पास आ गये। राणाने उन्हें पत्ते बिछाकर शिलापर आसन दिया। पैर धोनेको जल दिया। अब वे इधर-उधर देखने लगे। मेवाड़के स्वामीके पास आज अतिथिको जल पीनेके लिये देनेको ज्वारके दो दाने भी नहीं थे। लेकिन उनकी पुत्रीने पिताका भाव समझ लिया। वह अपने भागका रोटीका वह आधा टुकड़ा पत्तेपर रखकर लायी और अतिथिके सामने रखकर बोली—'हमारे पास आपका सत्कार करने योग्य आज कुछ नहीं है। आप इसीको स्वीकार करें।'

अतिथिने वह रोटी खायी, जल पीया, विदा हो गये। उनके जानेके थोड़ी ही देर पीछे वह बालिका मूर्छित होकर गिर पड़ी। निरन्तर उपवाससे वह दुर्बल हो चुकी थी। वह उसकी अन्तिम मूर्छा थी। वह आधी रोटी उसका जीवन थी, जिसे उसने छोटे भाईको देना चाहा था और अतिथिको अर्पित किया। उसके भ्रातृ-प्रेम एवं आतिथ्य-धर्मको धन्य है। —सु०

(७)

आतिथ्यधर्मी कपोत

गोदावरी-उद्गमके समीप एक व्याध आखेटके लिये ब्रह्मगिरिके वनोंमें गया था। दिनभरमें उसने

बहुत-से पशु-पक्षी मारे। अनेक पक्षियोंको जीवित पकड़कर पिंजड़ेमें उसने बंद किया। आखेटके लोभमें उसे वनमें ही देर हो गयी। संध्या हो चुकी थी, आकाशमें घटा घिर आयी। इतना अन्धकार हो गया कि वनसे निकल जाना सम्भव नहीं रहा। बड़े वेगसे वर्षा होने लगी, ओले पड़ने लगे, वायुका वेग तीव्र हो गया। व्याध शीतसे काँपने लगा। उसके वस्त्र भींग गये थे। सर्दीसे ठिठुरता वह एक घने वृक्षके नीचे पहुँचा। वहीं उसने रात्रि-विश्राम करना निश्चित किया।

उस वृक्षपर एक कपोत-कपोतीका नीड़ था। कपोती उस दिन चारा चुगने गयी और शामको लौटी नहीं थी। कपोत वर्षा, ओले आदिके कारण उसे ढूँढ़ने नहीं जा सका था। अब अन्धकार होनेपर वह उसके लिये बहुत चिन्तित था। कपोती लौटती कहाँसे, वह व्याधके जालमें पड़ गयी थी और अब उसके पिंजड़ेमें बंद थी।

वृक्षके नीचे पहुँचकर व्याधने जाल और पिंजड़ा रख दिया था। पिंजड़ेमें बंद कपोतीने वृक्षपर नीड़में बैठे अपने लिये कपोतको रोते सुना। वह बोली—'आप मुझसे इतना प्रेम करते हैं, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हो रही हूँ; किंतु धर्मज्ञ! आप मेरी एक प्रार्थना सुनें। यह व्याध आज अचानक हमारा अतिथि हो गया है। सर्दीसे यह कष्ट पा रहा है। आप कहींसे तृण तथा अग्नि लाकर इसका कष्ट दूर करें।'

कपोतने कपोतीकी बात सुनी। अपनी प्रियाको पिंजड़ेमें पड़ी देखकर उसे दुःख तो बहुत हुआ; किंतु वह धैर्य धारण करके उड़ा। उसने एक-एक करके तिनके लाकर वहाँ गिराये। अपना घोंसला भी उसने गिरा दिया। फिर उड़कर दूर गया और लुहारोंके यहाँ जलती अग्निमेंसे एक जलती पतली टहनी उठा लाया। उसे उसने तिनकोंमें डाल दिया। अग्नि प्रज्वलित हो गयी। व्याधने हाथ-पैर सेंके और अपने कपड़े सुखाये। उसका जाड़ेका कष्ट दूर हुआ।

कपोती बोली—'व्याध! तुम मुझे अग्निमें भूनकर अपनी क्षुधा मिटा लो।'

यह सुनकर कपोतने कहा—'ऐसा करना उचित नहीं है। तुम तो अब इस व्याधका आहार बन चुकी हो। घर आया अतिथि अपना उपार्जित आहार करे, यह हमारे लिये धर्मकी बात नहीं होगी। इसके आहारकी व्यवस्था मैं करता हूँ।'

यह कहकर कपोत उड़ा। उसने तीन बार अग्निकी परिक्रमा की और उसमें कूद पड़ा। कबूतरको ऐसा करते देखकर व्याधको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह अपनेको धिक्कारने लगा। उसने धनुष, जाल आदि फेंक दिये तथा पिंजड़ा खोलकर सब पक्षियोंको स्वतन्त्र कर दिया। उसके मनमें वैराग्य हो गया।

कपोती स्वतन्त्र हो गयी; किंतु उसने सोचा—'पतिके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है।' वह भी उसी अग्निमें गिर गयी।

अतिथि-सत्कारके इस महान् पुण्यसे कपोत-कपोती दोनों मरकर भगवान्‌के धामको गये। ऐसे धर्मात्मा पक्षियोंके सङ्गसे व्याधकी भी हिंसावृत्ति मिट गयी थी। तप करके वह शुद्ध हो गया और मृत्यु होनेपर वह भी स्वर्गको गया।　　—सु०

धन्य कपोत-कपोती दंपति।
रही अतिथि-सेवाहित जिन कै पावन त्याग-सुरूपा संपति॥
देख दुखित हिम पीड़ित व्याधा पिंजरे परी कपोती सन्मति।
बोली—'नेकु न करौ दुःख तुम मोहूँ बद्ध देख—मेरे पति!॥
परी पींजरे पूर्व कर्मबस, व्याधा बन्यौ निमित्त मूढ़मति।
सीत-छुधा तें व्यथित अतिथि यह परयौ आय दर पै दैवी गति॥
करौ अतिथि-सेवा याकी अब लखि घर मैं पूरन अग-जग-पति।'
सुनत कपोत चौंच भरि ल्यायौ अगिनि लुहार भवन तें द्रुतगति॥
पालव राखि जराई अगिनी ताप तें भई सीतकी निर्वृति।
बिहँग महात्मा लखि व्याधा कौं छुधा व्यथित पुनि भयो दुखित अति
परयौ तुरंत अगिनिमें अलभुन बनन अहार व्याध कौ सुस्थिति।
व्याध दुखी हो खोल्यौ पिंजरो, उड़ी कपोती पतिप्राना सति॥
परी तुरंत अगिनि, पति सँग भइ भसम, मिली सुरदुर्लभ सद्गति।
आयौ देव-बिमान सुसज्जित, चढ़े दिव्य धर देह पक्षि-पति॥

दया-धर्मका स्वरूप

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा।
आपन्ने रक्षितव्यं हि दयैषा परिकीर्तिता ॥
(मत्रिस्मृति ४१)

दूसरोंमें हो, बन्धु-बान्धवोंमें, मित्रोंमें या द्वेष रखनेवालोंमें अथवा चाहे वैरियोंमें हो—किसीको भी विपत्तिग्रस्त देखकर उसकी रक्षा करना 'दया' कहलाता है ।

नहि प्राणैः प्रियतमं लोके किंचन विद्यते ।
तस्माद् प्राणिदया कार्या यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥
(महाभारत, अनुशासन० १४५)

संसारमें प्राणोंके समान प्रियतम दूसरी कोई वस्तु नहीं है । अतः समस्त प्राणियोंपर दया करनी चाहिये । जैसे अपने ऊपर दया अभीष्ट होती है, वैसे ही दूसरोंपर भी होनी चाहिये ।

अमित्रमपि चेद् दीनं शरणैषिणमागतम् ।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥
कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते ।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥
(महाभारत, अनुशासन० ५९ । १०-११)

शत्रु भी यदि दीन होकर शरण पानेकी इच्छासे घरपर आ जाय तो संकटके समय जो उसपर दया करता है वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ है ।

विद्वान् होनेपर भी जिसकी महान् आजीविका क्षीण हो गयी है तथा जो दीन, दुर्बल और दुखी है, ऐसे मनुष्यकी जो भूख मिटा देता है, उस पुरुषके समान पुण्यात्मा कोई नहीं है ।

दया देखती नहीं जाति, कुल, मनुज, पक्षि, पशु, मित्र, अमित्र ।
देश, धर्म, निज, पर, बान्धव, अरि, उच्च, नीच, धनवान, दरिद्र ॥
बुध, जड, बाल, वृद्ध, नारी, नर भेद-भाव विरहित सर्वत्र ।
अपना दुःख बना देती पर-दुःख, बनाती भाव पवित्र ॥
क्षण जाता फिर मानव उस निज-दुःख मिटानेमें तत्काल ।
करता पूर्ण प्रयत्न, शक्तिभर, स्वाभाविक, न बजाता गाल ॥
रहता निरभिमान वह, प्रभुकी इसे मानता कृपा विशाल ।
अपना दुःख मिटाकर, अपने ही हो जाता परम निहाल ॥

ममता ही मृत्यु है

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् । ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥
लब्ध्वा हि पृथ्वीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् । ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥
अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः । ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥
(महाभारत आश्व० १३ । ३, ६-७)

'मम' (मेरा)—ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा न)—इन तीन अक्षरोंका पद सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण है । 'ममता' मृत्यु है और 'ममता न होना' सनातन अमृतत्व है ।

चराचर प्राणियोंसहित सारी पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा ? (उसका उस सम्पत्तिसे कोई अनिष्ट नहीं हो सकता) किंतु हे कुन्तीनन्दन ! जो वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीवन निर्वाह करता है; पर यदि उसकी भी द्रव्योंमें ममता है तो वह मृत्युके मुखमें ही विद्यमान है ।

दया-धर्मके आदर्श

(१)

दयामूर्ति परोपकारी राजा*

एक पुण्यात्मा राजाको किसी कारणसे देवदूत नरकके मार्गसे ले जाने लगे तो राजाके शरीरको छूकर आये हुए वायुके स्पर्शसे नरकोंकी भयानक यन्त्रणा भोगते हुए दीन-दुखी आर्त प्राणियोंकी व्यथा दूर होने लगी और उन्होंने पुकार-पुकारकर राजासे ठहर जानेको कहा। तब राजा वहीं ठहर गये और देवदूतोंसे बोले—'भाई! मेरे शरीरको स्पर्श करनेवाले वायुसे यदि इन प्राणियोंको सुख पहुँचा हो तो मुझे यहीं ले चलो जहाँ ये आर्त प्राणी हैं। संसारमें वे ही सुकृती पुरुष हैं जो परहितके लिये पीड़ित रहते हैं। वे ही संत हैं जो दूसरोंके दुःख दूर करते हैं और दुखी-जनोंके पीड़ा-विनाशके लिये अपने प्राणोंको तृणके समान समझते हैं। ऐसे परहित-निरत संतोंसे ही इस पृथ्वीका धारण हो रहा है, केवल अपने मनका सुख तो नरकके समान है। इस संसारमें आर्त प्राणियोंका दुःख-नाश किये बिना यदि सुखकी प्राप्ति होती हो तो उसकी अपेक्षा मर जाना—नरकमें गिरना अच्छा है। जिसका मन संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेमें नहीं लगता—उसके यज्ञ, दान और तप इहलोक तथा परलोकमें भी कल्याणके साधक नहीं होते।'

इसपर देवदूतोंने कहा—'महाराज! आप बड़े पुण्यात्मा हैं। अभी आपको लेनेके लिये स्वयं धर्मराज और इन्द्र आ रहे हैं, आप इनके साथ चले चलिये।'

धर्मराजने आकर कहा—'राजन्! अब आप इस विमानपर शीघ्र चलिये।' राजा बोले—'यहाँ नरकमें हजारों प्राणी कष्ट भोग रहे हैं और मुझे लक्ष्य करके आर्तभावसे त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं, इन्हें छोड़कर मैं नहीं आऊँगा। आप मुझमें यदि बहुत पुण्य मानते हैं तो मेरा जो कुछ पुण्य है, उसके द्वारा ये यातनामें पड़े हुए सब पातकी प्राणी नरकसे छुटकारा पा जायँ—

तस्माद् यत् सुकृतं किंचिन्ममास्ति त्रिदशाधिप।
तेन मुच्यन्तु नरकात् पापिनो यातनां गताः॥

(मार्कण्डेयपुराण १५। ७६)

इन्द्रने कहा—'राजन्! आपके इस पुण्यदान-रूप उदार कर्मसे आपका पुण्य और बढ़ गया तथा आपने और भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। देखो, ये पापी जीव नरकसे मुक्त हो गये।'

इसी समय राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और स्वयं भगवान् विष्णु उन्हें विमानमें बैठाकर दिव्य-धाममें ले गये—'विमानं चाधिरोप्यैनं स्वलोक-मनयद्धरिः।'

और जितने भी पापी जीव थे, वे सब नरक-यन्त्रणासे छूटकर चले गये।

न दयासदृशो धर्मो न दयासदृशं तपः।
न दयासदृशं दानं न दयासदृशः सखा॥
दुःखितानां हि भूतानां दुःखोद्धर्ता हि यो नरः।
स एव सुकृतिर्लोके ज्ञेयो नारायणांशजः॥
न स्वर्गे नापवर्गेऽपि तत्सुखं लभते नरः।
यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति मे मतिः॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ९८। १५, १७, २२)

दयाके समान न धर्म है, न दयाके समान तप है, न दयाके समान दान है और न दयाके समान कोई सखा है। जो मनुष्य दुखी जीवोंका उद्धार करता है, वही संसारमें सुकृती—पुण्यात्मा है, उसको नारायणके अंशसे उत्पन्न समझना चाहिये। हम लोगोंकी ऐसी धारणा है कि मनुष्य आर्त प्राणियोंके दुःख दूर करनेपर वह सुख प्राप्त करता है, जिसके सामने स्वर्ग तथा मोक्षसम्बन्धी सुख भी कुछ नहीं है।

(२)

दया-धर्मकी मूर्ति महामना मालवीयजी

स्वर्गीय महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीय

* पद्मपुराण, पातालखण्ड तथा मार्कण्डेयपुराण—दोनोंमें ही मिलती-जुलती कथा आती है।

बचपनसे ही दयालुताकी मूर्ति थे। एक बार प्रयागमें उनके मुहल्लेके एक कुत्तेके कानके पास घाव हो गया। पीड़ा तथा मक्खियोंके तंग करनेसे कुत्ता इधरसे उधर भागता फिरता था। उसके घावसे दुर्गन्धि आती थी। अतः वह कहीं बैठने जाता तो लोग उसे भगा देते थे।

मालवीयजीकी दृष्टि कुत्तेपर पड़ी। उन्होंने अपना काम छोड़ा और भागे औषधालय गये। वैद्यजीने दवा देकर चेतावनी दी—'मदन! ऐसे कुत्ते प्रायः पागल हो जाते हैं। पास जानेपर काट लेते हैं। तुम यह खतरा मत उठाओ!'

वहाँ ऐसी सम्मतिपर कौन ध्यान देने चला था। मालवीयजीने एक बाँसमें कपड़ा लपेटा; उसमें दवा लगायी और कुत्तेको ढूँढ़ने लगे। कुत्ता एक गलीमें बैठा था। मालवीयजी दवा लगाने लगे तो वह गुर्राया; उसने दाँत दिखाये; काटने-झपटनेका भी ढंग किया; किंतु मालवीयजी भली प्रकार दवा लगाये बिना हटनेवाले नहीं थे। औषध लग जानेपर कुत्तेकी पीड़ा कम हुई। वह शान्त बैठ गया; तब मालवीयजीका चित्त शान्त हुआ।

—सु०

(३)

राजा भोजके राजकवि

गरमीके दिन थे; प्रचण्ड सूर्य अग्निवर्षा कर रहा था। पृथ्वी तवेके समान जल रही थी। राजा भोजके राजकवि ऐसी दोपहरीमें किसी आवश्यक कार्यसे पैदल ही निकल पड़े थे। धारा नगरीके राजपथपर घरकी ओर लौटते समय उन्होंने एक दुर्बल व्यक्तिको लड़खड़ाकर चलते देखा। उसके पैरोंमें छाले पड़ चुके थे। नंगे पैर वह चल रहा था। बार-बार दौड़नेका प्रयत्न कर रहा था।

कोमलहृदय कविसे यह देखा नहीं गया। वे उसके समीप गये और अपने पैरोंका जूता उन्होंने उसे दे दिया। राजकविका सुकुमार शरीर, कोमल चरण; किंतु अपने कष्टका उन्हें ध्यान ही नहीं आया।

उधरसे महावत राजाके हाथीको ला रहा था। महाकविको उसने देखा तो हाथीपर चढ़ा लिया। संयोगसे राजा भोज भी रथपर बैठे मार्गमें मिल गये। उन्होंने हँसीमें पूछा—'आपको यह हाथी कैसे मिल गया?' कविने उत्तर दिया—

उपानहौ मया दत्ते जीर्णे कर्णविवर्जिते।
तत्पुण्येन गजारूढो न दत्तं तं हि दह्यते॥

'राजन्! मैंने अपना पुराना, फटा जूता दान कर दिया; उस पुण्यसे हाथीपर बैठा हूँ। जो धन दान नहीं किया गया; उसे व्यर्थ समझो।'

राजाने वह हाथी उन्हें दे दिया।

—सु०

(४)

नाग महाशय

श्रीरामकृष्ण परमहंसके अनुगतोंमें श्रीदुर्गाचरण नागका नाम 'नाग महाशय' प्रसिद्ध है। उनका सेवा-भाव अद्भुत था। एक बार उन्होंने एक गरीबको अपनी झोपड़ीमें भूमिपर सोते देखा। अपने घर

जाकर बिछौना उठा लाये और उसपर उसे सुलाया।

एक बार शीतकालमें एक रोगी ठंढसे सिकुड़ा दीख गया। नाग महाशयने अपनी ऊनी चद्दर उसपर डाल दी। स्वयं रातभर उसके पास बैठे उसकी सेवा करते रहे।

कलकत्तेमें प्लेग पड़ा तो निर्धनोंकी झोपड़ियोंमें जाकर उनकी सेवा करनेवाले केवल नाग महाशय थे। एक झोपड़ीमें पहुँचे तो एक मरणासन्न रोगी गङ्गाकिनारे पहुँचानेके लिये रो रहा था। नाग महाशयने अकेले उसे कंधेपर उठाया और गङ्गा-तटपर ले गये। अबतक उसका शरीर छूट नहीं गया, उसे गोदमें लिये बैठे रहे। देह छूट जानेपर उसका संस्कार करके तब लौटे। प्लेग छूतका रोग है; किंतु अपने प्राणोंका मोह नाग महाशयकी सेवामें कभी बाधक नहीं बना।

एक दिन घरपर एक अतिथि आ गये। जाड़ेके दिन थे और जोरोंसे वर्षा हो रही थी। घरमें चार कमरे थे, जिनमें तीन इतने चूते थे कि बैठनेका भी स्थान नहीं था। एक कोठरी सूखी थी। रात्रिमें अतिथिको उसमें शयन करा दिया। स्वयं पत्नीसे बोले—'आज अपने बड़े सौभाग्यका दिन है। भगवान्‌का स्मरण करनेमें आजकी रात्रि व्यतीत की जाय।'

पूरी रात पति-पत्नीने बैठकर भजन करते बिता दी।

नाग महाशयके गाँवमें घरका छप्पर छाया जा रहा था। मजदूर ऊपर काम कर रहे थे। गरमीके दिन थे। दुपहरका समय था। नाग महाशयने मजदूरोंको धूपमें जलते देखा, उनसे रहा नहीं गया। वे छाता लेकर ऊपर पहुँचे और उन मजदूरोंपर छाता तानकर खड़े हो गये। मजदूर बेचारे बड़े

संकोचमें पड़कर बार-बार मना करने लगे, पर वे माने ही नहीं। दया जो उमड़ पड़ी थी।

(५)

अब्राहम लिंकन

श्रीअब्राहम लिंकन उस समय अमेरिकाके प्रेसिडेंट चुने जा चुके थे। वे एक दिन अपनी मोटर स्वयं चलाते हुए राज्य-सभाके अधिवेशनमें सम्मिलित होने आ रहे थे। रास्तेमें एक सूअर एक कीचड़भरे गड्ढेमें फँसा दीखा। वह कीचड़से निकलना चाहता था, किंतु दलदलमें फँसता जा रहा था। लिंकनने गाड़ी रोक दी और कीचड़में उतर गये। सूअरको निकालकर ही वे गाड़ीमें बैठे।

राज्य-सभाकी बैठकका समय हो चुका था। प्रेसिडेंट उन कीचड़से लथपथ वस्त्रोंमें ही पहुँचे। उनकी इस दशाका कारण जानकर जब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे तो बोले—'इसमें प्रशंसाकी क्या बात है? कीचड़में फँसे सूअरको देखकर मुझे जो दुःख हुआ, उसे दूर करनेको मैंने यह किया। भलाई तो मैंने अपनी की; क्योंकि उसे बाहर निकालते ही मेरा दुःख दूर हो गया।'

प्राणिमात्रके दुःखमें दुखी होकर, उनको दुःखसे छुड़ानेकी चेष्टा करनेकी जो अन्तःप्रेरणा है, उसीका नाम दया है।

मानवका परम धर्म—परोपकार

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

जगत्‌में अनन्त प्राणी हैं, उनमें मानव ही सबसे श्रेष्ठ है। महर्षि व्यासने भी यही कहा है कि मनुष्यसे बढ़कर और कोई प्राणी नहीं है। धर्म और अधर्म, पाप और पुण्यके सम्बन्धमें जितना विचार मनुष्यने किया है, उतना देवोंने भी नहीं किया है। पशु-पक्षियोंका जीवन प्राकृतिक-सा है, उनमें मानव-जैसी कोई विशेषता नहीं होती। देवोंका जीवन विलासमय है, उन्हें भी आत्मचिन्तनका अवसर नहीं मिलता। नरकमें रहनेवाले नारकी तो प्रतिसमय दुःखसे व्याप्त रहते हैं। उन्हें धर्माराधनका अवकाश ही नहीं है। केवल मनुष्य ही ऐसा बच जाता है जो धर्म और अधर्मके सम्बन्धमें गम्भीरतासे विचार करता है और पापको छोड़कर एवं पुण्य तथा धर्मको अपनाकर परमात्मा तक बन सकता है।

भारतीय धर्म एवं संस्कृतिके महान् उन्नायकोंमें महर्षि व्यासका नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है। पाप और पुण्यकी जैसी संक्षिप्त और तत्त्व-स्पर्शी व्याख्या उन्होंने एक श्लोकमें की है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। वे कहते हैं—

> अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
> परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

पाप और पुण्यकी ऐसी संक्षिप्त और सुगम परिभाषा अन्य कोई नहीं मिलेगी। दो टूक बात कह दी गयी है कि पुण्य चाहते हो तो परोपकार करो और परपीड़न करोगे तो पापका फल भोगनेके लिये तैयार हो जाओ।

सभी व्यक्ति चाहते हैं कि उन्हें सब तरहका सुख मिले। धन, कुटुम्ब, नीरोग शरीर, दीर्घायु आदि सुख पुण्यसे ही प्राप्त होते हैं। पापका परिणाम कष्टदायक है। इसलिये पाप करनेवाले व्यक्ति भी पापोंके परिणामसे बचनेकी सोचते हैं पर यह मानी हुई बात है कि 'जैसा करोगे, वैसा भरोगे।' जैसा बीज बोया जायगा, उसका फल भी वैसा ही मिलेगा। आक और धतूरेको बोकर कोई व्यक्ति आमके फल और गुलाबके फूल प्राप्त करना चाहेगा तो उसे मिल नहीं सकते। इसीलिये 'महाभारत'में कहा है कि यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि लोग पापोंके परिणामसे बचना चाहते हैं पर पाप-प्रवृत्तियोंको छोड़नेके लिये तैयार नहीं होते। पुण्यके परिणामस्वरूप सुखको सभी चाहते हैं पर परोपकार आदि पुण्य-कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होते। चाहते कुछ और हैं और प्रवृत्ति करते हैं उसके विपरीत। यही महान् आश्चर्य है।

परोपकार बाह्यदृष्टिसे दूसरेके उपकारको कहा जाता है; पर वास्तवमें तो उससे अपना ही उपकार अधिक होता है; क्योंकि परोपकारसे पुण्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे सभी प्रकारके सुख मिलते हैं। जिसका उपकार किया जाता है उसे तो थोड़ा और तात्कालिक आराम मिलता है पर करनेवालेको तो बहुत अधिक और लम्बे कालतक सुख मिलता रहता है।

पाप क्या है और पुण्य क्या है? मनुष्यके अच्छे और बुरे किये हुए काम ही तो हैं। अच्छेका फल अच्छा और बुरेका फल बुरा मिलेगा ही; इसमें दो मत नहीं हो सकते। अब प्रश्न यही है कि कौन-से काम अच्छे हैं और कौन-से बुरे? इसकी व्याख्या व्यासजीने कर ही दी है कि दूसरेको कष्ट पहुँचाना पाप है। कष्ट अनेक प्रकारसे पहुँचाया जा सकता है। इसलिये किन-किन कार्योंद्वारा थोड़ा या अधिक कष्ट दूसरोंको मिलता है—इसपर ध्यान देना होगा। जैन-धर्ममें मन, वचन, कायाद्वारा करने, कराने और अनुमोदन करने—इस प्रकार नव-विधकी प्रवृत्तियोंसे पाप और पुण्यका बन्ध होता है—बतलाया गया है।

जैन धर्ममें १८ प्रकारके पाप-स्थानक बतलाये गये हैं। (१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान (झूठा कलङ्क देना), (१४) पैशुन्य (चुगली करना), (१५) रति-अरति (अच्छे और बुरेकी भावना राग और घृणा), (१६) परिवाद (निन्दा), (१७) माया—मृषावाद (कपटपूर्वक झूठ बोलना—झूठको छिपानेका प्रयत्न) और (१८) मिथ्यात्व शल्य (वस्तु जिस रूपमें है उससे अन्यथा समझना मिथ्या मान्यता)। इन सब पापोंमेंसे हम कौन-सा पाप, किस समय कर रहे हैं, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। मन, वचन और शरीरद्वारा कोई भी पाप-प्रवृत्ति हो रही हो तो उसे रोकना चाहिये।

आज नहीं तो कल, इस भवमें नहीं तो अगले जन्ममें पापका परिणाम—दुःख भोगना ही पड़ेगा, यह न भूलें।

पुण्य किसी भी प्राणीको दुःख और कष्टसे बचाने, उसकी सुख-सुविधाका उपाय करनेसे होता है। जिस व्यक्तिको जिस तरहकी सहायताकी आवश्यकता हो उसे अन्न, पानी, वस्त्र, स्थान, औषध आदि देना, सत्-शिक्षा, सत्-परामर्श देकर उसे उन्नत बनाना—ये सब पुण्यके काम हैं। जितनी भी शुभ प्रवृत्तियाँ हैं—पुण्य हैं और अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप हैं। हम शुभमें प्रवृत्त हों और अशुभसे बचें, यही व्यास-वचनका सारांश है।

परोपकार, इस विश्वकी व्यवस्था ठीकसे चले इसके लिये भी बहुत आवश्यक है; क्योंकि प्राणियोंका जीवन एक दूसरेके सहयोगपर ही आश्रित है। यदि माता अपने पुत्रका पालन न करे, तो बच्चेकी क्या स्थिति हो! हम जब दूसरोंका सहयोग या उपकार पाते ही रहते हैं तो दूसरोंका उपकार करना भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। वैसे प्रकृति और पशु-पक्षी आदि प्राणियोंका भी हमपर बहुत कुछ उपकार हो रहा है। इसीलिये कहा गया है कि इस शरीरका धारण अपने पोषण एवं संरक्षण तक ही सीमित न रखकर दूसरेके लिये भी यह कुछ काममें आये, इसका लक्ष्य रहना चाहिये। किसी कविने कहा है—

निर्गुणस्य शरीरस्य प्रतिक्षणविनाशिनः।
गुणोऽस्ति सुमहानेकः परोपकरणाभिधः॥

अर्थात् यह शरीर तो प्रतिक्षण नाश हो रहा है और जीवात्मा निकल जानेके बाद इस शरीरको जला दिया जायगा। अतः यह गुणरहित है। इससे जो भी कुछ दूसरोंकी भलाई हो जाय, वही अच्छा है। इस शरीरसे परोपकारद्वारा महान् गुण प्राप्त कर लेना ही शरीर-धारण करनेकी सार्थकता है।

किसी राजस्थानी कविने भी कहा है—

सरवर तरवर संत जन, चौथो बरसण मेह।
परोपकार के कारणे, इण चारों धारी देह॥

शरीरकी तरह अपनी बुद्धि आदि अन्य शक्तियोंका उपयोग भी दूसरोंके सुख और उत्थानमें होना चाहिये। अपने लिये तो सभी जीते हैं पर जो दूसरोंके लिये जीता है उसीका जीवन सार्थक है। कहा भी है—

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति॥

सत्-पुरुष वही है जो बिना किसी स्वार्थके सदा परहितमें लगे रहते हैं। एक संस्कृत श्लोकमें कहा गया है कि सूर्य किसकी आज्ञासे प्रजाका अन्धकार दूर कर रहा है? वृक्ष पथिकोंको क्यों छाया दे रहे हैं? मेघको वर्षा करनेकी किसने प्रार्थना की? अर्थात् स्वभावसे ही इनके द्वारा परोपकार हो रहा है। इसी तरह सत्-पुरुष भी अपनी आत्म-प्रेरणा या स्वभावसे ही दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं। उनमें यदि यह गुण न हो तो अन्य जनोंसे उनकी विशेषता ही क्या—

कस्यादेशात् क्षपयति तमः सप्तसप्तिः प्रजानां
छायाहेतोः पथि विटपिनामञ्जलिः केन बद्धः।
अभ्यर्थ्यन्ते नवजलमुचः केन वा वृष्टिहेतो-
र्जात्यैवैते परहितविधौ साधवो बद्धकक्षाः॥

नदियाँ स्वयं पानी नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते, मेघ अन्न नहीं खाते, दूसरोंके लिये ही इनका जीवन है। इसी तरह सत्-पुरुषोंकी सम्पत्ति परोपकारके लिये ही होती है। वृक्ष परोपकारके लिये ही फलते हैं, नदियाँ परोपकारके लिये बहती हैं, गायें परोपकारके लिये ही दूध देती हैं। यह शरीर परोपकारके लिये ही है।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
खादन्ति सस्यं न च वारिवाहाः
परोपकाराय सतां विभूतयः॥
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः
परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥

शास्त्रोंमें कहा है परोपकाररहित मनुष्योंका जीवन धिक्कारका पात्र है; क्योंकि पशु कहलानेवाले प्राणियोंका भी चमड़ा मनुष्यका उपकार करता है—

परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम्।
यावन्तः पशवस्तेषां चर्माप्युपकरिष्यति॥

अर्थात् परोपकार न करनेवाले मनुष्योंका जीवन पशुओंसे भी गया-बीता है। अन्यत्र कहा गया है कि परोपकारसे जो पुण्य उत्पन्न होता है वह सैकड़ों यज्ञोंसे भी उत्पन्न नहीं होता—

परोपकारः कर्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि ।
परोपकारजं पुण्यं न स्यात् क्रतुशतैरपि ॥

जिनके हृदयमें सदा परोपकारकी भावना जाग्रत् रहती है, उनकी आपदाएँ नाश हो जाती हैं और उन्हें पग-पगपर सम्पत्ति मिलती रहती है—

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे ॥

क्षेमेन्द्र कविने तो यहाँतक कहा है कि सब गुणोंसे परोपकार महान् गुण है और उसके-जैसा पुण्यका कोई भी कार्य दिखायी नहीं देता—

शीलं शीलयतां श्रुतं कलयतां सद्भावमभ्यस्यतां
स्वार्थं वर्जयतां गुणं गणयतां धर्मं धियं बध्नताम् ।
शान्तिं चिन्तयतां तमः शमयतां सत्त्वश्रुतिं शृण्वतां
संसारे न परोपकारसदृशं पश्यामि पुण्यं सताम् ॥

जैसा कि पहले कहा गया है वास्तवमें परोपकार करनेपर उपकार तो स्वयंका ही होता है; क्योंकि दुःख और सुख जैसा हम दूसरेको देते हैं, वैसा ही सुख-दुःख उसीके परिणामस्वरूप हमें भी प्राप्त होता है । दक्षस्मृतिमें यही बात कही गयी है—

सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे ।
यत्कृतं च पुनः पश्चात् सर्वमात्मनि तद्भवेत् ॥

तुलसी-रामायणमें भी कहा गया है कि परहितके समान कोई धर्म नहीं है । परोपकारके सम्बन्धमें कुछ अन्य अनुभवी सत्पुरुषोंके वचन नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

अगर तू किसी एक आदमीकी भी तकलीफको दूर करे तो यह ज्यादा अच्छा काम है बजाय इसके कि तू हज्जको जाय और रास्तेकी हर मंजिलपर एक-एक हजार रकअत नमाज पढ़ता जाय ।　　—सादी

मैंने अगर जीवन और प्रेमको वास्तविक पाया और यह कि मनुष्य निरन्तर सुखी बना रहना चाहता है तो उसे परोपकारके लिये ही जीवित रहना चाहिये ।　—रवीन्द्रनाथ

किसी बच्चेको खतरेसे बचा लेनेपर हमें कितना आनन्द आता है । परोपकार इसी अनिर्वचनीय आनन्द-प्राप्तिके लिये किया जाता है ।

परोपकार करनेकी एक खुशीसे दुनियाकी सारी खुशियाँ छोटी हैं ।　　—हरबर्ट

परोपकारी लोग हमेशा प्रसन्नचित्त रहते हैं ।
—फादर टेलर

वह वृथा नहीं जीता जो अपना धन, अपना तन, अपना मन, अपना वचन दूसरोंकी भलाईमें लगाता है ।
—हिंदू-सिद्धान्त

संत लोग परोपकार करते वक्त प्रत्युपकारकी आशा नहीं रखते ।

परोपकारी अपने कष्टको नहीं देखता; क्योंकि वह पर-दुःखजनित करुणासे ओतप्रोत होता है ।　　—तुकाराम

अगर आदमी परोपकारी नहीं है तो उसमें और दीवार-पर खिंचे हुए चित्रमें क्या फर्क है ?　　—सादी

अपने हितके लिये दूसरेका हित करना जरूरी है ।
—श्रीब्रह्मचैतन्य

आज परोपकारकी भावना लुप्त-सी होती जा रही है । लोगोंने अपने स्वार्थको इतनी प्रधानता दे दी है कि दूसरेके नुकसानकी बात वे सोचते ही नहीं । यह स्थिति धर्म और अध्यात्मप्रधान भारतके लिये बहुत ही शोचनीय और लज्जाजनक है । इसलिये परोपकारकी भावनाको पुनः जीवित-जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है ।

संक्षेपमें कहा जाय तो परोपकार मानवका धर्म है । ध्यान रहे किसीका उपकार करके हममें अभिमान न आये तथा प्रतिफलकी इच्छा नहीं रहे ।

प्रेम और करुणाका जो स्रोत अभी चंद व्यक्तियोंतक सीमित है, उसका दायरा बढ़ाते चले जायँ । जिन्हें व्यक्ति अपना मान लेता है—उन कुटुम्ब-परिवारवालोंका वह जितना ध्यान रखता है, उतना अन्योंका भी रखने लगे तो संसारके दुःख-दर्द-अशान्तिमें बहुत कमी हो जाय । आत्मीयताका विस्तार करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक पहुँचा जाय । सेवा-कार्यक्षेत्र बढ़ाते चले जायँ—यही मानव-जन्मकी सफलता है ।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रकुमारजी 'शिष्य' एम्० ए०, एम० एड्०, साहित्यरत्न)

एक क्षणके लिये महर्षि दधीचि स्तब्ध रह गये, देवोंने उनके समक्ष विकट माँग जो पेश की थी। भला अबतक किसीने कभी अपनी अस्थियोंका दान भी किया है? अस्थि-दानकी कल्पना ही मानवकी नस-नसको कँपा देनेवाली है। अपनी अस्थियाँ भी भला रुपये, पैसे, वस्त्र, अन्न, हाथी, घोड़े, गौ-सदृश वस्तु हैं क्या, जिन्हें कोई दानवीर हाथ ऊँचा करके याचकको सहर्ष दान कर दे? यह तो साक्षात् मृत्युका आवाहन है। मौतकी कल्पनामात्रसे ही कौन जीवधारी भयभीत नहीं हो जाता?

दूसरे ही क्षण एक उदात्त भावनासे महर्षिका हृदय देदीप्यमान हो रहा था। मेरी अस्थियोंसे देवोंकी सुरक्षा सम्पन्न हो, इससे बढ़कर भी इन अस्थियोंका कोई उपयोग हो सकता है क्या? सामान्यरूपसे मरनेपर जिन अस्थियोंको कोई छूना भी पसंद न करेगा, वही घृणित अस्थियाँ देवराजके करकमलमें सदा सुशोभित रहेंगी। मेरी इन अस्थियोंसे देवकल्याण होता रहेगा। मैं मरकर भी देवसमाजका हित-साधन कर सकूँगा। मैं जीवित न रहूँगा, न सही, पर मेरी अस्थियाँ तो समाजमें सुव्यवस्थाकी स्थापनामें सहायक होती रहेंगी। स्वार्थ-साधन न सही, परमार्थ-साधन तो होगा। अस्तु, भले ही मौत जन-जनको भयभीत करनेवाली हो, पर मैं तो परोपकारके लिये मृत्युका वरण करनेको सहर्ष प्रस्तुत हूँ।

यह उदात्त भावना कौन-सी थी, जिसने दधीचिके हृदय-से प्राणोंका मोह दूर किया? जिसने उन्हें प्राणोंका बलिदान करनेकी प्रेरणा दी। जिसने उन्हें सामान्य मानवकी कोटिसे उठाकर महामानवके उच्चासनपर सुशोभित कर दिया। जिसने उन्हें स्वार्थकी संकीर्ण परिधिसे निकालकर परमार्थकी ओर अग्रसर किया? क्या यही धर्मका वास्तविक स्वरूप है? क्या यही मानवमात्रका परम धर्म है? क्या यह भावना आज दिग्भ्रमित विश्वको कोई दिव्य संदेश सुना सकती है? प्रश्न विचारणीय है। इसके निराकरण-हेतु हमें धर्मके शुद्ध स्वरूप-को समझना होगा।

वैसे तो धर्मकी गति गहन है। विविध मत, सम्प्रदाय, पंथादिके झमेलेमें सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तका निरूपण दुरूह हो जाता है। अवश्य ही सभी धर्मोंका चरम लक्ष्य एक ही है। किंतु जहाँ उस लक्ष्यतक पहुँचनेवाले मार्गोंका प्रश्न आता है, वहाँ इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि सामान्य नागरिक धार्मिक वितण्डावादोंकी भूलभुलैयामें दिग्भ्रमित हो जाता है।

इस दशामें इस वैज्ञानिक युगमें एक सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तकी आवश्यकता ज्वलन्त प्रश्न बनकर खड़ी होती है, जो न केवल सभी धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तरके अनुयायियोंको निर्विरोध रूपसे मान्य हो, वरं साथ ही वैज्ञानिक कसौटीपर भी खरा उतरनेसे विचारशील व्यक्तियोंको तर्कसङ्गत प्रतीत हो एवं युगानुरूप जीवनदर्शनके अनुकूल हो।

एक सामान्य कसौटी, जिसपर सब लोग सहमत हो सकें, सम्भवतः यह हो सकती है कि हमें मानव-कल्याण करना है। सभी लोग अपने-अपने तरीकेसे मानव-कल्याणके लिये सचेष्ट भी हैं। कहा जा सकता है कि सभी मत-मतान्तर किसी-न-किसी रूपमें मानव-कल्याणके लिये ही प्रयत्नशील हैं। केवल मानव-कल्याण ही क्यों, अपने उदाररूपमें उनके लक्ष्यका विस्तार जीवमात्रकी कल्याण-कामनापर आधारित रहता है।

महर्षि दधीचि इसी प्राणिमात्रके कल्याणकी भावनासे ही तो अनुप्राणित हुए थे। इसी दिव्य भावनाके लिये ही तो उन्होंने अपने 'स्व' का बलिदान विराट्के लिये किया था। इस उत्कृष्ट भावनाकी संज्ञा है परोपकार। प्राणिमात्रके हितकी कामना, मन, वाणी, शरीरसे यथाशक्ति दूसरे जीवोंकी सेवा-सहायता करना, किसीका अहित-चिन्तन न करना एवं मन, वचन-कर्मसे किसीको पीड़ा न पहुँचाना आदि कार्योंको परोपकार शब्दसे व्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दोंमें विश्व-कल्याणमें रत होनेका पर्यायवाची शब्द ही परोपकार है।

वस्तुतः परोपकार व्यापक शब्द है। सेवा, त्याग, प्रेम, सहृदयता, कष्टसहिष्णुता आदि इसके अङ्ग हैं। इन सम्पूर्ण गुणोंके समवायकी संज्ञा ही परोपकार है। शुद्धरूपमें ईश्वर-प्रेमकी अभिव्यक्ति भी परोपकारद्वारा ही होती है। जगत्के प्राणिमात्रमें ईश्वरके दर्शन करके उनकी सेवामें तत्पर होनेको ही तो भगवान् रामने अपनी अनन्य भक्तिकी संज्ञा दी है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

ऋषि तिरुवल्लुवर भी कहते हैं—'ईश्वरभक्तिका अर्थ है—प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभावनाका बाहुल्य। सब आत्माओंमें बनाये हुए ईश्वरसे प्रेम करनेका एकमात्र माध्यम यही हो सकता है कि प्राणिमात्रके दुःखको दूर करने और उन्हें सुखी बनानेके लिये अपनेसे जो कुछ हो सके, उसको अधिकाधिक तत्परताके साथ करते रहा जाय।'

ईश्वरभक्तिकी यह परिभाषा इतनी तर्कसङ्गत एवं सर्वमान्य प्रतीत होती है कि न केवल विविध धर्मानुयायी अपने सिद्धान्तोंमें परिवर्तन किये बिना प्राणिमात्रकी सेवाके इस व्रतको ग्रहण कर सकते हैं, प्रत्युत ईश्वरके अस्तित्वसे सहमत न होनेवाले व्यक्ति भी मानव-कल्याणके नाते इस परोपकार-व्रतके व्रती बन सकते हैं। इस प्रकार सभी मतानुयायी बिना किसी हिचकिचाहटके परोपकारको परम धर्मके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि परोपकारसे आत्माको असीम तृप्तिका अनुभव होता है। वैज्ञानिक विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणीको कष्टमें देखकर हमारे हृदयको पीड़ा पहुँचती है एवं हम अपने हृदयकी उस पीड़ाको दूर करनेके लिये उस कष्टमें पड़े प्राणीकी सेवाहेतु सचेष्ट हुआ करते हैं। इस प्रकार वस्तुतः किसी प्राणीको संकटसे बचा लेने, रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करने या भूखेको भोजन कराने आदि कार्योंसे हमारी आत्माकी ही आन्तरिक पीड़ा दूर होकर हमें अन्तःकरण-की शान्ति प्राप्त हुआ करती है।

अतएव चाहे हम ईश्वरको मानें या न मानें, परोपकारको आत्माका सहज स्वभाव मान लेना बुद्धिवादके अनुकूल ही ठहरता है। भले ही हम अपनी अत्यधिक व्यस्तताके बहाने अहंकार आदि अपने हृदयकी दुर्बलताओंसे परवश होकर या अर्थसंकटकी दुहाई देकर लोकसेवा-कार्यको टालते रहें, किंतु फिर भी हम परोपकारकी महत्ताकी उपेक्षा करके यह नहीं कह सकते कि परोपकारकी भावना पिछड़े युगकी चीज थी, रीति बनानेकी बात थी, आजके बुद्धिजीवी वातावरणके अनुकूल नहीं है, आदि-आदि।

प्रकृति भी मानो अपनी निःस्वार्थ सेवाद्वारा मानवजातिको परोपकारका पाठ पढ़ानेमें संलग्न है। सूर्य अपनी ऊष्माद्वारा जीव-जगत्को जीवनदान देनेमें निरन्तर रत रहता है। पृथ्वी प्राणियोंके उत्पात सहन करके भी उन्हें अपनी गोदमें आश्रय देती है। चन्द्रमा, वायु, बादल, वृक्ष, नदियाँ आदि प्रकृतिके नाना उपादान किसी-न-किसी रूपमें संसारके कल्याणमें सचेष्ट हैं। किसीने अपनी सेवाके बदले जीवोंसे कोई माँग पेश नहीं की है। गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते आदि मानवेतर प्राणी भी नाना प्रकारसे मानवजातिकी सेवा सम्पन्न कर रहे हैं। इसीलिये नीतिकार इन्हें परोपकारी विभूति मानकर इनकी गणना परोपकारी संतोंके रूपमें करता है।

परोपकारी प्राणीको ही संत कहा जाता है; क्योंकि संतका यह सहज स्वभाव होता है कि वह परोपकार किये बिना नहीं रह सकता। बाह्य वेशभूषा नहीं, प्रत्युत हृदयकी परोपकार-मयी निर्मल भावना ही संत कहे जानेका अधिकार प्रदान करती है। ऐसे परोपकारी जीव, चाहे तिलक-माला धारण करें या न करें, वे अपने उदार स्वभावके कारण संत संज्ञाके अधिकारी हैं। महात्मा गाँधी इसी श्रेणीके सच्चे संत थे।

नदीमें बहनेवाले बिच्छूको बचानेवाले संतका दृष्टान्त तो सुविदित ही है जो बिच्छूके काटनेपर भी यही कहकर बार-बार उसे बचाता रहा कि बिच्छूका स्वभाव डंक मारना है एवं मेरा स्वभाव जीवरक्षा करना है। अस्तु, इस प्रसङ्गसे लगनेवाले कार्य-व्यापारमें कोई विशेषता नहीं, प्रत्युत हम अपना-अपना कार्य ही सम्पन्न कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसी-दासके शब्दोंमें—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥
परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥

यह उद्धरण स्पष्ट प्रकट करता है कि परोपकारी प्राणी केवल संत कहे जानेका ही अधिकारी नहीं, प्रत्युत संतों-द्वारा अभिनन्दनीय बन जाता है। वह किसी भी जाति, वर्ग, सम्प्रदायका क्यों न हो, वही यथार्थमें महामानव है। वह महामानव मरकर भी अमर हो जाता है। परोपकारके लिये मृत्युका वरण करनेवाला दधीचि-जैसा महामानव क्या कभी मरा करता है? कदापि नहीं। यदि ऐसा महामानव मर गया होता तो आज उसकी गौरव-गाथा हम क्यों गा रहे होते?

परहितके लिये प्राणोंका बलिदान कर देनेवाला प्राणी क्या घाटेमें रहता है? कदापि नहीं। भारतकी राजलक्ष्मी सीताको आततायी रावणके द्वारा अपहृत होते देखकर उस जगद्विजयी लंकाधिपसे मोर्चा लेनेवाला जटायु जानता था कि इस मुकाबलेमें निश्चितरूपसे मेरी मृत्यु है, किंतु मृत्यु-

भयने उसे परमार्थ-पथसे विचलित नहीं किया। परोपकारार्थ स्वयं आहूत इस युद्धकी बलिवेदीपर जटायुको अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़ी। पर क्या वह घाटेमें रहा? उसे तो वह देव-दुर्लभ सद्गति प्राप्त हुई, जो सुकृती, ज्ञानी, योगियोंको भी नहीं प्राप्त हुआ करती। यह सद्गति देकर भी भगवान् राम यही कह रहे थे कि मैंने कुछ कृपा करके यह गति तुम्हें प्रदान नहीं की है, प्रत्युत तुम्हारे परोपकार-कर्मसे यह शुभ गति तुम्हारा सहज स्वत्व बन गयी है। परोपकारी जीवको भी भला कोई वस्तु दुर्लभ रह जाती है क्या?

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

परोपकारके लिये आत्मबलिदान करनेवाले ऐसे महामानवोंकी गौरव-गाथासे 'भारतका इतिहास देदीप्यमान है। नागोंकी प्राणरक्षाके लिये अपने जीवनका दान करनेवाले जीमूतवाहन, कबूतरकी प्राणरक्षाके लिये अपने शरीरका मांस देनेवाले नरेश शिबि, याचकके लिये अपने शरीरका कवच-कुण्डल दान करनेवाले उदार कर्ण, गौरक्षाके लिये अपना शरीर समर्पित करनेवाले नरेश दिलीप, स्वयं भूखकी ज्वालासे तड़पते हुए भी भूखी आत्माओंको देखकर अपने अन्नजलका दान करनेवाले उन महाराज रन्तिदेवके नाम क्या कभी मानवताके इतिहाससे भुलाये जा सकेंगे; जो भगवान् द्वारा वर-याचनाकी आशा पानेपर भी यही माँगते हैं कि मैं अष्टसिद्धियाँ, स्वर्ग, मोक्षादि कुछ नहीं चाहता। मेरी यही कामना है कि मैं समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख स्वयं भोगा करूँ।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(श्रीमद्भागवत ९।२१।१२)

आधुनिक युगमें भी ऐसे परोपकारी महापुरुषोंसे भारत-भूमि खाली नहीं रही है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरद्वारा अनाथ रोगीकी सेवा, महामना मदनमोहन मालवीयद्वारा रास्तेमें कराहते घिनौने रोगी कुत्तेकी मरहमपट्टी, महात्मा गाँधीद्वारा परचुरे शास्त्री आदि कुष्ठरोगियोंकी सेवा, आचार्य विनोबाभावे-द्वारा परकल्याणार्थ गाँव-गाँव पैदल जाकर भूदान-कार्य आदि परोपकार-व्रतके ऐसे ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो हमें परसेवा-व्रती बननेकी जीवंत प्रेरणा प्रदान करते हैं। परोपकारव्रत किसी देशविशेषकी ही बपौती नहीं है। डेविड लिविंगस्टनका अपने देश इंग्लैंडसे हजारों मील दूर अफ्रीकाकी नरभक्षी नीग्रो जातियोंके बीच बसकर उनमें मानवताका प्रचार करना क्या हमें परमार्थ-व्रती बननेका पाठ नहीं पढ़ाता?

हममेंसे हर व्यक्ति समाजका ऋणी भी तो है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं कि हम समाजके उस ऋणको चुकानेके लिये प्रयत्नशील बनें? अपने इस सहज कर्तव्यके नाते भी परोपकार मानवके लिये वरणीय है; क्योंकि मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपने जीवनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विकास, सुख-साधनादिके लिये न केवल अपने पूर्वपुरुषोंके परिश्रम एवं अध्यवसायका ऋणी है, प्रत्युत मानवेतर प्राणियोंसे भी वह नाना रूपोंमें सुख-सुविधाएँ ग्रहण करता है। अतः प्रत्येक मानवका यह प्रमुख कर्तव्य है कि कम-से-कम अपने ऋणसे उऋण होनेके लिये ही परोपकारकी परम्पराको कायम रखे।

यदि परोपकारकी सद्वृत्ति मानवके अन्तःकरणको आलोकित नहीं करती तो उसके अनेक कर्मकाण्ड, पूजा-प्रक्रियाएँ निरर्थक रहेंगी। उसे ईश्वरभक्त कहना तो बहुत दूर है, परहित-यज्ञकी भावनासे रहित वह स्वार्थी मानव गीताके शब्दोंमें चोरकी संज्ञासे पुकारा जायगा।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३।१२)

मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा उसके परोपकारी कृत्योंके आधारपर ही होती है, न कि व्यक्तिगत वैभव-अर्जनपर। जो मनुष्य सबके दुःख दूर करनेमें जितना प्रयत्नशील होता है, वह उतना ही सभ्य, सुसंस्कृत एवं उच्च विचारवाला माना जाता है; क्योंकि परोपकारका विशद भाव ही मानवकी अन्तरात्माकी महानताकी कसौटी है।

भर्तृहरि उन्हें धन्य मानते हैं जो परोपकारके यज्ञमें अपने जीवनको समिधा बनाकर आहुति कर देते हैं। ऐसे महामानव अपनी हानि उठाते हुए भी परोपकारमें रत रहा करते हैं। भले ही उनकी कोठरीमें एक ही व्यक्तिके सोनेका स्थान है, पर स्थान माँगनेवालेकी पुकारपर वे कभी भी लेटे न रहेंगे, प्रत्युत बैठकर दोनोंके लिये स्थान कर लेंगे। फिर तीसरे याचकके आनेपर वे खड़े होकर उसके लिये भी अवकाश निकाल लेंगे। इन महापुरुषोंके हृदय इतने विशाल होते हैं कि उनकी परिधिसे किसीको बाहर नहीं

देते कि 'हमें परोपकारसे कोई मतलब नहीं, हम तो घोर स्वार्थी व्यक्ति हैं।'

किंतु हम इस कटु सत्यको स्वीकार नहीं करना चाहते ; उचित भी है। हम पशुदेह-धारी नहीं, मानवदेह-धारी हैं। स्वार्थी मानव तो पशुसे भी गया-बीता माना जाता है। हमें पशु-श्रेणीमें गिना जाना लेशमात्र भी पसंद नहीं है। फिर तो हमारे सामने एक ही विकल्प रह जाता है: वह यही है कि हम परोपकारके लिये कुछ-न-कुछ समय अवश्य निकालें।

यदि हमें सच्चे अर्थोंमें मानव कहे जानेका अधिकारी बनना है एवं मानवताको विनाशसे बचाना है तो आइये, इसी क्षण परोपकार-व्रतके प्रती बननेका संकल्प ग्रहण कर लें। गोस्वामी तुलसीदासजीके इस आदर्श मन्त्रको हम आजसे ही अपना पथ-प्रदर्शक बना लें—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

सर्वत्र आत्म-दर्शन ही सत्य धर्म है

(लेखक—श्रीजगन्नाथ गुप्त पुरुषोत्तम बुवा महाराज)

सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरने सभी देवताओंके बीच सर्वप्रथम संकल्पमात्रसे ब्रह्मदेवकी सृष्टि की और उसके बाद वह चराचर सृष्टिमें प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिके मूलमें जो परब्रह्म परमात्मा या चैतन्य तत्त्व है, उसीको 'एक सत्' कहा गया है। वह 'सत्' या परब्रह्म तत्त्व निराकार और अव्यय है। ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियोंके द्वारा उसे कोई जान नहीं सकता। वह सर्वोपाधिरहित, वर्ण-भेदरहित, अत्यन्त सूक्ष्म, अक्षय, अनादिसिद्ध होकर भी सभी प्राणियोंके बीच अन्तरात्माके रूपमें व्याप्त है। वह स्वयंप्रकाशरूप होकर मनुष्यकी हृदयगुफामें अङ्गुष्ठमात्र-प्रमाण ज्योतिःस्वरूपसे स्थित हो भूत, भविष्य और वर्तमानपर शासन करनेवाला स्वतन्त्र शासक है—इस प्रकार कठोपनिषद्में वर्णन आता है। वह आत्मा या परमात्मा सर्वकर्ता होते हुए भी अकर्ता है। उसे सर्वथा प्रकटरूपमें जानना सामान्य बुद्धिकी सामर्थ्यसे परे है। परमेश्वरकी कृपासे जिन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो, वे महात्मा ही ज्ञान-दृष्टिसे उसे जान सकते हैं। विशुद्ध अन्तःकरण मानव सर्व-भोगोंसे विरक्त होकर निर्मल चित्तसे निरन्तर परमेश्वरका ध्यान कर सकता और उसीके स्वरूपमें लीन हो सकता है।

वह परब्रह्म-तत्त्व सृष्टिके समस्त चेतन, अचेतन वस्तु-मात्रमें चैतन्यरूपसे या प्रकाशरूपसे व्याप्त है। सृष्टिकी सभी वस्तुएँ चित् और जडके मिश्रणसे उत्पन्न हैं, फिर भी कुछमें जडांश अधिक तो कुछमें चेतनांश अधिक दिखायी पड़ता है। मानव-प्राणीमें जितना चिदंश दीखता है, पशु-पक्षीमें उससे कम, उससे भी कम वनस्पति-कोटिमें और मिट्टी, पत्थर आदिमें सबसे कम चिदंश दिखायी देता है। मानवमें भी यह चिदंश यानी आत्मतत्त्व न्यूनाधिक मात्रामें दीखता ही है। किंतु यह भेद आत्माका न होकर सात्त्विक, राजस, तामस प्रकृतिके भेदसे है। सर्वत्र व्यापक आत्म-तत्त्व स्वच्छ दर्पणमें सूर्य-प्रतिबिम्बकी तरह सात्त्विक-प्रकृतिके अन्तःकरणमें स्पष्ट प्रतिफलित होता है। जंग लगे लोहेमें सूर्यका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित नहीं होता, यह जैसे सूर्यका दोष नहीं, इसी प्रकार राजस-तामस क्षेत्रमें आत्म-ज्योतिका प्रकाश कम दीखता है।

गुरुद्वारा उपदिष्ट ज्ञान प्रज्ञावान् शिष्य ही ग्रहण कर पाता है, जब कि मूढ शिष्य रीता ही रह जाता है। वह गुरुका दोष नहीं। इसी तरह आत्मतत्त्वके प्रतिबिम्बको यथास्थित रूपमें या तरतम-भावमें ग्रहण करना मानवकी प्रकृतिपर ही निर्भर होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'परमेश्वर या आत्म-तत्त्व सर्वव्यापक है'—यह ज्ञान होना ही वास्तविक आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। सर्वभूतोंमें सम भावना ही मोक्षका साधन है। पर यह समबुद्धि हो कैसे? शास्त्रोंमें बताया गया है कि सृष्टिकी उत्पत्ति परमेश्वरकी अनुकम्पापर ही निर्भर है, इसलिये परमेश्वर सब प्राणियोंमें निरपवादरूपमें व्याप्त है और आत्मा परमात्माका ही अंश है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

सर्वभूतोंमें परमेश्वरका, आत्मारामका अधिष्ठान समान ही है। भूतप्राणीमात्रका सामान्य मृत्युसे या प्रलयसे विनाश दीख पड़ता है। परंतु तदन्तर्गत आत्मतत्त्वका कभी विनाश नहीं होता। जिसे यह ज्ञान हो जाय, कहना होगा कि उसे ही वास्तविक ज्ञान हुआ। ऐसे समबुद्धि मानवको सब भूतोंमें सदैव ईश्वर दीखने लगता है, अतएव वह मोक्ष-धाममें पहुँच जाता है। सर्वत्र सम आत्माका दर्शन होनेसे वह सबको अपनी ही तरह समझता है। फलतः उससे किसीकी कायिक, वाचिक या मानसिक हिंसा नहीं हो पाती। दूसरेका दुःख ही अपना दुःख और दूसरेकी हिंसा ही अपनी हिंसा है। इतनी एकता रग-रगमें व्याप्त हो जानेपर मानव जैसे अपने दुःख और हिंसाको टालता है, वह समदर्शी आत्मज्ञ भी वैसे ही पर-दुःख और पर-हिंसासे सदैव बचता है। ऐसे समदर्शीके लिये सचमुच मोक्ष दूरकी वस्तु हो ही कैसे सकती है? मोक्ष तो उसके लिये करामलकवत् हो जाता है।

मेरी, पड़ोसीकी या अन्य किसी प्राणीकी देह भिन्न होनेपर भी उनमें निवास करनेवाला आत्मा तो एक ही है। जैसे एक ही सूर्यका भिन्न-भिन्न बिम्बग्राही पदार्थोंमें प्रतिबिम्ब पड़नेपर भी वस्तुतः सूर्य एक ही होता है। एक ही स्वर्णके भिन्न-भिन्न अलंकार बनानेपर भी वस्तुतः स्वर्ण एक ही होता है। ठीक इसी प्रकार कार्य-कारण, जल-लहरियाँ, वस्त्र-तन्तु और ब्रह्म-ब्रह्माण्डका सम्बन्ध समझना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक देहका आत्मा एक ही परमात्माका अंश है। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उपाधिभेदसे भिन्न दीखनेवाला यह आत्मा मूलतः एक ही है। एक ही विश्वरूप परमात्माके सब अवयव हैं। इस रहस्यको ठीक-ठीक समझकर सबके प्रति आत्मभाव रखना ही सच्चा आत्मज्ञान है।

यह आत्मा परमात्माका ही अंश होनेसे देहके साथ नहीं मरता। यह अनादि है। परमात्माके गुणोंका वर्णन जैसे असम्भव है, वैसे ही आत्माका भी गुण-वर्णन कठिन है। अतएव यह निर्गुण है, नित्य और शाश्वत होनेसे अविकारी है। इसमें उत्पत्ति, लयादि षड्भाव-विकार नहीं। यह अजर, अमर है। इस प्रकार गुणोंवाले आत्माको परमात्मस्वरूप ही कहना पड़ेगा। इसीलिये सद्गुरु महाराज कहते हैं—

संसारमें ईश्वरकी पूजाका यदि कोई साधन है तो वह है—'आत्मपूजा'। आत्माकी सार्थकता करनी हो तो सृष्टिके प्राणिमात्रमें समदृष्टि रखिये। 'आत्मौपम्य बुद्धि' से सबके साथ व्यवहार कीजिये। अपने मनका सारा मैल, कपट समूल नष्ट कर और सदैव यह बुद्धि रखकर कि 'हम सभी एक ही परमात्माकी संतान हैं', प्रत्येक प्राणीकी सेवा कीजिये। यही सच्चा धर्म है। केवल जीवोंको, पशु-पक्षियोंको मारनेसे ही उनकी हिंसा नहीं होती। प्रत्युत 'मारो' कहकर उनका जी दुखानेपर भी जीव-हिंसा होती है। मनसे किसीकी अहितकामनासे भी हिंसा होती है। उससे नैतिक अधःपतन तो होता ही है और तब जीवात्मा परमात्माके साक्षात्कारसे पराङ्मुख भी हो जाता है। मानवको वाणी बोलनेके लिये दी है यह सच है। पर वह बुरे, कठोर, असत्य वचन बोलनेके लिये कभी नहीं है। सत्य, नम्र और मृदुतायुक्त हित-भाषणके लिये ही परमात्माने हमें वाणी दी है। उसे हम सत्य, मृदु, नम्र और हितकारिताका रूप देकर ही सच्चे अर्थमें 'सार' बना सकते हैं।

इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी प्राणीको तन, वचन, मनसे किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना धर्मका आद्यतत्त्व है। इसी आद्यतत्त्व सत्य-धर्मके यथावत् अनुष्ठानके लिये प्रत्येक व्यक्ति आचरण कर सके, ऐसे नियम भी 'धर्म' माने जाते हैं, जिनमें कतिपय ये हैं—'सबमें एक ही आत्मा है—यह समझकर सत्कार्यमें प्रत्येककी सहायताके लिये तैयार रहना, बिना किसी हेतुके निष्काम भावसे पीड़ितोंकी सेवा करना, सभीके कल्याणकी निरन्तर कामना करना, जनता-जनार्दनकी सेवामें सदैव तत्पर रहना, परोपकार करना।'—ये ही महत्तम कार्य हैं। इस धारण-धर्मका पालन करते समय कोई आपको कितना ही कष्ट, दुःख दे, तो भी उधर ध्यान न देकर आपको अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये। यही हम मानवोंका सच्चा धर्म है।

परोपकार-धर्मके आदर्श

(१)

महर्षि दधीचि

'वृत्रासुरके निधनका एक ही उपाय है।' देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् नारायण प्रकट हुए थे तो उन्होंने एक अटपटा मार्ग बतलाया—'महर्षि दधीचिकी अस्थियोंसे विश्वकर्मा वज्र बनावें तो उस वज्रसे यह असुर मारा जा सकता है।'

वृत्रासुरने स्वर्गपर अधिकार कर लिया था। इन्द्रादि देवता युद्ध करने गये तो उनके सब अस्त्र-शस्त्र उसने निगल लिये। अब देवता तो निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे और वृत्रके संरक्षणमें दैत्योंने अमरावतीको अपना निवास बना रखा था। त्रिलोकी असुरोंके अत्याचारसे संतप्त थी। देवता ब्रह्मलोक गये ब्रह्माजीके समीप और सृष्टिकर्ताको साथ लेकर भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे।

'दधीचिकी अस्थि!' देवताओंका मुख लटक गया। उन महातापसकी तपस्यासे भयभीत इन्द्रने पहिले तपोभङ्गके लिये अप्सराएँ भेजी थीं, कामदेवको भेजा था और इस उद्योगके असफल होनेपर दधीचिको मार देनेतकका उद्योग किया था। इन्द्र, वरुण, यम आदि सबने अपने आघात किये थे और किसी प्रकारका प्रतिकार किये बिना दधीचि अविचल बने रहे! उनके तेजसे ही लोकपालोंके दिव्यास्त्र व्यर्थ हो गये थे। अब उन्हीं महर्षि दधीचिकी अस्थि चाहिये—भला, उनकी अस्थि कैसे मिलेगी? उन्हें मारना सम्भव होता तो क्या कम उद्योग किया था इन्द्रने पहिले उन्हें मार देनेका।

'वे परम धर्मात्मा हैं। उनसे याचना करनेपर अपना देह वे प्रसन्नतापूर्वक दे देंगे!' भगवान् नारायणने देवताओंका सैदश्य देखकर उन्हें समझाया और वे अदृश्य हो गये।

'तात! हम सब विपत्तिमें पड़ गये हैं। आपके समीप याचना करने आये हैं। हमको आपके शरीरकी अस्थियाँ चाहिये।' देवता गये महर्षि दधीचिके आश्रममें और उन्होंने महर्षिसे प्रार्थना की।

वे ही इन्द्र, वे ही देवता, जिन्होंने दधीचिकी तपस्या भंग करने तथा उनको मार देनेका कोई उद्योग ऐसा नहीं जो अपने वश भर न किया हो और आज भी महर्षिसे उनकी अस्थि माँगने आये थे, किंतु ऋषिके ललाटपर एक सूक्ष्म संकुचन भी नहीं आया! उनके अन्तरने कहा—'सृष्टिमें आस्तिकताकी विजय होनी चाहिये। संसारके प्राणियोंको असुरोंके उत्पीडनसे परित्राण मिलना चाहिये। इसका जो निमित्त बन सके—वही धन्य है।'

'यह शरीर तो नश्वर है। एक दिन जब यह मुझे छोड़ देगा, तब मैं इसे क्यों पकड़े रहनेका आग्रह करूँ?' महर्षिने कहा। 'इससे आप सबकी सेवा हो सके तो इसकी सार्थकता स्वतः सिद्ध है। मेरे प्रभुकी कृपा कि उन्होंने मुझे यह शुभवसर दिया।'

महर्षि समाधि लगाकर बैठ गये। योगके द्वारा उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया। जंगली गायोंने उनके शरीरका मेद-मांस चाट लिया। अस्थियोंके

विश्वकर्माने वज्र बनाया और वज्र उससे इन्द्रने वृत्रासुरको मारा । —सु०

(२)

गीधराज जटायु

श्रीराम मायासे स्वर्णमृग बने मारीचके पीछे धनुष चढ़ाये चले और वह उन्हें दूर वनमें ले गया। वहाँ बाण लगनेपर भी उसने 'हा लक्ष्मण !' की पुकार की। यह आर्तस्वर सुनकर श्रीवैदेहीका धैर्य स्थिर नहीं रहा। उनके आग्रहसे इच्छा न होनेपर भी कुमार लक्ष्मणको बड़े भाईके पास जाना पड़ा। दुरात्मा रावण तो इस अवसरकी प्रतीक्षामें ही था। वह साधुवेशमें श्रीरामकी पर्णकुटीपर आया, किंतु पीछे अपना रूप प्रकट करके बलपूर्वक उसने वैदेहीको उठाकर रथमें बैठा लिया। अपने आकाशगामी रथसे वह शीघ्रतापूर्वक वहाँसे भागा।

श्रीजनकनन्दिनी राक्षसके हाथमें पड़कर आर्त-क्रन्दन करती जा रही थीं। वह करुण चीत्कार कर्णमें पड़ा पक्षिराज जटायुके। वे बहुत वृद्ध हो चुके थे। सत्ययुगके प्रारम्भमें उनका जन्म हुआ था। लेकिन उदारहृदय प्राणी किसीको विपत्तिमें देखकर अपनी शक्ति, अपने सामर्थ्यका विचार करके तो नहीं बैठते।

धावा क्रोधवंत खग कैसें। छूटइ पबि परबत कहुँ जैसें॥

पूरे वेगसे टूटे वे त्रिलोकविजयी रावणके ऊपर और उनका वह प्रचण्ड वेग सुरासुरजयी दशग्रीव भी एक बार सँभाल नहीं सका।

धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा।

केश पकड़कर रथसे रावणको नीचे फेंक दिया उन्होंने और श्रीजानकीको छुड़ा लिया। उन विदेह-तनयाको सुरक्षित रखकर उन्होंने फिर आक्रमण किया राक्षसपर। रावणका रथ टूट चुका था। घोड़े मार दिये गये थे। जटायुके पंजे तथा चोंचके आघातने उसे क्षत-विक्षत कर डाला था। '[illegible] संग्रामक !' यह रावण व्याकुल-संत्रस्त हो गया। किंतु जटायु वृद्ध थे। रावणने अन्तमें खड्ग-से उनके पंख काट दिये और वे भूमिपर गिर पड़े।

उस समय भी उन्होंने श्रीरामको सीता-हरणका संदेश देनेके लिये प्राणोंको रोक रक्खा किसी प्रकार।

मारीचको मारकर भाईके साथ श्रीरघुनाथ लौटे। जनकनन्दिनी कुटीमें नहीं मिलीं तो उनके वियोगमें विह्वल उनका अन्वेषण करते आगे बढ़े। इसी अवस्थामें जटायु मिले उन्हें। जटायुका त्याग, उनका पराक्रम ऐसा था कि मर्यादा पुरुषोत्तम नर-नाट्य भूल गये। वे स्पष्ट बोले—'तात ! आप शरीरको रखें। मैं आपको अभी स्वस्थ कर देता हूँ।'

जटायु इसे कैसे स्वीकार कर लें। सम्मुख श्रीराम साक्षात् खड़े हों, मृत्युके लिये ऐसा मङ्गल-पर्व क्या पुनः आना था। वे शिव-विधि-वन्दित-चरण, सर्वेश्वर स्वयं लथपथ जटायुको गोदमें लेकर बैठे थे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा गिर रही थी। '[illegible]' श्रीरामने और स्वीकार किया कि सर्वसमर्थ होनेपर भी पक्षिश्रेष्ठको कुछ देनेमें वे समर्थ नहीं।

तात कर्म निज तें गति पाई।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

शरीर त्यागकर जटायु भगवद्धाम गये दिव्य देहसे और श्रीरामने पिता मानकर उनके शरीरकी दाह-क्रिया सम्पन्न की। पिताका सम्मान दिया उन्हें। —सु०

(२)

देवी कुन्ती

लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जला देनेका षड्यन्त्र दुर्योधनने किया था; किंतु महात्मा विदुरकी सहानुभूति तथा पूर्वसावधानीके कारण पाण्डव बच गये। माता कुन्तीके साथ वे एक सुरंग-द्वारा चुपचाप वनमें निकल गये। अब राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके वशमें थे और उनके पुत्र कौरव पाण्डवोंको नष्ट करनेपर तुले थे, पाण्डवों-के लिये बिना विशेष सहायक प्राप्त किये प्रकट होना उचित नहीं था। वे वनके मार्गसे एक-चक्रा नगरी पहुँचे और वहाँ अपने नाम आदि छिपाकर रहने लगे।

एकचक्रा नगरीके समीप वनमें बक नामका एक अत्यन्त बलवान् राक्षस रहता था। नगरवासियोंने राक्षसके भय तथा अत्याचारसे घबराकर उससे संधि-कर ली थी। संधिके नियमानुसार नगरके प्रत्येक घरसे बारी-बारीसे एक-एक मनुष्य उस राक्षसके लिये भोजन लेकर प्रतिदिन जाता था। दुष्ट राक्षस उस भोजन-सामग्रीके साथ लानेवालेको भी खा लेता था। यही एकचक्रा नगरी थी, जहाँ पाण्डव एक ब्राह्मणके घर टिके थे।

नगरके प्रत्येक घरकी जब बारी आती थी राक्षसको भोजन भेजनेकी तो इस ब्राह्मण-परिवारकी भी बारी आती ही थी। इस घरकी बारी आयी तो घरमें रोना-पीटना मच गया। परिवारमें ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र तथा कन्या थी। इनमेंसे प्रत्येक अपनेको राक्षसका भोजन बनाकर दूसरोंके प्राण बचाना चाहता था। रुदनके साथ यह विवाद चल रहा था। प्रत्येक चाहता था उसे राक्षसके पास जाने दिया जाय।

युधिष्ठिर भाइयोंके साथ भिक्षा करने बाहर गये थे। केवल भीमसेन तथा कुन्तीदेवी घरपर थीं। ब्राह्मण-परिवारकी बातें सुनकर उनका हृदय भर आया। उन्होंने जाकर ब्राह्मणसे कहा—'आप सब क्यों रोते हैं? हम सब आपके आश्रयमें रहते हैं। आपकी विपत्तिमें सहायता करना हमारा कर्तव्य है। आप चिन्ता न करें। मैं अपने एक पुत्रको राक्षसका भोजन लेकर भेज दूँगी।'

'ऐसा कैसे हो सकता है? आप सब हमारे अतिथि हैं। अपने प्राण बचानेके लिये अतिथिका प्राण लेने-जैसा अधर्म हम नहीं करेंगे।' ब्राह्मणने प्रस्ताव अस्वीकार किया।

कुन्तीदेवीने समझाया कि उनके अत्यन्त बलवान् पुत्र भीमसेन राक्षसको मार देंगे। ब्राह्मण किसी प्रकार मानते न थे। अन्तमें कुन्तीने कहा—'आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो भी मेरी आज्ञासे मेरा पुत्र तो आज राक्षसके पास जायेगा ही। आप उसे रोक नहीं सकते।'

ब्राह्मण विवश हो गया। माताकी आज्ञासे भीमसेन वनमें जानेको उद्यत हो गये। युधिष्ठिर भाइयोंके साथ लौटे तो अन्तमें उन्होंने भी माताकी बातका समर्थन किया। बैलगाड़ीमें भोजन-सामग्री भरकर भीम निश्चित स्थानपर गये। वहाँ उन्होंने बैल खोल दिये। स्वयं भोजनकी पूरी सामग्री खा ली। युद्धमें उन्होंने राक्षसको मारकर एकचक्रा नगरीको सदाके लिये निर्भय कर दिया।

भीमसेनको भेजते समय कुन्तीदेवीने कहा था—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—किसीपर भी विपत्ति आये तो अपने प्राणोंको संकटमें डालकर उसकी रक्षा करना बलवान् क्षत्रियका धर्म है। ये लोग ब्राह्मण हैं, निर्बल हैं और हमारे आश्रयदाता हैं। इनकी रक्षामें कदाचित् प्राण जायँ भी तो तुम्हारा क्षत्रिय-कुलमें जन्म लेना सार्थक हो होगा। क्षत्राणी ऐसे ही अवसरके लिये पुत्रको जन्म देती है।' —सु०

(४)

कोसलराज

काशीनरेशने कोसलपर आक्रमण कर दिया था। कोसलके राजाकी चारों ओर फैली कीर्ति उन्हें असह्य हो गयी थी। युद्धमें उनकी विजय हुई। पराजित नरेश वनमें भाग गये थे; किंतु प्रजा उनके वियोगमें व्याकुल थी और विजयीको अपना सहयोग नहीं दे रही थी। विजयके गर्वसे मत्त काशीनरेश प्रजाके असहयोगसे क्रुद्ध हुए। शत्रुको सर्वथा समाप्त करनेके लिये उन्होंने घोषणा करा दी—'जो कोसलराजको ढूँढ़ लायेगा, उसे सौ स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कारमें मिलेंगी।'

इस घोषणाका कोई प्रभाव नहीं हुआ। धनके लोभमें अपने धार्मिक राजाको शत्रुके हाथमें देनेवाला अधम वहाँ कोई नहीं था।

कोसलराज वनमें भटकते घूमने लगे। जटाएँ बढ़ गयीं। शरीर कृश हो गया। वे एक वनवासी दीखने लगे। एक दिन उन्हें देखकर एक पथिकने पूछा—'यह वन कितना बड़ा है? वनसे निकलने तथा कोसल पहुँचनेका मार्ग कौन-सा है?'

नरेश चौंके! उन्होंने पूछा—'आप कोसल क्यों जा रहे हैं?'

पथिकने कहा—'विपत्तिमें पड़ा व्यापारी हूँ। मालसे लदी नौका नदीमें डूब चुकी। अब द्वार-द्वार कहाँ भिक्षा माँगता भटकता डोलूँ। सुना है कि कोसलके राजा बहुत उदार हैं। अतएव उनके पास जा रहा हूँ।'

'तुम दूरसे आये हो। वनका मार्ग बीहड़ है। चलो, तुम्हें वहाँतक पहुँचा आऊँ।' कुछ देर सोचकर पथिकसे राजाने कहा।

पथिकके साथ वे काशिराजकी सभामें आये। अब उन जटाधारीको कोई पहचानता न था। काशिराजने पूछा—'आप कैसे पधारे?'

उन महत्तमने कहा—'मैं कोसलका राजा हूँ। मुझे पकड़नेके लिये तुमने पुरस्कार घोषित किया है। अब पुरस्कारकी वे सौ स्वर्णमुद्राएँ इस पथिकको दे दो।'

सभामें सन्नाटा छा गया। सब बातें सुनकर काशिराज अपने सिंहासनसे उठे और बोले—'महाराज! आप-जैसे धर्मात्मा, परोपकारनिष्ठको पराजित करनेकी अपेक्षा उसके चरणाश्रित होनेका गौरव कहीं अधिक है। यह सिंहासन अब आपका है। मुझे अपना अनुचर स्वीकार करनेकी कृपा कीजिये!'

व्यापारीको मुँहमाँगा धन प्राप्त हुआ। कोसल और काशी उसी दिन मित्रराज्य बन गये। —सु०

(५)

महाराज मेघवाहन

महाराज मेघवाहन दिग्विजय करने निकले थे। समुद्रतटीय वनसे वे जा रहे थे कि उनके कानोंमें एक चीत्कार पड़ी—'मेरी रक्षा करो! कोई मेरे प्राण बचाओ!'

महाराजका रथ सेनासे आगे निकल आया था। अतः वे खड्ग लेकर रथसे कूद पड़े। सारथिको रथ

वहीं रोके रहनेको लिये कहकर वनमें प्रवेश किया उन्होंने । सघन वनके भीतर एक चण्डिकामण्डप मिला । देवीकी पूजा हो चुकी थी और एक शबर-सेनापति पुरुष-बलि देनेको उद्यत था । जिसकी बलि दी जा रही थी, वही व्यक्ति चीत्कार कर रहा था । उसने महाराजको देखते ही कातर कण्ठसे पुकार की—'भद्रपुरुष ! मेरी रक्षा करो !'

'डरो मत ! सुरक्षित हो तुम !' महाराजने उसे आश्वासन दिया । और शबर-सेनापतिकी ओर मुड़े—'मेघवाहनके राज्यमें दूसरेपर अत्याचार करनेका साहस करनेवाला तू कौन है ? तुझे प्राणोंका भय नहीं है ?'

शबर-सेनापति देखते ही समझ गया था कि ये स्वयं सम्राट् मेघवाहन न भी हों तो उनके कोई बहुत बड़े अधिकारी अवश्य होंगे । उसने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—'मेरा पुत्र रुग्ण है । मरणासन्न हो गया है वह । देवताओंने उसके रोगमुक्त होनेका उपाय नर-बलि बतलाया है । मैं पुत्रकी प्राणरक्षाके लिये यह देवाज्ञाका पालन कर रहा हूँ । मेरे पुण्यकार्यमें आपको बाधक नहीं बनना चाहिये ।'

'असहाय प्राणीका वध महापाप है । मोहान्ध होकर तुम इस पापमें प्रवृत्त हुए हो ।' महाराजने कहा ।

'आपके लिये जैसा यह अपरिचित है, मेरा पुत्र भी है । मैं पुत्रमोहमें ग्रस्त साधारण प्राणी हूँ; किंतु आप इसकी रक्षाके लिये मेरे पुत्रको मृत्युके मुखमें फेंक रहे हैं, यह कौन-सा पुण्य है ? उस बालकने आपका क्या बिगाड़ा है ?' शबर-सेनापतिने अभीतक बलि देनेका शस्त्र नीचे नहीं रक्खा था । वह कह रहा था—'मैं और मेरे परिवारके कई व्यक्तियोंका जीवन उस बालककी रक्षापर निर्भर है । आप एकको बचानेके प्रयत्नमें अनेककी हत्या अपने सिर ले रहे हैं ।'

बध्यपुरुष बड़ी दीनता-याचनाभरी दृष्टिसे देख रहा था महाराजकी ओर । कई क्षण मौन रहकर महाराजने विचार किया । सोचकर वे बोले—'तुम्हें तो किसीकी भी बलि देनी है । मेरा कर्तव्य इस पुरुष तथा तुम्हारे पुत्र—दोनोंके प्राणोंकी रक्षा है । तुम इसे छोड़ दो और मेरी बलि देकर देवताको संतुष्ट करो !'

महाराजने हाथका खड्ग फेंक दिया । वे मुकुट उतारकर बलिस्थानपर पहुँच गये । बलिके लिये बँधे पुरुषको उन्होंने खोल दिया और स्वयं वहाँ खड़े होकर मस्तक झुका दिया ।

'राजन् ! आपके प्राण पूरी प्रजाकी रक्षाके लिये आवश्यक हैं । आप यह क्या कर रहे हैं ? राजाको प्रजा, धन, परिवारकी चिन्ता त्यागकर अपनी प्राणरक्षा करनी चाहिये—यह नीति है ।' शबर-सेनापतिने समझानेका प्रयत्न किया ।

'तुम नीतिकी बात ठीक कहते हो किंतु धर्म नीतिसे बहुत श्रेष्ठ है । मैं प्राणभयसे धर्म नहीं त्याग सकता । तुम शस्त्र उठाओ ।' मेघवाहनने फिर सिर झुकाया ।

'महाराज मेघवाहनकी जय हो ! आप धन्य हैं ।' शबर-सेनापति तो कोई था ही नहीं । वहाँ तो

लोकपाल प्रकट हुए थे आशीर्वाद देते हुए। महाराजकी धर्म-परीक्षाके लिये उन्होंने ही यह नाटक रचा था। —सु०

(६)

शिवाजी और ब्राह्मण

बादशाह औरंगजेबने शिवाजीको दिल्ली बुलवाया भेंट करनेके लिये और वहाँ पहुँचनेपर उसने उनको बंदी बना लिया। ऐसे विश्वासघाती शत्रुके साथ नीति अपनाये बिना निस्तार नहीं था। शिवाजीने बीमारीका बहाना किया। ब्राह्मणोंको मिठाईके टोकरे दान करने लगे। एक दिन स्वयं तथा उनके पुत्र सम्भाजी मिठाईके टोकरोंमें छिपकर बैठे और औरंगजेबके जालसे निकल गये।

मार्गमें शिवाजी बीमार हो गये। उनके साथ उनके दो विश्वस्त सेवक थे—तानाजी और येसाजी। शीघ्र ज्वरमें यात्रा करना निरापद नहीं था। मुर्शिदाबादमें बहुत प्रयत्न करनेपर इन गुप्तवेश-धारियोंको विनायकदेव नामक एक ब्राह्मणने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। शिवाजीको लगा कि स्वस्थ होकर यात्रा करने योग्य होनेमें पर्याप्त समय लगेगा, अतः उन्होंने साथियोंसे आग्रह किया—'आप दोनों सम्भाजीको लेकर महाराष्ट्र चले जायँ, राज्यकी सुरक्षा एवं ठीक प्रशासन आवश्यक है। मैं स्वस्थ होकर आऊँगा।'

साथियोंको विवश होकर यह आदेश मानना पड़ा। लेकिन तानाजीने कुछ दूर जाकर येसाजीसे कहा—'आप सावधानीसे सम्भाजीको ले जायँ। मैं यहीं गुप्तरूपसे स्वामीकी देख-रेख करूँगा।'

छत्रपति शिवाजीने अपना वेश बदल रखा था। ब्राह्मण विनायकदेव उन्हें गोस्वामी जानता था। वह अत्यन्त विरक्त स्वभावका था। माताके साथ रहता था। उस विद्वान् ब्राह्मणने विवाह किया ही न था। भिक्षा ही आजीविकाका साधन थी। परिग्रहकी प्रवृत्ति इसे छू नहीं गयी थी। जितनेसे एक दिनका काम चले, उतनी ही भिक्षा प्रतिदिन लाता था। एक दिन भिक्षा कम मिली। ब्राह्मणने भोजन बनाकर माता तथा शिवाजीको खिला दिया और स्वयं भूखा रह गया।

छत्रपति शिवाजीके लिये अपने आश्रयदाताकी यह दरिद्रता असह्य हो गयी। उन्होंने सोचा—'दक्षिण जाकर धन भेजूँगा; किंतु इसका क्या विश्वास कि वह यहाँतक सुरक्षित पहुँच ही जायगा। फिर यह धन प्रकट होनेपर यहाँका बादशाह देहाती ब्राह्मणको क्या जीवित रहने देगा?'

अन्तमें छत्रपतिने ब्राह्मणसे कलम-दावात, कागज लेकर एक पत्र लिखा और उसे वहाँके सूबेदारको दे आनेको दिया। पत्रमें लिखा था—'शिवाजी इस ब्राह्मणके घर टिका है। इसके साथ आकर पकड़ लें। लेकिन इस सूचनाके लिये ब्राह्मणको दो हजार अशर्फियाँ दे दें। ऐसा नहीं करनेपर शिवाजी हाथ आनेवाला नहीं है।'

सूबेदार जानता था कि शिवाजी बातके धनी हैं और उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें पकड़ लेना हँसी-खेल नहीं है। शिवाजीको दिल्ली-दरबारमें उपस्थित करनेपर बादशाहसे पुरस्कारमें एक सूबातक मिल सकना सम्भव था। इसलिये दो सहस्र अशर्फियाँ

लेकर वह ब्राह्मणके घर गया और वह थैली वहाँ देकर शिवाजीको अपने साथ ले चला।

ब्राह्मणको अबतक कुछ पता नहीं था। अब सूबेदार उसके अतिथि गोस्वामीको अपने साथ लेकर चला तो ब्राह्मण बहुत दुखी हुआ। अचानक उसे गोस्वामीके साथी तानाजी दीखे। वह उनके पास गया। उनसे उसने गोस्वामीके सूबेदारद्वारा पकड़कर ले जानेकी बात सुनायी। तानाजीने बताया—'वे गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति शिवाजी थे। मैं उनका सेवक हूँ।'

ब्राह्मण तो यह सुनते ही मूर्च्छित हो गया। चेतना लौटनेपर सिर पीट-पीटकर रोने लगा—'वे मेरे अतिथि थे। मुझ अधमकी दरिद्रता दूर करनेके लिये उन्होंने अपने-आपको मृत्युके मुखमें दे दिया! मुझ पापीके द्वारा ही वे शत्रुके हाथों दिये गये।'

ब्राह्मण बार-बार हठ करने लगा कि दो सहस्र अशर्फियाँ तानाजी ले लें और उनसे किसी प्रकार छत्रपतिको छुड़ायें। तानाजी पहले ही पता लगाकर आये थे कि सूबेदार कल किस समय, किस मार्गसे शिवाजीको दिल्ली ले जायगा। ब्राह्मणको उन्होंने आश्वासन दिया। सूबेदार जब छत्रपतिको लेकर सिपाहियोंके साथ रात्रिमें चला, वनमें पहुँचते ही तानाजीने अचानक आक्रमण कर दिया। उनके साथ पचास सैनिक थे। शिवाजीको उन्होंने सूबेदारके हाथसे छुड़ा लिया। —सु०

(७)

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

बंगालमें अकाल पड़ा था। लोग भूखसे व्याकुल होकर भागने लगे थे। ऐसे अवसरपर भिक्षा माँगना मनुष्यके लिये स्वाभाविक हो जाता है। वर्द्धमानमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके समीप एक अत्यन्त दुर्बल, फटे चिथड़े लपेटे बालक आया। उसने प्रार्थना की—'महाशय! कृपा करके एक पैसा दीजिये। मैं और मेरी माता भूखी हैं।'

विद्यासागरने पूछा—'यदि मैं तुम्हें चार पैसा दूँ तो क्या करोगे?'

'दो पैसेसे भोजन लूँगा। दो पैसे माताको दूँगा।' लड़केने कहा।

'यदि तुम्हें दो आने दिये जायँ?' विद्यासागर बोले।

लड़केको लगा कि उससे परिहास किया जा रहा है। वह विश्वास ही नहीं कर सकता था कि कोई दो आने उसे देगा। उसने लौटनेका उपक्रम करते कहा—'मुझ दरिद्रसे परिहास करना आपको उचित नहीं है। पैसा नहीं देना हो तो मत दीजिये।'

'मैं परिहास नहीं करता।' विद्यासागरने लड़केका हाथ पकड़ लिया और बोले—'सचमुच तुम्हें मैं चार आने दूँ तो उसका क्या करोगे?'

'चार आने?' लड़केने आश्चर्यसे देखा। क्षणभर सोचकर बोला—'तब तो मेरी विपत्ति ही कट जायगी। दो आनेका भोजन लूँगा अपने और माँके लिये। दो आनेके आम लेकर बेचूँगा। उससे मेरी जीविका चल निकलेगी।'

विद्यासागरने उसे एक रुपया दिया। लड़का प्रसन्न होकर चला गया। विद्यासागरजीको यह घटना, भला, क्या स्मरण रहती; किंतु दो वर्ष पीछे वे फिर वर्द्धमान गये। उन्हें देखते ही एक युवकने दूकानसे उठकर प्रणाम किया और अपनी दूकानमें चलनेकी प्रार्थना की। विद्यासागरने जब कहा कि वे उसे नहीं पहचानते, तब उसके नेत्रोंमें आँसू उमड़ पड़े। उसने विद्यासागरसे रुपया पानेकी घटना सुनायी। रुपया पाकर वह फेरीवाला बन गया था। धीरे-धीरे उसने श्रम करके अब दूकान खोल ली थी। विद्यासागर उसे उत्साहित करनेके लिये उसकी दूकानमें गये और देरतक बैठे रहे।

× × ×

उन दिनों ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कर्माटाँड़में रहते थे। एक दिन उन्हें ढूँढ़ता एक व्यक्ति आया और बोला—'मैं कई दिनोंसे आपसे मिलनेके प्रयत्नमें था। कलकत्तेतक भटक आया हूँ।'

विद्यासागर बोले—'देखिये, भोजन तैयार है। चलिये, पहले भोजन कर लीजिये। फिर हम दोनों बातें करेंगे।'

यह बात सुनते ही उसके नेत्रोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। विद्यासागरने रोनेका कारण पूछा तो बोला—'मुझे तो आपकी दयालुतासे रोना आया। गरीबको कौन पूछता है। कई दिनसे भटक रहा हूँ। पानी पीनेको मारा फिरा, किसीने बैठनेतकको नहीं कहा और आप हैं कि…।'

'इसमें हो क्या गया?' विद्यासागरने उसे बीचमें ही रोक दिया। 'अपने घर आये अतिथिका सत्कार सबको करना ही चाहिये। आप झटपट चलकर भोजन करें।'

बड़े सम्मानसे उन्होंने उसे भोजन कराया। पीछे पूछा कि वह उनके पास किस कामसे आया है। —सु०

(८)

कन्नड़ कृष्ण नायर

नारायण नायर त्रावणकोर राज्यके तोलुर ग्राममें एक महाजनके हाथीके महावत थे। एक दिन हाथी पागल हो गया। उसने अपने महावतको उठाकर भूमिपर पटक दिया और अपने दाँतसे उनकी पीठमें चोट की। संयोग अच्छा था, हाथीको दूसरे लोगोंने वशमें कर लिया। नारायण नायर मूर्छित हो गये थे। उन्हें अस्पताल पहुँचाया गया।

हाथीका दाँत पीठमें भीतरतक घुस गया था। घाव बड़ा था। डाक्टरने कहा—'इसमें टाँके लगाना कठिन है। किसी जीवित मनुष्यका डेढ़ पौंड ताजा मांस मिले तो उसे घावमें भरकर टाँका लगाया जा सकता है।'

परिवार, परिचित, मित्र—कोई नहीं निकला, जो अपने देहका लगभग तीन पाव मांस देना चाहे। लेकिन समाचार फैला तो एक सम्पन्न युवक दौड़ा अस्पताल आया। उसने डाक्टरसे कहा—'मेरा मांस लेकर रोगीके प्राण बचाइये!'

बिना किसी सम्बन्धके दूसरेके लिये मांस-दान करनेवाले ये महानुभाव थे—कन्नड़ कृष्ण नायर। उनकी जाँघसे मांस लेकर डाक्टरने रोगीका घाव भरा। नारायण नायरके प्राण बच गये। कन्नड़ कृष्णको भी जाँघका घाव भरने-तक अस्पतालमें रहना पड़ा। —सु०

(९)

माँग

बर्माके इवेबू गाँवके पास एक बड़ा बाँध आस-पासके किसानोंने बनाया था। वर्षा समाप्त होनेपर उस बाँधके पानीसे खेत सींचे जायँगे, यह आशा उचित ही थी। लेकिन उस वर्ष वर्षा एक दिन बहुत अधिक हुई, नदी उमड़ पड़ी। यदि नदीका जल किनारा तोड़कर बाँधमें चला जाय तो बाँध टूट जायगा। बाँधके टूटनेसे घने बसवाले गाँवोंमें प्रलय ही आ जायगी। इस खतरेसे सावधान करनेके लिये चौकीदारने हवामें गोली चलायी। गाँवके लोग बाँधकी रक्षामें जुट गये। मिट्टी, पत्थर, रेत, लकड़ी, बाँस बाँधके किनारे डालकर उसे सुदृढ़ किया जाने लगा।

माँगको बाँधके निरीक्षणका काम दिया गया। वह घूमता हुआ देख रहा था। एक स्थानपर लंबा पतला छेद उसे दीखा, जिससे नदीका जल भीतर बाँधमें आ रहा था। थोड़े क्षण भी लगे तो उमड़ती नदी वहाँ बाँध तोड़ देगी—यह वह समझ गया। किसीको पुकारनेका समय नहीं था। वह स्वयं छेदको अपने शरीरसे दबाकर खड़ा हो गया।

माँगको जलमें खड़े होना पड़ा था। वर्षा हो रही थी और हवा पूरे वेगपर थी। उसका शरीर अकड़ने लगा। भयंकर दर्द होने लगा हड्डियोंमें। वेदनासे मूर्छित हो गया, किंतु शरीर जलके वेगके कारण बाँधसे सटा रहा।

'माँग कहाँ गया?' गाँवके लोगोंने थोड़ी देरमें उसकी खोज की। उसे बाँध देखकर उन लोगोंको सूचना देनी थी। लोग स्वयं बाँध देखने चल पड़े। उन्हें बाँधसे सटा माँग दीखा; किंतु वह मूर्छित था। उसके शरीर हटाते ही नदीका जल बाँधमें जाने लगा। दूसरा मनुष्य वह छेद दबाकर खड़ा हुआ। लोगोंने वहाँ बाँधको सुदृढ़ किया। माँगको उठाकर गाँव पहुँचाया गया। —सु०

(१०)

मैडम ब्लैवट्स्की

मैडम ब्लैवट्स्कीका जन्म रूसके दक्षिण भागमें इक्स्टरीनसलो स्थानमें सन् १८३१ ई०में एक समृद्ध परिवारमें हुआ था। उन्होंने थियॉसफी समाजकी स्थापनामें अमित योग दिया था और लोगोंमें निर्मल अध्यात्मशक्तिके प्रति श्रद्धा जगायी।

उनके जीवनका एक मार्मिक प्रसङ्ग है, जिससे उनके परहित-चिन्तनपर प्रकाश पड़ता है। अपनी विचारधाराके प्रचारके लिये वे अमेरिकाके न्यूयार्क नगरमें जा रही थीं। उन्होंने प्रथम श्रेणीका टिकट लिया था और हावरमें जहाजपर चढ़ने ही जा रही थीं कि देखा, एक स्त्री अपने दो बच्चोंको साथ लिये सिसक-कर रो रही है। ब्लैवट्स्कीने रोनेका कारण पूछा।

'बहिन! मेरे पतिने मुझे अमेरिका बुलानेके लिये रुपये भेजे थे। जहाजके एक धोखेबाज एजेंट-ने मुझे नकली टिकट देकर मेरे पैसे ठग लिये। मैंने उसको बहुत खोजा, पर वह दीखता ही नहीं। मेरे टिकट साधारण श्रेणीके थे।' स्त्रीने अपनी विवशता प्रकट की। ब्लैवट्स्कीका कोमल हृदय उसकी वेदनासे द्रवित हो उठा।

'बहिन! बस इतनी ही बात है? इसके लिये रोने-धोनेसे लाभ ही क्या है।' करुणामयी ब्लैवट्स्कीने मुसकराकर कहा। स्त्रीको अपने बच्चों-सहित पीछे-पीछे आनेका संकेत किया। वह ब्लैवट्स्कीकी सद्भावनासे आह्लादित हो उठी।

ब्लैवट्स्की जहाजके एजेंटके पास गयीं, उन्होंने अपना प्रथम श्रेणीका टिकट बदल दिया, उसके स्थानपर साधारण श्रेणीके चार टिकट ले लिये।

'आओ, बहिन! जहाज खुलना ही चाहता है। हम शीघ्रतासे अपने स्थानपर चले चलें।' ब्लैवट्स्कीके पीछे-पीछे स्त्री अपने दोनों बच्चे लेकर जहाजपर चढ़ गयी। ब्लैवट्स्कीने साधारण स्थान-पर खड़ी होकर न्यूयार्ककी यात्रा पूरी की। —रा०

परोपकार धर्म और परापकार अधर्म है

परम श्रेष्ठ जन समुद हानि सह अपनी, करते पर-उपकार।
श्रेष्ठ मनुज, जो निज हितकी रक्षा कर, करते पर-उपकार॥
मध्यम जन, जो निज हित करते, पर-हितका करते न विचार।
अधम मनुज, जो स्व-हित समझकर, पर-हितका करते संहार॥
नीच मनुज, जो स्व-हित बिना भी करते संतत पर-अपकार।
महानीच जन, अहित स्वयंका भी कर, करते पर-अपकार॥

× × × ×

धर्म वही है, होता जिससे सदा-सर्वदा पर-उपकार।
उससे ही होता निश्चय अपना भी सहज सत्यउपकार॥
वह अधर्म है, जिससे होता तनिक दूसरेका अपकार।
उससे अपना भी निश्चय ही होता सहज अमित अपकार॥
बुद्धिमान-जन इसीलिये नित करते रहते पर-उपकार।
क्योंकि उसीसे ही होता है उनका भी अपना उपकार॥
संत अहित-कर्त्ताका भी हैं कभी नहीं करते अपकार।
अपना भूल हिताहित, करते स्वाभाविक सबका उपकार॥
संत न कभी जानते कहते—'मैं करता हूँ पर-उपकार'।
रविके सहज प्रकाश-दान सम सबको नित देते उपकार॥

सेवक-धर्मके आदर्श

(१)

भक्त हनुमान्‌जी

सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं ।

—मर्यादापुरुषोत्तमको यह स्वीकार करना पड़ा। सेवाकी मानो साकार प्रतिमा हैं—श्रीपवनकुमार। सीता-शोधके लिये समुद्र-पार करते समय जब जलमग्न मैनाक पर्वत ऊपर उठा और उसने विश्राम कर लेनेकी प्रार्थना की, तब हनुमान्‌जीने उसे उत्तर दिया—

राम काज कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ।

उनका एक-एक श्वास, उनका जीवन ही जैसे 'रामकाज'के लिये है। एक कथा संत-समाजमें कही जाती है—अयोध्यामें जब मर्यादापुरुषोत्तमका राज्याभिषेक हो गया, हनुमान्‌जी वहीं रहने लगे। उन्हें तो श्रीरामकी सेवाका व्यसन ठहरा। रघुनाथजीको कोई वस्तु चाहिये तो हनुमान्‌जी पहिलेसे लिये उपस्थित। रामजीको कुछ प्रिय है तो ये उसे तत्काल करने लग गये। किसी कार्य, किसी पदार्थके लिये संकेततक करनेकी आवश्यकता नहीं होती। सच्चे सेवकका लक्षण ही है कि वह सेव्यके चित्तकी बात जान लिया करता है। वह समझता है कि मेरे स्वामीको कब क्या चाहिये और कब क्या प्रिय लगेगा।

हनुमान्‌जीकी तत्परताका परिणाम यह हुआ कि भरतादि भाइयोंको भी प्रभुकी कोई सेवा प्राप्त होना कठिन हो गया। सब उत्सुक रहते थे कि उन्हें कुछ तो सेवाका अवसर मिले; किंतु हनुमान् जब शिथिल हों, तब तो। अतः सबने मिलकर गुप्त मन्त्रणा की, एक योजना बनायी और श्रीजानकीजीको अपनी ओर मिलाकर उनके माध्यमसे उस योजनापर श्रीरामजीकी स्वीकृति ले ली।

हनुमान्‌जीको कुछ पता नहीं था। वे सरयू-स्नान करके प्रभुके समीप जाने लगे तो रोक दिये गये—'सुनो हनुमान्! महाराजाधिराजकी सेवा सुव्यवस्थित होनी चाहिये। आजसे सेवाका प्रत्येक कार्य विभाजित कर दिया गया है। प्रभुने इस व्यवस्थाको स्वीकृति दे दी है। जिसके लिये जब जो सेवा निश्चित है, वही वह सेवा करेगा।'

'प्रभुने स्वीकृति दे दी है तो उसमें कहना क्या है!' हनुमान्‌जी बोले। 'यह व्यवस्था बता दीजिये। अपने भागकी सेवा मैं करता रहूँगा।'

सेवाकी सूची सुना दी गयी। उसमें हनुमान्‌जीका कहीं नाम नहीं था। उनको कोई सेवा दी नहीं गयी थी; क्योंकि कोई सेवा ऐसी बची ही नहीं थी, जो हनुमान्‌को दी जाय। सूची सुनकर बोले—'इससे जो सेवा बच गयी, वह मेरी।'

'हाँ, वह आपकी।' सब सोचते थे कि सेवा तो अब कोई बची ही नहीं है।

'प्रभुकी स्वीकृति मिलनी चाहिये!' पूरी सूचीपर स्वीकृति मिली तो इस व्यवस्थापर भी तो स्वीकृति चाहिये। हनुमान्‌जीने बात प्रभुकी स्वीकृति लेकर पक्की करा ली।

'प्रभुको जब जम्हाई आयेगी, तब उनके सामने चुटकी बजानेकी सेवा मेरी!' हनुमान्‌ने जब कहा, सब चौंक गये। इस सेवापर तो किसीका ध्यान गया ही नहीं था। लेकिन अब तो स्वीकृति मिल चुकी प्रभुकी। राजसभामें प्रभुके चरणोंके समीप उनके श्रीमुखकी ओर नेत्र लगाये हनुमान्‌जी दिनभर बैठे रहे। रात्रि हुई, प्रभु अन्तःपुरमें पधारे और हनुमान्‌जी पीछे-पीछे चले। द्वारपर रोक दिये गये तो हट आये।

यह क्या हुआ? श्रीरामजीका तो मुख ही खुला रह गया। वे न बोलते हैं न संकेत करते हैं, मुख खोले बैठे हैं। जानकीजी व्याकुल हुईं। माताओंको, भाइयोंको समाचार मिला। सब व्याकुल, किसीको कुछ सूझता नहीं। अन्तमें गुरु वसिष्ठ बुलाये गये। महर्षिने आकर इधर-उधर देखा और पूछा—'हनुमान् कहाँ हैं?'

ढूँढ़ा गया तो राजसदनके एक कंगूरेपर बैठे दोनों हाथोंसे चुटकी बजाये जा रहे हैं और नेत्रोंसे

अश्रु झर रहे हैं, शरीरका रोम-रोम खड़ा है। मुखसे गद्गद स्वरमें कीर्तन चल रहा है—'श्रीराम जय राम जय जय राम !'

'आपको गुरुदेव बुला रहे हैं !' शत्रुघ्नकुमारने कहा तो उठ खड़े हुए। चुटकी बजाते हुए ही नीचे पहुँचे।

'आप यह क्या कर रहे हैं ?' महर्षिने पूछा।

'प्रभुको जम्हाई आये तो चुटकी बजानेकी मेरी सेवा है।' हनुमान्‌जीने कहा। 'मुझे अन्तःपुरमें आनेसे रोक दिया गया। अब जम्हाईका क्या ठिकाना, कब आ जाय। इसलिये मैं चुटकी बराबर बजा रहा हूँ, जिससे अपनी सेवासे वञ्चित न रह जाऊँ।'

'तुम चुटकी बराबर बजा रहे हो, इसलिये श्रीरामको तुम्हारी यह सेवा स्वीकार करनेके लिये बराबर जृम्भण-मुद्रामें रहना पड़ रहा है।' महर्षिने रोगका निदान कर दिया। 'अब कृपा करके इसे बंद कर दो।'

हनुमान्‌जीने चुटकी बंद की तो प्रभुने मुख बंद कर लिया। अब पवनकुमारने कहा—'तो मैं यहीं प्रभुके सामने बैठूँ ? और सदा सर्वत्र प्रभुके सामने ही जब-जब प्रभु जायँ तब उनके श्रीमुखको देखता हुआ साथ बना रहूँ, क्योंकि प्रभुको जम्हाई कब आयेगी, इसका तो कोई निश्चित समय है नहीं।'

प्रभुने धीरेसे श्रीजानकीजीकी ओर देखा। तात्पर्य यह था कि 'और करो सेवाका विभाजन ! हनुमान्‌को सेवा-वञ्चित करनेकी चेष्टाका सुफल देख लिया ?'

'यह सब रहने दो।' महर्षि वसिष्ठने व्यवस्था दे दी। 'तुम जैसे पहिले सेवा करते थे, वैसे ही करते रहो।'

अब भला, गुरुदेवकी व्यवस्थाके विरुद्ध कोई क्या कह सकता था। उनका आदेश तो सर्वोपरि है।

—सु०

(२)

आदर्श सेवाके मूर्तिमान् स्वरूप श्रीहनुमान्‌जी

(लेखक—श्रीहृदयशंकरजी 'पागल')

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी ॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई ॥

आइये, अब हम कुछ क्षणके लिये भगवान्‌के अनन्य चरणानुरागी, सेवक-श्रेष्ठ श्रीहनुमान्‌जीके आदर्शमय पावन चरित्रका अवलोकन करें। प्रस्तुत दृश्य उस समयका है, जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयों तथा प्रिय सेवक श्रीहनूमान्‌जीके सङ्ग अमराईमें विश्रामके हेतु पधारे हैं। उपवनमें पहुँचकर श्रीभरतलालने अपना पीताम्बर जमीनपर बिछा दिया, प्रभु उसपर विराजे और सभी भाई उनकी सेवामें निरत हो गये। सभीने प्रभुकी एकाकी सेवाका कार्य-सम्पादन आरम्भ किया, किंतु पवनसुत तो एक असामान्य सेवक ठहरे न ! अतः इन्होंने ऐसे कार्यका चयन किया, जिसमें भक्त तथा भगवान् दोनोंकी सेवाका सुयोग सुलभ होता रहे। यही है इनके चरित्रकी विशेषता। औरोंकी सेवासे अकेले प्रभु सुख पा रहे हैं, पर इनकी सेवा समस्त व्यक्तियोंको अनुप्राणित कर रही है। निम्न चौपाइयाँ उक्त कथनकी प्रामाणिकताके लिये पर्याप्त होंगी—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई ॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई ॥

इन्होंने भगवान्‌को पंखा झलनेका कार्य चुना, जिससे इनकी सेवा सबको मिलती रहे।

मानसमें चार पात्र श्रीलखनलाल, श्रीभरतलाल, श्रीहनुमतलाल और भगवान् श्रीशंकर प्रभुके महान् सेवकोंमें गिने जाते हैं। इसका निर्णय स्वयं भगवान् शंकरने ही किया है। वे औरोंको भक्त तो अवश्य मानते हैं, पर हनुमान्‌के समान 'भाग्यवान् भक्त' और किसीको नहीं बताते। इसका प्रधान कारण है कि स्वयं प्रभु तथा जगज्जननी माँ जानकीने श्रीहनुमान्‌जीको जितना स्नेह दिया और हृदयके

जिस भागमें बैठाया, वहाँतक शायद और कोई पहुँच ही न सका। वाटिकामें रखी सीताको खोजते हुए जब हनुमान्‌जी अशोक-वाटिकामें माँके समक्ष उपस्थित होते हैं और प्रभु-कथाके माध्यमसे अपना परिचय देकर अपनेको प्रभुका दास प्रमाणित कर देते हैं, तब देव-दुर्लभ माँके उस दुर्लभ अनुग्रहको प्राप्त करते हैं, जिसको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् सृष्टिमें कोई चीज ऐसी रह नहीं जाती, जीव जिसकी कामना करे। यों तो सारी सृष्टि ही उनकी संतान है, सबपर उनका ममत्व और स्नेह समरूपमें ही रहता है किंतु उनका विशेष आशिष्-पूर्ण वचन पवनपुत्रके प्रति उनके अतिशय स्नेह-की प्रगाढ़ता और असीमताका परिचय देता है।

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥
करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना॥
बार बार नाएसि पद सीसा। बोला बचन जोरि कर कीसा॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥

इस प्रकार एक ही साथ प्रभु-प्रेम, शील तथा गुणनिधान एवं अजर-अमर होनेकी दिव्य अमोघ आसीससे विभूषितकर माँने मानो स्नेहवश सभी कुछ दे दिया। माँका वात्सल्य यहाँ उमड़ा हुआ दिखायी पड़ता है और उस उमड़े हुए स्नेह-समुद्र-की इतनी निकटता प्राप्त करनेवालेके समान वास्तवमें कोई पुण्यवान् और महान् हो ही नहीं सकता।

उनकी महानताके परिचयका दूसरा स्थल है जब वे प्रभुके समक्ष माँ जानकीकी खोजका संवाद, उनकी वास्तविक स्थितिका परिचय और चूड़ामणि भेंट करते हैं। प्रभु लौकिक दृष्टिसे सीताका संवाद पानेके लिये अति विह्वल हो रहे हैं और सीताकी स्मृतिमें व्याकुल, मौन होकर बैठे निर्निमेष भावसे पृथ्वीको देख रहे हैं। उसी समय श्रीहनुमान्‌जीका आगमन होता है। श्रीजाम्बवंतजीसे सीता-खोजकी खबर लग जाती है। अब प्रभु हनुमान्‌जीको देखते ही हृदयसे लगा लेते हैं। कपिनायक उनको सारे समाचार सुनाते हैं। उस समय प्रेम-विह्वल होकर प्रभु श्रीहनुमान्‌जीको वह प्रेमपूर्ण व्यवहारका दान करते हैं, जो शायद अन्यत्र किसीको प्राप्त नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

श्रीहनुमान्‌जी प्रेम-व्याकुल हो प्रभुके चरणोंपर गिर जाते हैं और फिर कितनी सतर्कता बर्तते हैं, यह दर्शनीय है।

दो०—सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥
प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥

भक्त हनुमान् भगवान्‌के चरणोंपर प्रेमविह्वल अवस्थामें पड़े हैं और उसी हालतमें पड़े रहना पसंद करते हैं; क्योंकि प्रभुके उठानेपर भी वे उठते नहीं हैं। उठें भी तो कैसे? जीवके लिये सचमुच ही वह घड़ी अत्यन्त महत्त्वकी होती है, जब उसके गिरनेपर कोई उसे उठानेवाला होता है। साधारण सहायकको पाकर भी हम उसको अति उपकारी मानते हैं; किंतु जिसे भगवान् स्वयं अपने हाथ फैलाकर उठानेको प्रस्तुत हैं, उससे बड़ा भाग्यवान् व्यक्ति और हो ही कौन सकता है? हनुमान्‌जीका मस्तक भगवान्‌के चरणोंपर है और प्रभुका कल्याण-मय कर-कमल उनके सौभाग्यशाली शीर्षपर। भक्त तथा भगवान्‌के इस अनन्यविलक्षण प्रेम-व्यवहारको देखकर जगद्गुरु, बुद्धिविशारद, भूतभावन भगवान् शंकर,—जो प्रभुके अनन्य प्रेमी हैं और निरन्तर उन्हींके गुणगानमें रत रहते हैं, मग्न हो जाते हैं। उन्हें आत्म-विस्मृति-सी हो जाती है और कथाका प्रवाह रुक जाता है। माँ पार्वती देखती हैं कि इस विभोर अवस्थासे इनका अपने-आप जगना असम्भव है, तब वे जगाती हैं। ध्यान-मुद्रा टूटनेपर उन्हें ख्याल आता है और वे सावधान होकर पुनः कथा प्रारम्भ करते हैं। अस्तु। गिरनेके बाद फिर प्रभु

हनुमान्‌के मस्तकपर हाथ रखकर जब कहते हैं—पुत्र! उठ जाओ, तब प्रभुका उदारतापूर्ण वरदहस्तका आश्रय प्राप्तकर वे उठ बैठते हैं। तुलसीदासजीकी भाषामें हनुमान्‌जी सोचते हैं—

दो०—तुलसी तृन जल कूलको निरबल निपट निकाज।
कै राखे कै सँग चले बाँह गहेकी लाज॥

सेवक हनुमान् प्रभुके इस पावन शीतल आश्रयको पाकर पूर्ण आश्वस्त हो गये और उन्हें असीम तोष प्राप्त हुआ। यह है उनके चामत्कारिक सेवकभावकी विशेषता।

(३)

सुप्रिया

'मृतप्राय बालक विहारके दरवाजेपर क्षुधासे पीड़ित होकर अन्तिम साँस ले रहा है, भन्ते!' भिक्षु आनन्दने जेतवन विहारमें धर्मप्रवचन करते हुए भगवान् बुद्धका ध्यान आकृष्ट किया। आनन्दका हृदय करुणासे परिपूर्ण था। उन्होंने निवेदन किया कि समस्त श्रावस्ती नगरी अकालग्रस्त है। लोग भूखसे तड़प-तड़पकर राजपथपर अन्नदानकी याचना कर रहे हैं, लोगोंके शरीरमें मांस और रक्त नामकी वस्तुका अभाव हो चला है। केवल अस्थिमात्र शेष है। चारों ओर भुखमरीका नंगा नाच हो रहा है। अनेक प्रकारके रोग फैलते जा रहे हैं। कठोर हृदय अन्न-व्यवसायियोंने अन्न गोदाममें भर लिया है, उन्हें भय है कि जनता अन्न लूट लेगी। आनन्दने अकालसे बचनेका उपाय पूछा।

'उपाय है' तथागतने आनन्दका समाधान किया। धर्मप्रवचनमें सम्मिलित व्यवसायियोंकी मण्डलीने बहाना बनाना आरम्भ किया। किसीने कहा कि हमारे खलिहान और गोदाममें अन्न नहीं है; किसीने बात बनायी कि श्रावस्ती-जैसी विशाल नगरीमें घर-घर अन्नकी पूर्ति करना असम्भव है।

'क्या इस भयंकर दुर्भिक्षसे जनत्राण करनेवाला श्रावस्तीमें कोई प्राणी नहीं रह गया?' शास्ताने चिन्ता प्रकट की।

'है—वह प्राणी मैं हूँ। मैं आपकी आज्ञासे अन-सेवाव्रत ग्रहणकर लोगोंको अकालसे मुक्त करूँगी।' भगवान् तथागतके शिष्य सेठ अनाथपिण्डदकी कन्या सुप्रियाके कण्ठमें करुणरसका संचार हो उठा।

'इतने बड़े जनसमूहकी भूख-ज्वाला शान्त किस तरह कर सकोगी तुम?' तथागतने सुप्रियाकी परीक्षा ली।

'मैं श्रावस्तीके राजपथपर अपना भिक्षा-पात्र लेकर अन्नदानके लिये निकल पड़ूँगी। आपकी सहज करुणासे सिञ्चित यह भिक्षा-पात्र कभी खाली नहीं रह सकता।' सुप्रियाके उद्गारसे भिक्षु आनन्दका हृदय गद्गद हो उठा। भगवान् तथागतने उसको अपने करुणापूर्ण आशीर्वादसे प्रोत्साहन दिया।

श्रावस्तीके सबसे बड़े धनी सेठ अनाथपिण्डदकी कन्या सुप्रिया भिक्षा-पात्र लेकर राजपथपर निकल पड़ी। नगर-निवासियोंका हृदय द्रवित हो उठा। उसका भिक्षा-पात्र क्षणभरके लिये भी खाली नहीं रह सका। पात्रको अन्नसे परिपूर्ण रखनेके लिये लोग उसके पीछे-पीछे जन-सेवा-भावनासे प्रेरित होकर चलने लगे। सुप्रियाने अकालग्रस्त प्राणियोंको मृत्युके मुखमें जानेसे बचा लिया। रोग और महामारीने श्रावस्तीकी सीमा छोड़ दी। उसने दीन-दुखियोंकी सेवा और रोगियोंकी परिचर्या तथा शुश्रूषामें अपने जीवनका सदुपयोग किया। आदर्श लोकसेविका थी सुप्रिया। उसने निष्काम जनसेवा-व्रतकी आजीवन साधना की। —रा०

(४)

महात्मा सेरापियो

सेरापियोकी सेवा-वृत्ति उच्च कोटिकी थी। उन्होंने ईसाकी चौथी शताब्दीमें मिस्र देशको अपनी उपस्थितिसे गौरवान्वित किया था। वे बड़े सरल और उदार थे। संत सेरापियो सदा मोटे कपड़ेका चोगा पहनते थे और समय-समयपर दीन-दुखियोंकी सहायताके लिये उसे बेच दिया करते थे। कभी-कभी तो आवश्यकता पड़नेपर अपने-आपको भी कुछ समयके लिये बेचकर गरीबोंकी सहायता करते थे।

एक समयकी बात है। उन्हें फटे-हाल देखकर उनके मित्रको बड़ा आश्चर्य हुआ।

'भाई ! आपको नंगा और भूखा रहनेके लिये कौन विवश कर दिया करता है? आपने यह कैसा वेश बना रक्खा है?' उनके मित्रकी जिज्ञासा थी।

'यह बात पूछनेकी नहीं, समझनेकी है। दीन-दुखी असहाय प्राणियोंकी विपत्तिसे रक्षा करना बहुत बड़ी मानवता है। मानवके प्रति मानवका पवित्र धर्म है यह ! मैं बिना उनकी सहायता किये रह ही नहीं पाता। जबतक मैं उन्हें सुखी और संतुष्ट नहीं देख लेता, तबतक मेरा मन अत्यन्त अशान्त रहता है ! मेरे धर्म-ग्रन्थका मुझे यह आदेश है कि अपना सब कुछ बेचकर भी गरीब और असहायोंकी सेवा करनी चाहिये। मुझे ऐसा करनेमें बड़ी शान्ति मिलती है।' महात्मा सेरापियोने मित्रका समाधान किया।

'मैं आपके विचारोंकी सराहना करता हूँ। मैं आपका वह धर्म-ग्रन्थ देखना चाहता हूँ, जिसने आपको निष्काम सेवाका परमोत्कृष्ट भाव प्रदान किया है।' मित्रकी उत्सुकता थी।

'भाई ! असहायों और गरीबोंकी सेवा तथा सहायताके लिये मैंने उसको भी बेच दिया है। जो ग्रन्थ सेवाके लिये सारी वस्तु बेच देनेका आदेश देता है; पासमें कुछ न रहनेपर समय आनेपर उसे बेच देनेमें आपत्ति ही क्या हो सकती है। उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह दूसरोंके काम आ जाय और सबसे बड़े लाभकी बात तो यह है कि जिसके पास वह ग्रन्थ रहेगा, उसे भी परोपकार और सेवाका पवित्र ज्ञान मिलेगा, उसके जीवनमें सद्गुणोंका विकास होगा।' संत सेरापियोने मित्रको सेवाका पवित्र आदर्श बताया।

—सु०

(५)

निष्काम सेवाके पवित्र आदर्श—दैन्यमूर्ति संत फ्रान्सिस

संत फ्रान्सिस मध्यकालीन यूरोपमें सत्यनिष्ठा, दैन्यप्रियता, निष्कामसेवा, त्याग और दयाके मूर्तिमान् सजीव उदाहरण थे। उन्होंने इटलीके असिसाई नगरमें सन् ११८२ ई०में जन्म लिया था। उनका परिवार बड़ा सुखी और समृद्ध था, पर उन्हें इस वातावरणमें वास्तविक आत्मशान्तिका दर्शन नहीं हुआ। दीनताका जीवन अपनाकर सत्पथपर चलना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। उन्हें असिसाई नगरमें भिक्षा माँगते देख लोग उनको अपमानित करते थे, कुत्तेकी तरह दुरदुराते थे। कहा करते थे कि शर्म नहीं आती, बड़े घरके होकर माँगते हो? पर फ्रान्सिसने किसी भी कीमतपर अपनी जीवनसङ्गिनी—दीनता-रमणीका परित्याग नहीं किया।

निस्संदेह दीनता उनकी जन्मजात सम्पत्ति थी। अपने लिये कुछ भी शेष न रखकर परमात्मापर पूर्ण निर्भर हो जाना दैन्यका उच्चतम रूप है। दरिद्र-नारायणकी सेवासे आत्मगत दैन्य पुष्ट होता है। फ्रान्सिसके विरक्त जीवनके पहलेकी एक घटना है। उस समय भी वे उदारता और दानशीलतामें सबसे आगे थे। कोई भिखारी उनके सामनेसे खाली हाथ नहीं जा पाता था। एक समय वे अपनी रेशमी कपड़ेकी दूकानपर बैठे हुए थे। उनके पिता दूकानके भीतर थे। फ्रान्सिस एक धनी ग्राहकसे बातें कर रहे थे कि अचानक दूकानके सामने एक भिखारी दीख पड़ा। बातमें उलझे रहनेके कारण फ्रान्सिसको उसका ख्याल नहीं रह गया, वह चला गया।

'कितना भयानक पाप हो गया मुझसे !' वे दूकान छोड़कर भिखारीकी खोजमें निकल पड़े। दूकानपर लाखोंकी सम्पत्ति थी, खुली पड़ी रह गयी। चिन्ता तो थी भिखारीकी।

आखिर भिखारीको ढूँढ़कर बड़ी नम्र भाषामें उससे कहा—'भैया ! मुझसे बड़ी भूल हो गयी। रुपये-पैसेका सौदा ही ऐसा है कि आदमी उसमें उलझकर अंधा हो जाता है। आपने मुझे सेवाका अवसर दिया और मैं चूक गया।' फ्रान्सिसने अपने पासके सारे रुपये उसे दे दिये और कोट पहना दिया।

फ्रान्सिसने संतोषकी साँस ली, दरिद्रनारायण-की निष्काम सेवासे वे धन्य हो उठे।

संत फ्रान्सिसकी एक उपाधि है—'कोढ़ियोंके भाई।' एक समय वे घोड़ेपर सवार होकर अपनी गुफामें जा रहे थे। थोड़ी दूरपर सड़कपर उन्हें एक कोढ़ी दीख पड़ा। उन्हें पहचाननेमें देर न लगी; क्योंकि कोढ़ियोंको उन दिनों विशिष्ट कपड़ा पहनना पड़ता था, जिससे लोग उन्हें दूरसे ही पहचानकर दूसरा रास्ता पकड़ लें। संत फ्रान्सिसने घोड़ेको मोड़ना चाहा, पर उनका दयापूर्ण कोमल हृदय हाहाकार कर उठा कि ऐसा करना पाप है। कोढ़ी भी अपना ही भाई है। भाई तो भाई ही है, फिर उससे घृणा करना, उसकी सेवासे विमुख होना अधर्म है। फ्रान्सिस चल पड़े कोढ़ीकी ओर। निकट जानेका साहस नहीं होता था; कोढ़ीका चेहरा विकृत था, अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूट गये थे, कहींसे सड़ा रक्त निकल रहा था तो कहींसे पीब चू रहा था। मवादसे भयानक दुर्गन्ध आ रही थी। संत फ्रान्सिस उसके सामने खड़े थे, देख रहे थे। मनने समझाया कि इसे सहायता चाहिये। संतने अपने सारे पैसे कोढ़ीके सामने डाल दिये। चलनेवाले ही थे, घोड़ा मुड़ ही चुका था कि हृदयने धिक्कारा—भाईके प्रति ऐसा व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता। इसे पैसेकी आवश्यकता नहीं है। यह सेवाका भूखा है—अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भयानक पीड़ा है, कोमल अँगुलियोंका स्पर्श चाहता है यह।

. फ्रान्सिस अपने आपको नहीं रोक सके। घोड़ेसे उतर पड़े।

'भैया! आपने मुझे अपने सेवाव्रतका ज्ञान करा दिया। मैं भूल गया था। आपने कितना बड़ा उपकार किया मेरा।' फ्रान्सिसने कोढ़ीका हाथ पकड़कर चूम लिया। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहलाकर अपनी कोमल अंगुलियोंको पवित्र कर लिया। कोढ़ीके घाव उनकी सेवासे ऐसे दीख पड़े मानो वे अमृतसे सींचे गये हों। संत फ्रान्सिसकी निष्काम सेवा-भावना कितनी पवित्र थी! 'कोढ़ियोंके भाई' नाम उनके लिये कितना सार्थक है! —रा०

(६)
राठौरशूर दुर्गादास

जोधपुरनरेश महाराज जसवन्तसिंहने मुगल-बादशाहोंकी सत्ता सुरक्षित रखनेमें कितना योग दिया, इसे इतिहासकार जानते हैं; किंतु उन्हीं परमहितैषीका जब स्वर्गवास हो गया, तब बादशाह औरंगजेबने उनके अबोध पुत्र अजीतसिंहका उत्तराधिकार अस्वीकार कर दिया।

औरंगजेबने जसवन्तसिंहके दीवान आशकरणके वीर पुत्र दुर्गादासको आठ हजार स्वर्णमुद्राओंका उत्कोच इसलिये देना चाहा कि वे विधवा महारानी तथा नन्हे राजकुमारकी रक्षासे हट जायँ। दुर्गादासकी तलवारने बादशाहकी सैनिक शूरताको व्यर्थ कर दिया था और उस राठौर-शूरकी स्वामिभक्तिके सम्मुख यह क्रूर प्रयत्न भी व्यर्थ रहा।

'राजकुमार अजीतसिंह दिल्ली आ जायँ। शाही इन्तजाममें उनकी शिक्षा और पालन होगा।' औरंगजेब अपने भाइयों तथा पितातकसे जो व्यवहार कर चुका था, उसे देखते हुए उसकी इस घोषणापर राजपूत सरदार कैसे विश्वास करते? कुमार अजीतसिंह दुर्गादासकी देख-रेखमें सुरक्षित रहे, पले और बड़े हुए। दुर्गादासने उन्हें अपने पराक्रमसे मेवाड़का अधिपति बनाया।

दुर्गादास बड़े कठोर संरक्षक थे। बालक अजीतसिंह परिश्रमी, न्यायपरायण हों और उनमें विलासिता, प्रमाद-जैसे कोई दुर्गुण न आयें—इस विषयमें वे बहुत सावधान रहते थे। सिंहासन प्राप्त करनेके पश्चात् एक दिन राजसभामें अजीतसिंहने उनसे कहा—'आपने मेरा अभिभावक बनकर मुझे इतने दुःख दिये, मेरी इतनी ताड़ना की कि उसे सोचकर मुझे अब भी कष्ट होता है। उस कठोर व्यवहारके लिये मैं आपको दण्ड दूँगा। मिट्टीका करवा लेकर जोधपुरकी गलियोंमें भिक्षा माँगिये।'

'जो आज्ञा!' पूरी राजसभामें सन्नाटा छा गया था। जिस शूरके नामसे दिल्लीका बादशाह काँपता है, जिसने प्राणपर खेलकर अजीतसिंहकी प्राणरक्षा की और उन्हें इस योग्य बनाया, उसे यह दण्ड! लेकिन दुर्गादासकी भौंहोंपर बल नहीं

पड़ा। उन्होंने सिर झुकाकर राजाज्ञा स्वीकार कर ली।

थोड़े ही दिन बीते थे कि महाराज अजीतसिंह घोड़ेपर बैठकर नगर घूमने निकले। साथमें अनेक सरदार थे, सैनिक थे। उन्होंने देखा कि एक धनीके द्वारपर हाथमें फूस्स करवा लिये दुर्गादास खड़े हैं। उनके शरीरपर फटे वस्त्र हैं। महाराजने घोड़ा रोककर पूछा—'आप प्रसन्न हैं ?'

दुर्गादासने हाथ जोड़कर कहा—'बहुत प्रसन्न हूँ। राजधानीमें प्रजा समृद्ध है। लोग उत्तम वस्त्र पहिनते हैं, अच्छे पात्रोंमें उत्तम भोजन करते हैं। मेरे लिये इससे बड़ा प्रसन्नताका कारण दूसरा क्या हो सकता है ? इससे क्या होता है कि मेरे शरीरपर चिथड़े हैं, मेरे पास फूस्स करवा है ? मुझे कभी भोजन मिलता है और कभी नहीं मिलता ? यदि मैंने आपको बचपनमें कठोर नियन्त्रणमें न रक्खा होता तो आज मैं इस सम्मुखके भवनके स्वामीकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न होता; किंतु उस दशामें राजधानीकी यह प्रजा उस अवस्थामें होती, जिसमें आज मैं हूँ।'

'आप मेरे पिताके समान हैं। मुझे क्षमा करें !' महाराज अजीतसिंह घोड़ेपरसे कूद पड़े। अपने अभिभावकका हाथ पकड़कर उनके साथ वे पैदल ही राजभवन गये। —सु०

(७)
संयमराय

स्वतन्त्र भारतके अन्तिम हिंदूनरेश पृथ्वीराज चौहान युद्धभूमिमें मूर्छित पड़े थे। उनका शरीर घावोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था। चारों ओर शव, कटे-फटे अङ्ग तथा घायल सैनिकोंका क्रन्दन गूँज रहा था। युद्ध करती सेना पीछे हट चुकी थी। सैकड़ों गीध युद्धभूमिमें उतर आये थे और अपना पेट भरनेमें लग गये थे। उनके लिये मरे और मरनेको पड़े, अर्धजीवित बराबर थे। इन गीधोंका एक झुंड पृथ्वीराजकी ओर बढ़ रहा था।

पृथ्वीराजके अङ्गरक्षक संयमराय उनसे थोड़ी ही दूरपर पड़े थे। वे मूर्छित नहीं थे, किंतु इतने घायल थे कि उनके लिये खिसकना भी असम्भव था। गीधोंको पृथ्वीराजकी ओर बढ़ते देखकर उनके मनमें आया—'मैं अङ्गरक्षक हूँ, जीवित हूँ और मेरे देखते उस अङ्गको गीध नोचें तो मुझे धिक्कार है।'

तलवार पास पड़ी थी। संयमरायने उठा लिया उसे और अपने हाथसे अपने शरीरका मांस टुकड़े-टुकड़े काटकर गीधोंकी ओर फेंकने लगे। गीध इन मांसके टुकड़ोंको खानेमें लग गये।

पृथ्वीराजके सैनिक राजाको न पाकर ढूँढ़ने निकले। पृथ्वीराज मिल गये, बचा लिये गये। संयमराय भी मिल गये, किंतु तबतक मृत्युके पास पहुँच चुके थे। उनका शरीर भले बचाया न जा सका, उनकी उज्ज्वल कीर्ति तो अमर है।

—सु०

(८)
सेवकधर्मका यह आदर्श

समर्थ स्वामी रामदासजी वृद्ध हो गये थे। उनके मुखमें एक भी दाँत नहीं रहा था। लेकिन प्रसाद लेनेके पश्चात् पान खानेका उनको पुराना अभ्यास था। अब उन्हें पनबट्टेमें कूटकर पान दिया जाता था। एक दिन पानमें चूना अधिक हो गया। उसे खानेसे श्रीसमर्थके मुखमें छाले हो गये। वे परम सहिष्णु कुछ बोले नहीं; किंतु जिसकी पान देनेकी सेवा थी, वह बहुत दुखी हुआ।

'गुरुदेवको ऐसा कष्ट फिर नहीं होना चाहिये !' यह वह सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझ गया। सेवा चलती रही, लेकिन एक दिन किसीने उसे देख लिया। देखनेवालेको बड़ी ग्लानि हुई कि वह सेवक स्वयं ताम्बूल मुखमें चबाकर तब उसे श्रीसमर्थको देता है। उसने छत्रपति शिवाजीको समाचार दिया।

क्रोधमें भरे शिवाजी समर्थके समीप आये। उन्होंने गुरुदेवको ताम्बूल देनेवाले सेवककी अशिष्टता बतायी तो श्रीसमर्थ ऐसे बन गये, जैसे

कुछ जानते न हों। उन्होंने सेवकको बुलवाया। छत्रपति शिवाजी ही उससे बोले—'गुरुदेवको जिस पनबट्टेमें कूटकर तुम ताम्बूल देते हो, उसे ले आओ।'

सेवक चला गया। लौटा तो उसके हाथमें रक्तसे सना थाल था। वह स्वयं रक्तसे लथपथ था। थालमें फाड़कर अपना पूरा जबड़ा उसने रक्खा था। थाल रखकर वह गुरुके चरणोंमें गिर पड़ा। उसके प्राण प्रयाण कर गये। शिवाजी सिर झुकाये थे। उनके नेत्रोंसे अश्रु टपक रहे थे। —सु०

(९)

पन्ना धाय

राणा संग्रामसिंह वीरगति प्राप्त कर चुके थे। चित्तौड़के सिंहासनपर उनके बड़े पुत्र विक्रमादित्य बैठे; किंतु उनकी अयोग्यताके कारण राजपूत सरदारोंने उन्हें गद्दीसे हटा दिया। राणा साँगाके छोटे पुत्र उदयसिंह राज्यके उत्तराधिकारी घोषित किये गये; किंतु वे अभी छः वर्षके बालक थे। अतएव दासीपुत्र बनवीरको उनका संरक्षक तथा उनकी ओरसे राज्यशासनका संचालनकर्ता बनाया गया; क्योंकि महारानी करुणावतीका भी स्वर्गवास हो चुका था।

राज्यका लोभ मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देता। बनवीर भी इस लोभसे पिशाच बन गया। उसने सोचा कि यदि राणा साँगाके दोनों पुत्र मार दिये जायँ तो चित्तौड़का सिंहासन उसके लिये निष्कण्टक हो जायगा। एक रातको नंगी तलवार लिये वह अपने भवनसे उठा। उसने विक्रमादित्यकी हत्या कर दी।

राजकुमार उदयसिंह सायंकालका भोजन करके सो चुके थे। उनका पालन-पोषण करनेवाली, पन्ना धायको बनवीरके बुरे अभिप्रायका कुछ पता नहीं था। परंतु रातमें जूठे पत्तल हटाने बारिन आयी, तब उसने पन्नाको बनवीरद्वारा विक्रमादित्यकी हत्याका समाचार दिया। वह उस समय वहीं थी और वहाँका यह कुकृत्य देखकर किसी प्रकार भागी हुई पन्नाके पास आयी थी। उसने कहा—'वह यहाँ आता ही होगा।'

पन्ना चौंकी और उसे अपना कर्तव्य स्थिर करनेमें क्षणभर भी नहीं लगा। उसने बालक राणा उदयसिंहको उठाकर बारिनको दिया। 'इन्हें लेकर चुपचाप निकल जाओ। मैं तुम्हें बीरा नदीके तटपर मिलूँगी।'

उदयसिंह सो रहे थे। उन्हें टोकरेमें लिटाकर, ऊपरसे पत्तलें ढककर बारिन राजभवनसे निकल गयी। इधर पन्नाने अपने पुत्र चन्दनको कपड़ा उढ़ाकर उदयसिंहके पलँगपर सुला दिया। दोनों बालक लगभग एक ही अवस्थाके थे। अपने बालक स्वामीकी रक्षाके लिये उस धर्मनिष्ठा धायने अपने कलेजेके टुकड़ेका बलिदान देना निश्चय कर लिया था।

नंगी रक्तसनी तलवार लिये बनवीर कुछ क्षणोंके बाद ही आ धमका। उसने पूछा—'उदय कहाँ है?'

धायने अँगुलीसे अपने सोये पुत्रकी ओर संकेत कर दिया। तलवार उठी और उस अबोध बालकका सिर धड़से पृथक् हो गया। बनवीर चला गया। लेकिन कर्तव्यनिष्ठ पन्ना धायके मुखसे न चीख निकली, न उस समय नेत्रोंसे आँसू गिरे। उसे तो अभी अपना धर्म निभाना था। उसका हृदय फटा जाता था। पुत्रका शव लेकर वह राजभवनसे निकली।

बीरा नदीके तटपर उसने पुत्रका अन्तिम संस्कार किया और मेवाड़के नन्हे निद्रित अधीश्वरको लेकर रात्रिमें ही मेवाड़से बाहर निकल गयी। बेचारी धाय! कोई उसे आश्रय देकर बनवीरसे शत्रुता नहीं लेना चाहता था। वह एकसे दूसरे ठिकानोंमें भटकती फिरी। अन्तमें देवराके आशाशाहने आश्रय दिया उसे।

बनवीरको उसके कर्मका दण्ड मिलना था, मिला। राणा उदयसिंह जब सिंहासनपर बैठे, पन्ना धायकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ाकर उन्होंने अपनेको धन्य माना। पन्ना चित्तौड़की सच्ची धात्री सिद्ध हुई। —सु०

मानसमें धर्मकी परिभाषा

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

श्रीरामचरितमानसमें शंकर भगवान्‌का वचन है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

इस स्थानपर यह प्रश्न होता है कि 'वह कौन-सा धर्म है जिसकी हानि होनेपर कृपानिधान पृथ्वीपर अवतरित होनेका कष्ट स्वीकार करते हैं? क्या प्रभु किसी धर्मविशेषकी हानिपर अवतार धारण करते हैं?' यदि ऐसा मानें तो करुणानिधानमें पक्षपातका दोषारोपण हो जाता है। प्रभु किसी जाति या देशविशेषके हितार्थ अवतार नहीं धारण करते—'राम जनमु जग मंगल हेतू।' करुणामय जगत्पिता हैं। अतएव उनकी कोई बात भाषा, जाति, देश अथवा अन्य किसी भेदसे सीमित नहीं है। जो असीम है, उसकी सीमा कैसी?

हमारे वेद तथा उपनिषद् किसी एक सम्प्रदायकी अपनी निधि नहीं हैं। वे हिंदू इसलिये कहलाते हैं कि उनका प्रादुर्भाव उस संस्कृतिमें हुआ, जिसकी परम्परा हिंदू-संस्कृतिमें सुरक्षित है। वे भारतीय इसलिये कहलाते हैं कि उनका यह दृष्टिकोण कि वसुधापर सब प्राणी एक ही कुटुम्बके हैं विशेष प्रकारसे भारतीय दृष्टिकोण है। अन्यथा हमारे अलौकिक वेद तथा उपनिषद् न हिंदू हैं न भारतीय। वे मानवताकी निधि हैं, वे मानव-जगत्‌के कल्याणके पक्षमें हैं, उनका ध्येय जीवमात्रका परम हित है। इस अलौकिक परम्परामें श्रीरामचरित-मानसका सृजन हुआ। इस कारण जिस धर्मकी हानिको अवतारका हेतु मानसमें बतलाया है, वह धर्म एकजातीय या एकपक्षीय नहीं हो सकता। हर-एक मानवका हृदय अयोध्या है, अतएव मानसकी कथा ऐसे राम-सीताकी कथा है, जिनकी अयोध्या नगरी प्रत्येक मनुष्यके हृदयस्थ है। इसलिये मानस 'एपिक ऑफ ह्यूमैनिटी' है—मानवताका महाकाव्य है—अनुपम है, एक है, अद्वितीय है।

धर्मको हमारे जीवनमें बड़ा ऊँचा स्थान दिया गया है। ऋषियोंने कहा है कि धर्म वह है जो जगत्‌को धारण करता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जगत्‌को कौन-सा धर्म धारण करता है? क्या बौद्धोंका धर्म धारण करता है? या यहूदियोंका? या ईसाइयोंका? या अन्य कोई? निश्चय ही वह और कोई धर्म है, जो जगत्‌की स्थितिका आधार है; क्योंकि वह धर्म सर्वव्यापक होगा, सार्वभौमिक होगा, उन सब धर्मोंसे पुराना होगा, जिनको मनुष्यने बनाया है। जो धर्म जगत्‌का आधार है, उसका जन्म जगत्‌की सृष्टिके समकालीन रहा होगा, अनादि होगा।

जगत्‌के जीवन-स्रोत सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाशादि हैं। यदि सूर्य अपना कार्य न करें, या वायु या आकाशादि अपना धर्म छोड़ दें तो जगत्‌की स्थिति डाँवाडोल हो जाय। जगत्‌का आधार वह धर्म है, जिसका अनुसरण ये सब करते हैं। 'स्वलक्षणधारणाद् धर्मः।' अपने-अपने लक्षणके अनुसार, अपने-अपने गुणके अनुसार कार्य करना स्वधर्म है। स्वलक्षणोत्पन्न स्वधर्म श्रेष्ठ धर्म है। ऐसे स्वलक्षणानुकूल धर्मका पालन भगवान्‌के आदेशका प्रतीक है; क्योंकि यह धर्म उन गुणोंके अनुकूल है, जो प्रभुने हमें जन्मके साथ प्रदान किये हैं।

इस सम्बन्धमें यह भी विचारणीय है कि जगत्‌में हमारा स्थान क्या है और हमारा स्वलक्षणानुसार क्या धर्म है। जिसने थोड़ी अंग्रेजी पढ़ी है, उसने रोबिन्सन क्रूसोका नाम सुना होगा। इस उपन्यासमें रोबिन्सन क्रूसोका जहाज समुद्र-में टक्कर खाकर एक निर्जन टापूके पास टूट जाता है और क्रूसो उस टापूपर कुछ दिन एकदम अकेला रहता है। यदि ईश्वर चाहते तो इस पृथ्वीको और बड़ी बनाकर प्रत्येक व्यक्तिको एक-एक टापूपर जन्म दे देते, जिसमें वह निर्जन स्थानमें रहकर जीवन काट लेता; परंतु ईश्वरने ऐसा नहीं किया। उन्होंने हमारा समूहोंसे नाता बनाया, परिवार, कुल, जाति, देशके सम्बन्धोंसे हमें बाँधा, मनुष्य-को एक सामाजिक प्राणी बनाया। हम संसारमें अकेले नहीं रहते। हम अनेक पारस्परिक सम्बन्धोंसे बँधे हैं, जिनके हितकी रक्षा हमारा धर्म है। आहार, निद्रा, मैथुनवाले जीवनसे उच्च स्तरके जीवन-यापनकी क्षमता रखनेके कारण मनुष्य पशुकी श्रेणीसे उठकर मानवकी श्रेणीमें आता है और इसी कारण वह सामाजिक पशुसे मानवीय समाजका अङ्ग बन

जाता है। मनुष्यका जीवन केवल भौतिक जीवन नहीं है। उसका नैतिक जीवन भी है, आध्यात्मिक जीवन भी है। मनुष्यकी प्रकृति—जिसको मनन करनेकी शक्ति प्रभुने प्रदान की है—स्वभावतः नैतिक है, इसलिये इसका स्वलक्षण नैतिक है और मनुष्यका जीवन मुख्यतः सामाजिक है। यदि मनुष्यके स्वलक्षण और जीवनके विशिष्ट गुणोंका हम एकीकरण करें तो हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि नैतिक मनुष्यको अपने सामाजिक जीवनमें स्व-अर्थका ध्यान कम और पर-अर्थका ध्यान अधिक रखना चाहिये। सुखी, कल्याणप्रद जीवनका रहस्य परहित है; क्योंकि परहित हमारे स्वलक्षणानुकूल है और परहितद्वारा ही हम अपने विविध सम्बन्धोंसे जीवनको सफल कर सकते हैं।

श्रीरामचरितमानसमें करुणानिधान प्रभुने अपने प्राण-समान प्रिय भाइयों और प्रिय पवनकुमारको धर्मका तत्त्व समझानेके लिये धर्मकी यही परिभाषा की है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई।

सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी आदि, जो जगजीवनके आधार हैं, निरन्तर परहितनिरत हैं। सूर्य अपने लिये नहीं तपते, चन्द्रमा अपने लिये अमृत-वर्षा नहीं करते, जलद अपने लिये पानी नहीं बरसाते, पृथ्वी अपने लिये फल-अन्न, पुष्प-पत्र नहीं उत्पन्न करती, जल और वायु अपने प्राणकी रक्षाके लिये नहीं बहते—ये सब परहितमें संलग्न हैं। इनके जीवन-में अथक, अबाधगतिसे परहित व्याप्त है। ये स्वलक्षणानुसार परहित करके धर्म-पालन करते हैं और जगत्-धारणके कारण बने हुए हैं। स्वलक्षणानुकूल स्वधर्मद्वारा परहितपालन वह धर्म है, जो सृष्टिका आधार है। यह धर्म आजका नहीं, वर्ष, दो-वर्ष पुराना नहीं, कुछ शताब्दियों पहलेका नहीं है। यह धर्म सृष्टिके जन्म-समयसे है। सृष्टिके आदिमें इसका आरम्भ हुआ था। यह धर्म पुराना है, जाति-देश-कालके परे है—सनातन है।

इस धर्मकी जब हानि होती है, तब पृथ्वी भी अपना धैर्य खो बैठती है; क्योंकि असुर बढ़ जाते हैं और वे सर्वत्र फैलकर अपना साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। आसुरी राज्य-में हिंसाका अन्त नहीं रहता, सब स्वार्थरत होकर परद्रोही हो जाते हैं। प्राणियोंके जीवनको अकथ दुःख-निमग्न देखकर धरणी अकुला पड़ती है। मानसमें दो स्थलोंपर राक्षसोंके लक्षण स्पष्ट किये गये हैं—बालकाण्डमें और उत्तरकाण्डमें। बालकाण्डमें लिखा है—

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥

× × ×

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट पर धन पर दारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

उत्तरकाण्डमें कहते हैं—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

× × ×

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

मानसमें जिस प्रकार साधु, संत, विप्र और सज्जन पर्यायवाची शब्द हैं,* उसी प्रकार खल, असंत, असुर और निशाचर एकार्थी हैं। ऊपरके उद्धृत अंशोंका सार यही है कि असुर, राक्षस, मनुजाद अत्यन्त स्वार्थपरायण हैं। अपने छोटे-से अर्थके साधनके निमित्त या स्वार्थ-साधन न भी हो तो केवल दूसरेका दुःख देखनेके लिये ही वे क्रूरतम हिंसा करनेमें संकोच नहीं करते। 'परहित'-धर्मके विनाशमें वे हर समय संलग्न रहते हैं।

परहित घृत जिन्ह के मन माखी।

इसलिये करुणानिधान प्रभुके लिये कहा गया है—

मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवम्।

प्रभु खल-वध-निरत हैं; क्योंकि खलोंके कारण, राक्षसों-के कारण उस 'परहित'-धर्मकी हानि होती है, जिसके द्वारा जगत् धारण किया जाता है। अतएव जगत्की रक्षाके हेतु असुर-वध वाञ्छनीय है। ऐसा ही करनेसे अनादिकालसे प्रचलित धर्मकी रक्षा सम्भव है।

* देखिये 'श्रीरामचरितमें ब्राह्मणकी परिभाषा'—'कल्याण', वर्ष २०, अङ्क ११।

करुणानिधानके अवतरण-फलका निशाचर-वध नकारात्मक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष है—संतोंकी, साधुओंकी, विप्रोंकी, सज्जनोंकी रक्षा। शंकरभगवान्‌का वचन है—

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

'सज्जन' अर्थात् परहित-रत व्यक्ति, जो परहितके लिये सहर्ष कष्ट सहन करें।

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।

और फिर आगे मानसकार कहते हैं—

संत सरल चित जगत हित।

इसलिये संतोंकी, सज्जनोंकी रक्षा करनेसे परहितधर्मकी पुष्टि होती है, अभिवृद्धि होती है।

श्रीरघुनाथजीने श्रीमुखसे अपने प्रिय भ्राताओं और पवन-कुमारको शिक्षा दी कि—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।

—जिसका अर्थ यह है कि 'परहित'-विचारसे जैसी जग-मङ्गलकी रक्षा होती है, वह और किसी प्रकार नहीं होती। 'परहित'की प्रवृत्तिसे ही हम मानव-पशुसे उठकर मानव-प्राणीके स्तरपर पहुँचते हैं। पूजा, पाठ, जप, तप, दान, कथा-श्रवणादि सब गौण हैं। प्रधान है—परहितकी वृत्ति। परहितकी भूमिकामें हमको अपने सब पुण्य-कर्म करने अपेक्षित हैं। जग-मङ्गलका मूल स्रोत यह है। जगत्‌को यही धारण करता है। परहित परम धर्म है।

परहित-धर्म त्याग देनेसे महान् तपस्वी दशग्रीव राक्षस हो गया, लोगोंको रुलानेवाला हो गया, रावण हो गया। 'परहित' ही वास्तवमें सब धर्मोंके ऊपर, सब धर्मोंके अंदर और सब धर्मोंका आधार है। यह प्रकृतिका धर्म है, यही मनुष्यका धर्म है, यही सार्वभौमिक धर्म है, यही सनातन धर्म है।

श्रीरामचरितमानसमें धर्म-तत्त्व-निरूपण

(लेखक—वैद्य पं० व्यापकजी रामायणी, मानसतत्त्वान्वेषी)

धर्म शब्द 'धृञ् धारणे' धातुसे 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्।'—इस पाणिनीय व्याकरणके उणादि सूत्रसे 'मन्' प्रत्यय लगनेपर सिद्ध होता है। इसी धात्वर्थको लक्ष्यमें रखकर—'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।' (महाभारत कर्ण० ६९। ५८), 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' तथा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' कहकर दार्शनिकोंने 'धर्म' शब्दका महत्त्व प्रदर्शित किया है। भाव यह है कि जो संसारकी स्थितिका कारण है तथा प्राणियोंकी लौकिक उन्नति और मोक्षका हेतु है और वर्णाश्रम-धर्मावलम्बियोंद्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसे धर्म कहते हैं।

मनुजीने भी अपनी स्मृतिमें कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२। १२)

वेद-सम्मत स्मृति और सदाचारमें वर्णित तथा अपनी आत्माको भी जो प्रिय हो, वह धर्मका साक्षात् लक्षण है। पुनः छान्दोग्य श्रुतिका भी कथन है—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
(२। २३। १)

अर्थात् यज्ञ, पठन-पाठन और दान—ये धर्मके तीन आधार (स्तम्भ) हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
(आचाराध्याय १। ८)

अर्थात् जिस योगक्रियाद्वारा आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही परमधर्म है। पुनः मनुजीने धर्मके दस लक्षण कहे हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

महाभारत, उद्योगपर्वमें कहा गया है कि यज्ञ, अध्ययन, दान, तप और सत्य, धृति, क्षमा, अलोभ—यह धर्मका अष्टविध मार्ग है। इनमें प्रथम यज्ञादि तो दम्भके लिये भी किये जा सकते हैं; किंतु दूसरे सत्यादि तो महात्माओंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंमें नहीं ठहर सकते। (३५। ५६। ७)। मत्स्यपुराणमें धर्मराजके प्रति सती सावित्रीने यज्ञ, तप, दान,

दम, क्षमा, ब्रह्मचर्य, सत्य, तीर्थानुसरण (तीर्थयात्रासेवन), स्नान, स्वाध्याय, सेवा, साधु-सङ्ग, देवपूजन, गुरुसेवा, ब्राह्मणपूजा, इन्द्रिय-निग्रह, धृति, संतोष, आर्जव आदि धर्मके १९ लक्षण और भागवत-महापुराणमें धर्मके तीस लक्षणतक बताये गये हैं। (दे० भाग० ७ । ११ । ८–१२ तक)

'नानापुराणनिगमागमसम्मत' रामचरितमानसमें इन सभी प्रकारके धर्म-लक्षणोंकी बड़ी ही हृदयग्राही विशद व्याख्या की गयी है।

मीमांसकोंका कथन है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' अर्थात् अखिल धर्मका मूल वेद है। वेदप्रतिपादित कर्म ही धर्म है।

जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा ॥

वेदकी आज्ञा दो प्रकारकी है—१–विधिपरक और २–निषेधपरक। विधिका ग्रहण और निषेधके त्याग करनेका विधान है। धर्मसे ही धन और सुखकी प्राप्ति होती है। यथा—

जिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ ॥

जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं ॥

वेद सर्वेश्वर भगवान्‌की श्रीमुख-वाणी हैं। यथा—

मारुत स्वास निगम निज बानी ॥ 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे'

अतः शास्त्रसम्मत धर्माचरण करना, ईश्वरकी आज्ञा मानना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है। भगवान् श्रीरामजीने कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई ॥

धर्म-पालनके लिये हमारे पूर्वजोंने महान् संकट सहकर अपने शरीर और प्राण देकर भी अनुपम आदर्श उपस्थित किया है—

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धर्म हित कोटि कलेसा ॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धर्मु धरेउ सहि संकट नाना ॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है—'नास्ति सत्यात्परो धर्मः'

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ॥

सत्य ही सब धर्मोंका मूल है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए ॥

अहिंसाको परम धर्म माना गया है—'अहिंसा परमो धर्मः।' 'परम धर्म श्रुतिबिदित अहिंसा।' ···सत्य और अहिंसा मनुष्यमात्रके अनुकरणीय धर्म हैं, जिनमें किसी भी वर्ण एवं आश्रमकी रुकावट नहीं है।

वेद-शास्त्रोंने मानवजीवनको दो परिधियोंके बीच आबद्ध कर रक्खा है—वर्ण और आश्रम। सुराज्यमें इनकी पूर्ण रक्षा (प्रतिष्ठा) की जाती है।

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ॥

महर्षि श्रीवसिष्ठजीने वर्णाश्रमधर्म पालन न करनेवालोंको शोचनीय कहा है—

(देखिये अयोध्या० दो० १७१ । २–१७२।४ तक)

इस प्रकार विहितका अनुष्ठान करनेकी बात कहकर फिर निषेधका परिवर्जन कहा है—

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें ॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें ॥
तजि श्रुति पंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं ॥

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूत गन घोर।
तिन्ह कै गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर ॥

इन सबका निषेध कहा गया है—'भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।'

निम्न दोहोंमें राजा-प्रजाका धर्म कहा है—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक ॥
(२ । ३१५)

राज धरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माहिं मनोरथ गोई ॥

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ ॥
(२ । ३०६)

निम्न पंक्तियोंमें मित्र-धर्म कहा है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना ॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥

निम्न पंक्तियोंमें साधन-धर्मका निरूपण हुआ है—

तीरथाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई ॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना ॥
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई ॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी ॥

··· ··· ··· ···

जप तप नियम जोग निज धरमा। श्रुति संभव नाना सुभ करमा ॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत श्रुति सज्जन ॥

आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

अनसूया-सीता-संवाद (अरण्य० ४, ५) में नारिधर्मका विस्तृत निरूपण हुआ है।

धर्मके जितने भी अङ्गोपाङ्ग (स्थूल-सूक्ष्म भेद) हैं, उन सभीका रामचरितमानसमें यथास्थान निरूपण किया गया है। ग्रामके देवी-देवताओंका पूजन बाह्य-धर्म है। तप बल बिप्र सदा बरिआरा॥ करहि जाइ तपु सैलकुमारी॥ में देहधर्मका वर्णन है। 'राम नाम बिनु गिरा न सोहा' में इन्द्रिय-धर्मका—

तथा—

मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाज॥

तथा—

अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं॥

—में अन्तःकरणधर्मका निरूपण किया गया है।

व्यक्तिगत धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म तथा विश्व-धर्मके निरूपणसे रामचरितमानस ओतप्रोत है। अन्तमें विभीषणजीके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विश्व-विजयी २४ लक्षणात्मक धर्मका इस प्रकार निरूपण किया है—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज[१] धीरज[२] तेहि रथ चाका। सत्य[३] सील[४] दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल[५] बिबेक[६] दम[७] परहित[८] घोरे। छमा[९] कृपा[१०] समता[११] रजु जोरे॥
ईस भजनु[१२] सारथी सुजाना। बिरति[१३] चर्म संतोष[१४] कृपाना॥
दान[१५] परसु बुधि[१६] सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान[१७] कठिन कोदंडा॥
अमल[१८] अचल[१९] मन त्रोन समाना। सम[२०] जम[२१] नियम[२२] सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र[२३] गुर[२४] पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥
(लंका० ७९। ५–८० क तक)

यह निर्विवाद सत्य है कि हमारा हिंदू-(मात्रका) धर्म, आचार-विचार एवं रीति-रिवाज—सभी कुछ वेदोंके आधारपर ही स्थित है। पर वेदोंको हमारे-जैसे अल्पज्ञ कलियुगी कितने लोग समझ सकते हैं! और विशेष उल्लेखनीय बात यह भी है कि वेदोंके अधिकांश अंश इस समय उपलब्ध भी नहीं हैं, लोप हो चुके हैं। इस कठिनाईको बहुत काल पूर्व ही हमारे पूर्वजों (ऋषियों) ने जान लिया था, इससे वेदोंके सार-तत्त्वको लेकर इतिहास, पुराण तथा धर्म-शास्त्रोंकी रचना कर दी थी, जिनके स्वाध्यायसे वेदोंका वास्तविक ज्ञान हमारे अंदर सदा बना रहे, कभी तिरोहित होने न पावे। किंतु समयके फेरसे संस्कृत-भाषाका लोप होता चला गया और इतिहास-पुराणोंकी भाषा भी हमलोग समझनेमें असमर्थ हो गये, जिससे धर्मका ज्ञान लोप होने लगा। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजको हमारी दीन-दशापर दया आयी और कृपा करके 'नानापुराण-निगमागम-सम्मत' अभूतपूर्व अलौकिक रामचरितमानसकी मातृभाषामें रचना की, जिससे धर्म-कर्मके सभी गुप्त-प्रकट तत्त्वोंको भगवान् धर्ममूर्ति श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रके माध्यमसे सर्वसाधारण व्यक्ति (मनुष्यमात्र) के लिये भी सुलभ कर दिया।

राम भगत जन अमिअँ अघाहूँ।
कीन्हे सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥

अधर्मका नाश हो! धर्मकी जय हो! प्राणियोंमें सद्भावना हो! विश्वका कल्याण हो! हर हर महादेव शम्भो!

शुभकर्मका शुभ और अशुभका अशुभ फल मिलता है

यत् करोति यदश्नाति शुभं वा यदि वाशुभम्। नाकृतं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्॥
शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम्। तथा शुभसमाचारो ह्यशुभं समवाप्नुते॥
(महाभारत अनुशासन० ९६)

मनुष्य जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। बिना किये हुए कर्मोंका फल किसीको नहीं भोगना पड़ता है तथा किये हुए कर्मका फल भोगके बिना नष्ट नहीं होता है।

जो शुभ कर्मका आचरण करता है, उसे शुभ फलकी ही प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलका ही भागी होता है।

धर्म और परलोक

(लेखक—व्याकरणाचार्य पं० श्रीरघुवीर सिं०-वाचस्पति)

न किल्बिषमत्र नाधारोऽस्ति
न यन्मित्रैः समममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत्
पक्तारं पक्वः पुनराविशाति ॥
(अथर्व० १२ । ३ । ४८)

गौतममुनिप्रणीत न्यायदर्शनका भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनिने लिखा है—

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते । तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः । तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते । समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा ।

भाव यह है कि सभी प्राणी, सभी कर्म तथा सभी विद्याएँ प्रयोजनसे परिपूर्ण हैं । प्रयोजन होनेपर ही मनुष्य किसी वस्तुको छोड़ता या ग्रहण करता है ।

प्रयोजनका इतना महत्त्व होनेपर निश्चित है कि धर्मका भी कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य ही होगा, तभी तो हमारे शास्त्रोंने आदेश दिया है—

'युवैव धर्मशीलः स्यात्'—युवावस्थामें ही धर्म-कार्य कर डालने चाहिये; पता नहीं फिर हो सकें या नहीं । भर्तृहरिने तो यहाँतक कह दिया—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' अर्थात् धर्महीन पुरुष पशुओंके सदृश ही है ।

हमें देखना चाहिये कि जिस धर्मका इतना महत्त्व बतलाया गया है कि पच्चीस वर्षोंतक तपकी भट्ठीमें तपे हुए ब्रह्मचारीको भी स्नातक होनेपर आचार्य यही कहता है—'धर्मं चर । सत्यं वद ।' धर्मका आचरण कर, सत्य बोल । अतः विचारना चाहिये कि धर्मका प्रयोजन क्या है । मीमांसा-दर्शनकारने धर्मकी परिभाषामें ही धर्मका प्रयोजन भी बतला दिया है । मुनिने लिखा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

सूत्रके द्वारा धर्मका प्रयोजन स्पष्ट है कि धर्मसे इस लोकमें भी सुख मिलता है तथा मोक्षप्राप्ति भी होती है । अर्थात् धर्मका परलोकसे अटूट सम्बन्ध है । हम जिस प्रकारका भी धर्म या पाप, शुभ या अशुभ कर्म करेंगे, वही हमारे साथ परलोकमें जायगा । अन्य कुछ भी साथ चलनेवाला नहीं है । महाभारतके उद्योगपर्व (४० । १६) में इसी तत्त्वको इस प्रकार समझाया गया है—

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥

भाव यह है कि 'मरनेके बाद धन किसी दूसरेके काम आता है, शरीर अग्निमें भस्म हो जाता है, इसके साथ न धन जाता है न शरीर । साथ जाते हैं केवल पाप तथा पुण्य—धर्म तथा अधर्म ।'

सम्भवतः कोई समझे कि परलोकमें धर्मकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि सभी कर्मोंका लेखा-जोखा परमात्माके पास नहीं रहता । अतः धर्मका क्या प्रयोजन ? इस प्रकारके लोगोंको सावधान करता हुआ वेद कहता है—'न किल्बिषमत्र'—इस कर्मफलमें कोई त्रुटि नहीं हो सकती । कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र है, किंतु फल भोगनेमें तो सर्वथा परतन्त्र बनना ही पड़ेगा । 'अतश्चरन्योऽभिचाकशीति' के अनुसार परमात्मा प्रत्येक कार्यका द्रष्टा है । मनुष्य चाहे कितना भी छिपकर कार्य करे, किंतु 'राजा तं वेद वरुणस्तृतीयः' के अनुसार वह वरुण भगवान् सबका भेद जानता है । अतः कर्मफलमें त्रुटि सम्भव नहीं ।

त्रुटि हो भी किस प्रकार सकती है ? सिफारिश या रिश्वत देकर ही घटा-बढ़ी करायी जा सकती है । किंतु सिफारिश करायँगे किससे ? क्या कोई गुरु या पैगम्बर हमारी सहायता कर सकेगा ? नहीं । कदापि नहीं । वेद कहता है—'नाधारोऽस्ति'—कर्म-फलमें घटा-बढ़ी करानेका कोई भी सहारा नहीं है । पोपकी तरह भूमिपर ही स्वर्ग तथा नरकके टिकट देकर कोई भी किसीके कर्मफलको नहीं हटा सकता ।

जाने दीजिये, सिफारिश न सही, मित्रोंके साथ तो हम स्वर्ग जा सकते हैं । माता-पिताकी कमाईपर बच्चे मौज उड़ाते हैं । इसी प्रकार पुण्यात्मा मित्रोंकी सहायतासे हम स्वर्ग पा लेंगे । किंतु इस प्रकारके आशावादियोंको वेद सावधान करता है—

'न बन्धुभिः समन्वयाश्च वृत्ति'

यह भी सम्भव नहीं है कि हम मित्रोंके साथ स्वर्ग जा सकें । अपने कर्मोंसे ही स्वर्ग एवं नरक जाना होगा । दूसरा सहायक कोई भी नहीं है । कर्मफलके बारेमें आगे लिखा है—

अनूनं पात्रं विहितं च एतत् ।

यह हमारा कर्मफलरूपी पात्र भरा हुआ है । इसमें कुछ भी न्यूनता नहीं आयी । यह तो उसी पके हुए पदार्थके समान है जो—

पक्तारं पक्वः पुनरागच्छति ।

जिस प्रकार पकानेवालेको पकाया पदार्थ फिर आ मिलता है, उसी प्रकार हमारा कर्मफल भी हमें प्राप्त हो जाता है । कर्मफलकी उपमा गो-वत्ससे देते हुए महाभारतमें लिखा है—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥

'जिस प्रकार हजारों गौओंमेंसे बछड़ा अपनी माताको जा पकड़ता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ताको ही प्राप्त होता है ।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि यहाँपर हम धर्मकार्य करेंगे तो परलोकमें भी धर्म हमारे साथ चलेगा । अन्यत्र भी इसी बातको कहा गया है—'धर्मस्तमनुगच्छति' (मरनेवालेके साथ धर्म ही जाता है) । धर्मसे ही निःश्रेयसकी सिद्धि होती है । अतः यदि हमें लौकिक अभ्युदयके साथ निःश्रेयसकी सिद्धि भी करनी है तो अवश्य ही धर्म कमाना पड़ेगा ।

जब धर्म-संकट आता है

'युधिष्ठिर ! धर्मका सूर्य अस्त होने जा रहा है । तुम्हें जो कुछ जानना हो, इस समय पितामहसे जान लो ।' ये शब्द हैं शर-शय्यापर पड़े भीष्मपितामहके लिये श्रीकृष्णके ।

'युधिष्ठिर ! धर्मका ठीक-ठीक तत्त्व श्रीकृष्णके अतिरिक्त त्रिलोकीमें और कोई नहीं जानता ।' ये शब्द शर-शय्यापर पड़े भीष्मपितामहके हैं ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।

धर्मका तत्त्व बहुत गूढ़ है । सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि धर्म हैं और असत्य, हिंसा, चोरी आदि पाप हैं—यह बात सभी धर्म-सम्प्रदाय मानते हैं । इन्हें साधारण जन भी समझते हैं, भले इनका पालन वे न करते अथवा न कर पाते हों । किंतु इतना स्पष्ट होते हुए भी धर्मका रहस्य बहुत दुरधिगम्य है ।

जीवनमें ऐसे अवसर बहुत बार आते हैं—धर्मात्मा पुरुषके जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं, जब निर्णय करना कठिन हो जाता है कि धर्म क्या है । आज जब लोगोंका जीवन स्वेच्छाचार-प्रधान हो गया है, जीवनमें धर्मकी महत्ता ही नहीं रही है, यह बात बहुत साधारण जान पड़ती है । किंतु जीवनमें जब धर्माचरण होता है, जब मन अधर्मसे डरता है, तब यह बात समझमें आती है कि प्रत्येक समय धर्मको ठीक पहचान लेना कितना कठिन है ।

धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें अपना सम्पूर्ण राज्य हार गये । उन्होंने क्रम-क्रमसे अपने भाइयोंको दावपर लगाया और स्वयंको भी लगाया । प्रत्येक बार वे हारते गये । अन्तमें द्रौपदीको उन्होंने दावपर लगाया और उस दावको भी हार गये । दुर्योधनके आदेशसे दुःशासन द्रौपदीको भरी सभामें केश पकड़कर घसीट लाया । विदुर, भीष्म, कृपाचार्य-जैसे धर्मज्ञ उस सभामें थे । द्रौपदीने रो-रोकर पूछा—'आप सब धर्मका निर्णय करके बतायें मैं हारी गयी या नहीं ?'

पति अपनी पत्नीका नित्य स्वामी है, अतः द्रौपदीपर धर्मराजको स्वत्व प्राप्त है । वे उसे दावपर लगा सकते थे । इस दृष्टिसे विचार करनेवाला पक्ष दुर्योधनका पक्ष था और उसे सर्वथा भ्रान्त पक्ष नहीं कह सकते । किंतु एक दूसरा पक्ष भी था । युधिष्ठिर पहले स्वयंको दावपर लगाकर हार चुके थे । जब वे स्वयंको हार चुके, उनकी कहीं कोई वस्तु नहीं रह गयी । उनको द्रौपदीको दावपर लगानेका अधिकार ही कहाँ रह गया था ? अनधिकार उन्होंने कोई दाव लगाया तो वह उचित कैसे हुआ ? इतना विकट प्रश्न था कि उस सभामें कोई इसका निर्णय नहीं कर सका । द्रौपदीकी पुकारका उत्तर किसीने नहीं दिया ।

'जहाँ सत्य बोलना अनर्थकारी होता हो, वहाँ चुप रहना चाहिये ।' यह बात प्रायः सुनी जाती है । कहीं एक इशारा पढ़ा है । घटना सत्य हो या न हो, उसमें तथ्य है । एक गाय बधिकोंके हाथसे रस्सी छुड़ाकर किसी प्रकार भागी । वह वनमें एक पर्वतीय गुफामें घुस गयी । वहाँ गुफाके

समीप कोई मुनि आसन लगाये बैठे थे। गायका पीछा करते वधिक पहुँचे और उन्होंने पूछा—'आपने इधर भागकर आती गाय देखी है? वह कहाँ गयी?'

मुनिने गायको गुफामें जाते देखा था। इस तथ्यको बता देनेसे तो अनर्थ होता। वे कुछ बोले नहीं। कोई संकेत भी उन्होंने नहीं किया। वधिकोंने समझा कि ये मौनव्रत लिये हैं; अतः उन्होंने गुफामें देखा और गायको पकड़ ले गये। उन मुनिको कुछ सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे तत्काल नष्ट हो गयीं। अपने गुरुके समीप वे गये तो गुरुने कहा—'तुझे गोवधमें सहायक होनेका पाप लगा है। झूठ बोलकर तू गौके प्राण बचा सकता था। वह तूने नहीं किया। अब तुझे प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

प्रयागके अबसे बारह वर्ष पूर्व पड़नेवाले कुम्भकी बात है। हम सबने वहाँ जानेका निश्चय किया था। सरकारने नियम बनाया था कि हैजेका टीका लगाये बिना कोई मेला-क्षेत्रमें न जाय। स्थान-स्थानपर मार्गोंमें टीका लगानेवाले नियुक्त थे और टीकेकी जाँच करनेवाले भी। उनको धोखा देकर ही भले कोई मेलेमें चला जाय, वैसे जाना कठिन ही था। पीछे तो सरकारने भी यह प्रतिबन्ध हटा दिया।

एक श्रद्धेय हैं हम सबके। कोई दवा, कोई इन्जेक्शन किसी भी रोगमें न लेनेका उनका नियम है। भोजनमें जलके सम्बन्धमें, वस्त्रमें वे शुद्धाशुद्धका बहुत ध्यान रखते हैं। जो हैजा होनेपर भी दवाके नामपर तुलसीदल तक स्वीकार न करें, वह हैजेका अपवित्र टीका लेगा, यह कल्पना कैसे की जा सकती है। परिस्थिति ऐसी बन गयी थी कि उनका मेलेमें आना भी टाला नहीं जा सकता था।

'हैजेके टीकेका झूठा सर्टिफिकेट किसी डाक्टरसे लेकर बहुत लोग मेलेमें जाते हैं।' मेरे एक परिचितने बताया। इस बातका मुझे पता न हो, ऐसा नहीं था; किंतु यह प्रस्ताव रखना मुझे किसी प्रकार उचित नहीं लग रहा था।

'यह स्थूल शरीर नाशवान् है। इसमें कोई अपवित्रता प्रवेश करती है तो वह देहके साथ नष्ट हो जायगी।' बात चलनेपर उन श्रद्धेयने कहा। 'बहुत ग्लानि रहेगी मनमें और सम्भवतः जीवनभर रहेगी; इसकी सीमा तो है लेकिन मन तो सूक्ष्मशरीरमें है। मनमें आये दोष तो मरनेके बाद भी साथ जाते हैं। अतः मिथ्या सर्टिफिकेट लेकर या निरीक्षकोंको वञ्चित करके उसमें जो असत्यका दोष आयेगा, वह तो मरनेसे भी नहीं दूर होगा। झूठा सर्टिफिकेट लेनेकी अपेक्षा तो टीका लगवाना ही अच्छा है। फिर वह कितना भी अशुद्ध क्यों न हो।'

दो बुराइयोंमेंसे एकको चुनना अनिवार्य हो जानेपर किसे चुना जाय—यह निर्णय करनेके लिये कितनी सूक्ष्म तथा सतर्क विचारदृष्टि अपेक्षित है, यह घटना बतलाती है।

'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा'

—धर्मराज युधिष्ठिरने यह कहा था और जान-बूझकर कहा था। जब उन्होंने 'अश्वत्थामा हतः' कहा, लोगोंने शङ्ख बजाना प्रारम्भ कर दिया। युधिष्ठिरके आगेके शब्द शङ्खध्वनिमें डूब गये। द्रोणाचार्यने उन्हें सुना ही नहीं। इस असत्य-भाषणके फलस्वरूप युधिष्ठिरको सशरीर स्वर्ग जानेपर भी नरक-दर्शन करना पड़ा।

युधिष्ठिरको यह छलवाक्य क्यों बोलना पड़ा? इसलिये कि द्रोणाचार्य युद्ध-धर्मका उल्लङ्घन करते ही जा रहे थे। वे उनपर भी दिव्यास्त्रका खुला उपयोग कर रहे थे, जो दिव्यास्त्रके ज्ञाता नहीं थे। यह निहत्थोंको मारनेके समान बात थी। अथवा लाठी लिये लोगोंपर तोपके गोले बरसानेकी उपमा इसे दी जा सकती है। द्रोणाचार्यके हाथमें शस्त्र रहे, तब-तक वे मारे नहीं जा सकते थे और अपने एकमात्र पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका समाचार ही उनसे शस्त्र-त्याग करा सकता था। द्रोणको अधर्मसे रोकने और उनके द्वारा अधर्मपूर्वक होनेवाले संहारको रोकनेके लिये युधिष्ठिरको श्रीकृष्णने यह छलवाक्य कहनेपर विवश किया।

अब इस घटनापर तनिक गम्भीरतासे विचार करें। युधिष्ठिर यह छलवाक्य न कहते तो क्या होता? वे नरक-दर्शनसे बच जाते, यह आप कह सकते हैं। किंतु श्रीकृष्णके आदेश-भङ्गका दोष करते वे। अपने पक्षके, अपने आश्रित दिव्यास्त्र-ज्ञानरहित लोगोंके विनाशको रोकनेका दायित्व उन-पर था। इस दायित्वका निर्वाह न करनेके कारण उन सब लोगोंकी मृत्युमें जो पाप हो रहा था, आंशिकरूपसे उसके भागी होते। द्रोणाचार्यको उनका व्रत—उनकी मर्यादा कि जबतक हाथमें शस्त्र रहेगा, वे मारे न जायँगे—इसे भङ्ग करके मारना पड़ता। आचार्य मारे तो जाते ही, असम्मानित होकर मारे जाते। नरक-दर्शनका थोड़ा भय उठाकर भी इन सब अनर्थोंसे युधिष्ठिर बच गये, यहाँतक हमारी दृष्टि जाय,

तब भीष्मपितामहकी यह बात समझमें आ सकती है कि धर्मके यथार्थ रहस्यको केवल श्रीकृष्ण ही जानते हैं।

हमलोगोंके अपने जीवनमें भी ऐसे अनेक अवसर आते हैं। जब ठीक-ठीक कर्तव्य न सूझे, दो धर्मोंमेंसे कौन-सा अपनाया जाय—यह निर्णय अपनी बुद्धि न कर सके, तब क्या किया जाय?

अपनेसे अधिक बुद्धिमान्, सदाचारी, धर्मात्मा पुरुषकी सम्मति ली जाय और उनके आदेशका पालन किया जाय। लेकिन सम्मति ली जाय धर्मपर निष्ठा रखनेवाले पुरुषकी। केवल विद्वान्-बुद्धिमान् इस सम्बन्धमें सम्मति देनेका अधिकारी नहीं है।

अनेक बार तत्काल निर्णय करना पड़ता है। सम्मति लेनेका समय नहीं होता और सम्मति ली जाय, ऐसे कोई पुरुष भी समीप नहीं होते। यदि ऐसी अवस्था आ जाय तो मुझे एक महात्माने एक उपाय बतलाया था। वही उपाय मैं यहाँ बतला रहा हूँ—

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
> पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
> शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

गीताके इस श्लोकको नेत्र बंद करके, एकाग्रचित्तसे पार्थसारथि श्रीकृष्णको सम्मुख मानकर बार बार पाठ कीजिये। आपको क्या करना चाहिये, यह बात सूझ जायगी। भगवान् आपको प्रकाश देंगे। —सु०

लक्ष्योन्मुखता ही परम धर्म

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी बंका एम्० ए०)

सबसे पहले 'काव्येर उपेक्षिता' की आवाज कवीन्द्र रवीन्द्रने उठायी और वही आवाज प्रतिध्वनित हुई हिंदी-साहित्यमें आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीके द्वारा। द्विवेदीजीने कहा कि रामसाहित्यके प्रणेता सीताजीका भूरि-भूरि गुण-गान करते हैं। साध्वी सीताने पतिका साथ देनेके लिये अवधका भोग-विलास त्यागा और अपने प्राणाराम रामके साथ वनके सुख-दुःखोंको समान रूपसे सहन किया। उन पतिपरायणा सीताका गुण-गान होना भी चाहिये, पर उर्मिलाको लोग क्यों भूल जाते हैं? उर्मिला काव्य-जगत्से क्यों उपेक्षित है? क्या उर्मिलाका तप और त्याग सीतासे कम है? पतिपरायणा उर्मिलाने अपने पतिके मनकी इच्छा रखनेके लिये वनमें साथ रहनेका सुख भी त्याग दिया। अवधके राजमहलमें रहकर भी 'वन-वासिनी' ही रही। अनेक दृष्टियोंसे उर्मिलाका जीवन सीताकी अपेक्षा अधिक आदर्श है, अधिक अनुकरणीय है; परंतु आदर्श और अनुकरणीय होकर भी उर्मिला कवियोंसे उपेक्षित रही है, भले वे रामचरितमानसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी ही क्यों न हों। काव्यकी उपेक्षिताओंकी आवाज पहले उठी बँगला साहित्यमें और फिर उठी हिंदी साहित्यमें और यह आवाज असर कर गयी हिंदी साहित्यके राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्तके हृदयपर। काव्यकी उपेक्षिताओंको प्रकाशमें लाना ही मानो उनके जीवनका लक्ष्य हो गया। गुप्तजीने अपने जीवनका एक सुनहला सपना बना लिया—जो-जो उपेक्षिताएँ हैं, उन-उनपर महाकाव्य या खण्ड-काव्य लिखना। गुप्तजीके महाकाव्य 'साकेत'की नायिका उर्मिला है। बौद्धधर्मके प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्धके पूर्वाश्रमकी पत्नी यशोधरा न केवल पतिपरित्यक्ता थी, अपितु काव्यकी उपेक्षिता भी थी। उस यशोधराकी जीवन-साधनापर गुप्तजीकी काव्य-साधना चली और उसका फल था 'यशोधरा' खण्डकाव्य। गुप्तजीने गोस्वामी तुलसीदास-जीकी पत्नी रत्नावलीपर 'रत्नावली'की रचना की, चैतन्य महाप्रभुकी पत्नी विष्णुप्रियापर 'विष्णुप्रिया' लिखी। गुप्तजीकी दृष्टि अपने जीवनके लक्ष्यपर टिकी थी—काव्यकी उपेक्षिताओंको प्रकाशमें लाना। गुप्तजीकी कार्यशक्ति, भावशक्ति और विचारशक्ति, सभी कुछ अपने सपनेको साकार करनेमें लगी थी और आज गुप्तजीकी हिंदी साहित्यको सबसे बड़ी देन है—उन्होंने काव्यकी उपेक्षिताओंको ऊपर उठाया।

यह उदाहरण था साहित्यिक जगत्का, दूसरा उदाहरण है आध्यात्मिक जगत्का। गीताप्रेस जहाँसे यह 'कल्याण' पत्रिका प्रकाशित होती है, उस गीताप्रेसके मूल-संस्थापक हैं दिवंगत सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका। प्रायः लोग आपको

सेठजीके सामने प्रकट करते हैं। बचपनमें ही संतोंका साथ मिला और संतोंके साथसे गीताके अध्ययन एवं मननका अवसर सुलभ हुआ। संत-सद्भावने और गीता-स्वाध्यायने एक बात किशोर जयदयाल गोयन्दकाके मनमें बैठा दी। जीवन वही श्रेष्ठ है, जो गीताके अनुसार ढला हो। अब गीतोक्त सिद्धान्तोंके अनुसार जप-ध्यान-पूजन-संयम चलने लगा। जीविकोपार्जनके लिये किया जानेवाला व्यापार भी उन्हीं सिद्धान्तोंपर आधारित था। आजके तथाकथित नेताओंके समान वे यह नहीं मानते थे कि 'प्राइवेट लाइफ' और 'पब्लिक लाइफ' अलग-अलग हैं। उनकी करनी-कथनीमें पूर्णतः एकात्मता थी। साधनसम्पन्न जीवनको ईश्वर-साक्षात्कार होनेमें क्या देर लगी! ईश्वरका साक्षात्कार होनेपर श्रीसेठजीको ऐसा लगा कि भगवान् गीता-प्रचारका आदेश दे रहे हैं। बस, गीता-प्रचार ही उनके जीवनका लक्ष्य हो गया। इस उद्देश्यको गीताके दो श्लोकोंने और भी परिपुष्ट कर दिया—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(१८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं।'

श्रीसेठजी स्वयं प्रतिदिन गीताजीका पाठ करते। वे अपने मित्रोंको प्रेरणा देते कि सभीके जीवनके केन्द्रमें गीता प्रतिष्ठित हो। साधकोंको शुद्ध और सही पाठकी गीता नहीं मिलती थी। अतः हर साधकके पास शुद्ध पाठ और सही अर्थकी गीता पहुँचानेके लिये गीता छापनेका संकल्प किया और इसके लिये गोरखपुरमें गीताप्रेसकी स्थापना की। गीताके अनुसार साधना करनेवालोंकी साधना तीव्रतर बनानेके लिये स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें माँ गङ्गाके किनारे गीता-भवनका निर्माण किया, जहाँ वर्षमें गर्मीके चार मास प्रवचन-भवनकी सुविधा है। कलकत्तेमें गोविन्दभवनकी स्थापना की, जहाँपर गीताके प्रवचनकी व्यवस्था है। गीताके मर्मको सरल भाषामें उद्घाटन करनेके लिये 'गीता-तत्त्व-विवेचनी' लिखी, जो गीताप्रेससे प्रकाशित है। कहनेका तात्पर्य, जिस गीतासे उनका जीवन समुन्नत हुआ, जिस गीतासे उन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार किया, जिस गीताके प्रचारकी प्रेरणा गीतासे मिली और जिस गीताके प्रचारके लिये ईश्वरादेश मिला, उस गीताका प्रचार ही उनके जीवनका सपना बन गया और गीताप्रेससे अबतक पाँच करोड़से भी अधिक गीता प्रकाशित हो चुकी है। गीताका इतना प्रचार इसीलिये वे कर सके कि उनको एक धुन थी। रात-दिन इसीके लिये सोचना, इसीके लिये करना।

श्रीगुप्तजीका और श्रीसेठजीका उदाहरण साहित्यिक और आध्यात्मिक क्षेत्रका है और ये ऐसे उदाहरण हैं कि जिन्हें अपने क्षेत्रमें सफलता मिली, सराहना मिली। ऐसे अनेक उदाहरण अन्य-अन्य क्षेत्रोंके भी दिये जा सकते हैं, परंतु सभी लक्ष्योन्मुख प्रयत्नशील व्यक्तिको सफलता मिले, यह आवश्यक नहीं।

भारतके प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंहका एक सपना था—'भारतको अंग्रेजोंकी दासतासे मुक्त करना है। युवकोंमें क्रान्तिका जोश भरना, अंग्रेजी शासनको उलट देनेकी प्रेरणा देना, देश-भक्तिकी भावनाका प्रसार करनेवाले साहित्यको मित्रोंमें बाँटना—यही उनका काम था। वे हर भारतीयसे कहते थे, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'—ईंटका जवाब ईंटसे, पत्थरका जवाब पत्थरसे और लाठीका जवाब लाठीसे दो। जिन अंग्रेजोंने भारतीय भूमिपर भारतीयोंके रक्तको बहाया और अब भी भारतीयोंके रक्तको चूस रहे हैं, उन अंग्रेजोंसे खूनका बदला खूनसे लेना है। अंग्रेजोंका और अँगरेजियतका भारतमें नामोनिशान न रहे।' इस 'क्षात्र' तेजको भला अंग्रेजी शासन कैसे सह पाता! और भगतसिंह फाँसीके तख्तेपर लटका दिये गये। भगतसिंहके जीवन-कालमें उनके जीवनका सपना पूरा नहीं हो सका, भगतसिंहके जीते-जी भारतको स्वतन्त्रता नहीं मिल सकी; पर उनकी लक्ष्योन्मुखता और लक्ष्यके प्रति उनकी सतत जागरूकता भगतसिंहके जानेके बाद अनेक 'भगतसिंह' उत्पन्न कर गयी और उनका सपना पूरा होकर रहा।

यदि लक्ष्यकी पूर्ति नहीं हो सकी तो कोई बात नहीं। आपके पीछे कोई आ रहा है, जो आपके सपनेको साकार कर देगा। महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयके जीवन-कालमें काशी हिंदू-विश्वविद्यालयका उतना विस्तार नहीं हो सका, जितना व्यापकरूप उसका आज है। काशी हिंदू-

विश्वविद्यालयका तो अभी और भी विकास-विस्तार होगा। हाँ, आपके लक्ष्यमें इतना वजन जरूर हो कि दूसरोंको आकर्षित कर सके। महान् लक्ष्य अवश्य महान् आत्माओंको आकर्षित कर लेगा और लक्ष्य महान् तभी होगा, जब वह ईश्वरीय लक्ष्यके अनुरूप हो। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका विस्तार होता है, तब धर्मकी स्थापनाके लिये और संतोंकी रक्षाके लिये मैं अवतार लेता हूँ।' रामायणमें भगवान् रामके अवतारका हेतु बतलाया गया है—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

संतकी रक्षा, धर्मकी स्थापना, विप्रको सुविधा, गायका पोषण, देवाराधन आदि—ये सब भगवान्‌के अवतारके प्रयोजन हैं। जब ये ही सब हमारे जीवनके प्रयोजन होंगे, इन्हींके लिये जब हमारे जीवनका प्रत्येक कार्य होगा, असम्भव है कि सफलता न मिले। महान् प्रयोजनके लिये ईश्वर भी सहायक होता है। हमारा महान् प्रयोजन ईश्वरीय प्रयोजन है। यदि सफलता नहीं मिलती तो विश्लेषण करना चाहिये कि ईश्वरीय प्रयोजनसे हमारा प्रयोजन, हमारा लक्ष्य कहीं विपरीत तो नहीं है! यदि ईश्वरीय प्रयोजनको पूर्ण करनेके लिये हमारा सम्पूर्ण प्रयास है तो सफलता सुनिश्चित है। यदि कार्य अधूरा रह गया तो दो बात हो सकती है। हो सकता है कि हमारा पुनर्जन्म हो और हम अपने अगले जन्ममें अपना सपना साकार करें। अथवा ईश्वरीय विधानसे हमारा महान् प्रयोजन महान्-आत्माओंको आकर्षित करे और वे 'पीछे आनेवाले' महान् लक्ष्यको पूरा करें। लक्ष्य पूरा होता है या नहीं, यह कार्य हमारा नहीं। यह कार्य तो भगवान्‌का है। हमारा कार्य तो इतना ही है कि हमारी दृष्टि लक्ष्यपर रहे। लक्ष्यकी ओर हम सतत उन्मुख रहें। यही हमारे लिये परम धर्म है। शेष तो भगवान् स्वतः सँभाल लेंगे।

आयुर्वेद और धर्मशास्त्र

(लेखक—पं० श्रीहरिलक्ष्मी जोशी तीर्थत्रय)

जनसाधारणकी दृष्टिमें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र पृथक्-पृथक् विषयके प्रतिपादन करनेवाले दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं; परंतु जरा गम्भीर अध्ययन करनेवाले इस बातसे पूर्ण परिचित हैं कि ये दोनों शास्त्र एक ही उद्देश्यके प्रतिपादक हैं, दोनोंका उद्देश्य है मानव-जीवनको इस लोकमें सुखी, समृद्ध, नीरोग बनाकर पूर्ण शतवर्षकी आयु प्राप्त कराना एवं अन्तमें जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा दिलाकर मुक्त करा देना।

आयुर्वेद, संसारमें प्रचलित और अत्यन्त उन्नत मानी जानेवाली चिकित्सापद्धतियोंके सदृश, केवल पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरको भौतिक स्थूल यन्त्रोंसे परीक्षा करके उसके विकारको औषधों या यन्त्रोंकी सहायतासे हटा देनेकी चेष्टाको अधूरी चिकित्सा-पद्धति मानता है।

क्योंकि आयुर्वेद शरीर और मन तथा जीवात्मा—इन तीनोंके संयोगको जीवन मानता है—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(च० सू० १।१८)

'सत्त्व (मन), आत्मा, शरीर—ये तीनों एक दूसरेके सहारेसे त्रिदण्डके सदृश संयुक्त होकर रहते हैं तभीतक यह लोक है। इसीका नाम जीवन या आयु है।'

स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥

(च० सू० १।१९)

'सत्त्व-आत्मा-शरीरकी संयुक्तताको ही पुरुष कहते हैं, यह संयुक्त पुरुष ही चिकित्साका अधिकरण है—समस्त आयुर्वेद इसके हितके लिये ही प्रकाशित हुआ है।'

इन तीनों अर्थात् शरीर, 'मन' आत्माकी संयुक्तावस्थाके रहते हुए भी आत्मा निर्विकार होनेसे सुख-दुःख और रोग-आरोग्यका आश्रय नहीं हो सकता। क्योंकि—

निर्विकारः परस्त्वात्मा······द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।

(च० सू० १।२८)

'आत्मा निर्विकार, पर और द्रष्टा है, एतदर्थ गुण-दोषसे द्रष्टा कभी लिप्त नहीं होता।'

सुख-दुःख, रोग और आरोग्यका आधार शरीर और मन ही है।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः ।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥
(च० सू० १ । ५७)

'शरीर और मन—ये दोनों ही व्याधियोंके आश्रय माने गये हैं तथा सुख (आरोग्य) के आश्रय भी ये ही हैं।'

आहार आचार-विचार-व्यवहारका सम उचित प्रयोग ही सुखोंका कारण है। वास्तवमें सच्चा सुख आरोग्य है। रोग ही दुःख है—

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥

रोगको हटाने या उत्पन्न न होने देनेकी विधि बतलाना आयुर्वेद और धर्मशास्त्र दोनोंका समान उद्देश्य है।

रोग या दुःखके कारण

अविकृत वात, पित्त, कफ शरीरको धारण करते हैं और जब ये मिथ्या आहार-विहारसे विकृत हो जाते हैं, तब शरीरका नाश कर देते हैं। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण मनके दोष हैं। ये जब विकृत होते हैं, तब मनको रुग्ण बना देते हैं। शारीरिक और मानसिक दोषोंकी सम अवस्था ही आरोग्य या सुख है। इन दोषोंकी विषमता ही रोग या दुःख है—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता ।
वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ॥
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ।
(च० सू० १ । ५८)

विकृत हुए शारीरिक दोषोंको और मानस दोषोंको समान अवस्थामें स्थापित कर देना ही आयुर्वेद और धर्मशास्त्रका लक्ष्य है। चरकने शारीरिक और मानसिक रोगोंकी निवृत्तिका उपाय इस प्रकार बतलाया है—

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥
(च० सू० १ । ५९)

'शारीरिक रोग दैव और युक्तिके आश्रित औषध-प्रयोगोंसे शान्त होते हैं और मानस रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि आदि मानस उपायोंसे शान्त होते हैं।'

जिसका मन और शरीर दोनों प्रसन्न हैं, वही स्वस्थ है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

'जिसके शारीरिक दोष सम हों, अग्निबल सम हो, धातुओं और मलोंकी क्रिया समान हो, आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न रहता हो, वह पुरुष ही स्वस्थ है।' यह नियम है कि स्वस्थ शरीरमें ही मन स्वस्थ रहता है और जिसका मन स्वस्थ है, उसीका शरीर स्वस्थ रहता है।

मन अस्वस्थ और शरीर स्वस्थ या शरीर स्वस्थ और मन अस्वस्थ कभी नहीं रह सकते; दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतः दोनोंका उपचार बतलाना आयुर्वेदका लक्ष्य है। यही कारण है कि—

आहार, आचार-विचार, व्यवहार-दिनचर्यामें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र एकमत हो जाते हैं। दोनोंका लक्ष्य है—मानवको सुख प्राप्त कराना।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥
(वा० सू० २ । २)

'सब प्रकारके प्राणियोंकी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है, सुख धर्मपालन किये बिना नहीं मिलता। अतः सुख चाहनेवालेको धर्मपरायण रहना चाहिये।'

अधार्मिक पुरुष सुखी नहीं रह सकता।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥
(मनु० ४ । १७०)

'जो पुरुष अधार्मिक है, जिसका झूठ बोलना ही धनागमका साधन है, जो मन-वाणी-शरीरसे दूसरोंकी हिंसा करता है या प्राणवियोग करता है, वह इस लोकमें कभी सुखी नहीं रह सकता।'

धर्माचरणमें कष्ट उठाना पड़े, तो भी उठाओ। अधार्मिक पुरुषोंकी आपातरमणीय उन्नति देखकर अधर्ममें मन मत लगाओ; क्योंकि अधार्मिकोंकी उन्नति अचिरस्थायी है, पतन शीघ्र और अवश्यम्भावी है—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानां पश्यन्नाशु विपर्ययम् ॥
(मनु० ४ । १७१)

अधार्मिक पुरुषोंका धन, मान, सुख, भोग-विलास शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अधर्मका बुरा समय आनेपर अवश्य अनिष्ट फल देता है।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥
(मनु० ४ । १७२)

'पृथ्वीमें बोये हुए बीज सद्यः फल नहीं देते; पर समय आनेपर धीरे-धीरे बढ़ते हुए जब वृक्षके रूपमें विकसित होते हैं, तब ही उनके फल लगते हैं । ऐसे ही अधर्मके वृक्षका स्वभाव है, वह तत्काल फल नहीं देता; अब बढ़कर फलता है तब कर्ताके मूलका ही छेदन कर देता है ।'

अधर्मसे मनुष्य एक बार बढ़ता है, अन्तमें समूल नष्ट हो जाता है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलं च विनश्यति ॥
(मनु० ४ । १७४)

'अधर्मसे मनुष्य पहले तो एक बार बढ़ता है, फिर मौज-शौक-आनन्द भी करता है और अपने छोटे-मोटे शत्रुओंपर धनकेबलसे विजय भी प्राप्त कर लेता है, किंतु अन्तमें वह देह, धन और संतानादिसहित समूल नष्ट हो जाता है ।' इसीलिये मनुजी कहते हैं—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ॥
(मनु०)

'जो धन धर्मविरुद्ध कर्मोंसे मिलता हो, जो भोग धर्मरहित हो—उन दोनोंका त्याग कर दे; क्योंकि उनका परिणाम बुरा होगा ।'

दुराचारी पुरुष दीर्घजीवी नहीं होता

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
(मनु० ४ । १५७)

'दुराचारी पुरुष लोकमें निन्दित माना जाता है, निरन्तर दुःख भोगता है, व्याधिग्रस्त रहता है और अल्पायु होता है ।'

सदाचारी पुरुष ही शतायु होता है

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥
(मनु० ४ । १५८)

'सब शुभ लक्षणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी हो, ईश्वर तथा धर्मशास्त्रपर श्रद्धा रखनेवाला हो, परदोष देखने-कहनेवाला न हो तो वह सौ वर्षतक जीता है ।'

सौ वर्ष जीना मानव-जीवनकी पूर्ण सफलता है !

एतद्वा मनुष्यस्य अमृतत्वं यत् सर्वमायुरेतिवसीयान् भवति ॥ (ताण्ड्य० ब्रा०)

य एवं शतं वर्षाणि जीवति यो वा भूयांसि जीवति स ह एतदमृतं प्राप्नोति । (शतपथ ब्रा०)

सार यह है कि वेदों और ब्राह्मणग्रन्थोंमें १०० वर्ष और इससे अधिक नीरोग और सम्पन्न होकर जीनेको मनुष्यकी पूर्णता और मोक्षका हेतु कहा है, 'जीवेम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम् ।' इन दो प्रार्थनाओंमें ही मानव-जीवनकी सफलताका बीज अन्तर्निहित है ।

सदाचारके अनुपालनसे आगन्तुक रोग नहीं होते

ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये ।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥
त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः ।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः ।
प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः ॥
(च० सू० ७ । २५–२७)

'ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान, द्वेष आदि सब मनके रोग हैं, जो प्रज्ञापराधसे उत्पन्न होते हैं । प्रज्ञापराधोंका त्याग, इन्द्रियोंका उपशम, धर्मशास्त्रोंके तथा आयुर्वेदके उपदेशोंको याद रखना, देश-काल-आत्माका विज्ञान, सद्वृत्तका अनुवर्तन—ये सब आगन्तुक व्याधियोंसे बचनेके उपाय हैं । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि रोग उत्पन्न होनेके पहिले ही आत्महितके इन उपायोंका पालन करे, जिससे आगन्तुक रोग हों ही नहीं ।'

आयुर्वेदमें आयुकी रक्षाके उपाय

हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः ॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ॥
(च० चि० ३, ८, ९, १०)

'मङ्गलमय स्वास्थ्यप्रद शान्त देशोंमें निवास करना, ब्रह्मचर्यका पालन, ब्रह्मचारियोंकी सेवा, धर्मशास्त्रोंकी कथाओंका श्रवण करना, जितात्मा महर्षियोंके चरित्रोंका श्रवण-पठन-

मनन करना, जिन धार्मिक सात्त्विक पुरुषोंकी ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध धार्मिक पुरुष प्रशंसा करें, उनके साथ निरन्तर रहनेकी चेष्टा—आयुके परिपालनके ये सब उत्तम भेषज हैं।'

महामारी और युद्धसे होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका कारण भी अधर्म ही है

महामारीके समय देश, काल, जल और वायु दूषित होकर सामूहिक रूपसे नरसंहार हो जाता है तथा देश-के-देश उजड़ जाते हैं। देश, काल, जल और वायुमें एक साथ विकृति उत्पन्न होनेका कारण सामूहिक अधर्माचरण ही है।

सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वासत्कर्म पूर्वकृतम्, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद् यथा—यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां प्रवर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताश्च पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति। ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते। तेषां तथाविधान्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति, विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयश्च स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पृश्याभ्यवहार्यदोषात्॥

'अग्निवेश! इन वायु आदिका सबका एक साथ ही दूषित होनेका मूल कारण अधर्म है। अधर्मका मूल असत्कर्म है। अधर्म और असत्कर्मका मूल प्रज्ञापराध है। जब देश-नगर-निगमके प्रधान अधिकारी पुरुष धर्मका उल्लङ्घन करके अधर्मसे प्रजाके साथ बर्ताव करते हैं, तब इनके आश्रित-उपाश्रित नीचेके कर्मचारी और पुर तथा जनपदके निवासी एवं व्यापारी उस अधर्मकी वृद्धि करते हैं। वह अधर्म धर्मको बलपूर्वक अन्तर्हित कर देता है। जब मनुष्योंका धर्म अन्तर्हित हो जाता है और उनमें अधर्मकी प्रधानता हो जाती है, तब उनके रक्षक आधिभौतिक-आध्यात्मिक देवता उन्हें त्याग देते हैं। ऋतुओंका स्वभाव बदल जाता है। मेघ यथाकाल नहीं बरसता अथवा बरसता ही नहीं, या विकृत वर्षा करके जलप्लावन कर देता है, वायु विकृत होकर बहता है, पृथ्वी व्यापन्न हो जाती है, जल सूख जाते हैं, ओषधियाँ अपने स्वभावको छोड़कर विरुद्ध गुणवाली हो जाती हैं, विकृत वायु आदिके संस्पर्श एवं विकृत खाद्यपदार्थोंके कारणसे देश-के-देश एक साथ महामारीके फैलनेसे उजड़ जाते हैं।'

युद्धजन्य नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभक्रोधमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति।

(च० वि० ३ । १३)

'शस्त्रप्रभव अर्थात् युद्धसे होनेवाले सामूहिक नरसंहारसे भी देश उजड़ जाते हैं। उसका हेतु भी अधर्म ही है। जब मनुष्योंमें मर्यादातीत अत्यन्त लोभ, क्रोध, मोह, मान बढ़ जाते हैं, तब प्रबल शक्तिशाली व्यक्ति धनके बलसे दुर्बल और दीन पुरुषोंका तिरस्कार करते हैं, फिर वे अपने-पराये सब पुरुषोंका नाश करनेके लिये शस्त्रोंसे आक्रमण करते हैं। इस प्रकार युद्धसे होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका मूल कारण भी अधर्म ही है।'

अभिशापसे होनेवाले नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

अभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति। ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति॥ (च० वि० ३ । १४)

'अभिशापसे भी होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका कारण भी अधर्म ही है। जब मनुष्योंकी धार्मिक भावना लुप्त हो जाती है, धन और शक्तिका मद बढ़ जाता है, तब वे पूज्य गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषिजनोंका तिरस्कार करते हैं और उनके अभिशापसे यादवोंकी तरह एक साथ समूल नष्ट हो जाते हैं।'

यह निश्चित सिद्धान्त है कि रोग, दुःख और अकाल-मृत्यु आदि असदाचार या पापका फल है। समाजमें यह जब सामूहिक रूपसे बढ़ जाता है, तब यह सामूहिक विनाश करता है, व्यक्तिगत पाप व्यक्तिको ही नष्ट करता है, दीर्घकालीन असाध्य बीमारियोंके द्वारा, धन-मान-विनाशके द्वारा कष्ट पहुँचाता है। मनुष्यकी आयु साधारणतः १०० वर्षकी मानी गयी है, आयुकी समाप्तिपर निधन निश्चित है; पर इससे पहले मरना उसके अपने अपराधोंका फल है।

आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि १०१ मृत्यु हैं, जिनमें मनुष्यकी एक मृत्यु तो निश्चित है, वह किसी उपायसे टाली नहीं जा सकती। शेष १०० मृत्युओंको अकालमृत्यु कहा
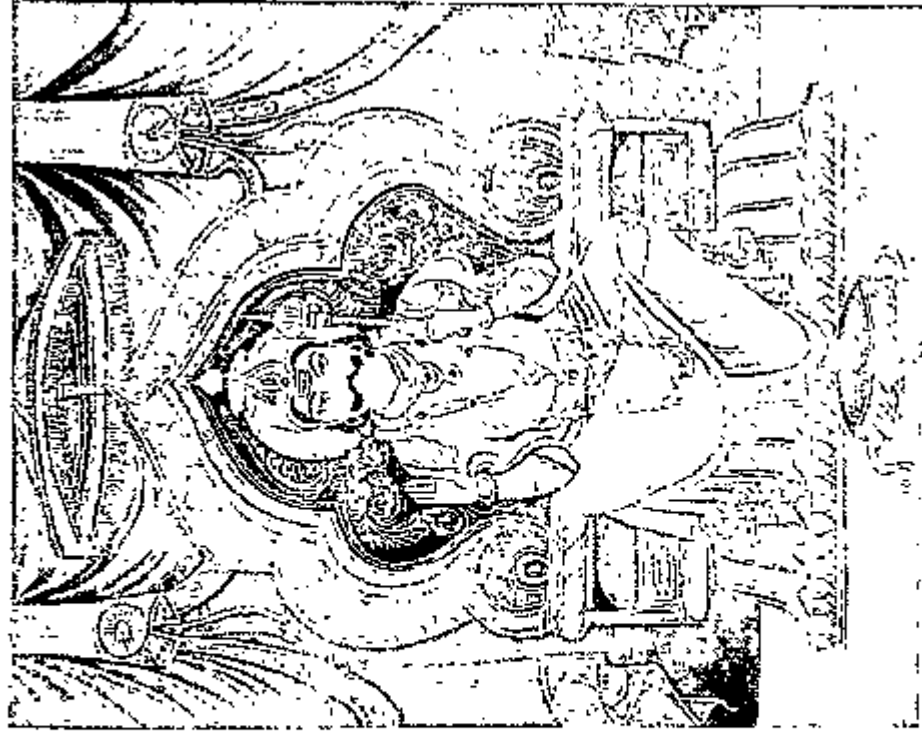
धर्मरूप धर्मराज
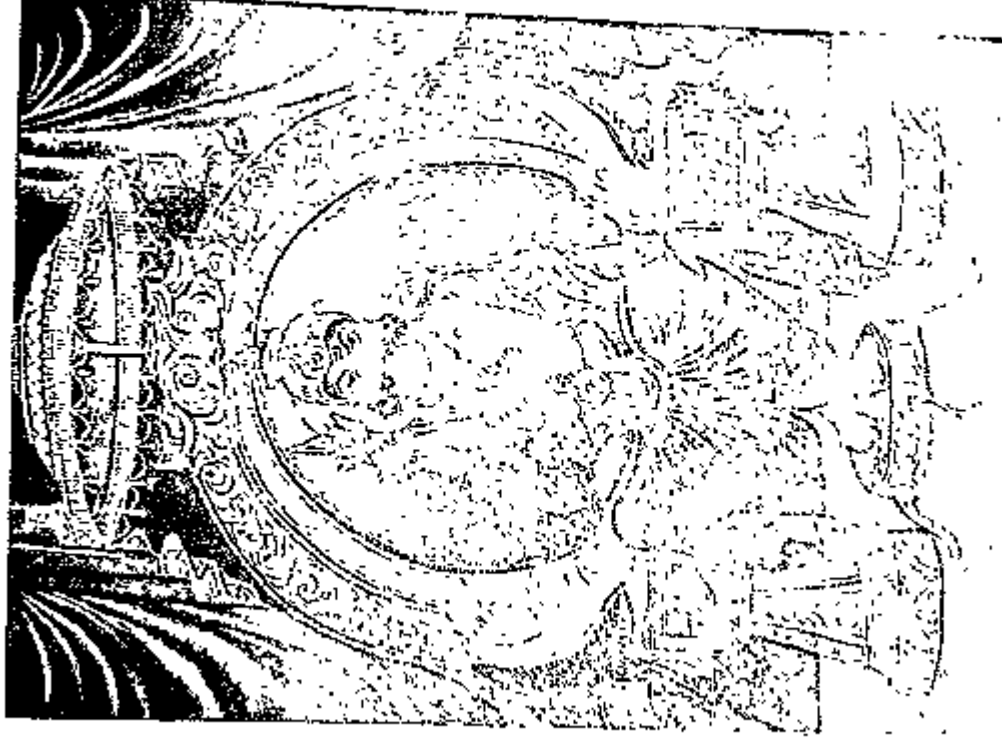
धर्मरक्षक यमराज

जाता है, वे आयुर्वेदोक्त एवं धर्मशास्त्रोक्त सद्वृत्तके अनुष्ठानसे टल जाती हैं।

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंज्ञस्तु शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः ॥१८॥

सार यह है कि आगन्तुक मृत्युएँ हितोपचारसे हटायी जा सकती हैं। 'हितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्ययान्मृत्युः'—चरकका सिद्धान्त है कि जीवनका मूल हितोपचार है, अहितोपचार ही मृत्युका कारण है। हम यहाँ चरकोक्त हितोपचारोंका थोड़ा-सा निदर्शन करा देते हैं। शेष स्वयं पाठक चरक सू० स्थानके ८ वें अध्यायमें देखें।

तत्र सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश। (च० सू० ८)

अब हम सम्पूर्ण सद्वृत्त—सदाचारका उपदेश करेंगे। देव, गौ, ब्राह्मण, सिद्ध, आचार्यकी अर्चना करना, प्रतिदिन अग्निहोत्र करना, प्रशस्त औषधका सेवन और रत्न धारण करना, दोनों समय स्नान-संध्या करना, प्रसन्न रहना, मिलनेवालोंसे प्रथम स्वयं कुशल-प्रश्न करना, पितरोंका पिण्डदान-श्राद्ध-तर्पण करना, हित-मित-मधुर भाषण और हित-मित-मधुर आहार यथासमय करना, निश्चिन्त, निर्भीक, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक होकर रहना—इत्यादि अनेक सद्वृत्त हैं। जिनका संक्षेपमें वाग्भटने एक ही श्लोकमें वर्णन कर दिया है—

नित्यं हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ १ ॥

'प्रतिदिन हित आहार-विहार करनेवाला, सोच-समझकर कार्य करनेवाला, विषयोंमें अनासक्त, दान देनेवाला, हानि-लाभमें सम रहनेवाला, सत्यपरायण, क्षमावान्, आप्त पुरुषोंकी सेवा करनेवाला, उनकी शिक्षाके अनुसार चलनेवाला पुरुष ही नीरोग और शतायु होता है।'

सार यह है कि आयुर्वेदने जिन आहार-विहार-आचारोंको रोगोत्पादक बतलाया है, धर्मशास्त्रोंने उन्हें पापजनक कहा है। यही आयुर्वेदका स्वस्थ-वृत्त है।

स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाःशतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते ॥
(च० सू० ८। १०)

नृलोकमापूरयते यशसा साधुसम्मतः।
धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति ॥११॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते।
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा ॥१२॥

'जो इस आयुर्वेदोक्त सद्वृत्तका सम्यक् पालन करता है, वह १०० वर्षतक नीरोग रहकर जीता है, नरलोकको यशसे पूरित करता है सुकृतियोंके पुण्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करता है, धर्म और अर्थको प्राप्त होता है और सब प्राणियोंकी बन्धुताको प्राप्त होता है। अतः इसका सब मनुष्योंको पालन करना चाहिये।'

अपनेको सदा धर्मकी कसौटीपर कसता रहे

हित-मित-सत्य-मधुर नित बोले, हित-मित-मधुर करे आहार।
नित्य रहे निर्भीक, मान-मदरहित, रखे मन शुद्ध विचार॥
नियमित हो जीवन, इन्द्रिय-मन हों संयत, हो शुद्धाचार।
विषयासक्ति-रहित, समतायुत, क्षमावान हो सहज उदार॥
सेवाभाव-समन्वित जीवन हो, सबका चाहे कल्याण।
रहे अडिग नित धर्म-शीलसे, हो शरीर चाहे म्रियमाण॥
विपद्ग्रस्तको आश्रय दे, कर दे उसका विपत्तिसे त्राण।
प्रभु-शरणागत रहे, स्वयंको कसता रहे धर्मकी शाण॥

जन्माङ्गसे धर्मविचार

(लेखक—ज्योतिषाचार्य श्रीवल्लभजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

भारतकी संस्कृति और सभ्यताका मूल 'धर्म' ही है। धर्म बिना कोई जीवन नहीं। जहाँ 'धर्म' नहीं, वहाँ सब व्यर्थ है। 'धर्मनिरपेक्षता'की बात करना केवल भ्रम है। मानवके अन्तर्गत यदि धर्म नहीं तो वह मानव नहीं, दानव है। जितने भी महामानव हुए, सभी धार्मिक प्रवृत्तिके थे। यहाँपर धर्मकी व्याख्या नहीं करनी है। किंतु मानवजीवनके आवश्यक पोषक तत्त्वोंमें धार्मिक भावना भी एक तत्त्व है, जिसे भारतके सभी आचार्योंने माना है; उसे ही यहाँ उपस्थित करना है। ज्योतिषविज्ञानमें फलितज्योतिष प्रधान अङ्ग माना गया है। फलितज्योतिषमें जन्माङ्गसे फलाफल-विचार एक बृहत् और वैज्ञानिक परम्परा है। जन्माङ्गमें बारह स्थान होते हैं। उन बारह स्थानोंमें धर्म भी अपना एक स्थान रखता है। शरीरके पोषणके लिये 'कर्म'की प्रधानता मानी गयी है। शरीरके पालनमें 'धन' सहायक होता है। 'भाई' का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वदायक होता है। 'सहोदर' बहुत भाग्यसे मिलते हैं। इसे तुलसीदासजीने भी स्वीकार किया है। 'सुख'की चाहना 'मानव' ही नहीं, पशु-पक्षी भी करते हैं। समस्त देशके मानव 'पुत्र'के जन्मके लिये लालायित रहते हैं। 'रोग' और 'दुश्मनों'से किसीका छुटकारा नहीं। महाराज युधिष्ठिर जो 'अजातशत्रु' थे, उनके भी रक्तका प्यासा दुष्ट दुर्योधन था। 'स्त्री' तो जीवनके संचालनमें अर्द्धाङ्ग मानी गयी है। जीवनका एक दिन 'अन्त' होता ही है। 'मृत्यु' एक दिन सबका वरण करती है। अपनी 'आय' बढ़ानेके लिये मानव जीवनपर्यन्त उत्सुक रहता है। 'व्यय' भी जीवन-संचालनके लिये अनिवार्य है। यह सब कुछ होते हुए भी 'धर्म' बिना जीवन 'जीवन' नहीं। जन्माङ्गमें तन, धन, भाई, सुख, पुत्र, अरि, स्त्री, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय—बारह स्थान होते हैं। ये बारह स्थान बारह राशियोंके आधारपर प्रचलित हुए हैं। बारह राशियाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं।

यह निश्चित है कि धर्मका स्थान जन्माङ्गमें नवम है। जन्माङ्गसे जीवके धर्म और अधर्म दोनोंका विचार किया जाता है। धर्मकी प्रधानता नवम स्थानमें निश्चित करके आचार्योंने नवम स्थानसे धर्मके आधारपर यज्ञ, तप, शुभकर्म, पुण्यार्जन, भाग्य, प्रसन्नता आदिका भी विचार किया है। इन सबका आधार केवल 'धर्म' ही है। जन्माङ्गसे फल-विचार करनेमें कई आवश्यक बातोंको ध्यानमें रखना पड़ता है। फलविचारकी दृष्टिसे सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु आदि नवग्रह और मेष, वृष, मिथुन आदि बारह राशियोंका परस्पर सम्बन्ध भी देखा जाता है। इसके बाद 'स्थानबल' में तन, धन आदि बारह स्थानोंका बल भी देखा जाता है। विचारकोंने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि ग्रहोंका स्वभाव मानवोंकी भाँति ही उपयोगी होता है। इसी आधार-पर ग्रहोंका 'चेष्टाबल' और 'दृष्टिबल' भी माना गया है। मानवको 'स्त्री' अत्यन्त प्यारी मानी गयी है। 'स्त्री'का स्थान सप्तम स्थान है। सप्तम स्थानमें दृष्टिबलकी प्रधानता होती है। इसी प्रकार पञ्चम स्थान पुत्र और विद्या दोनोंका है। 'विद्या' तो 'बुद्धि'की सहायिका होती है। विद्या और बुद्धिसे हीन मानव धार्मिक विचारोंसे रहित होता है। इसी आधारपर पञ्चम स्थानसे भी 'धर्म' सम्बन्धी विचार होता है। धर्मके संचालनके लिये पञ्चम भावकी गतिविधिसे सहायता मिलती है। पञ्चमभावसे ईश्वरमें भक्ति और नवम भावसे धर्मका विचार होता है। पञ्चम और नवमके अधिपतियोंके अन्योन्याश्रय-सम्बन्धसे 'धर्म'में दृढ़ता और आस्था पनपती है या स्थायी होती है। दोनों भावेशों-के बलाबल एवं शुभ गुणादिके तारतम्यसे धार्मिक विचारोंमें स्थिरता या अस्थिरता आती है। धार्मिक विचारके अन्तर्गत 'उपासना' भी है। कौन जातक किसकी उपासना करेगा या उपासनामें उसकी प्रवृत्ति होगी या नहीं—यह सब विचार भी होता है। उपासक देवी या देवकी उपासना करेगा, इसका भी ज्ञान ग्रहोंके बलाबलसे हो जाता है।

उपासनाकी प्रवृत्ति

(१) ग्रहोंके विचारमें शनि नवम स्थानमें रहकर

विचित्र स्थिति उत्पन्न करते हैं। शनि नवम स्थानमें रहकर जातकको सर्वदर्शनविमुक्त बनाता है, जातक राजा होकर भी धार्मिक विचारमें अग्रसर होता है, सच्चा उपासक बनता है।

(२) यदि पञ्चम स्थानमें पुरुष-ग्रह बैठा हो और किसी पुरुष-ग्रहकी दृष्टि उसपर पड़ रही हो तो जातक पुरुष-देवताका उपासक बनता है।

(३) यदि पञ्चम भावकी राशि सम (वृष, कर्क आदि) राशि हो, उसमें चन्द्रमा या शुक्र बैठा हो तो जातक किसी देवीका उपासक होता है।

(४) सूर्य पञ्चमस्थ हो या पञ्चम भावपर सूर्यकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक सूर्यकी उपासनामें अग्रसर होता है। चन्द्रमाका ऐसा योग माता पार्वतीका उपासक बनाता है। पञ्चममें मङ्गलकी स्थिति और बलाधिक्य कुमार कार्तिकेयकी उपासनाकी ओर अग्रसर करता है। बुधका योग या पञ्चमपर बुधकी दृष्टिका बल जातकको भगवान् विष्णुकी उपासनामें प्रवृत्त करता है। गुरुका योग शंकरभगवान्की उपासनामें दृढ़ बनाता है। इस प्रकार पञ्चममें शनि या राहु या केतु विराजमान हों, या इनमें किसी एककी पूर्ण दृष्टि पञ्चम भावपर हो तो जातक अन्य देवोंमें किसीकी उपासना करता है। पूर्वमें लिखा जा चुका है कि नवमस्थ शनि एक विचित्र धार्मिक प्रवृत्तिका परिचायक बनता है। वही शनि पञ्चम भावमें भी रहकर विचित्र भावनावाली धार्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। उदाहरणके लिये धर्मपरिवर्तन करना, अवधूत बन जाना इत्यादि स्थितियाँ हैं।

(५) नवम स्थानका स्वामी बली होकर लग्न या चतुर्थ या सप्तम या कर्मस्थानमें विराजमान हो और लग्नेशकी दृष्टि लग्नपर पड़ती हो या दशमेश, गुरुके नवांश या त्रिंशांश या द्रेष्काणका हो तो ऐसा जातक महाधनी होकर भी कट्टर धार्मिक होता है।

(६) यदि नवम स्थानका स्वामी उच्च राशिमें हो और उसपर शुभ ग्रहकी दृष्टि पड़ती हो तथा नवम स्थानमें भी शुभ ग्रह विराजमान हो तो जातक धार्मिक जगत्में अग्रसर बनता है।

(७) नवमेश पूर्ण बली हो और नवमेशपर गुरुकी पूर्णदृष्टि हो और लग्नेशपर भी गुरुका दृष्टि-बल पहुँचता हो, ऐसी स्थितिमें जातक महान् धार्मिक होता है।

(८) लग्नके स्वामीपर या लग्नपर नवमेशकी पूर्ण दृष्टि हो तथा नवमेश केन्द्र या त्रिकोणगत हो तो जातक धार्मिक और दानी होता है।

(९) नवमाधिपति यदि सिंहांशका हो और उसपर लग्नेशकी अथवा दशमेशकी दृष्टि हो तो जातक पूर्णरूपसे धर्मात्मा और दानी होता है।

(१०) नवमेश चतुर्थ-भावस्थ हो, दशमेश केन्द्रगत हो और द्वादशेश गुरुके साथ हो तो जातक धर्मशील और दानशील दोनों होता है।

(११) ऊपर लिखे योगके साथ ही बुध यदि उच्चका हो और नवमाधिपतिकी उसपर पूर्ण दृष्टि हो तो जातक धर्मात्मा और उपकारी होता है।

(१२) जन्माङ्गमें गुरु बुध या मङ्गलके साथ हों तो ऐसा जातक धर्मपूर्ण कामोंमें अग्रसर रहता है।

(१३) दशमेश यदि दशमभावमें ही हो, या दशमेश चार शुभद वर्गोंका हो, या दशमेश केन्द्र या त्रिकोणस्थित हो तो जातक 'धर्म' में दृढ़ रहता है।

(१४) यदि दशमेश बुध हों और जातकके गुरु भी बली हों या चन्द्रमा तृतीय-भावगत हों तो जातक धर्मशील होकर यश प्राप्त करता है।

(१५) नवमेश यदि बृहस्पतिके साथ हों और षड्वर्गोंमें बली हों, या लग्नेशपर गुरुकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक धर्मपरायण होता है।

(१६) बुध दशमस्थ होकर गुरुके साथ हो तो जातक धर्मात्मा होकर यश प्राप्त करता है।

(१७) दशमेशके साथ बुध भी दशम-भावगत हो तो जातक धर्ममें तत्पर हो जाता है।

परोपकार भी धर्म है

महर्षि व्यासने लिखा है कि परोपकार ही पुण्य है और पुण्यार्जन ही धर्मार्जन है। परोपकारी जनोंके आचरणका विचार जन्माङ्गके नवम, द्वितीय, चतुर्थ और दशम भावसे होता है। आप महान् व्यक्तियोंके जन्माङ्गोंकी यदि तुलना करें तो महात्मा गांधी, महामना मालवीय, महात्मा रामकृष्ण परमहंस, महर्षि विवेकानन्द आदिके जन्माङ्गमें परोपकारी योग पड़ा है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ये महात्मा

महान् धर्मात्मा भी थे। पृथक्-पृथक् उनके जन्माङ्गसे यहाँ विचार-विनिमय तो नहीं हो सकता, किंतु धर्माचरणका प्रत्येक लक्षण कुछ-न-कुछ ऊपर उल्लिखित महान् पुरुषोंके जन्माङ्गमें अवश्य घटित होता है। परोपकारी लक्षणोंके कुछ उदाहरण निम्न प्रकारसे हैं—

(१) यदि लग्नेश और द्वितीयेश उच्च राशिमें स्थित हों, उनपर शुभ ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक परोपकारी और धर्मशील होता है।

(२) दशम स्थानसे कीर्तिका भी ज्ञान किया जाता है। दशम स्थान कर्मका भी स्थान है। सुकर्म करनेवाला सुयश भी प्राप्त करता है। यदि दशमेश द्वितीय भावमें स्थित हों तो वह जातक महान् यशका अर्जन करता है।

(३) गुरु यदि द्वितीयेश होकर द्वितीय भावमें ही विराजमान हो, या द्वितीय स्थानका स्वामी बुध हो या शुक्र हो, शुक्र उच्चस्थ, या अपने मित्रके घरमें हो या चतुर्थ भावमें हो तो ऐसा जातक अपने उत्तम आचरणोंसे जनताकी रक्षा करता है।

(४) यदि दशमके स्वामी द्वितीय भावके स्वामी होकर उच्चस्थ हों या उत्तमवर्गके हों तो जातक परोपकारी और धर्मात्मा होता है।

(५) दशमाधिपति बुध हो और उसपर शुभग्रहकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक अपने उत्तमोत्तम आचरणोंसे जनवर्गका कल्याण करता है।

(६) द्वितीयाधिपति यदि उच्चका हो या मित्रगृहमें स्थित हो, या अपने घरका हो, और द्वितीयेश जिस स्थानमें हो, उस स्थानके स्वामीको पाँच वर्गोंका बल हो और उसपर गुरुकी पूर्ण दृष्टि हो तो ऐसा जातक अपने उत्तम कर्मोंके बलपर यश प्राप्त करता है।

धार्मिक अनुष्ठानोंके कर्ता

किसी भी धर्मके अनुयायियोंमें धार्मिक भावनाके साथ ही धार्मिक अनुष्ठानोंके प्रतिपादनकी भी बात निहित रहती है। अनुष्ठान कर्मकाण्डका एक विकसित रूप है। कर्म-काण्डका तात्पर्य कर्ममें दृढ़ता दिखाना है। जो कर्ममें विश्वास नहीं कर सकता, उसे ईश्वरकी प्राप्ति होनी कठिन है। जन्माङ्गसे कर्मनिष्ठता ही नहीं, धार्मिक अनुष्ठानोंके प्रतिपादनका भी विचार होता है।

(१) यदि दशम (कर्म) के स्वामी कोई शुभग्रह हो और वह चन्द्रमाके साथ हो और राहु-केतुसे पृथक् हों तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंका कर्ता होता है।

(२) बुध यदि नवममें हो, या उच्चमें हो और राहु और केतुसे पृथक् हो, दशमाधिपति नवम भावमें हो तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंका विधायक होता है।

(३) दशमाधिपति उच्चस्थ हो, बुधके साथ हो तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंमें अग्रणी बनता है।

(४) लग्नाधिपति यदि दशमभावस्थ हो, दशमाधिपति नवमभावस्थ हो और ये दोनों पापग्रह (रवि, मङ्गल, शनि, राहु और केतु) न हों तथा पापग्रहोंकी दृष्टिसे वञ्चित हों और शुभ ग्रहोंकी दृष्टि हो तो जातक उत्तम तथा धार्मिक अनुष्ठानोंका सम्पादन करता है। इसी प्रसङ्गमें यह भी विचारणीय है कि यदि कर्मेश षष्ठ, अष्टम या द्वादशभावमें स्थित हो, या बुधके स्थानमें राहु दशम भावमें स्थित हो और दशम-भावगत हो, (यह तब होगा, जब बुध लग्नस्थ हो) तो शुभ एवं धार्मिक अनुष्ठानोंमें सद्यः बाधा भी उपस्थित हो जाती है।

(५) जन्माङ्गमें दशमाधिपति और लग्नाधिपति एक साथ हों, या दशम और लग्नके एक ही पति हों (यह तब सम्भव है जब लग्न कन्या या मीनकी हो) तो जातक अपने बाहुबलसे धन उपार्जित करके धार्मिक अनुष्ठानको सम्पन्न करता है।

धार्मिक अनुष्ठानोंमें धनकी उपादेयता

इस प्रसङ्गमें यह विचार करना है कि अनुष्ठान या धार्मिक कृत्योंमें धनका खर्च तो निश्चित ही है, इस महर्घताके युगमें तो धन ही सब कुछ बना हुआ है। यज्ञादि कर्म तो दूरकी बात है, साधारण शुभ कृत्योंसे भी जनवर्ग दूर होता जा रहा है। हाँ, कोई-कोई धर्मात्मा अवश्य हैं, जो अपने बलपर या अन्यान्य उपायोंसे धार्मिक अनुष्ठानोंको करते हैं या कराते हैं और प्रेरणा देते हैं। जन्माङ्गद्वारा इन सबका विचार होता रहता है।

(१) जन्माङ्गमें यदि शनि दशमेशके साथ हो तो यज्ञकर्ता शूद्रोंसे धन लेकर यज्ञादि अनुष्ठान सम्पन्न करता है।

(२) यदि दशमेश राहु या केतुके साथ हो तो जातक अपने शिष्योंसे धन लेकर धार्मिक कृत्योंको सम्पादित करता है।

(३) यदि दशमेश गुरुके साथ हो तो जातक राजासे धन लेकर धार्मिक कार्य सम्पन्न करता है या कराता है।

(४) यदि दशमाधिपति सूर्य हो तो पिताकी अर्जित सम्पत्तिसे पुन धार्मिक अनुष्ठान करता है।

(५) यदि दशमाधिपति चन्द्रमा हो तो माताकी सम्पत्तिसे धर्मकार्य सम्पादित होता है।

(६) यदि दशमेश मङ्गल हो तो भाईकी सम्पत्तिसे धर्मकृत्य पूरा किया जाता है।

(७) यदि बुध दशमेश होता है तो चचेरे भ्राताकी सम्पत्तिसे धर्मके कार्योंमें सहायता मिलती है।

(८) जब नवमेश और पञ्चमेश दोनोंका परस्पर उत्तम सम्बन्ध हो तो जातकके लिये प्रेरणात्मक होता है। ऐसा जातक यज्ञादि कर्मोंमें ख्याति प्राप्त करता है।

धार्मिक जीवनका प्रारम्भ और त्याग

भारतीय संस्कृति-सभ्यतामें मानवताका प्रधान गुण सत्य और त्याग भी है। बिना त्यागके जीवनमें निखार नहीं आता। बिना त्यागके धर्मका स्थान भी सारहीन है। साधारणतया यह देखा जाता है कि जन्माङ्गमें पाँच, छः या सात ग्रह एक ही स्थानमें हों तो वह जातक धार्मिक भावनासे ओतप्रोत रहकर पवित्र जीवन व्यतीत करता है। इन ग्रहोंमें इतना अवश्य देखना पड़ता है कि कोई ग्रह बली या शुभ-दृष्ट है या नहीं, उन ग्रहोंमें कोई दशमाधिपति है या नहीं। यदि उनमें कोई बली ग्रह होता है तो वह जातक त्यागी होता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक ग्रह बली होकर धार्मिक जीवनमें विभिन्न प्रकारसे प्रभाव दिखलाता है। यहाँ प्रत्येक ग्रहोंके सम्बन्धमें संक्षिप्तमें विचार उपस्थित किया जा रहा है।

(१) पाँच या पाँचसे अधिक ग्रह एक साथ नवम स्थानमें हों और उनमें सूर्य बलवान् हो तो जातक ईश्वरमें लीन रहकर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है और वह सूर्य, गणेश या शक्तिकी उपासना करता है।

(२) तथाकथित स्थितिमें यदि चन्द्रमा बली हो तो जातक शैवमतावलम्बी बनकर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(३) मङ्गलके प्रभावसे जातक धार्मिक विचारोंसे प्रभावित होकर भिक्षावृत्ति अपनाकर संन्यस्त जीवन व्यतीत करता है।

(४) बुधके प्रभावसे जातक मतान्तरसे विष्णुभक्त होता है, तान्त्रिक होता है।

(५) गुरुके प्रभावसे जातक धर्मशास्त्रका ज्ञाता बनता है।

(६) शुक्रके प्रभावसे जातक महान् यशस्वी धर्मात्मा बन जाता है। इस प्रकार यदि पाँच, छः या सात ग्रह नवम (धर्म) तथा पञ्चम (भक्ति) और दशममें बैठ जाते हैं तो जातक अपनी धर्मभावना और धार्मिक कृत्योंसे पूज्य बन जाता है।

(७) शनि यदि ऐसे अवसरपर बलवान् रहता है तो जातक पाखण्ड-मतको माननेवाला बनता है। इस विचारमें अस्त ग्रह प्रभावहीन होते हैं। ग्रहयुद्धमें पराजित ग्रह अपना प्रभाव नहीं दिखला पाते। बली ग्रहोंका दृष्टिबल भी इसमें बहुत सहायक बनता है।

धार्मिक चेतनाका प्रादुर्भाव

जीवनके किसी भी भागमें धार्मिक चेतनाका प्रादुर्भाव हो जाता है। अधिकतर देखा जाता है कि कोई बचपनसे ही धार्मिक प्रवृत्तिका होता है। कोई युवाकालमें किसी घटनासे प्रभावित होकर धर्मकी ओर आकृष्ट हो जाता है। कोई-कोई युवावस्था बीत जानेपर धर्मकी ओर अग्रसर होते हैं। इन सबमें ग्रहोंका प्रभाव अपना महत्त्व रखता है। ग्रह अपनी महादशामें, अन्तर्दशामें अपना बल प्राप्त होनेपर विशेष फल दिखलाने लगता है। यह स्थिति 'राजयोग', 'राजभङ्ग-योग' एवं अन्यान्य योगोंके लिये भी मान्य है।

(१) यदि लग्नेशपर अन्य किसी ग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो और लग्नपतिकी दृष्टि शनिपर पड़े तो जातक धार्मिक भावनासे अत्यन्त प्रभावित होकर गृह त्याग देता है।

(२) यदि शनिपर किसी ग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो और शनिकी दृष्टि लग्नेशपर पूर्णरूपेण पड़ रही हो तो जातक धार्मिक भावनासे प्रभावित होकर घर-द्वार छोड़ देता है।

(३) शनिकी दृष्टि यदि निर्बल लग्नपर भी पड़े तो वह जातक घर-द्वारकी मोहमाया छोड़कर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(४) चन्द्रमा किसी राशिका होकर शनि या मङ्गलके द्रेष्काणमें हो और चन्द्रमापर किसी अन्य ग्रहकी दृष्टि न होकर शनिकी दृष्टि हो तो जातकका जीवन धर्मप्रधान होता है।

गृहसम्बन्धी कार्योंसे जातक सम्बन्ध छोड़ देता है और धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है।

(५) जन्मेश यदि बलहीन हो, उसपर शनि अपनी पूर्ण दृष्टिसे अवलोकन कर रहा हो तो जातक धार्मिक भावनाके कारण माया-मोहके बन्धनको तोड़कर धार्मिक एवं पवित्र जीवन व्यतीत करता है।

(६) जन्मकालीन चन्द्रमा जिस राशिमें हो और उसके पति (जन्म-राश्यधिपति) पर यदि किसी ग्रहकी दृष्टि न हो किंतु जन्मराश्यधिपतिकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो ऐसे जातकके ऊपर बली शनि अथवा जन्मराशीशका प्रभाव विशेषरूपसे पड़ता है और इन बली ग्रहोंके दशान्तरमें जातक गृह-प्रपञ्चोंसे छुटकारा प्राप्त करके धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(७) जन्माङ्गमें चन्द्रमा शनि अथवा मङ्गलके नवांश-में हो और उसपर शनिकी दृष्टि हो तो जातकके मनमें सहसा धार्मिक भावनाका उत्थान होता है और वह माया-मोहके जालसे छूटकर धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है।

(८) चन्द्रमा जन्माङ्गमें यदि शनिके द्रेष्काणमें हो और उसपर शनिकी दृष्टि हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(९) जन्माङ्गमें शनि नवमस्थान (धर्मभाव) में हो, उसपर किसी भी ग्रहकी दृष्टि न हो और ऐसा जातक चाहे राजवंश-परम्परामें भी क्यों न जन्मा हो, उसे धर्ममय जीवन बिताना ही पड़ता है।

(१०) चन्द्रमा धर्मस्थानमें स्थित हो और वह किसी भी ग्रहद्वारा दृष्ट न हो तो जातक राजाके घरमें उत्पन्न होकर भी धर्मात्मा बन जाता है।

(११) जन्माङ्गमें शनि अथवा लग्नाधिपतिकी दृष्टि चन्द्रमापर पड़ती हो तो जातक धार्मिक जीवन बितानेके लिये अग्रसर होता है। उदाहरणके लिये आदिगुरु शंकराचार्यका जन्माङ्ग देखा जा सकता है।

(१२) जन्माङ्गमें चन्द्रमा और मङ्गल एकराशिगत हों, चन्द्रमा शनिके द्रेष्काणमें हो और उस चन्द्रपर शनिकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य होता है।

(१३) यदि जन्माङ्गमें लग्नेश बृहस्पति या मङ्गल या शनि हो, उस लग्नके स्वामीपर शनिकी दृष्टि पड़ती हो और गुरु नवम भावमें हो तो जातक धर्मात्मा बन जाता है।

(१४) लग्नेशपर यदि कई ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो और उन ग्रहोंमें किसी भी ग्रहकी राशिमें दृष्टि डालनेवाले ग्रह स्थित हों तो जातक धर्मात्मा होता है।

(१५) जन्माङ्गमें कर्मेश अन्य चार ग्रहोंके साथ हो और वे केन्द्र या त्रिकोणमें विराजमान हों तो जातक महान् धर्मात्मा होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

(१६) जन्माङ्गमें सूर्य शुभ ग्रहके नवांशमें होकर धर्म-भावप्रद ग्रहोंपर दृष्टि डालता हो और वह उच्च या परमोच्चका हो तो जातक जन्मसे ही धर्मात्मा हो जाता है। (आदिगुरु शंकराचार्यके जन्माङ्गको देखें।)

(१७) जन्माङ्गके कर्मभावमें तीन बली ग्रह हों और सभी उच्चके हों या स्वगृही हों और दशमेश भी बलवान् हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

अध्यात्म-योग

जन्माङ्गसे अध्यात्म-योगका भी विचार होता है। अध्यात्मवादी धर्मात्मा ही होते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरामानुजाचार्य आदि इसी कोटिमें आते हैं।

(१) जन्माङ्गमें यदि कर्मेश शुभ ग्रह हो, उच्चके हो या स्वगृही हो अथवा मित्रगृही हो तो ऐसा जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। स्वामी रामतीर्थके जन्माङ्गमें यह योग पड़ा था।

(२) यदि जन्माङ्गमें कर्मेश शुभ ग्रह हो या धर्मेश और एकादशेश शुभ ग्रह हों या दशमेश शुभ ग्रहके नवांशमें हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(३) यदि जन्माङ्गमें दशमेश पाँच शुभ वर्गोंका हो या सात उत्तम वर्गोंका हो तो और लग्नेश बली हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(४) जन्माङ्गमें बलवान् चन्द्रमा केन्द्रस्थ हो, उसपर किसी भी शुभ ग्रहकी दृष्टि हो तो जातक इस संसारमें आध्यात्मिक जीवन बिताता है। (देखें, श्रीचैतन्य महाप्रभुकी जन्मकुण्डली।)

(५) दशमभावमें मीनराशिमें स्थित बुध हो या मङ्गल विराजमान हो तो ऐसे जन्माङ्गका जातक अध्यात्म-योगका उपदेशक होता है।

(६) जन्माङ्गमें धर्मेश बलवान् हो, साथ ही शुभ ग्रह हो, उसपर गुरु या शुक्रकी शुभ दृष्टि हो या धर्मेश गुरु या शुक्रके साथ हो तो जातक धार्मिक जीवनसे संसारमें प्रसिद्ध हो जाता है।

(७) दशमेश धर्मभावस्थ हो और धर्मेश बलवान् हो या बृहस्पति या शुक्रसे दृष्ट हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(८) यदि लग्नाधिपति नवम भावमें और कर्मेश धर्मभावमें हों और दशमेशपर पाप-ग्रहोंकी दृष्टि न पड़ती हो और शुभ ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो और दशमेश शुभ ग्रहके नवांशमें हो तो जातक धर्मचेता होता है।

(९) जन्माङ्गमें यदि दशमेश सात शुभ वर्गोंका हो और दशमेश चन्द्रमा हो, सूर्य पाँच शुभ वर्गोंका हो तो जातक महान् आत्मावाला होता है।

(१०) यदि मेषके अन्तिम नवांशमें जन्म हो अर्थात् जन्म मेषराशिमें हो, जन्म-लग्नका नवांश धनका हो, लग्नमें गुरु और शुक्र हों, चन्द्रमा धनस्थानमें हो, मङ्गल पाँच शुभ वर्गोंका हो तो जातक महान् धर्मात्मा होता है।

(११) कर्क लग्नमें जन्म हो, बृहस्पति उसमें बैठा हो, शनि सिंहराशिका हो, चन्द्रमा वृषराशिमें हो, शुक्र मिथुन राशिका हो और सूर्य एवं बुध स्थिरराशिमें हों तो जातक अध्यात्मवादी और धर्मात्मा होता है।

इस प्रकार फलित ज्योतिषके ग्रन्थोंमें धार्मिक जनों और जन्माङ्गके आधारपर धार्मिक तत्त्वोंका विचार किया जाता है।

धर्म और विज्ञान

(लेखक—प्राध्यापक श्रीदिनांशुशेखर झा, एम्० ए०)

(१)

धर्म और विज्ञानमें कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनों-की प्रक्रियाओंमें अन्तर इतना ही है कि जहाँ विज्ञान बाह्य जगत्की आधार-शिलापर स्थित जिज्ञासाके प्रासादमें बैठकर सत्यकी खोज करता है, वहाँ धर्म अन्तर्जगत्में प्रतिष्ठित होकर सत्यका साक्षात्कार करता है।

जडवादियोंके एक बहुत बड़े समुदायने समूचे संसारमें यह भ्रम फैला रक्खा है कि विज्ञान धर्मका विरोधी है। किंतु वास्तविकता यह है कि धर्मकी निन्दा करनेवाले और विज्ञानकी प्रशंसाके पुल बाँधनेवाले इन जडवादियोंको न तो विज्ञानका ज्ञान है और न धर्मका ही परिचय! वे न तो धार्मिक चेतनाका अर्थ समझते हैं और न वैज्ञानिक प्रक्रियाओंका। यही कारण है धर्म और विज्ञानकी गलत व्याख्या करके वे सामान्य लोगोंके बीच भ्रम फैलाते रहते हैं।

अब तो संसारके श्रेष्ठ वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि विज्ञान और धर्ममें कोई झगड़ा नहीं है प्रत्युत वे एक दूसरेके पूरक हैं। आधुनिक युगके सबसे बड़े वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइनको धर्ममें पूर्ण विश्वास था और वे धर्म और विज्ञान दोनोंको एक दूसरेके लिये आवश्यक समझते थे। उन्हींके शब्दोंमें—'धर्मके बिना विज्ञान लँगड़ा है और विज्ञानके बिना धर्म अंधा'[1]।'

विज्ञान धर्मका विरोध नहीं करता और यदि वह ऐसा करना चाहे भी तो उसे कोई आधार नहीं मिलेगा। वैज्ञानिक खोज और धार्मिक जिज्ञासा दोनों एक ही सत्यको उद्घाटित करनेकी चेष्टाएँ हैं। माध्यमगत विभिन्नताओंके आधारपर दोनोंकी मौलिक एकरूपतापर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाये जा सकते। चाहे धर्म हो अथवा विज्ञान—दोनों सत्य-पर ही आधारित हैं। यह दूसरी बात है कि उनके विकासके क्षितिज भिन्न-भिन्न हैं और उनके आयामोंमें अन्तर है। किंतु इससे उनकी मौलिक एकरूपतापर कोई आघात नहीं पहुँचता। एक ही पेड़में दो शाखाएँ भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रह सकती हैं और उनके बाहरी रूपमें भी काफी अन्तर हो सकता है, परंतु दोनोंके फलोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। उसी तरह धर्म और विज्ञान जिज्ञासारूपी पेड़की दो शाखाएँ हैं और दोनोंका फल एक ही है और वह है—'सत्य-की उपलब्धि'।

पूर्वाग्रहोंसे आक्रान्त जडवादियोंका मत है कि ईश्वर

1. Science without religion is lame and religion without science is blind. —Einstein.

और विज्ञान दोनोंका एक साथ अवस्थान असम्भव है। किंतु यह बात निल्कुल निराधार और व्यर्थ है। सच तो यह है कि विज्ञान ईश्वरीय सत्ताका सबसे बड़ा प्रमाण है। जिन लोगोंको विज्ञान और धर्म दोनोंमें किसीका ज्ञान नहीं है, वे ही यह मिथ्या प्रचार करते हैं कि विज्ञान ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानता। ऐसे जडवादियोंको चाहिये कि वे सर्वप्रथम विज्ञान और धर्मका गहराईसे अध्ययन करें और उसके बाद अपने विचार लोगोंके सामने रक्खें। यह ध्रुव है कि एक बार यदि उन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया तो उनके हृदयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं रहेगी और वे धर्म तथा विज्ञानको एक समझने लगेंगे।

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
>
> (मुण्डक उ० २।२।८)

अर्थात् ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर हृदयकी गाँठ टूट जाती है, सभी शङ्काएँ दूर हो जाती हैं और कर्मोंका भी क्षय हो जाता है।

जडवादियोंको चाहिये कि वे पहले धर्म अथवा विज्ञानके सहारे ब्रह्मको समझनेका प्रयास करें। जब उन्हें ब्रह्मका बोध हो जायगा, तब वे यह मान लेंगे कि वैज्ञानिक और धार्मिक जिज्ञासाओंका मूल स्रोत एक ही है और उनके परिणामोंमें भी कोई अन्तर नहीं है।

हमारे धर्मग्रन्थोंमें विभिन्न लोकोंकी बात आती है और ब्रह्मको अण्डाकार माना गया है। इन दोनों तथ्योंको संसारके सामने पहले-पहल हमारे ऋषियोंने ही रक्खा। आज वैज्ञानिक बन्धु भी मानने लगे हैं कि धरतीके अलावा अनन्त ब्रह्माण्डमें अन्यान्य लोक हैं और उनमें प्राणियोंके रहनेकी भी सम्भावना है। वैज्ञानिकोंने हमारे धर्म-ग्रन्थोंमें प्रयुक्त 'ब्रह्माण्ड' शब्दको भी स्वीकार कर लिया है। इस तरहके और भी कई भेद खुलते जा रहे हैं और एक ऐसा समय निकट भविष्यमें अवश्य उपस्थित होगा, जब धार्मिक सिद्धान्तोंकी सत्यताको वैज्ञानिक-जगत् पूरी तरह स्वीकार कर लेगा। वैज्ञानिक जिज्ञासा धार्मिक चेतनासे विच्छिन्न नहीं है, प्रत्युत उसीका एक अनिवार्य अङ्ग है। विज्ञान अपनी अतिविकसित अवस्थामें धर्मसे एकाकार हो जायगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं। ब्रह्माण्डके सम्बन्धमें जो नयी-नयी खोजें आज हो रही हैं, उनके बारेमें हमारे त्रिकालदर्शी मनीषियोंने हजारों साल पहले ही संकेत कर दिये थे। आज आवश्यकता इस बातकी है कि हम पूर्ण धार्मिक निष्ठा और वैज्ञानिक स्फूर्तिसे सम्पन्न होकर उन संकेतोंको समझ सकनेकी योग्यता प्राप्त कर लें। अगर हमने ऐसा कर लिया तो इस संसारको स्वर्ग बना लेनेमें देर नहीं लगेगी। विज्ञान और धर्मके सम्बन्धसे ही यह अनुष्ठान पूरा हो सकता है।

जडवादियोंके द्वारा उत्पन्न संशयकी समस्त शृङ्खलाओंको तोड़नेमें आजका मानव सक्षम होता जा रहा है। विज्ञानने उसे इस दिशामें सहायता ही पहुँचायी है। संशयवादकी लौह दीवारें वैज्ञानिक मान्यताकी जिस आधार-भूमिपर खड़ी हैं, वह अब नीचेसे खिसकने लगी है। जडवादके विशाल प्रासादकी प्रत्येक ईंटमें कम्पन शुरू हो गया है; क्योंकि उसे आधार प्रदान करनेवाले भौतिक उपलब्धियोंके समस्त शिलाखण्ड टूटकर बिखरनेकी स्थितिमें आ रहे हैं।

ऐसी दशामें जडवादी चिन्तकके लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने मूल्योंमें परिवर्तन लाये और धर्म तथा विज्ञानको एक-दूसरेके लिये आवश्यक समझे। सम्भवतः जडवादियोंकी धर्मके प्रति अश्रद्धाका सबसे बड़ा कारण धर्ममें निहित कोई मौलिक दोष नहीं, प्रत्युत धर्मके बारेमें उनकी जानकारीका अभाव है। अर्थलोलुप और पाखण्डी धर्मयाजकों और स्वार्थी सम्प्रदायोंके द्वारा धर्मके नामपर किये जानेवाले अत्याचारोंको ही धर्मका यथार्थ रूप मान-समझ लेनेके कारण जडवादियोंको ईश्वरकी सत्तामें अश्रद्धाकी अनुभूति हुई। किंतु उन्हें यह समझना चाहिये कि धर्मके नामपर होनेवाला कुकृत्य धर्म नहीं है। धर्म क्या है, इस सम्बन्धमें 'महाभारत' में कहा गया है—

> धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
> अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
>
> (वनपर्व १३१।११)

अर्थात् जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा पहुँचाये, दूसरे धर्मसे लड़नेके लिये प्रेरित करे, वह धर्म नहीं, वह तो कुमार्ग है। सच्चा धर्म तो वह है, जो धर्मविरोधी नहीं होता।

विज्ञानके साथ भी यही बात है। वैज्ञानिक आविष्कारोंके मूलमें सृष्टिको जानने और उसकी शक्तियोंको ढूँढ़ निकालनेकी प्रवृत्ति रहती है। लेकिन सांसारिकतामें डूबे हुए स्वार्थान्ध व्यक्ति और सत्ताएँ विज्ञानका दुरुपयोग करते हैं और समाजको हानि पहुँचाते हैं। इसमें विज्ञानका क्या दोष है?

इसलिये यह आवश्यक है कि विज्ञान और धर्मका सुन्दर समन्वय हो। भौतिकवादी चिन्तकोंको धार्मिक निष्ठाके महत्त्वको समझना होगा और धार्मिक चेतनासे सम्पन्न व्यक्तियोंको वैज्ञानिक उपलब्धिकी आवश्यकताका अनुभव करना होगा। विज्ञान और धर्मके समन्वय और सदुपयोगसे ही संसारका कल्याण हो सकता है।

समन्वय हिंदू-धर्म और भारतीय संस्कृतिका प्राण है। अब तो संसारके प्रसिद्ध वैज्ञानिक भी समन्वयकी आवश्यकतापर जोर देते हैं। कई लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकोंने यह स्वीकार किया है कि मानव-समाजके कल्याणके लिये विज्ञानके साथ-साथ धर्मकी भी आवश्यकता है।

धर्म और विज्ञानका समन्वय मानव-समाजके लिये एक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि एक अनिवार्यता भी है। विज्ञान स्वयं आगे बढ़कर धर्मके साथ एकाकार हो जायगा; क्योंकि दोनोंका उद्देश्य मानव-कल्याण ही है और दोनों सत्यपर आधारित हैं। जड़वादी दर्शनकी भ्रममूलक व्याख्याएँ इस विराट् समन्वयको नहीं रोक सकतीं। कारण यह है कि स्वयं विज्ञान अपनी अतिविकसित अवस्थामें जड़वादी संशयका समूल नाश कर देगा और धार्मिक चेतनासे संयुक्त होकर पृथ्वीको स्वर्ग बनानेमें लग जायगा। अमेरिकाके प्रख्यात वैज्ञानिक डॉ० अलेक्सिस कैरेलने भी इस सत्यकी उद्घोषणा की है कि विज्ञान जड़वादके मूलको नष्ट कर देगा। आधुनिक वैज्ञानिक विकासने जड़वादके गढ़ोंपर भीषण प्रहार किये हैं और अब वह धर्म तथा विज्ञानके बीच दीवार बनकर खड़ा नहीं रह सकता।

हमें उस समयकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब विज्ञान और धर्म एक साथ मिलकर मानव-कल्याणका मार्ग आलोकित करेंगे।

(२)

(लेखक—श्रीनृपतकुमारजी लोढा 'निर्मल')

Science and religion are not opposed, they are not enemies, they are not neutral but they are allies.

Dr. T. A. Flewing. F. R. S.

'धर्म और विज्ञान'—ये दोनों जीवनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रधान समस्याएँ हैं। इन्हीं पहेलियोंको सुलझाते-सुलझाते मानवता बौखला-सी गयी है। अतः इन दोनों प्रश्नोंके तारतम्यको समझते समय यदि हमें विरोधाभास दिखायी दें तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। इसपर कविका यह कहना अक्षरशः ठीक है—

> //हजार साइंस रंग लाये, हजार कानून हम बनायें;
> // खुदाकी कुदरत यही रहेगी, हमारी हैरत यही रहेगी।

अर्थात् यह स्पष्ट होता है कि धर्म और विज्ञानके बीच कोई विरोध नहीं है। एक दूसरेको पूर्ण और समीचीन बनाता है। विज्ञान हमारी धार्मिक कल्पनाओं और विश्वासोंको शुद्ध, परिमार्जित और संस्कृत बनाता है तथा धर्म विज्ञानको सदा इस अज्ञानकी याद दिलाते रहकर उसे नम्र बनाये रखता है और उसके ऊपर कविता और आदर्शवादका रंग चढ़ाता रहता है। विज्ञान धर्मको रक्षित और संस्कृत करता है और धर्म विज्ञानको। धर्म और विज्ञान दोनों प्रकृतिकी एकताकी पुष्टि करते हैं। विज्ञानकी यह आधारभूत धारणा है कि प्रकृति बोधगम्य है, धर्मका अन्तर्दर्शन भी यही है। दोनोंको एक दूसरेकी आवश्यकता है और विश्वमें दोनों समानरूपसे आवश्यक हैं। विज्ञान और धर्मका विरोध ऊपरी और दिखाऊ है, यथार्थ और आन्तरिक नहीं। धर्म और विज्ञान दोनोंकी उत्पत्ति 'कः', 'किम्' और 'का' से होती है। अन्तर केवल यही है कि धर्म-तत्त्वके प्रकाशक आचार्योंका प्रश्नवाचक अंगुलि-निर्देश अन्तरतरकी ओर रहता है और विज्ञानतत्त्वके आचार्योंका प्रश्न-चिह्न बहिर्जगत्के दृश्यमान पदार्थोंपर खुदा हुआ होता है। लेकिन दोनोंका उद्देश्य एक ही है। सत्य-तत्त्वकी खोजका लक्ष्य विज्ञान और धर्म दोनोंके सामने है। सर ओलीवर लॉज (Sir Oliver Lodge) ने ठीक ही लिखा है—

'The region of religion and the region of a completed science are one.' अर्थात् धर्मका क्षेत्र और पूर्ण विज्ञानका क्षेत्र एक ही है।

यदि मन बहिर्जगत्की गुत्थियोंके सुलझानेमें अटक गया तो वह विज्ञानके प्रासाद-प्राङ्गणमें विचरण करने लगता है और यदि वह अन्तर्जगत्के तत्त्व-निरीक्षणमें रम गया तो वह धर्मकी कुटीरमें प्रविष्ट हो जाता है। वास्तवमें धर्म और विज्ञानकी प्रेरणाशक्ति एक प्रकारकी है। विज्ञान और धर्मका उदय आश्चर्यमूलक जिज्ञासासे होता है। बिना विज्ञानके धर्म नहीं ठहर सकता और बिना धर्मके विज्ञान अधूरा है।

विरोध—उसका कारण

अब प्रश्न उठता है कि यदि धर्म और विज्ञानका लक्ष्य एक ही है तो फिर विरोधाभास कैसा ?' शुरूमें जब लोग कोई धर्मको और कोई विज्ञानको जीवनकी महत्त्वपूर्ण और प्रधान समस्या मानते हुए चले हैं, तब फिर जीवनसम्बन्धी समस्याओंमें विरोध और वैपरीत्यका आभास दृष्टिगोचर होना अनिवार्य है। कारण यह है कि मनुष्य अपूर्ण है और सत्य पथका पथिक होकर भी वह सत्यकी नित्यताके सर्वाङ्ग स्वरूपको नहीं, केवल आंशिक रूपको देख पाता है। इसलिये अपने-अपने सत्यके अधूरे मापदण्डको लेकर सत्यान्वेषणके पथिक एक दूसरेसे भिड़ जाया करते हैं। विज्ञानी लोग भौतिक जगत्‌की परिसीमाके बाहर नहीं निकलते। हमारे ज्ञानकी पूर्णता, हमारे सत्य-शोधनका अधूरापन, हमारी अनुदारता और प्रचारका हमारा उत्साह हमें अंधा बना देता है। इसीलिये आजतक हम विज्ञान और धर्मका एकीकरण नहीं कर पाये हैं।

धर्म और विज्ञानके इस विरोधका नतीजा यह निकलता है कि विज्ञानी धर्मके नामसे और धार्मिक विज्ञानके नामसे छनकते हैं। यह तो प्रकट ही है कि विज्ञान बुद्धिप्रधान और धर्म भावप्रधान है और जब बुद्धिप्रधान सिद्धान्त भावरहित हो जाता है, तब उसका रूप महानाशकारी हो जाता है। दूसरी ओर वैज्ञानिक विचारों और शोधित सत्य तत्त्वोंसे विरहित धर्मका हाल यह है कि वह अपनी प्रतिकर्तव्यतासे पराङ्मुख हो गया है। धर्म आजकल उकठ कुकाठ हो रहा है। परंतु यह धर्मका असली रूप नहीं है।

रूसके प्रसिद्ध विद्वान् और तपस्वी कौण्ट लियो टाल्स्टॉय (Count Leo Tolstoy) ने अपनी पुस्तक 'What is Religion ?' (धर्म क्या है ?) में लिखा है—

'धर्मका युग चला गया। विज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी बातपर विश्वास करना मूर्खता है। जिस किसी वस्तुकी हमको आवश्यकता है, वह सब विज्ञानसे प्राप्त हो जाती है। मनुष्यके जीवनका प्रदर्शक केवल विज्ञान ही होना चाहिये।' यह विचार या कथन उन वैज्ञानिकों या उन साधारण मनुष्योंका है, जिनको विज्ञानकी तो गन्ध भी नहीं लगी, परंतु जिनका वैज्ञानिकोंपर विश्वास है और जो वैज्ञानिकोंके स्वरमें स्वर मिलाकर कहते हैं कि धर्म एक अनावश्यक ढोंग है और हमारे जीवनका प्रदर्शक केवल विज्ञानको ही होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवनका प्रदर्शक किसीको भी न होना चाहिये; क्योंकि विज्ञानका स्वयं इतना ही उद्देश्य है कि उन सब वस्तुओंका अध्ययन करे, जो वर्तमान हैं। इसलिये विज्ञान कभी जीवनका पथ-प्रदर्शक हो ही नहीं सकता।

टालस्टॉय महाशयने अपनी पुस्तक 'धर्म क्या है ?' में एक विचित्र बात और दिखलायी है। वह यह कि जब कभी वैज्ञानिकों अथवा उसके अन्धविश्वासी अनुयायियोंने धर्मको बहिष्कृत करनेका यत्न किया तब वे धर्मको बहिष्कृत न कर सके किंतु एक नीच कोटिके धर्मके उपासक हो गये। इससे यह बात सिद्ध होती है कि वर्तमान कालमें पाश्चात्त्य देशोंमें धर्मको बहिष्कृत करनेका बहुत कुछ उद्योग होता रहा है।

फ्लिण्ट (Flint) ने अपनी 'आस्तिकता' नामकी पुस्तकमें लिखा है—

'वस्तुतः धर्म एक विशाल शक्ति है। सचमुच यह मानवी जीवन और मानवी इतिहासके समानान्तर चलता है।······ कला-कौशल, साहित्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र—सभीपर उनकी प्रत्येक अवस्थामें धर्मका प्रभाव देखा गया है।

लंदनके Browning Hall में सन् १९१४ में Science Week के अन्तर्गत 'धर्म और विज्ञानका सम्बन्ध' विषयका अवलोकन करके आजसे वर्षों पूर्व Sir Francis Bacon ने अपने निबन्ध 'Atheism' में इन शब्दोंमें निर्दिष्ट किया है—

'A little philosophy (or science) inclineth man's mind to Atheism, but depth in philosophy (or science) bringeth man's mind about to religion.' बेकनके इन शब्दोंमें एक सचाई है, जिसका समर्थन बड़े जोरदार शब्दोंमें कर सकते हैं। उपर्युक्त पंक्तियोंको दृष्टिगत रखते हुए हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि वास्तवमें धर्म और विज्ञानका कोई विरोध नहीं। हाँ, मानवीय ज्ञानकी अपरिपक्वावस्थामें धर्म और विज्ञानके बीच ३६ के ३ और ६ का सम्बन्ध दिखायी देता है। परंतु वास्तवमें दोनोंके एक दूसरे पूरक हैं।

किसी वस्तुको देखकर मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक रीतिसे दो प्रश्न उठते हैं— एक 'How?' और दूसरा 'Why?' अर्थात् यह वस्तु कैसे बनी और क्यों बनी ? इन्हीं दोनों प्रश्नों-के उत्तरमें धर्म और विज्ञानकी सीमा समाप्त हो जाती है और कहना पड़ता है—

Science deals with the How, not with the Why of things.

आधुनिक विद्वानोंके अनुसार तीन शब्दोंकी व्याख्या की गयी है—

1. Science is Systematized Knowledge.
2. Realized Science is Philosophy.
3. Realized Philosophy is Religion.

यही विज्ञान अपनी चरम स्थितिपर पहुँचकर धर्मके आगे सिर झुकाता है। अर्थात् जहाँ विज्ञान और दर्शनकी सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ धर्मका प्रारम्भ होता है और वह धर्म इस विज्ञानका विरोधी या नाशक नहीं, वल्कि वह है—

Crowning Stone of Science.

(२)

(लेखिका—कुमारी श्रीचपावती विद्यालंकृता, शास्त्री, साहित्यरत्न)

आजका युग हृदयशून्य तर्कप्रधान बुद्धिवादका वैज्ञानिक युग है। इसमें सभी कुछ कोरे तर्ककी ही कसौटीपर कसा जाता है, जिस कारण हम सत्यसे बहुत दूर भटक जाते हैं। व्याकरणकी रीतिसे वर्ण-व्यत्यय करनेपर तर्कसे कर्त शब्द बनता है, जिसका अर्थ काटना है। इसने मानवकी तरल-सरल सरस-सुखद सर्वभूतहित-भावनापर तीव्र कुठाराघात करके उसे मसल दिया है, जिसके परिणामस्वरूप मानव दानवसे भी बदतर हो गया है। नित्यप्रति होनेवाले गृह-युद्ध, राष्ट्र-विप्लव, राज्य-विस्तार-लोलुपता, स्थावर-जंगम जगत्में विक्षोभ इत्यादि विभीषिकाएँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अब इस बातकी नितान्त आवश्यकता है कि हम स्वस्थ हृदय और मस्तिष्कसे विज्ञान और धर्मपर सर्वाङ्गीण विचार करके तदनुसार आचरण करें और यह रत्नगर्भा वसुधा स्वर्ग बन जाय।

शरीर और आत्माके सम्बन्धके सदृश ही धर्म और विज्ञानका पारस्परिक सम्बन्ध है। मानवताका अभ्यन्तर अर्थात् आत्मा धर्म है, और बाह्य अर्थात् शरीर विज्ञान है। ये दोनों एक दूसरेके पूर्ण सहयोगी हैं। आत्मवान् शरीर श्रेय और प्रेयका साधक बनकर मानवको उसके श्रेष्ठ लक्ष्यपर पहुँचा देता है और आत्मारहित वही शरीर सड़-गलकर पूयभावको प्राप्त हुआ असंख्य रोगोंका जनक बनकर नरके लिये नारकीय यन्त्रणाका ही हेतु बनता है। सच्चित् अशरीरी निराकार आत्मा साधन (शरीर)-विहीन होकर पंगुवत् गतिहीन हुआ अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें असमर्थ हो जाता है। मानवताकी शरीर-यात्राके लिये धर्म नेत्रोंका और विज्ञान चरणोंका कार्य करता है। दोनों मिलकर ही इसे गन्तव्यतक पहुँचानेमें समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार धर्म और विज्ञानके इस मङ्गलमय समन्वयमें ही विश्वका परम हित निहित है।

धर्मसे आत्मशक्तिका विकास होता है, बन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द और अमृतत्व प्राप्त होता है और विज्ञानसे उपभोगके साधनोंकी तो प्राप्ति होती है पर शान्ति नहीं उपलब्ध होती। विकट यात्राको सरल बनानेके लिये धर्म और विज्ञान दोनों ही हमारे लिये परमावश्यक हैं।

मीमांसा करनेपर यही तथ्य प्रत्यक्ष होता है कि धर्म और विज्ञान प्रभुके अमर मङ्गलमय वरदान हैं, अतः ये किसीकी बपौती और किसी सीमामें भी सीमित नहीं हैं। ये दोनों ही अपरिच्छिन्न स्वरूपवाले, विश्वमात्रके हितकारी हैं। दोनों दो घनिष्ठ मित्रोंके सदृश दो तन और एक प्राण हैं। अतः इनमें विरोधिताका दर्शन हमारी दूषित बुद्धिका ही परिणाम है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि धर्म और विज्ञान एक दूसरेसे पृथक् रह ही नहीं सकते; क्योंकि सायंस—विज्ञान सृष्ट्युत्पत्तिके नियमोंका ज्ञापक है और धर्म उन नियमोंका नियन्ताके साथ सम्बन्ध दर्शाता है। अतः उनका सम्बन्ध-विच्छेद करना जान-बूझकर मृत्युका ही आलिङ्गन करना है।

सारांश यह है—

धर्म

१—मानवताकी आत्मा है।
२—मानवताका अनुभूतिप्रधान हृदय है।
३—आध्यात्मिक अवस्थाओंका परीक्षक और निरीक्षक है।
४—सृष्टि-उत्पत्तिका कारण बतलाता है।
५—सृष्टि-नियमोंका नियन्ताके साथ सम्बन्ध दिखलाता है।
६—आत्मसाक्षात्कारपरक है।
७—संस्कृति है।
८—विद्या है।
९—श्रेय है, निःश्रेयस है।
१०—अमृतत्वका प्रदाता है।

विज्ञान

१–मानवताका शरीर है।
२–तर्कपर अवलम्बित मानवताका मस्तिष्क है।
३–बाह्य पदार्थोंका परीक्षक और निरीक्षक है।
४–सृष्टि-उत्पत्तिकी रीतिका बोधक है।
५–सृष्टि-नियमोंका ज्ञापक है।
६–प्रत्यक्ष प्रमाणपर आधारित है।
७–सभ्यता है।
८–अविद्या है।
९–प्रेय है, अभ्युदय है।
१०–शरीर-यात्राके लिये भोग्यसामग्रीका दाता है, अभ्युदयका देनेवाला है।

दोनोंका उद्देश्य विश्वमें सौम्यता तथा शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना है, अनेकताको एकतामें खोजना और विश्वमें एकताको प्रकट करना है, आस्तिकतामें रमा जाना है और अन्तमें मानवको निर्द्वन्द्व सत्य-सुन्दर-शिवकी त्रिवेणीके अमृत-रससे सींचकर पूर्ण मङ्गलमयी जगन्माताके मधुर क्रोडका परमानन्द लाभ कराना है।*

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(४)

(लेखक—श्रीयुत बी० एस० जाडिया)

'विज्ञान प्रकृतिके रहस्योंका वह *सुसंगठित एवं व्यवस्थित* ज्ञान है, जिसे हम प्रयोगोंके आधारपर प्राप्त करते हैं।' यह है विज्ञानकी परिभाषा, जो वैज्ञानिकोंद्वारा दी गयी है। आजकलके अधिकांश नागरिक विज्ञानके भक्त हैं; पर उनका मन वैज्ञानिक हो, ऐसी बात नहीं है। कुछ थोड़े-से ही विज्ञानके सच्चे सेवी कहे जा सकते हैं; शेषको सत्यप्राप्तिकी कोई आकाङ्क्षा नहीं है।

वे विज्ञानके द्वारा केवल भौतिक सुख असीमित मात्रामें चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें धर्म और आध्यात्मिकताका कोई मूल्य नहीं है। फिर जो अर्धशिक्षित हैं, उनकी नजरमें वह मङ्गलकारी प्रेरक शक्ति है। वे सोचते हैं उसके पालनसे संसारमें सुख-शान्तिका वास रहेगा। एक ओर जहाँ कुछ लोग पुराने कुसंस्कारोंको ही धारण किये रहना चाहते हैं, वहाँ दूसरी ओर ये आधुनिक भारतीय, जिनकी दृष्टिमें धर्म, अध्यात्म, नैतिकता कुछ नहीं है, जिनके हृदयमें इनको कोई स्थान नहीं है, बेरोक-टोक वासनामय सुखभोग चाहते हैं और हो सके तो आध्यात्मिक और सामाजिक प्रतिष्ठानोंको भी नष्ट कर देना चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें संयम-नियम आदि पिछड़े लोगोंकी रूढ़ियाँ हैं। अमेरिकी तथा रूसी सभ्यता ही उनका आदर्श है। उनका कहना है कि यदि ईश्वरका अस्तित्व होता तो विज्ञान उसे कभीका सिद्ध कर देता। पर मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या वैज्ञानिक सर्वज्ञ हो गये हैं? अतः जबतक वे सर्वज्ञ नहीं हो जाते, तबतक उनके अनुयायियोंको यह कहनेका अधिकार नहीं है कि ईश्वर नहीं है। हाँ, वे यह अवश्य कह सकते हैं, हमें नहीं मालूम वह है या नहीं।

विज्ञान ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध कर सके या न कर सके, इससे ईश्वरके अस्तित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। न पाश्चात्त्य सभ्यता ही हमारा कदापि आदर्श है। हाँ, उनसे हमें सिर्फ विज्ञान ही लेना है और उसके भी उस भागका उपयोग करना है, जो हमारे लिये लाभदायक सिद्ध हो। हमें अपनेको पूर्णतः मशीनके गुलाम नहीं बना देना होगा। फिर अगर आधुनिक वैज्ञानिककी दृष्टिसे भी कोई देखे तो भी मनोविज्ञानके आधारपर यह कहा जा सकता है कि उनकी सामाजिक व्यवस्थामें बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। हाँ, उनमें कुछ अच्छी बातें अवश्य हैं, जो हममें, हमारी सभ्यतामें पहलेसे थीं; उनको हमें फिर अपना लेना होगा।

विज्ञान हो या धर्म, दोनोंका लक्ष्य सत्य-दर्शन, सत्य-प्राप्ति और उसको धारण करना है। आधुनिक कुव्यवस्थाका कारण हमारा धर्मग्रन्थ और दर्शनका अध्ययन छोड़ देना है, जो प्राचीन कालमें ब्राह्मण किया करते थे; क्योंकि बिना धर्मके दर्शन नास्तिकतामें और बिना दर्शनके धर्म अन्ध-विश्वासमें बदल जाता है। वेदोंमें यही बार-बार पूछा गया है कि किसके जान लेनेपर सब जाना जाता है। इसका उत्तर भी उन्होंने दिया है—हमें हंसके समान बनना चाहिये; क्योंकि इतना समय हमारे पास कहाँ है कि हम जगत्की एक-एक वस्तुका विश्लेषण करके सर्वज्ञ हो सकें; अतः सामान्यीकरणकी आवश्यकता है। भौतिक विज्ञान अभी सामान्यीकरण (Generalization) में लगा है, पर हमारे ऋषिगण

* यह लेख बहुत विस्तृत था। स्थानाभावसे लेखका कुछ ही अंश प्रकाशित किया जा रहा है। बहुत-से लेखोंमें ऐसा ही करना पड़ा है। लेखकगण कृपया क्षमा करें। —सम्पादक

बहुत पहले ही यह कर गये हैं। भौतिक विज्ञानमें कोई सिद्धान्त 'आज' प्रतिपादित और समर्थित होता है और 'कल' फेल हो जाता है। पहले आइन्स्टीन और न्यूटनने अरस्तू आदि पिछले पाश्चात्त्य दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंके सिद्धान्त गलत सिद्धकर नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। अब डा० नारलीकरने उनके सिद्धान्तोंकी भी कब्र खोद दी है और गुरुत्वाकर्षण और सृष्टिके सम्बन्धमें नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि पदार्थ शून्यसे कैसे उत्पन्न हुआ है। (How matter is created out of nothing) (यहाँ शून्यका मतलब ऐसे पदार्थसे है, जिसके गुण दृश्यमान पदार्थोंके गुणके समान नहीं हैं।) उनका यह निर्णय सत्यके निकटतम है और भारतीय दर्शनका समर्थन करता है।

धर्म वही है, जो हम सबको धारण किये है और उसे जान लेना या धारण कर लेना ही हमारा धर्म है। फिर धर्म या ईश्वर-प्राप्तिकी साधना भी साधारण अवस्थामें हमारे लिये धर्म होगी; क्योंकि वह ईश्वरके प्रति आकर्षण या प्रेमके कारण ईश्वरके लिये की जाती है। उस समय जो आकर्षण या प्रेम कार्य करता है या व्यक्त होता है, वह भी स्वयं ईश्वरस्वरूप है। इस तरह ईश्वर हमें कृपापूर्वक अपनी ओर ले जाता है। क्या इस जगत्‌में ऐसा कोई स्थान या पुरुष है, जो हमें सब दुःखोंसे मुक्त कर सके, जिससे हमें चिरकालतक शान्ति मिले? विज्ञान फौरन 'नहीं' कर देगा; पर धर्म इसका समाधान करेगा, वही हमें ज्योति देगा और हमें नयी दिशामें ले जाकर शाश्वत सुखकी ओर अग्रसर करायेगा। विज्ञान तर्क-वितर्कपर आधारित है, पर वह प्रत्यक्ष अनुभूतिपर। विज्ञानके सिद्धान्त करवट बदल सकते हैं पर धर्मके सिद्धान्त सृष्टिके आदिसे स्थिर हैं।

धर्म ही हमारे जीवनकी परिभाषा दे सका है। अतः वही हमारा आदर्श होगा। पर जो भौतिक विज्ञानको आदर्श मानते हैं, उन्हें सब रीति-रिवाज त्याग देने और अनन्त भौतिक सुखके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करना होगा; क्योंकि जितने भारतीय संस्कृतिके रीति-रिवाज हैं, उनकी व्याख्या अभीतक विज्ञानने नहीं की है। फिर अगर मेरे भाईका गला काटनेसे मेरी स्वार्थ-सिद्धि होती है तो मैं वैसा क्यों न करूँ? फिर त्याग, प्रेम और निःस्वार्थपरताकी क्या आवश्यकता है, इसका आधुनिक उपयोगितावादी और शान्तिवादी क्या उत्तर देंगे! वे कहेंगे ये अच्छी बातें हैं; पर इसके आगे वे कुछ न कह पायेंगे। पर हमारे पास इसका उत्तर है कि ये केवल सुन्दर ही नहीं, सत्यपर आधारित हैं। हम अगर एक पत्थर ऊपर फेंकें तो वह कुछ दूरतक ऊपर जायगा और फिर वापिस पृथिवीपर लौट आयेगा; इसी तरह हम भगवान्‌के यहाँसे आये हैं और फिर हमें उन्हींमें जाकर मिल जाना है। अन्यथा यदि ऐसा न हो तो फिर 'यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्……' ही हमें अपने जीवनमें चरितार्थ करना होगा।

'यह कहना कि बेरोक-टोक सुख-भोग ही धर्म है' निस्संदेह ईश्वर एवं मनुष्य-प्रकृतिके प्रति अपराध है। किसी भी जातिके प्राण कहीं-न-कहीं अवश्य सुरक्षित रहते हैं और तबतक वह जाति अजेय रहती है। भारतका प्राण 'धर्म' ही रहा है और जबतक धर्म भारतका प्राण रहेगा, तबतक कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता। स्वामी रामकृष्ण परमहंसने दिखा दिया था कि धर्म प्रत्यक्ष अनुभूतिपर आधारित है, तर्क-वितर्कपर नहीं।

हमारी शिक्षा अभावात्मक है, करीब-करीब बेजान है। हमारी शिक्षा और जीवनमें विज्ञानकी आवश्यकता है। हमें अभी भौतिक स्तरपर भी भारतको समृद्धिशाली बनाना है पर उसके उपयोगकी नीति हमारी होगी। हमें अपनी शिक्षा-व्यवस्थामें परिवर्तन करना होगा। शिक्षा ऐसे व्यक्तियोंद्वारा दिलानी होगी, जो स्वयं आदर्शस्वरूप हों। इसके साथ ही हमें आश्रम-धर्ममेंसे कम-से-कम ब्रह्मचर्य-आश्रमकी पुनःप्रतिष्ठा करनी होगी, अपनी बुराइयोंको निकाल देना होगा और नयी कुरीतियोंके लिये हमारी सभ्यतामें कोई स्थान न होगा। हमारी शिक्षा भी वेदान्तयुक्त विज्ञानकी होगी और फिर इसके ज्ञानी युवक भारतको समृद्ध बना, स्वर्णयुग लायेंगे एवं भारत फिर अपनी खोयी हुई महिमाको प्राप्त कर लेगा।

निर्लोभता-धर्मके आदर्श

(१)

तुलाधार

छोटा-सा गाँव था और उसकी एक झोपड़ीमें एक शूद्र-परिवार रहता था। वे दम्पति भगवद्भक्त, सत्यवादी, वैराग्यवान् तथा लोभहीन थे। पत्नीको अपने अभाव, अपने कष्टकी चिन्ता भले न हो, पतिको भी दो मुट्ठी अन्न ठिकानेसे न दे सके—इसका दुःख अवश्य था; किंतु वह साध्वी कुछ कहती न थी। उसके पति तुलाधार परम संतोषी थे। अन्न कट जानेपर खेतमें गिरे दाने चुन लाना और उसीसे निर्वाह करना उन्होंने अपनी वृत्ति बनायी थी।

तुलाधारके पास वस्त्रके नामपर फटी धोती और गमछेके स्थानपर एक फटा चिथड़ा था। वे जहाँ प्रतिदिन स्नान करते थे, वहाँ दो नवीन उत्तम वस्त्र एक दिन उन्हें रक्खे दिखायी दिये। दूसरेका वस्त्र भला, वे क्यों लेने लगे थे।

दूसरे दिन स्नान करने पहुँचे तो वहाँ एक डलिया रक्खी थी। उसमें गूलर-जैसे बड़े-बड़े स्वर्णके डले भरे थे। वहाँ कोई था नहीं। तुलाधारने सोचा—'धन तो अनर्थोंकी जड़ है। उससे अहंकार, भय, चिन्ता और संशय आदि दोष मनमें आ जाते हैं। लोभीको शान्ति मिल नहीं सकती। धन पापमें प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। मनुष्यका पतन करनेवाले धनसे विचारवान्को दूर रहना चाहिये।'

दूसरी ओर, तुलाधारकी परीक्षाके यत्न करनेवाले ये प्रभु ज्योतिषी बनकर उसके ग्राममें पहुँच गये। दूसरोंका भूत-भविष्य बतलाते देख तुलाधारकी पत्नी पहुँची तो बोले—'तेरा पति तो मूर्ख है। अनायास प्राप्त लक्ष्मीका तिरस्कार करता है। तब दरिद्रताके अतिरिक्त तुझे क्या मिलनेवाला है।'

पत्नी घर आयी। पतिसे पूछा। उन्होंने स्वर्ण दीखनेकी बात बता दी। पत्नी उन्हें लेकर ज्योतिषी पण्डितके पास गयी। ज्योतिषीजीने धनकी प्रशंसा प्रारम्भ की—'धनसे लोकमें सुख-सम्मान मिलता है। रोग-विपत्तिमें धन सहायक होता है। धनसे यज्ञ, पूजन, दान होता है। दुखी-दरिद्रोंकी सहायता धनसे होती है। अतः धन परलोकको भी बनानेवाला है।'

'हाथमें कीचड़ लगाकर फिर उसे धोना क्या बुद्धिमानी है?' तुलाधारने कहा। 'धन जिन्हें भाग्यसे मिला है, उनके लिये भी उसे दान, सेवा, त्यागमें ही लगाना उत्तम है। धनमें स्पर्धा, वैर, अविश्वास, भय आदि अनेक दोष हैं। मायाका प्रकटरूप धन है। वह आता है तो मन मतवाला हो जाता है। झूठ, छल, कपट, अनाचार, दर्प, हिंसा आदि अनेक दुर्गुण सूझने लगते हैं। यह तो दुर्गतिका हेतु है। मेरे लिये परस्त्री माताके समान है और परद्रव्य विषके समान है। मैं धन नहीं लूँगा।'

तुलाधार परीक्षामें ठीक उतरा। भगवान् तो उसे दर्शन देने आये ही थे। जो उनके द्वारा प्रदत्त सुख-दुःखमें संतुष्ट रहकर उनके भजनमें लगा है, वह तो उनका निज-जन है। तुलाधारको उन्होंने अपने स्वरूपका दर्शन कराके कृतार्थ किया।

—सु०

(२)
राँका-बाँका

बड़े विरक्त, अत्यन्त अपरिग्रही, भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करनेवाले भक्त थे राँकाजी। जैसे वे, वैसी उनकी पत्नी बाँका। दोनों प्रतिदिन जंगलमें जाकर सूखी लकड़ियाँ काटकर ले आते थे। उन्हें बेचनेपर जो कुछ मिलता, उसके द्वारा अतिथि-सत्कार भी करते और अपना जीवन-निर्वाह भी। लीलामय प्रभु कभी-कभी अपने लाड़ले भक्तोंकी परीक्षा उनकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये कराया करते हैं। उन सर्वसमर्थने स्वर्ण-मुहरोंसे भरी थैली वनके उस मार्गमें डाल दी, जिधर ये भक्त-दम्पति लकड़ी काटने जा रहे थे।

राँकाजी पत्नीसे कुछ आगे चल रहे थे। मन भगवान्‌के चिन्तनमें लगा था। पैरको ठोकर लगी तो देखा कि एक थैली स्वर्ण-मुहरोंसे भरी खुली पड़ी है। जल्दी-जल्दी उसे धूलिसे ढकने लगे। इतनेमें बाँकाजी पास आ गयीं। उन्होंने पूछा—'आप यह क्या कर रहे हैं?'

राँकाजीने उत्तर टाल देना चाहा, किंतु पत्नीके आग्रह करनेपर बोले—'मुहरोंसे भरी थैली पड़ी है। स्वर्ण देखकर तुम्हारा मन इन्हें लेनेको न करे, इसलिये इन्हें ढक रहा था।'

बाँकाजी हँस पड़ीं—'वाह, धूलिपर धूलि डालनेसे क्या लाभ। स्वर्ण और धूलिमें भेद ही क्या है। आप अकारण यह श्रम मत कीजिये।'

—सु०

(३)
नामदेव

परिसा भागवतको पारस मिल गया था। उनकी पत्नी नामदेवजीकी पत्नी राजाईकी सहेली थी। नामदेव तो निष्परिग्रह भक्त थे। अपनी सहेलीकी निर्धनता देखकर परिसा भागवतकी पत्नी एक दिन राजाईको अपने घर ले गयी। उसने उसे पारसका महत्त्व बतलाकर कहा—'किसीसे कहना मत, मैंने बहुत स्वर्ण बना लिया है। तुम इसे घर ले जाकर लोहेको स्पर्श कराओ, पर्याप्त स्वर्ण बनाकर मणि शीघ्र लौटा देना।'

राजाई मणि ले आयी। उसने थोड़ा-सा लोहा पारससे स्पर्श कराके स्वर्ण बनाया और उसे बेचकर भोजनका सामान ले आयी। नामदेव घर आये तो उत्तम व्यञ्जन बनते देखकर उन्होंने पत्नीसे पूछा—'ये पदार्थ कहाँसे आये'? पत्नीने सब बातें बता दीं। सुनकर बोले—'मणि मुझे दो! यह भोजन अपने कामका नहीं है। इसे भूखे लोगोंको दे देना।'

मणि लेकर नामदेव चले गये। उसे उन्होंने चन्द्रभागामें फेंक दिया। स्नान करके भजन करने बैठ गये। मणि लौटनेमें देर हुई तो परिसा भागवतकी पत्नी राजाईके पास आयी। राजाई चन्द्रभागा-तटपर पहुँची तो नामदेव बोले—'मैंने उसे चन्द्रभागाको दे दिया।'

राजाईसे समाचार पाकर परिसा भागवतकी पत्नी घर दौड़ी गयी। उससे मणिकी बात सुनकर परिसा भागवत क्रोधमें भरे नामदेवके पास पहुँचे। नामदेवजीने उनकी डाँट सुनकर कहा— 'आप भगवद्भक्त हैं। पारस तो लोभकी मूर्ति है, यह समझकर मैंने उसे चन्द्रभागामें फेंक दिया। भक्तको स्वर्णसे दूर रहना चाहिये। स्वर्णमें कलिका निवास है। इतनेपर भी आपको मणि लेनेका आग्रह है तो मणि लीजिये!'

जलमें उतरकर नामदेवने अञ्जलि भर कंकड़ निकाले। लोहेका स्पर्श करके परिसा भागवतने देख लिया कि वे सब पारस हैं। वे नामदेवके चरणोंपर गिर पड़े। नामदेवने सब कंकड़ चन्द्रभागामें फेंक दिये। —सु०

(४)
श्रीसनातन गोस्वामी

'तुम वृन्दावनमें श्रीसनातन गोस्वामीके पास जाओ। उनके समीप पारस है और वे तुम्हें दे देंगे।' स्वप्नमें भगवान् शंकरने दर्शन देकर यह आदेश किया।

गौड़ देशके वर्द्धवानका वह ब्राह्मण निर्धन था, दरिद्रताने दुखी किया था उसे। जहाँ हाथ फैलाये, वहीं तिरस्कार मिले। शास्त्रज्ञ, स्वाभिमानी ब्राह्मण—उसने संकल्प किया कि जिस थोड़े-से स्वर्णपर संसारके धनी फूले फिरते हैं, उस स्वर्णको वह मूल्यहीन करके धर देगा। ढेरियाँ लगा देगा स्वर्णकी। पारस प्राप्त करेगा वह।

पारस कहाँ मिलेगा? ढूँढनेसे तो वह मिलनेसे रहा। देगा कौन उसे? लक्ष्मीके किंकर देवता क्या पारस दे सकेंगे? ब्राह्मणने भगवान् आशुतोषकी शरण ग्रहण की। जो विश्वको विभूति देकर स्वयं भस्माङ्गराग लगाते हैं, वे कपाली ही कृपा करें तो पारस प्राप्त हो। कठिन व्रत, निरन्तर पञ्चाक्षर जप, दृढ़ रुद्रार्चन-निष्ठा—भगवान् त्रिलोचन कबतक संतुष्ट नहीं होते। ब्राह्मणकी बारह वर्षकी उत्कट तपस्या सफल हुई। भगवान् शिवने स्वप्नमें दर्शन दिया।

'सनातन गोस्वामीके पास पारस है! वे दे देंगे उस महान् रत्नको?' ब्राह्मणको मार्गका कष्ट प्रतीत ही नहीं हो रहा था। 'भगवान्ने कहा है तो अवश्य दे देंगे।' यही विश्वास उसे लिये जा रहा था।

'आपके पास पारस है?' वृन्दावनमें पूछनेपर वृक्षके नीचे रहनेवाले कृशकाय कन्था-कौपीनधारी, गुदड़ी रखनेवाले एक साधुके पास जानेको लोगोंने कहा तो वह बहुत निराश हुआ। 'ये कंगाल सनातन गोस्वामी!' ऐसे व्यक्तिके पास पारस होनेकी किसे आशा होगी। लेकिन यहाँतक आया था तो पूछ लेना उचित लगा।

'मेरे पास तो नहीं है। मैं उसका क्या करता!' सनातनजीने कह दिया। 'एक दिन श्रीयमुना-स्नानको जा रहा था तो पैरोंसे टकरा गया। मैंने उसे वहीं रेतसे ढक दिया, जिससे किसी दिन स्नान करके लौटते छू न जाय। उसे छूकर तो फिर स्नान करना पड़ता! तुम्हें चाहिये तो वहाँसे निकाल लो।'

स्थान बता दिया गया था। रेत हटानेपर पारस मिल भी गया। परीक्षा करनेके लिये लोहेका टुकड़ा पहलेसे साथ लाया था ब्राह्मण! वह पारससे स्पर्श करानेपर स्वर्ण हो गया। पारस ठीक मिल गया। ब्राह्मण लौट पड़ा; किंतु शीघ्र चित्तने कहा—'उन संतको तो यह प्राप्त ही था। वे कहते हैं कि यह छू जाय तो उन्हें स्नान करना पड़े।'

'आपको अवश्य इस पारससे अधिक मूल्यवान् वस्तु प्राप्त है!' ब्राह्मण लौट आया सनातनजीके पास।

'प्राप्त तो है!' सनातन अस्वीकार कैसे कर देते।

'मुझे वही प्रदान करनेकी कृपा करें!' ब्राह्मणने प्रार्थना की।
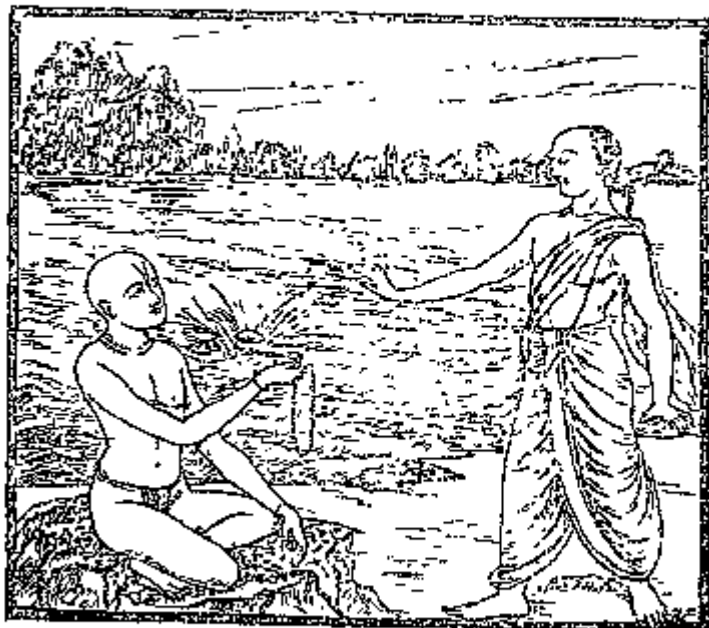
'उसकी प्राप्तिसे पूर्व पारसको यमुनामें फेंकना पड़ेगा ।' सनातनजीने कहा ।

'यह गया पारस !' ब्राह्मणने पूरी शक्तिसे उसे यमुनाके प्रवाहमें फेंक दिया । भगवान् शिवकी दीर्घकालीन उपासनासे उसका चित्त शुद्ध हो चुका था । संतके दर्शनने हृदयको निर्मल कर दिया था । अधिकारी बन गया था वह । सनातन गोस्वामीने उसे श्रीकृष्ण-नामकी दीक्षा दी—वह श्रीकृष्ण-नाम, जिसकी कृपाका कण कोटि-कोटि पारसका सृजन करता है । —सु०

(५)
संत तुकाराम

संत तुकारामजीकी भक्ति, वैराग्य तथा धर्म-परायणताकी कीर्ति सुनकर छत्रपति शिवाजीने उन्हें लानेके लिये अपने सेवक भेजे । साथमें हाथी, घोड़े, पालकी आदि भेजे कि संत जिस सवारीको पसंद करें, उसीपर बैठकर पधारें । सेवकोंने तुकारामजीके यहाँ आकर प्रार्थना की—'महाराज छत्रपति आपके दर्शनोंको उत्सुक हैं । चलनेकी कृपा करें ।'

तुकारामजी बोले—'मुझे चलना होगा तो ईश्वरके दिये दो पैर मेरे पास हैं । इन पशुओं अथवा पालकी-वाहकोंका भार क्यों बनूँगा मैं । लेकिन छत्रपतिको मेरी ओरसे निवेदन करना कि मैं उनकी मङ्गल-कामना करता हूँ । मैं यहाँ श्रीविट्ठलकी सेवामें लगा हूँ । वे मुझे यहीं रहने दें, यह मुझपर उनकी बड़ी कृपा होगी ।'

राजसेवक लौट गये । जिसने सुना, उसीने कहा—'तुका कितना गवाँर है । घर आये राज-वैभवको इसने ठुकरा दिया ! कोई भला, घर आयी लक्ष्मीको धक्का देता है ?'

छत्रपति महाराज शिवाजीको सेवकोंसे जब संदेश मिला, तब वे स्वयं तुकारामजीके दर्शन करने आये । संतके दर्शन करके छत्रपतिने उनको प्रणामके अनन्तर स्वर्णमुद्राओंसे भरी एक थैली निवेदन की । तुकारामजी बोले—'आप धर्मके रक्षक, गो-ब्राह्मणके प्रतिपालक होकर मुझे इस मायाके बन्धनमें क्यों डालते हैं ? यह तो भक्तिमें बाधा देनेवाली है । कृपा करके इस धनको लौटा ले जायँ !'

अत्यन्त दरिद्र घर था तुकारामजीका । पंढरपुरमें उनकी झोपड़ीमें वस्त्रके नामपर चिथड़े थे और भिक्षाद्वारा उनका निर्वाह होता था । लेकिन धनके प्रति उनकी ऐसी निःस्पृहता तथा भगवान्‌में दृढ़ भक्ति देखकर छत्रपति भावविभोर हो गये । फिर तो शिवाजी प्रायः तुकारामजीसे सत्सङ्ग करने आया करते थे । —सु०

(६)
अलोभ-धर्मका आदर्श श्रावस्ती-नरेश और ब्राह्मणकुमार

कौशाम्बीके राजपुरोहितका पुत्र था अभिरूप कपिल । आचार्य इन्द्रदत्तके पास अध्ययन करने श्रावस्ती आया था । आचार्यने उसके भोजन करनेकी व्यवस्था नगरसेठके यहाँ कर दी थी । लेकिन वहाँ वह भोजन परोसनेवाली सेविकाके रूपपर मुग्ध हो गया । दोनोंमें परिचय हुआ । वसन्तोत्सव आनेपर सेविकाने उससे उत्तम वस्त्र तथा आभूषण माँगे ।

अभिरूप कपिलके पास तो वहाँ कुछ था नहीं । सेविकाने ही बतलाया—'यहाँके नरेशका नियम है कि प्रातःकाल उन्हें जो सर्वप्रथम अभिवादन करता है, उसे दो माशे स्वर्ण प्रदान करते हैं ।'

महाराजको सर्वप्रथम प्रातःकालीन अभिवादन तो राजसदनमें रहनेवाले सेवक ही कर सकते हैं । अभिरूप कपिलने एक युक्ति सोची । वह राजसदनमें रात्रिमें ही प्रविष्ट हो गया, किंतु नरेशके शयन-कक्षमें प्रविष्ट होनेकी चेष्टा करते समय प्रहरियोंने पकड़ लिया उसे । चोर समझा गया वह । प्रातःकाल राजसभामें महाराजके सम्मुख उपस्थित किया गया ।

महाराजके पूछनेपर सब बातें उसने सच-सच कह दीं । उस ब्राह्मणकुमारके सत्य तथा भोलेपनपर संतुष्ट होकर राजाने कहा—'तुम जो चाहो सो माँगो । जो माँगोगे, तुम्हें मिलेगा ।'

'मैं सोचकर कल माँगूँगा ।' अभिरूप कपिलने

कह दिया। उसे एक दिनका समय मिल गया। घर लौटकर वह सोचने लगा—'दो माशे स्वर्ण तो बहुत कम है—सौ स्वर्णमुद्राएँ? लेकिन वे कितने दिन चलेंगी? सहस्र मुद्राएँ? नहीं, लक्ष मुद्राएँ?'

वह सोचता रहा, किंतु तृष्णा कहीं संतुष्ट होना जानती है? उसे आधा राज्य भी अपर्याप्त जान पड़ा। दूसरे दिन महाराजके सम्मुख उपस्थित होनेपर उसने कहा—'आप अपना पूरा राज्य मुझे दे दें।'

श्रावस्तीनरेश निःसंतान थे। किसी योग्य व्यक्तिको राज्य देकर वे वनमें तप करने जानेका विचार पिछले कई महीनोंसे कर रहे थे। यह विप्रकुमार उन्हें योग्य प्रतीत हुआ। अतः उसकी माँग सुनकर वे प्रसन्न होकर बोले—'द्विजपुत्र! तुमने मेरा उद्धार कर दिया। तृष्णारूपी सर्पिणीके पाशसे मैं सहज छूट गया। कामनाओंका अर्थात् कूप भरते-भरते मेरा, तो जीवन ही समाप्त हो चला था। विषयोंकी तृष्णारूपी दलदलसे प्राणी निकल सके, यही उसका सौभाग्य है। तुमने मुझे ऐसा अवसर दिया, इसका मैं आभार मानता हूँ। यह सिंहासन तुम स्वीकार करो।'

अभिरूप कपिल चौंक गया। उसने उसी समय निश्चय करके कहा—'महाराज! कृपा तो आपने मुझपर की। तृष्णा-सर्पिणीने तो मुझे बाँध ही लिया था। विषय-तृष्णाके दलदलमें अब मैं नहीं पड़ूँगा। मुझे न राज्य चाहिये, न दो माशा स्वर्ण और न स्त्री।'

वह वहाँसे चला तो बहुत प्रसन्न, बहुत निर्द्वन्द्व था। —सु०

धन अनर्थ तथा दुःखका मूल

अर्थवन्तं नरं नित्यं पञ्चाभिघ्नन्ति शत्रवः। राजा चोरश्च दायादा भूतानि क्षय एव च।

अर्थमेवमनर्थस्य मूलमित्यवधारय।

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां तु रक्षणे। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

धनवान् मनुष्यपर सदा पाँच शत्रु चोट करते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी भाई-बन्धु, अन्यान्य प्राणी तथा क्षय। प्रिये! इस प्रकार तुम अर्थको अनर्थका मूल समझो।

धनके उपार्जनमें दुःख होता है, उपार्जन किये हुए धनकी रक्षामें दुःख होता है, धनके नाशमें और व्ययमें भी दुःख होता है, इस प्रकार दुःखके भाजन बने हुए धनको धिक्कार है।

गौका धार्मिक और आर्थिक महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)

जिस प्रकार भारतवर्ष धर्मप्राण देश है, उसी तरह यह कृषिप्रधान भी है। यहाँ केवल गौ ही एक ऐसा प्राणी है, जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी प्राप्त होते हैं। हिंदुओंके जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त जितने भी संस्कार हैं, सब धर्मसे ओतप्रोत हैं। गौका सम्बन्ध हमारे सभी कार्योंसे जुड़ा हुआ है। हिंदूके धार्मिक ग्रन्थोंमें जहाँ गौको 'सर्वदेवमये देवि' कहा गया है, वहाँ आर्थिक दृष्टिसे भी इसे 'अन्नमेवपरं गावः' माना जाता है। जिस अवसरपर धार्मिक हिंदू अपने पितरोंका श्राद्ध करता है, उस अवसरपर गोग्रास देनेके समय यह अवश्य करके उच्चारण करता है—

> सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
> प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

ऊपरकी इन दोनों पंक्तियोंमें जितने विशेषण गौके लिये आये हैं, उतने किसीके लिये नहीं कहे गये हैं।

गौकी पवित्रता तो इसीसे जानी जाती है कि जितनी भी भारतीय पुनीत नदियाँ हैं, सब इसके मूत्रमें निवास करती हैं।' 'मूत्रे गङ्गादयो नद्यः' आर्थिक पहलूसे देखा जाय तो गोमूत्र उदर, मुख, नेत्र और कर्ण आदि रोगोंकी एक मुख्य औषध है। सबसे विलक्षणता इसमें यह है कि कैसा भी विष क्यों न हो, इसमें तीन दिनोंतक पड़े रहनेसे शुद्ध हो जाता है।

> गोमूत्रे त्रिदिनं स्थाप्य विषं तेन विशुध्यति।

हिंदुओंके यहाँ जितने भी कार्य होते हैं, उनमें सबसे पहले गृहकी शुद्धि गोमयके लेपनसे होती है। गोबरमें लक्ष्मीका निवास होता है। प्रमाण मिलता है—

> लक्ष्मीश्च गोमये नित्यं पवित्रा सर्वमङ्गला।
> गोमयालेपनं तस्मात् कर्तव्यं पाण्डुनन्दन॥

गोबरमें अनेकों प्रकारके गुण हैं। आज योरोपीय विज्ञानवेत्ता भी मानते हैं कि गोबरमें प्लेग और हैजेके कृमि मारनेकी विचित्र शक्ति है। भूमिकी उर्वराशक्तिकी वृद्धिके लिये गोबर एक बहुत उपयोगी वस्तु है। इससे बढ़कर दूसरी खाद नहीं होती। खलिहानमें जिस समय अन्नकी राशि रक्खी जाती है, आज भी गोबरका गोला बनाकर किसान उसमें रखते हैं। कितने ऐसे व्रत हैं, जिनमें गोमूत्र और गोबरका प्राशन किया जाता है। कार्तिकमें तो गोवर्धन बनाते ही हैं। गणेशजीकी गोबरका गोला बनाकर उसमें उपासना की जाती है।

स्पष्टरूपसे पढ़नेको यह मिलता है कि जिस समय नन्दिग्राममें भगवान् श्रीरामजीके वनगमनसे लौट आनेकी प्रत्याशामें श्रीभरतजी थे, उस समयका इनका आहार गोमूत्रमें पके हुए यवका दलिया था। मुझे इस बातका भी पता है कि गोबरसे निकले हुए गेहूँ और जौके आटेकी रोटी खानेसे बाँझ स्त्री भी गर्भवती हो जाती है।

श्रीमद्भागवतपुराणके पढ़नेवाले जानते हैं कि जिस समय पूतना अपने स्तनोंमें विष लगाकर भगवान् बालकृष्णको अपना दुग्ध पिलानेकी चेष्टामें थी, उस समय भगवान्ने उसके स्तनमें मुख लगाकर पूतनाका प्राण हरण कर लिया। पूतना प्राणपीड़ासे पीड़ित होकर गोकुलके गोष्ठमें जा गिरी। राक्षसीका चीत्कार सुन व्रजाङ्गनाएँ वहाँ दौड़कर आयीं और पूतनाके वक्षःस्थलपर खेलते हुए बालकृष्णको गोदमें उठा लिया। माता यशोदाने इनके चारों ओर गोपुच्छ घुमाया और गोमूत्रसे स्नान कराया, गोरजका सब अङ्गोंमें मर्दन किया तथा समस्त शरीरमें गोबर लगाकर भगवान् केशव आदिके द्वादश नामोंसे इनकी रक्षा की—

> गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम्।
> रक्षां चक्रुश्च शकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः॥
>
> (श्रीमद्भागवत १० । ६ । २०)

भारतीयोंमें सदासे यज्ञ करनेकी परम्परा रही। ऋषियोंद्वारा यज्ञका सम्पादन तो होता ही था, क्षत्रिय राजा भी अपनी-अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये यज्ञ करते थे। ब्राह्मण और गौ एक कुलके माने जाते हैं। ब्राह्मण मन्त्र धारण करता है और गौ हवि। यज्ञमें जो घृत छोड़ा जाता है, वह गौका ही होता है।

> ब्राह्मणश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधाकृतम्।
> एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरन्यत्र तिष्ठति॥

परलोक चली गयीं। उत्तरप्रदेश तथा राजस्थानमें तो कई सतियाँ बिना अग्निके ही अपने शरीरसे दिव्याग्नि प्रकट करके सती हुई हैं। चित्तौरगढ़की पद्मिनी आदिके ऐतिहासिक सतीत्वसे कोई समझदार व्यक्ति आँख नहीं मूँद सकता। नास्तिक जड़वादी सिवा अनर्गल प्रलापके इन बातोंका क्या उत्तर दे सकते हैं? स्पष्ट है कि जिन्हें धर्म, सभ्यता, संस्कृति और पातिव्रत्य मान्य हैं, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके लिये आज-कलके प्रेमोत्तरविवाह (लव मैरेज) इत्यादि ये सुधार तथा जड़वादियोंकी नास्तिकता धर्म एवं मानवताके शत्रु ही हैं।

स्त्री सर्वदा ही लज्जाशील होती है, वह कभी अभियोगिनी नहीं होती। पुरुष ही स्वैरी होकर स्त्रीको स्वैरिणी बनाता है। जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ स्त्री भी स्वैरिणी नहीं हो सकती। स्त्री पुरुषकी हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है, आत्मा है, सब कुछ है। उसके हिस्से एवं अधिकारकी बात जड़वादी नास्तिकोंके द्वारा ही उठायी गयी है, उठायी जाती है। स्त्रीको पुरुषके बराबर बनानेका प्रयत्न करना उसका अपमान करना है, उसको हजारगुना नीचे उतारना है। विवाह करके परिवार-पालन करनेके उदात्त कर्तव्यको झगड़ा या झंझट समझनेकी प्रवृत्ति जड़वादी उच्छृङ्खल-पंथियोंकी ही प्रेरणा है। स्त्री और पुरुष—सभी यदि नौकर-नौकरानी बनेंगे, तो उनकी संतानें भी अवश्य ही नौकर-मनोवृत्तिकी ही बनेंगी। माताका दूध न पाकर, जननीका लाड़-प्यार, लालन-पालन न पाकर, डिब्बोंके दूध पीनेवाले बच्चे निम्न श्रेणीके ही होंगे। माता-पिताका भी बच्चोंमें कोई प्रेम न होगा, बच्चोंका भी माँ-बापके प्रति कुछ आकर्षण-अनुराग न होगा। पति-पत्नीका भी परस्पर स्थायी प्रेम न होनेसे किसी भी सम्बन्धकी स्थिरता न होगी। सभी सम्बन्ध वासना-तृप्ति और पैसेके कारण होंगे। विवाह और तलाककी अबाध परम्परा चलती ही रहेगी। इसको आज-कलकी सुधारणा कहें या कुधारणा, यह नहीं समझमें आता!

हमलोगोंका सुख और कल्याण हमारे कर्मोंपर निर्भर है। हमारी भारतीय वैदिक संस्कृतिका उद्देश्य भी लोक-कल्याण और परोपकार ही है। अतएव धर्मतः गृहस्थाश्रमका मुख्य कर्तव्य है—

यत्कृत्वानृण्यमाप्नोति दैवात् पित्र्याच्च मानुषात्।

—देवऋण, पितृऋण, तथा मनुष्यऋण—इन तीनों ही ऋणोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना। ईश्वरसे हमलोगोंकी यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे हमको सद्बुद्धि दें, जिससे हम अच्छे कामोंमें लगें; क्योंकि बिना सत्कर्मके हमारी कोई भी उन्नति नहीं हो सकती। भगवान् सन्मति दें।

भगवत्कृपाप्राप्त गृहस्थ

व्रत-उपवास-नियम-तप-तत्पर, दान शक्तिभर, वत्सल-भृत्य।
दया, विनय, परनारी-वर्जन, स्व-स्त्री-रति, सब सुंदर कृत्य॥
सदाचार-शुचि-शील-परायण, सरल, सत्यवादी, मतिमान।
मातृ-पितृ-सेवक श्रद्धायुत शुद्ध-धर्मरत गत-अभिमान॥
अर्थ न्यायसे अर्जन करता, रखता नित प्रभुमें विश्वास।
यथासाध्य सुख देता सबको, देता नहीं किसीको त्रास॥
आदर करता सब कुटुम्बका पालन, सबका करता मान।
उस गृहस्थपर कृपा-सुधा बरसाते संतत श्रीभगवान॥

भारतीय गृहस्थीमें धर्मपालन

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०, साहित्यरत्न)

भारतीय संस्कृति और सभ्यताका आधार यहाँका पवित्र और मंगलमय जीवन ही है। भारतीय आचार्योंने जीवन-संचालनके लिये उसे चार आश्रमोंमें विभाजित कर दिया था—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थ, (४) संन्यास। चार आश्रमोंमें सबसे श्रेष्ठ और उपयोगी आश्रम गृहस्थाश्रम ही माना जाता है। आश्रमोंके पालन-पोषणका भार गृहस्थों (दूसरे आश्रम) के ऊपर ही निर्भर रहता है। मनुजीने कहा है—जैसे समस्त जीव वायुका सहारा लेकर जीते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमके सहारे अपना जीवन चलाते हैं। आधुनिक युगमें जिस तरह किसान-वर्ग अन्न उत्पादन करके समस्त वर्गोंके जीवनको चला रहा है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्रमें भी गृहस्थ समस्त जीवोंका पालन-पोषण करता है। मनुने पुनः कहा है—तीनों आश्रमवाले गृहस्थोंके द्वारा नित्य ज्ञान और अन्न आदिसे प्रतिपालित होते हैं। एतदर्थ 'गृहस्थाश्रम' ही सबसे बड़ा आश्रम है।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
(मनु० ३। ७८)

मनुने गृहस्थोंके लिये अनेकों धर्मों एवं कर्मोंका विश्लेषण किया है। आधुनिक युगमें उन कर्मोंकी सूची देख एवं सुनकर कुछ लोग नाक-भौंह सिकोड़ सकते हैं। कर्तव्यका पालन कठोर हो सकता है। किंतु जो अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता, उसका जन्म भी व्यर्थ ही है। गृहस्थाश्रमकी जो रूप-रेखा पाश्चात्त्य देशोंमें है, उसपर यहाँ कुछ नहीं लिखा जा सकता। माता-पिता जीवित हैं, लड़का विवाह होते ही अपनी स्त्रीको लेकर पृथक् अपनी दुनिया बसा लेता है। यह प्रथा अब भारतमें भी जोरोंसे फैलती जा रही है। हमारे यहाँ तो नित्य वेदपाठसे ऋषियोंके, होमसे देवोंके, श्राद्धसे पितरोंके, अन्नसे मानवोंके और बलि-कर्मसे भूतोंके विधिपूर्वक पूजनका विधान है। क्या पाश्चात्त्य देशोंका अनुकरण करनेवालों, नयी सभ्यतामें बहनेवालों, माता-पिताको छोड़कर अपनी स्त्रीके साथ अलग संसार बसानेवालोंके लिये यह सम्भव है? कदापि नहीं। भारतके एक सुन्दर सुव्यवस्थित गृहस्थाश्रमकी रूपरेखा देखिये—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

घरमें नित्य आनन्द-मङ्गल होता रहे, बच्चे सभी पढ़े-लिखे एवं सभ्य हों, स्त्री मीठी बोली बोलनेवाली हो, सच्चे मित्र हों, उत्तम कमाईसे आया हुआ धन हो और अपनी ही भार्यासे प्रेम हो, नौकर सब आज्ञापालक हों और प्रतिदिन भगवान् शंकर और अतिथियोंका पूजन तथा सत्कार होता हो तो ऐसा गृहस्थाश्रम स्वर्गके समान है। इसके विपरीत, जिस घरके बच्चे सदा रोते रहते हों, घरमें सर्वदा पानी भरा रहता हो, आँगनमें सर्वदा कीचड़ भरा रहता हो, खाटोंमें खटमल भरे हों और भोजन रूखा मिलता हो, घरमें धुआँ भरा रहता हो, स्त्री कर्कशा हो, घरका स्वामी सर्वदा क्रोधावेशमें रहता हो तथा जाड़ेमें ठंडे जलसे ही स्नान करना पड़ता हो, तो ऐसा गृहस्थाश्रम नरकके समान है। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्मका तभी विधिवत् पालन हो सकता है, जब—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

'न्यायसे उपार्जित धन हो और सर्वदा तत्त्वज्ञानकी चर्चा होती हो तथा अतिथिदेवका सम्मान होता हो, शास्त्रकी चर्चा होती हो और घरके सब लोग सत्यवादी हों, तो ऐसे गृहस्थाश्रमके लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं।'

एक कविने लिखा है—

जिस घरमें दधिमन्थनका शब्द न सुन पड़े और जिस गृहस्थके घरमें छोटे बच्चोंका अभाव हो और जिस गृहस्थके घरमें गुरुजनोंकी पूजा न होती हो, वह घर वनके समान है—

यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो
यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि।
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा
तानि किं बत गृहाणि वनानि॥

'जिस गृहस्थके घर ब्राह्मणोंके चरणोंके धोनेसे कीचड़ नहीं हुआ, अर्थात् जिस गृहस्थके घरमें निमन्त्रित ब्राह्मणोंको बुलाकर उनके पाँव नहीं धोये गये और जिस घरमें वेदों और शास्त्रोंका उच्चारण नहीं हुआ, जिस गृहस्थके घरमें स्वाहा (हवन), स्वधा (तर्पण) आदि पवित्र कार्य

न हुए, वह घर घर नहीं, श्मशान है।' इसके समर्थनमें पुनः लिखा गया है कि 'वह गृहस्थका घर स्वर्गके तुल्य है, जिसमें ब्राह्मणोंके चरण-धोवनसे कीचड़ हो गया है, जिस गृहस्थके घरमें वेदों और शास्त्रोंका शब्द गूँजता रहता है और हवन तथा तर्पणसे, स्वाहा और स्वधाके मन्त्र गूँजते रहते हैं।' भारतीय गृहस्थाश्रमसे पाश्चात्त्य गृहस्थाश्रममें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि भारतीय गृहस्थाश्रममें धर्मकी प्रधानता रहती है। ईश्वरकी पूजा, अतिथिकी पूजाकी प्रधानतासे भारतीय गृहस्थ-आश्रमकी प्रधानता सर्वमान्य है। भारतीय गृहस्थ-आश्रममें १३ वस्तुओंकी प्रधानता और आवश्यकता मानी गयी है—१ मानवता, २ श्रेष्ठ वंशमें जन्म, ३ विभव, ४ दीर्घायु, ५ आरोग्य, ६ सच्चे मित्र, ७ सुन्दर पुत्र, ८ साध्वी स्त्री, ९ ईश्वरमें अगाध भक्ति, १० विद्वत्ता, ११ सुजनता, १२ इन्द्रियोंपर नियन्त्रण, १३ सत्पात्रको दान—ये तेरह वस्तुएँ जिस गृहस्थके पास हैं, वह सफल गृहस्थ है। समस्त धर्मावलम्बियोंके यहाँ गृहस्थाश्रम है। सबके नियम-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न हैं। हिंदुओंके गृहस्थाश्रम-धर्मके पालनमें पाँच स्थानोंके पापोंसे मुक्त होनेके लिये पाँच प्रकारकी पूजाएँ होती हैं—१ चूल्हा, २ चक्की, ३ झाड़ू, ४ ओखली और ५ जलके घड़ोंसे हिंसाकी सम्भावना रहती है, अतः ऋषि, पितर, देव, भूत और अतिथियोंकी पूजा करके इनसे छुटकारा कराया जाता है। वास्तवमें यह कर्म गृहस्थाश्रमको स्वर्ग बनानेके लिये ही निर्धारित हुए और यही गृहस्थ-धर्म है। वेद-पाठद्वारा ऋषियोंकी, होमसे देवोंकी, श्राद्धसे पितरोंकी, अन्नसे अतिथियोंकी और बलिकर्मसे भूतोंकी विधिवत् पूजा करें। गृहस्थ अपने धर्मका पालन करके अन्तमें स्वर्गका अधिकारी बनता है। भारतीय संस्कृतिमें अतिथिकी पूजाका बहुत महत्त्व है। जिसके घरसे अतिथि बिना सत्कार वापस चला जाता है, उसका सत्कर्म तुरंत नष्ट हो जाता है। यह है भारतीय संस्कृति-सभ्यताका प्रतीक भारतीय गृहस्थाश्रम-धर्म।

धर्मो रक्षति रक्षितः

(रचयिता—पं० श्रीनन्दकिशोरजी झा)

'धर्म हत नरको करता निहत, सुरक्षित रक्षा करता वही।'
सृष्टिके आदि कालमें सत्य बात यह मनुने है ध्रुव कही॥
विदित गीतामें भी भगवान् कृष्णके प्रणमय हैं उद्गार—
'धर्मकी रक्षाके ही लिये सदा मैं लेता हूँ अवतार।'
बनाकर वसु-भू (१८) विपुल पुराण, शक्तिभर करके प्रबल प्रयास।
उठाकर अपने दोनों हाथ निरन्तर चिल्लाते वर व्यास॥
'धर्मसे ही होता है पूर्ण अर्थ अथवा जगके सब काम।
खेद है, तब भी जन-समुदाय न होता उसमें निरत निकाम॥'
अशन, निद्रा, भय, मैथुन आदि सभी जीवोंके एक समान।
नरोंमें है विशेषता यही—इन्हें है तारक धर्म-ज्ञान॥
धर्मके बलपर ही संसार वस्तुतः टिका हुआ है नित्य।
अतः संसृतिमें सज्जन सभी धर्ममय ही करते नित कृत्य॥
आजतक आदिकालसे कहीं हुए हैं जो विशिष्ट वर व्यक्ति।
निरन्तर रही धर्ममें स्वतः प्राणपणसे उनकी अनुरक्ति॥
भूल भय-सुख-दुख-विभव सदैव उन्होंने किया धर्मका त्राण।
नहीं कर सके विवश हैं अभी, तभी सुखसे त्यागे निज प्राण॥
भरा है इसी विषयसे विशद सकल साहित्य, विश्व-इतिहास।
अपढ़ भी समझ सकेंगे इसे तनिक भी करके बुद्धि-विकास॥

वस्तुतः वही चातुरी सही, यतः हो उभय लोककी सिद्धि।
न कथमपि सन्मानवको काम्य विनश्वर जगकी सिर्फ समृद्धि॥
स्वर्ग भी हमें नहीं है इष्ट किसीका भी कर कुछ आघात।
अन्यके लेकर प्राण स्वसौख्य-साधना, कैसी कुत्सित बात॥
भले कैसा भी हो दुर्भिक्ष विनाशी, निकलें चाहे प्राण।
किंतु जीतेजी नित हम करें कीट-कुञ्जर प्राणीके त्राण॥
हमारे लिये ही न वे रहें, जगत्‌में हम भी रहें तदर्थ।
ब्रह्ममय जीव न यदि लख सकें, मनुज-जीवन तो यह है व्यर्थ॥
यही है आर्य-धर्म-वैशिष्ट्य, दूसरी जगह न जिसका नाम।
स्वहित परमार्थ, परार्थ सदैव सोचना सर्वश्रेष्ठ नर-काम॥

× × ×

राज्यसत्ता भी बनी कदापि धर्ममय जन-रक्षाके लिये।
नृपतियोंने भी पूर्ण प्रमाण यहाँ इसके सदैव हैं दिये॥
सुधी सम्पूर्णानन्द-समान आज भी बतलाते यह मर्म—
'न समुचित हितकर है यह कभी किसीके लिये त्यागना धर्म॥'
एक जन तज दे चाहे धर्म, दुःख भोगेगा उसका वही।
राज्यसत्ता यदि तजे स्वधर्म, कहाँकी, वह कैसी फिर रही?
देशके कोटि-कोटि सब व्यक्ति सहेंगे इससे दुःख दुरन्त।
'धर्म हत करता सबका नाश'—यही सब शास्त्रोंका सिद्धान्त॥
रोम-साम्राज्य कहाँ वह गया! ज़ार भी स्वयं हुआ जल छार।
उग्र गजनवी और तैमूरलंगका हुआ शीघ्र संहार॥
वीर हिटलर भी हुआ विनष्ट! लगी क्या उसमें कुछ भी देर?
नहीं सह सकते कभी समर्थ स्वयं प्रभु जन-पीड़क-अंधेर॥
विजेताओंसे पीड़ित-दलित धर्मका करता आया त्राण।
स्वशासनमें वह भारतवर्ष 'धर्मनिरपेक्ष हुआ निष्प्राण!'
किसीके धर्मोंपर आघात कभी करना है नहीं अभीष्ट।
किंतु निज धर्मभावसे विरत स्वयं रहना है महा अनिष्ट॥
कहा था राष्ट्र-पिताने स्पष्ट—'हमारा तन हो सकता खण्ड।
किंतु कथमपि यह सम्भव नहीं कि भारतके होवें दो खण्ड॥'
धर्मके कारण ही हो गया अन्ततः वह प्रत्यक्ष विभक्त।
तदपि हम अहह! बने हैं आज 'धर्म-निरपेक्ष' स्वतन्त्र अशक्त॥
करोंमें जिनके शासन-सूत्र, सर्वथा वे सुयोग्य विद्वान्।
सर्वदा देकर समुचित ध्यान धर्ममय सोचें जन-कल्याण॥
धर्मके बिना न भ्रष्टाचार, घूस, चोरी हो सकती नष्ट।
तथा इनके रहते न समाज कभी सुधरेगा! है यह स्पष्ट॥

चारों वर्णोंके धर्म

(लेखक—ब्रह्मलीन परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्री १००८ श्रीस्वामी योगेश्वरानन्दजी सरस्वती)

[प्रेषक—श्रीसूरजमलजी रुंगटा]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चारों वर्णोंके लक्षणोंमें उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ—तीन-तीन विभाग हैं। यहाँ संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

ब्राह्मण-धर्म

ब्राह्मणोंमें उत्तम वे हैं, जो ब्रह्मर्षि, ब्रह्मवेत्ता हैं—जैसे याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ इत्यादि।

मध्यम वे हैं, जो सदाचारी हैं पर ब्रह्मज्ञानसे रहित हैं, केवल वेद-शास्त्रोंके पाण्डित्यसे सम्पन्न हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो अपने मुख्य विशेष कर्तव्यका त्याग करके केवल ब्राह्मणका बहिरङ्ग चिह्नमात्र धारणकर उदर-पोषणके लिये ही अहर्निश सेवा-परायण रहते हैं।

क्षत्रिय-धर्म

क्षत्रियवर्णमें उत्तम वे हैं, जो ईश्वरभावसे सम्पन्न होकर जगत्‌के कल्याणकारी सकल गुणोंसे युक्त, समस्त-कला-कौशलमें परिपूर्ण, अपनी प्रजाका परिपालन करनेमें परम दयालु और वेद-शास्त्रादिके वास्तविक रहस्यको सम्यक् जाननेवाले पूर्ण नीतिज्ञ हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे ही सद्गुणविशिष्ट सार्वभौम राजाको कहा है—

नराणां च नराधिपम्।

क्षत्रियोंमें मध्यम वे हैं, जो उपर्युक्त गुणज्ञ सार्वभौमके आज्ञाधीन रहकर अपनी मर्यादाका यथोचित पालन करते हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो केवल नामधारी क्षत्रियमात्र हैं।

वैश्य-धर्म

वैश्योंमें उत्तम वे हैं, जो कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य-धर्मोंका, केवल ईश्वरकी आज्ञा समझकर पालन करते हैं और फलकी कामना किञ्चिदपि नहीं रखते। अर्थात् जो ईश्वरार्पण-बुद्धिसे और अपने स्वधर्मका केवल कर्तव्यताकी निष्कामबुद्धिसे परिपालन करते हैं।

मध्यम वे हैं, जो धर्मध्वजीके अभिमानपूर्वक, पूर्वोक्त अपने वर्णधर्मका अपनी ख्याति और मानकी इच्छा रखकर पालन करते हैं। ये लौकिक-पारलौकिक उभय कामनासे संयुक्त हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो केवल द्रव्यके उपार्जनार्थ अपनी जाति-नीति, समस्त वर्णाश्रमके विशेष धर्मोंको त्यागकर झूठ और छल करके अन्यायपूर्वक निरन्तर द्रव्योपार्जनमें ही तत्पर रहते हैं।

शूद्र-धर्म

शूद्रोंमें उत्तम वे हैं, जो विदुरादिके सदृश शुद्ध होकर आस्तिकतामें तत्पर रहकर, अपनेसे ऊँची जातिवालोंकी यथोचित मान-प्रतिष्ठा-सेवा करनेमें बराबर श्रद्धा, भक्ति और उत्साह रखते हैं।

मध्यम वे हैं, जो स्वार्थके लिये ही अपनेसे ऊँची श्रेणी-वालोंसे प्रयोजन रखते हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो मर्यादा-तिरस्कारपूर्वक अपने प्रतापके अभिमानसे नीतिमार्गका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारी हो रहते हैं और अपने वर्णाश्रमधर्मसे सर्वदा-सर्वथा विमुख—मनमुखी रहते हैं।

चारों वर्णोंका समान महत्त्व

मुख, बाहू, जंघा, चरण अपने अपने स्थान। एक देहके अंग हैं, निज निज कार्य प्रधान॥
क्षेत्र-कार्य सबके पृथक्, किंतु महत्त्व समान। सबकी आवश्यकता सदा, सबके कार्य महान्॥
त्यों ही एक समाजके चार अंग सुख-खान। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुचि शूद्र धर्म-मतिमान॥
ज्ञानार्जन कर विप्र नित वितरण करता ज्ञान। क्षत्रिय रक्षा-रत सतत शूरवीर बलवान॥
वैश्य न्यायसे धन कमा, देता सबको दान। शूद्र नित्य श्रमदान कर, करता अति कल्याण॥
एक समाज-शरीर-हित चारों हैं वरदान। प्रभुसे चारों ही बने, चारोंमें भगवान॥

ब्राह्मणधर्म एवं उसके आदर्श

(लेखक—पं० श्रीश्रीधरजी द्विवेदी, व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री, 'विशारद')

सृष्टि-रचना-चतुर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माने पुत्रोंको जन्म देकर ब्राह्मणधर्मका उपदेश दिया—'ब्राह्मणधर्मको अपने जीवनमें उतारकर आदर्श स्थापित करो, इस आदर्शको अपनाकर मानव सुखी होगा और प्राणिमात्रका कल्याण होगा।' भृगु और वसिष्ठने पिताके उस आदेशका पालन किया। ब्राह्मणधर्मकी स्थापना विश्वके कल्याणके लिये की गयी। वसिष्ठका जीवनवृत्त योगवासिष्ठसे स्पष्ट हो जाता है। सूर्यवंशका आचार्यत्व ग्रहणकर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके जीवन-तक महर्षि वसिष्ठका योगदान संसारके लिये हितकारी रहा है और भविष्यके लिये अनुकरणीय है। महर्षि वसिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पुत्र पराशर और पराशरके पुत्र महर्षि वेदव्यास हुए, जिन्होंने वेदका विभाजन किया और अष्टादश पुराण और अष्टादश उपपुराणोंकी रचना की। इन रचनाओंसे तृप्ति न पाकर श्रीमद्भागवतका प्रणयन भागवत-धर्मके लिये किया। भागवत-धर्मका आदर्श अपने पुत्र शुकदेवको बनाया। शुकदेव परम भागवत हुए। उसके बाद संतति-परम्परा समाप्त हो गयी। आज हम उन्हीं महर्षियोंसे ब्राह्मण-धर्मको समझनेका प्रयत्न करते हैं। वास्तवमें ब्राह्मण-धर्म ही मानव-धर्म है। ब्राह्मणधर्म इतना विशाल और व्यापक है कि उसकी कुक्षिमें सब धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ब्राह्मणधर्मका लक्षण—

ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च।

—कहकर शान्त हो गये। तात्पर्य यह है कि छः अङ्गों-सहित वेदका अध्ययन करके उसका ध्यान करनेपर अवरोध रह ही क्या जाता है? ध्यानगम्य विषयका विश्वके हितार्थ साधन करके लोकको प्रवृत्त करना ही ब्राह्मणधर्म है। इससे 'सर्वभूतहिते रताः'की भावना स्वतः पुष्ट हो जाती है। इसीलिये ब्राह्मण 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' की भावनापर आरूढ़ हो जाता है, विश्वको ब्रह्ममय देखने लग जाता है। फिर राग-द्वेषकी भावना कहाँ रह जाती है? षड्विकार-शून्य वह स्वतः हो जाता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। आत्म-तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मण संसारके जीवमात्रसे स्नेह करता है, यहाँतक कि चर-अचरसे भी स्नेहिल हो जाता है।

स्मृतिकारोंने ब्राह्मणधर्मका लक्षण 'षट्कर्म' निरूपित किया है। यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान-प्रतिग्रह—वास्तवमें यह कर्मका निरूपण है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे ब्राह्मणकर्मका प्रतिपादन किया—

> शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
> ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
> (गीता १८। ४२)

आधुनिक समयमें ब्राह्मणधर्मका ह्रास दिनोंदिन होता आ रहा है। 'जात्या ब्राह्मणोऽसि'—कभी यज्ञानुष्ठानके समय रोषवश कहा जाता था। आज कर्महीन ब्राह्मण अग्निरहित भस्म-से हो रहे हैं, अतः समाजमें स्थान-स्थानपर तिरस्कृत हो रहे हैं। आधुनिक समाजमें ब्राह्मणके लिये कोई नियत स्थान और कोई नियत वृत्ति नहीं रह गयी है।

ब्राह्मणका जीवन कितना पवित्र होना चाहिये और था! एक प्रसङ्गवश उद्धवने श्रीकृष्णसे प्रश्न किया कि 'आप जहाँ कहीं, जब कभी ब्राह्मणोंका पक्षपात क्यों करते रहते हैं?' सखा उद्धवके मुखसे ऐसा विचित्र प्रश्न सुनकर वे रो पड़े और बोले—'तुम मेरे सखा होकर ऐसा कहते हो यही मुझे कष्ट है। देखो, ब्राह्मणका सम्पूर्ण जीवन जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त संसारके हितमें लगा रहता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जो निष्क्रिय, निष्प्रयोजन हो। ऐसे 'सर्वभूतहिते रत' विप्रके सत्कार्यका यदि मैं वर्णन करूँ तो तुम उसे पक्षपात कहते हो? ब्राह्मण मेरा अङ्ग है। उसीसे मैं संसारका संरक्षण करनेमें समर्थ हूँ, अन्यथा संसारकी रक्षा असम्भव हो जाय।

> ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
> कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

ब्राह्मणका शरीर निम्न कार्योंके लिये नहीं बनाया गया है—किंतु जन्मसे लेकर षोडश-संस्कारद्वारा पवित्र होकर, विद्याका अध्ययन करके, सार-तत्त्वको तपके द्वारा तपाकर, संसारके मानवोंको तपःपूत ज्ञान देकर, अनन्त सुख प्राप्तकर परमात्मलीन होनेके लिये बना है। ऐसा पवित्र जीवन ब्राह्मणका होता था और होना चाहिये। शरशय्यापर पड़े हुए भीष्म-

पितामहने भी युधिष्ठिरसे सब धर्मोंकी व्याख्या करके सब नीतियोंका वर्णन करते हुए संसारकी रक्षाका भार ब्राह्मणोंके ऊपर ही छोड़ा है। आजके युगमें भी हमें पुनीत ब्राह्मणोंके आचरण आलोक प्रदर्शित करते हैं, जिनका अनुसरण करके हम आगे बढ़ सकते हैं। चन्द्रगुप्त-मौर्यकालमें परम त्यागी चाणक्यका जीवन आदर्श है। शिवाजीके समय समर्थ रामदास हुए, जिनकी कृपासे हिंदुत्वकी रक्षा हो सकी। 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस मन्त्रको जन-जनमें फूँकनेवाले लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक, महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी—इन पुनीत ब्राह्मणोंके कार्य आज भी अनुसरणीय और आचरणीय हैं।

आधुनिक समयमें ब्राह्मणधर्मका पालन तलवारके धारपर चलना है। जब पग-पगपर नवशिक्षित समाजसे प्रताड़ित-उपेक्षित होकर ब्राह्मण अपने धर्मके आचरणपर बद्धपरिकर होकर चलेगा, तभी वह अग्निमें तपाये हुए स्वर्णके समान प्रदीप्त होकर आलोक प्रदान कर सकेगा। आज ब्राह्मणोंकी परीक्षाका समय है। बीसवीं शताब्दीमें जब विज्ञानके द्वारा आस्था एवं श्रद्धाको नष्टप्राय करके आणविक शस्त्रोंके द्वारा मानवताका विनाश किया जा रहा है, तब ब्राह्मणोंको अपने धर्मके आचरण-द्वारा जन-जनमें आस्था एवं श्रद्धाको पुनः प्रदीप्तकर विश्वको विनाशसे बचानेके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

ब्राह्मण-धर्मके आदर्श

(१)

महापण्डित कैयट

महाभाष्यके सुप्रसिद्ध तिलकके कर्ता, संस्कृतके उद्भट विद्वान् कैयटजी नगरसे दूर झोपड़ीमें निवास करते थे। घरमें सम्पत्तिके नामपर एक कमण्डलु तथा टूटी चटाई थी। वे ब्रह्मचारी या संन्यासी नहीं, गृहस्थ थे; किंतु प्राचीन युगके ऋषियोंके समान गृहस्थी, संध्या-पूजा, अध्ययन-अध्यापन तथा ग्रन्थ-लेखनसे उन्हें अवकाश नहीं था।

उनकी पत्नी वनसे मूँज काटकर ले आतीं, रस्सी बटतीं और उसे बेचकर जो कुछ मिलता, उससे घरका काम चलाती थीं। किसीसे कुछ भी दान न लेनेकी आज्ञा उन्हें उनके पतिदेवने दे रखी थी।

काशीसे कैयटजीकी प्रशंसा सुनकर कुछ विद्वान् कश्मीर आये। उन्होंने उनके दर्शन किये। कश्मीरनरेशसे मिलकर उन्होंने कैयटजीके निर्वाहकी व्यवस्थाके लिये कहा तो नरेश बोले—'मैं साहस नहीं कर पाता। आप सब आश्वासन दें कि वे रुष्ट होकर राज्यका त्याग नहीं करेंगे तो कुछ कर सकता हूँ।'

काशीके ब्राह्मणोंने आश्वासन दिया। राजाने पर्याप्त भूमिका दानपत्र कैयटजीके नाम लिखकर उन ब्राह्मणोंको ही दे दिया। स्वयं छिपकर पीछे गये। जिसकी आशङ्का थी, वही हुआ। दानपत्र देखते ही कैयटजीने उसके टुकड़े कर दिये। कमण्डलु उठाया, चटाई समेटकर बगलमें दबायी और पत्नीसे बोले—'यहाँका नरेश अब ब्राह्मणको धनके लोभमें डालना चाहता है! यह राज्य रहने योग्य नहीं। मेरी पुस्तकें उठा लो और चलो।'

काशीके ब्राह्मणोंने क्षमा माँगी। नरेश आकर चरणों-पर गिर पड़े। हाथ जोड़कर बोले—'राज्यमें रहनेवाले विद्वान्, तपस्वी, ब्राह्मण कष्ट न पायें—यह देखना राजाका

कर्तव्य है। मैं यही समझकर कुछ सेवा करना चाहता था।'

कैभटजीने चटाई-कमण्डलु रख दिया। राजासे बोले—'मेरी सबसे बड़ी सेवा यह है कि तुम फिर यहाँ मत आओ। कोई कर्मचारी यहाँ मत भेजो। धन या भूमिका प्रलोभन मत दो। मेरे अध्ययनमें विघ्न न पड़े—बस, इतना ध्यान रखो।'

—सु०

(२)

श्रीरामनाथ तर्क-सिद्धान्त

यह बात ईस्टइंडिया कम्पनीके शासनकालकी है। अध्ययन समाप्त करके श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तने नवद्वीप नगरके बाहर कुटिया बना ली थी। पत्नीके साथ वे ऋषि-जीवन व्यतीत करते थे। उनके यहाँ अध्ययन करने छात्रोंका बड़ा समुदाय टिका ही रहता था। किसीसे कोई वृत्ति उन्होंने नहीं ली थी। एक दिन वे विद्यार्थियोंको पढ़ाने जा रहे थे तो पत्नीने कहा—'घरमें केवल मुट्ठीभर चावल है। भोजन क्या बनेगा?'

पण्डितजी बिना उत्तर दिये चले गये। दोपहरको भोजन करने आये तो जो भोजन सामने आया, उसे देखकर पत्नीसे उन्होंने पूछा—'भद्रे! यह स्वादिष्ट शाक किस वस्तुका है?'

पत्नीने कहा—'मेरे प्रातः पूछनेपर आपकी दृष्टि इमलीके वृक्षकी ओर उठी थी। मैंने उसीके पत्तोंका शाक बनाया है।'

पण्डितजी निश्चिन्त होकर बोले—'इमलीके पत्तोंका इतना स्वादिष्ट शाक होता है तो हम दोनोंके लिये भोजनकी क्या चिन्ता रही?'

कृष्णनगरके राजा शिवचन्द्र थे। उनकी रानीके पिता श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तके पिताके यजमान रहे थे। शिवचन्द्रजीको कम्पनीने जब राजाकी उपाधि दी, तर्कसिद्धान्तकी पत्नी उनके घर गयी थीं। रानीने पूछा उस अत्यन्त सरल ग्रामीण-जैसी स्त्रीको देखकर—'तुम किस प्रयोजनसे आयी हो?'

ब्राह्मणीने कहा—'केवल अनुग्रह करनेके प्रयोजनसे। तुम्हें आशीर्वाद देने आयी हूँ।' आशीर्वाद देकर बिना कुछ लिये वे चली गयीं। रानीकी प्रेरणासे राजा शिवचन्द्र हाथीपर बैठकर तर्कसिद्धान्तजीके यहाँ गये। उन्होंने पूछा—'आपकी कोई समस्या हो, किसी विषयमें अनुपपत्ति हो तो मैं दूर करने आया हूँ।'

तर्कसिद्धान्तजी बोले—'मैंने चारु-चिन्तामणि ग्रन्थ अभी पूरा किया है। एक समस्या थी अवश्य, किंतु उसका समाधान लिख दिया गया। अब उसमें कोई अनुपपत्ति मुझे जान नहीं पड़ती। आपको कहीं कोई अनुपपत्ति मिली क्या?'

राजाने कहा—'मैं तर्कशास्त्र नहीं, गृह-निर्वाहके विषयमें पूछ रहा हूँ।' पण्डितजी बोले—'गृहकी बात गृहिणी जाने।'

पण्डितजीकी अनुमतिसे राजा कुटियामें गये। वहाँ उन्होंने पूछा—'माताजी! कोई अभाव हो तो पूर्तिकी आज्ञा करें!' उस निःस्पृह ब्राह्मणीका उत्तर था—'यहाँ तो कोई अभाव नहीं है। मेरा वस्त्र फटा नहीं, जलका मटका थोड़ा भी नहीं फूटा, चटाई भी ठीक है। फिर मेरे हाथमें ये चूड़ियाँ जबतक बनी हैं, तबतक मुझे अभाव कैसा?'

राजा शिवचन्द्रने भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया। वहाँसे लौटते समय दूरतक वे पैदल आये। हाथीपर बैठनेका साहस उस कुटियाके दर्शन हों, वहाँतक नहीं हुआ। —सु०

ब्राह्मण-धर्म

सत्य वचन हितकर मधुर परिमित, नित स्वाध्याय।
विद्या विनय विवेक-युत शान्त-हृदय रत-न्याय॥
शम दम श्रद्धा त्याग शुचि निरत नित्य शुभ कर्म।
अध्ययनाऽध्यापन यजन-याजन ब्राह्मण-धर्म॥

क्षत्रिय-धर्म

(लेखक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी भट्टाचार्य)

आजकल साधारण जनतामें प्राचीन भारतीय आचार्योंके विचारोंके विषयमें एक ऐसा भ्रम फैला हुआ है कि वे विचार सर्वथा परलोकपरक ही हैं—उनमें जप-तप-पूजा-पाठके अतिरिक्त दूसरे प्रकारकी सामग्रियोंका सर्वथा अभाव-सा है। इहलौकिक विषयोंके साथ उनका कोई विशेष सम्बन्ध है ही नहीं। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि पूर्वाचार्योंके विचार मुख्यतः ब्राह्मणसर्वस्व ही हैं, ब्राह्मणेतर वर्णोंका कोई विशेष स्थान उनमें नहीं है। यह भी देखा जाता है कि प्राचीन भारतीय विचारपद्धतिके साथ जिसका जितना परिचय कम है, वही उतनी अधिक टीका-टिप्पणियाँ भी करता है। वस्तुतः उनकी तद्विषयक अज्ञता ही उन्हें वैसा करनेके लिये बाध्य करती है। यदि वे उन विचारोंसे साक्षात् परिचय प्राप्त करें, तो निश्चय ही उनकी जिह्वा आर्षविचारोंकी निन्दाके स्थानपर प्रशंसामें मुखर हो जायगी। वर्तमान लेखमें हम क्षत्रियोंके पूर्वाचार्यनिर्दिष्ट वर्णविहित कर्म और धर्मके विषयमें संक्षिप्त चर्चा करेंगे जो कि ब्राह्मणेतर वर्णमें ही आते हैं और जिनका कर्म या धर्म पूर्णतया इहलोकपरक ही है या यों कहिये कि सांसारिक हिताहितके साथ ही जो पूर्णतया सम्बन्ध रखता है।

पहले हमें देखना यह है कि आचार्योंने क्षात्रधर्मावलम्बियों-के लिये कौन-कौन-से वर्णविहित कर्म निर्दिष्ट किये हैं? गीताकारने कहा है—

> शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
>
> (१८। ४३)

'शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्धसे अपलायन, दान और प्रभुता—ये सात क्षत्रियोंके स्वभावज कर्म हैं।'

गीताकारकी इस उक्तिमें ध्यान देनेका विषय यह है कि इन सात कर्मोंमेंसे शौर्य, तेज और युद्धसे अपलायन—ये तीन प्रायः एकार्थवाचक हैं; क्योंकि जिस पुरुषमें शौर्य होगा, उसमें तेजस्विता भी अवश्यमेव होगी और जिस पुरुषमें शौर्य और तेजस्विता दोनों वर्तमान हैं, वह कभी भी तुच्छ प्राणोंके भयसे युद्धविमुख क्यों होगा? अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रायः एकार्थवाचक तीन शब्दोंके प्रयोग करनेकी सार्थकता क्या है, जब कि एकमें ही तीनोंका अन्तर्भाव हो जा रहा है? इसका एकमात्र उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि वह प्राण, जिसको कि साधारण मानव अपना प्रियतम समझता है, क्षात्रधर्मावलम्बी स्वदेशके लिये, शत्रु-निपातके लिये, शरणागतकी रक्षाके लिये, अधर्मके नाश एवं धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये उसका तृणवत् उत्सर्ग कर दे। वस्तुतः क्षात्रधर्मावलम्बीका प्राण स्वार्थके लिये नहीं, प्रत्युत परार्थके लिये ही है। जरा, इस दृश्यकी कल्पना भी तो कीजिये कि कहाँ साधारण मानव शरीरसे यदि एक बूँद शोणित अनिच्छासे भी निकल जाय तो उसके लिये दस बूँद आँसू बहा देता है और कहाँ वह योद्धा जो अपने शरीरसे रुधिरकी निर्झरिणी बहाता हुआ भी हँसते-हँसते रणाग्निमें अपने प्राणोंकी आहुति चढ़ा देता है।

शतसाहस्रीसंहिता महाभारतमें हम धर्मराज युधिष्ठिरको प्रायः यह खेद प्रकट करते हुए पाते हैं कि क्षत्रियोंके लिये इससे बढ़कर और क्या दुर्भाग्य होगा कि प्राणियोंको उनके प्रियतम प्राणोंसे वियुक्त करना ही उनका वर्णविहित कर्म या धर्म है। इसी दृष्टिकोणसे प्रेरित होकर उन्होंने कई बार राज्यका त्याग कर वानप्रस्थ-जीवन बितानेका संकल्प भी व्यक्त किया था। वस्तुतः आपात-दृष्टिकोणसे क्षात्रधर्मकी ऐसी वृत्तिकी सार्थकता समझमें नहीं आती। क्षात्रधर्मके विषयमें इस प्रकारकी संशयिकताका निराकरण करते हुए पितामह भीष्मजीने महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा है—

> लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम्।
> महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित्॥
>
> (५५। १८)

'जो क्षत्रिय युद्धके समय शोणितरूपी जलसे, निहत योद्धाओंके केशरूपी तृणसे, मृत गजरूपी पर्वतसे तथा भग्न रथोंके ध्वजारूपी वृक्षोंसे धरतीको परिव्याप्त कर देता है, वही यथार्थमें क्षात्रधर्मवित् या क्षात्रधर्मावलम्बी है।'

वर्तमान युगके जो जनगण प्राचीन भारतके आचार्योंको परलोकपरायण और ब्राह्मणसर्वस्वके विशेषणसे विशेषित करते हैं, वे जरा सोचें कि वे ही आचार्य पूर्वोक्त श्लोकमें ब्राह्मणोंके लिये नहीं, प्रत्युत क्षत्रियोंके लिये और परलोककी

नहीं, अपितु इहलोककी समरभूमिको ही शत्रु-शोणितसे रक्तवर्ण करनेके लिये अनुशासन कर रहे हैं। पूर्वोक्त श्लोकका भाव-गाम्भीर्य भी मनन करने योग्य है। कहाँ वर्तमान भारतके राजनीतिक नेतृवृन्द उच्च मञ्चोंसे उच्चतर स्वरमें 'शान्ति, शान्ति' कहकर चीत्कार कर रहे हैं और कहाँ प्राचीन भारतके 'ध्यान-धारणा-प्राणायाम-प्रत्याहार-परायण' आचार्य शत्रु-शोणितसे धरतीको सींचनेके लिये कम्बुकण्ठसे सिंहनाद कर रहे हैं। पता नहीं, इन इहलोकपरायण नेताओंकी दृष्टि परलोकपरायण नेताओंकी उन उक्तियोंके प्रति क्यों नहीं आकृष्ट होती, जिनमें इहलोकके कल्याण-साधनके लिये ही उन्होंने अपनी मनन-चिन्तन-शक्तिका निचोड़ रख दिया है।

महाभारतके वनपर्वके अन्तमें प्रश्नोत्तरोंके रूपमें एक बहुत ही रोचक प्रसङ्ग आया है, जिसका नाम है—'यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद'। इसमें मानवजीवनके समस्याजटिल अनेकानेक प्रश्नोंके बहुत ही सुसम्बद्ध और मार्मिक उत्तर दिये गये हैं। इसी प्रसङ्गपर यक्षने युधिष्ठिरसे प्रश्न किया है कि 'क्षात्रधर्मावलम्बियोंमें देवभाव क्या है और मानुषभाव क्या है?' धर्मराज (यक्ष) के इस प्रश्नके उत्तरमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कहा—'इष्वस्त्रमेषां देवत्वम्' और 'भयं वै मानुषो भावः' अर्थात् क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये अस्त्र-शस्त्र-विषयक प्रावीण्य ही देवभाव है और शत्रु या युद्धसे भय अर्थात् उनसे पराङ्मुख होना ही उनका मानुषभाव है।

महाराज युधिष्ठिरका प्रथम उत्तर—'अस्त्र-शस्त्रमें ही क्षात्रधर्मावलम्बीका देवत्व निहित है'—यथार्थतः मननका दावा करता है। जिस पवित्र देवभावका नाम सुनते ही हमलोग श्रद्धासे नतमस्तक हो जाते हैं, क्षात्रधर्मावलम्बीका वही देवभाव क्या तीर, धनुष, असि, गदा, चक्र आदिमें ही निहित है, जिनका काम केवल प्राणियोंको उनके प्रियतम प्राणोंसे वियुक्त करना ही है? आपाततदृष्टिसे इस तथाकथित देवत्वमें पशुत्वकी ही गन्ध आती है। वस्तुतः इस तथाकथित देवत्वका रहस्य सम्भवतः यही है कि क्षात्रधर्मावलम्बीको चाहिये कि वह इन अस्त्र-शस्त्रोंका उपयोग अधर्मके विरुद्ध संग्राम कर धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये करे, अन्यायके विरुद्ध संग्राम कर न्यायकी प्रतिष्ठाके लिये करे—इसीमें शस्त्रास्त्रनिष्ठ देवत्वकी सार्थकता निहित है। उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग दुष्टोंका निग्रह कर शिष्टपर अनुग्रह करनेके लिये होना चाहिये। उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग पापियोंको पापसे निवृत्त करनेके लिये होना चाहिये—उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग अपराधियोंको उनकी अपराधप्रवृत्तिसे विमुख करनेके लिये होना चाहिये। उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग पृथ्वीको असुर-राक्षसरहित बनाकर उसके पाप-भार-हरणके लिये, न कि निरीह प्राणियोंके प्रियतम प्राणोंसे खेल करनेके लिये होना चाहिये। वस्तुतः देवत्वमें जो महत्त्वकी भावना सुप्त है, उसकी सार्थकता शस्त्रास्त्रोंके समुचित प्रयोगमें ही निहित है।

भारतीय लोकमानसपर जिन प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंने व्यापकरूपसे प्रभाव डाला है, उनमें निश्चयतः श्रीगीताका नाम सर्वाग्रगण्य है। गीता अपने आदिकालसे ही भारतीय आर्यसंतानोंकी पथप्रदर्शिका बनी हुई है। इसका प्रवचन भी क्षात्रधर्मविमुख अर्जुनको क्षात्रधर्मोन्मुख करनेके लिये ही हुआ था। अतः क्षात्रधर्मका तत्त्व इसमें पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है। हमें देखना यह है कि क्षात्रधर्मके सम्बन्धमें श्रीगीताका मतवाद क्या है? गीताके द्वितीय अध्यायमें निम्न वचन आया है—

> धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ (२।३१)
> सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (२।३२)

'हे अर्जुन! क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर श्रेयस्कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। धर्मतः और न्यायतः प्राप्य पैतृक राज्यांशके लिये यह जो धर्मयुद्ध तुम कर रहे हो, भाग्यवान् क्षात्रधर्मावलम्बीगण ही ऐसे युद्धका सुअवसर पाते हैं।'

इस वचनमें हम देखते हैं कि 'युद्ध'-शब्दके साथ 'धर्म' शब्दका भी प्रयोग किया गया है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि धर्मयुद्ध है क्या? इसका संक्षिप्ततम उत्तर यही है कि 'अधर्मके विरुद्ध धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये जो युद्ध किया जाता है, उसीका नाम 'धर्मयुद्ध' है।' वस्तुतः युद्धका लक्ष्य केवल युद्ध करना या अशान्ति-सृष्टि करना नहीं है, पूर्वोक्त लक्ष्य ही उसका आदर्श है। दूसरी बात यह कही गयी कि क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये युद्धसे बढ़कर श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं है। यहाँ भी 'युद्ध' शब्दके साथ 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया गया है। चूँकि 'धर्मयुद्ध' मानव-धर्मका ही एक अङ्ग है और धर्मतत्त्वसे बढ़कर मानवजातिका श्रेयस्कर अन्य कुछ भी नहीं हो सकता, अतः क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये धर्मयुद्धसे भी बढ़कर श्रेयस्कर और क्या हो सकता है?' वर्तमान भारतके जो महानुभाव युद्धामावकी नीतिका

वक्ताओंसे प्रचार कर रहे हैं, उसके विषयमें कहना यह है कि जहाँतक युद्ध केवल युद्ध करनेके लिये ही किया जाता है, प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करनेके लिये ही किया जाता है, अपने अवैध स्वार्थकी पूर्तिके लिये ही किया जाता है; वहाँतक तो युद्ध सर्वथा त्याज्य ही है। किंतु जो युद्ध अधर्म और अन्यायके विरुद्ध धर्म और न्यायकी प्रतिष्ठाके लिये किया जाता है, वह सर्वथा करणीय ही है। वहाँ शान्तिनीतिके तथाकथित उच्चादर्शकी आड़में रहना अशान्तिको ही बढ़ावा देना है और वह वास्तवमें अहिंसा नहीं, कायरता है।

जैसे क्षात्रधर्मावलम्बियोंको लक्ष्यकर आचार्योंने पुनः-पुनः यह कहा है कि वे अस्त्र-शस्त्रादिको ही अपने जीवनका सर्वस्व समझें, युद्धादिसे कदापि पराङ्मुख न हों, शौर्य-वीर्यको ही अपना भूषण समझें; ठीक इसके विपरीत जो क्षात्रधर्मावलम्बी युद्धपराङ्मुख या शौर्यविमुख हैं, उनकी निन्दा करनेमें—उन्हें हेय प्रतिपन्न करनेमें भी आचार्योंकी लेखनी चूकी नहीं। शुक्रनीतिकारने बड़े ही कटु-तीक्ष्ण शब्दोंसे क्षात्रधर्मविमुख क्षत्रियोंका तिरस्कार किया है—

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्॥
न गृहे मरणं शस्तं क्षत्रियाणां विना रणात्।
शस्त्रास्त्रैः सुनिर्भिन्नः क्षत्रियो वधमर्हति॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥

(४ १ अ०)

'क्षत्रियके लिये यह एक बहुत बड़ा अधर्म ही है कि वह रोगशय्यापर लेटकर श्लेष्म-मूत्रादिका त्याग करता हुआ और करुण स्वरसे रोता हुआ प्राणोंका त्याग करे। सच कहा जाय तो युद्धभूमिके बिना घरपर पड़े-पड़े मरना क्षत्रियोंके लिये अपमानजनक है। क्षात्रधर्मावलम्बीको चाहिये कि वह समराङ्गणमें शत्रुवर्गके शस्त्रास्त्रोंसे छिन्न-भिन्न होता हुआ प्राणोंका उत्सर्ग करे। जो क्षात्रधर्मावलम्बी अक्षत-शरीर रहकर ही प्राणोंका त्याग करता है, शास्त्रकारगण कदापि उसकी प्रशंसा नहीं करते।'

सच कहा जाय तो क्षत्रियका जन्म ही समराङ्गणमें शौर्य-वीर्य-प्रदर्शनके लिये हुआ है। क्षत्रियके लिये धर्मके स्वार्थ, मातृभूमिके स्वार्थ, राष्ट्रके स्वार्थ, जातिके स्वार्थके सामने अपना शरीर तुच्छसे भी तुच्छ है। सोचनेकी बात यह है कि साधारण मानव जिस शरीरके सुखके लिये आजीवन क्या-क्या नहीं करता—न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य—धर्म-अधर्ममें भी भेददृष्टिका त्याग कर शरीरको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है, आखिर उस शरीरकी अन्तिम परिणति क्या होती है? वह शरीर एक-न-एक दिन भस्मका ढेर बनकर रह जाता है। अर्थात् हमलोग दिन-प्रतिदिन जीवनकी अन्तिम परिणति एक भस्मस्तूपकी ओर आगे बढ़ रहे हैं। अतः जीवनका अन्तिम सत्य यदि भस्ममात्र हो, तो क्यों न हमलोग स्वार्थके स्थानपर परार्थके लिये—राष्ट्रहितके लिये स्वस्व पाञ्चभौतिक शरीरका मूल्य देकर मृत्युकी गोदमें शरण लेकर यशःशरीरसे मृत्युञ्जय बन जायँ?

लेखकी समाप्तिके पूर्व यह कह देना हम अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं कि धर्मके लिये, देशके लिये, राष्ट्रके लिये, जातिके लिये, न्यायके लिये, मातृभूमिके लिये जो पुरुष अपने प्राणोंको अर्पण करता है, उससे बढ़कर महाप्राण और कोई नहीं है। महाप्राण क्षात्रधर्मावलम्बीगण प्राणोंकी बाजी लगाकर समराङ्गणमें मृत्युसे आलिङ्गनकर 'मृत्युञ्जय' बन जाते हैं—सम्भवतः कृतान्तके गौरवका अन्त इन्हीं क्षत्रियोंसे टकराकर ही जाता है। आज भारतवर्षकी वर्तमान संकटपूर्ण परिस्थितिमें देशके प्रत्येक नागरिकके लिये—विशेषकर नवयुवकोंके लिये—क्षात्रवृत्तिका अनुकरण करना अपरिहार्य हो गया है। हमारा चित्त न्यायके प्रति, धर्मके प्रति, सुहृद्वर्गके प्रति, असहायके प्रति, अरक्षितके प्रति, पीड़ितके प्रति कुसुमवत् कोमल होना चाहिये; परंतु इसके विपरीत अन्यायके प्रति, अधर्म आदिके प्रति वज्रसे भी कठोर, क्रूर और निर्मम होना चाहिये।

क्षत्रियधर्मके आदर्श

भीष्म पितामह

'सुयोधन ! युद्धमें भागते हुए, शस्त्रहीन, भयातुर, दूसरेसे युद्धमें लगे, प्राण-रक्षाकी प्रार्थना करनेवालेपर भीष्म आघात नहीं करेगा।' कौरवसेनाके प्रथम सेनापति भीष्म बनाये गये थे और उन्होंने युद्धके प्रारम्भसे पूर्व ही सूचित कर दिया—'स्त्री, बालक, नपुंसक, मूर्च्छित तथा गौके सम्मुख होनेपर मैं धनुष रख दिया करता हूँ। यह देवव्रतका व्रत है।'

संसार जानता था कि देवव्रतका व्रत टला नहीं करता। इसलिये दुर्योधनके पास चुपचाप सुन लेनेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। इतना ही नहीं, दूसरे भी अनेक नियम थे भीष्मके जैसे—'जो दिव्यास्त्र नहीं जानते, उनपर दिव्यास्त्रका प्रयोग नहीं किया जायगा।'

युद्धमें अर्जुनने पाञ्चालराजके पुत्र शिखण्डीको अपने रथके आगे कर दिया। शिखण्डी पहिले कन्या होकर उत्पन्न हुआ था, पीछे पुरुष बना था। अतः उसे देखते ही भीष्मने धनुष नीचा कर लिया। शिखण्डीको सामने करके अर्जुन बाण मारते रहे। पितामहका अङ्ग-अङ्ग उन बाणोंसे विद्ध हो गया; किंतु उन्होंने धनुष नहीं उठाया। अन्तमें वे रथसे गिर पड़े। उनका शरीर इस प्रकार बाणोंसे भरा था कि पूरा देह बाणोंपर ही अटका रह गया। यही भीष्मकी शर-शय्या थी।

युद्धका वह दशम दिन था। सायंकाल युद्ध बंद हुआ तो दुर्योधन शल्य-चिकित्सकको लेकर पितामहके समीप आया। भीष्मने पूछा—'यह क्यों आया है?'

'आपकी चिकित्सा करने!' दुर्योधनने उत्साहपूर्वक कहा। 'आपका शरीर इनकी चिकित्सासे पुनः स्वस्थ हो जायगा।'

'इन्हें लौटा दो। धनुषसे छूटा या हाथसे गिरा बाण क्षत्रिय दुबारा उठाकर धनुषपर नहीं चढ़ाता।' पितामहने कहा। 'शरीर एक साधन है बाणके समान। क्षत्रिय स्वेच्छासे उसपर कोई शल्यक्रिया किसीको नहीं करने देगा। उसके देहका स्पर्श युद्धमें प्रतिपक्षीका शस्त्र ही कर सकता है।'

'मुझे तकिया दो!' शल्य-चिकित्सकको लौटाकर भीष्मने दुर्योधनसे कहा। बहुत कोमल रेशमका तकिया लेकर जब वह आया तो पितामहने उसे फिर झिड़क दिया—'तुम्हें बुद्धि कब आयेगी! यह तकिया क्षत्रिय लगायेगा और इस शय्यापर! अर्जुन कहाँ है?'

अर्जुन बुलाये गये। आकर उन्होंने प्रणाम किया। पितामहने कहा—'बेटा! तकिया चाहिये मुझे।'

भीष्म पितामहका सम्पूर्ण शरीर बाणोंपर पड़ा था। किंतु सिर लटक रहा था; क्योंकि युद्धमें अर्जुनने उन पूजनीयके मस्तकमें बाण नहीं मारे थे। अब धनञ्जयने धनुष चढ़ाया और तीन बाण इस प्रकार भीष्मके ललाटमें मारे कि वे सिरके दूसरी ओर निकलकर भूमिमें टिक गये। मस्तक उन बाणोंपर उठ गया।

'पानी!' स्वभावतः शरीरका रक्त निकलनेपर प्यास लगती है। दुर्योधन स्वर्णपात्र भर लाया; किंतु पितामहके नेत्र अर्जुनकी ओर उठे। शरशय्यापर पड़ा शूर क्षत्रिय-मुकुटमणि क्या खाटपर पड़े रोगीके समान जल पियेगा? गाण्डीवधन्वाका धनुष उठा और बाणने भूमिको फोड़ दिया। पृथ्वीसे फूटती जलधारा सीधे मुखमें गिरी भीष्मके। उन वृद्धने आशीर्वाद दिया—'सफलकाम हो पुत्र! तुम ठीक क्षत्रिय हो।'

क्षत्रिय ही तो क्षत्रियका उचित सत्कार कर सकता था!

—सु०

वैश्य-धर्म

[व्यापारमें ईमानदारी]

(लेखक—श्रीमिक्कारचन्दजी व्यास)

भारतीय आर्यसंस्कृतिमें चातुर्वर्ण्य-विभागमें 'वैश्य' तृतीय वर्ण है। यह समाज-संस्थाके अर्थविभागका अध्यक्ष है। न्यायपूर्वक सबको सबकी आजीविका देते हुए व्यापार, कृषि और पशुपालन आदिके द्वारा अर्थका उपार्जन करना और उसे तीनों वर्णोंके भरण-पोषणमें ट्रस्टीकी भाँति यथाविधान व्यय करके अपने लिये पारिश्रमिकस्वरूप जीविका-निर्वाहोपयोगी अर्थ ग्रहण करना इसका धर्म है। 'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।' वैश्यवर्ण ही समाजका प्राण है—आत्मा है। वैश्य व्यापारीका बहीखातामें सारा हिसाब-किताब ठीक रहता है और क्रियादक्षता, व्यापारकुशलता, ईमानदारी तथा सत्यका पालन उसके व्यवहारका प्रधान स्वरूप होता है।

'वाणिज्ये वसति लक्ष्मीः' धनप्राप्ति व्यापारसे ही होती है। पाश्चात्त्य वाणिज्य-शास्त्रोंके अनुसार व्यापारीमें आठ गुण होने चाहिये। वे गुण इस प्रकार हैं, एनर्जी—कार्यक्षमता, एकानामी—मितव्ययिता, इन्टीग्रेटी—व्यापारिक एकता, सिस्टम—ढंग, सिम्पेथी—सहानुभूति एवं सहनशीलता, सिन्सीयरटी—विश्वासपात्रता, इम्पार्शियलिटी—निष्पक्षता और सेल्फ रिलाइन्स—आत्मविश्वास।

इन सिद्धान्तोंपर आधारित व्यापार इतना सुदृढ़ तथा लाभप्रद होता है, जिसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। उसमें कोई विघ्न नहीं डाल सकता और उसका अस्तित्व सदा बना रहेगा तथा उसकी सफलता अविरल गतिसे अपने लक्ष्यको प्राप्त करती जायगी। पाश्चात्त्य वाणिज्यपद्धतिमें कई प्रकारकी खाता-पद्धति है, जैसे जर्नल, लेजर, कैशबुक आदि; परंतु पाश्चात्त्य वाणिज्यपद्धति हमारी भारतीय खाता-पद्धतिके समक्ष अपूर्ण-सी लगती है। हमारे प्राचीन वाणिज्य-विज्ञानके अनुसार भारतीय वाणिज्य सात खातोंमें रक्खा जाता था। वे खाते इस प्रकार हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य। 'भूः' खातेको हम रोजनामचा कहते हैं, 'भुवः'—छोटी बही कहलाती है, 'स्वः'का अर्थ पक्की रोकड़ है, 'महः'का अर्थ खाता-बही है, 'तपः'का अर्थ परिशोधन किया हुआ खाता यानी तलपट ट्रायल बैलन्स है। 'सत्य' खातेका अर्थ है चिट्ठा, जो लाभ-हानि अङ्कित करता है। प्राचीन भारतमें व्यापारी सत्य खाता रखकर सत्यतापूर्ण अपने लाभका दस प्रतिशत बिना राज्यके माँगे राज्यमें जमा करा देता था; क्योंकि वह यह जानता था कि यह विश्व-ऋणानुबन्ध है। जिस प्रकार ये सात भारतीय खाता-पद्धति हैं, उसी प्रकार विश्वमें सात खण्ड हैं, जो भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तप और सत्य-लोक कहलाते हैं। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार इन लोकोंमें पहुँचता है। यमराजका मुनीम चित्रगुप्त सबके खाते अपने पास रखता है; इसलिये हमारा व्यापार ईमानदारी और सत्यतापर आधारित रहा है। ईमानदारी ही सर्वश्रेष्ठ नीति है। विदेशी विद्वान् इमर्सनका कथन है कि 'यथार्थता और ईमानदारी दोनों सगी बहिनें हैं।' पोपका मत है कि 'ईमानदार मनुष्य ईश्वरकी सर्वोत्तम कृति है।' वस्तुतः ईमानदारी मोतीके सदृश निर्मल है जो मानवको सुशोभित करती है तथा बेईमानी व्यापारीको कलङ्कित करती है। हम दैनिक जीवनमें यह देखते भी हैं कि जो व्यापारी ईमानदारीसे व्यापार करता है, चीजोंके भाव ठीक रखता है और उसकी दूकानपर चाहे बच्चा जाय या बूढ़ा, सभीको समान कीमतपर सामान देता है, इससे उसकी बिक्री अधिक होती है और जो व्यापारी चीजोंके भाव ठीक नहीं रखता अथवा बाजारभावसे भी चीजें मँहगी बेचता है, उसका विश्वास ग्राहकोंके हृदयसे उठ जाता है और उस व्यापारीका व्यापार बंद हो जाता है। एक कहावत है कि 'ग्राहक भगवान् है'। वस्तुतः यह सत्य है। ग्राहकको भगवान् मानकर उसके हितकी इच्छाके साथ ईमानदारीसे व्यापार करनेके कारण तुलाधार इतना ऊँचा महात्मा बन गया कि अच्छे-अच्छे योगी उससे सत्सङ्ग करने आते थे और अपने शिष्योंको उस व्यापारीके पास ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भेजते थे। ईमानदारीसे व्यापार करना ही तुलाधारके मोक्षका कारण बन गया। ईमानदारीके साथ व्यापार करने, ग्राहकके प्रति आदर-सहानुभूति एवं श्रद्धा रखनेको ही हमारे शास्त्रोंमें भक्ति-मिश्रित कर्मयोग-साधन कहा है।

हमारे विचार, व्यवहार और व्यापारमें ईमानदारी होना व्यक्तिगत गुण होनेके साथ ही राष्ट्रीय गुण भी है। श्री टी०

ब्राउनका कहना है कि 'सच्चा व्यापार व्यापारीको समृद्धिशाली बनाता है। बेईमानी लालसा उत्पन्न करती है जो विपत्तिका संचय करती चलती है। इससे पूर्व कि धन आपको लोभी बनाये आप दानी बन जाइये।' श्री डी० ब्राउनका यह मत अत्यधिक सुन्दर है; क्योंकि हमारे देशमें व्यापारीको सेठ कहते हैं जो 'श्रेष्ठ' शब्दका अपभ्रंश है। जिसका अर्थ महाजन यानी उत्तम पुरुष है। महाजन लोग जैसा आचरण करते हैं; समाज भी उन्हींके पदचिह्नोंपर चलता है। अतः यह आवश्यक है कि महाजनोंके द्वारा व्यापारमें ईमानदारी रखना देश एवं समाजके उत्थानहेतु परमावश्यक है। प्रकृतिके प्रतिकूल चलनेवालोंको 'पशु' कहते हैं। देशमें संकटकालीन प्रकृतिके प्रतिकूल यदि महाजन व्यापारी चलेंगे तो क्या वे पुरुष कहलानेके अधिकारी हैं; क्योंकि देश, काल एवं समाजकी प्रकृतिके अनुकूल चलनेवाला पुरुष सही अर्थोंमें मनुष्य कहलाता है। उचित टैक्स न देना, नगरपालिकाकी चौकियोंकी चुंगी न देना, कीमतें बढ़ाना, माल छिपाना, मिलावट करना—ये सब काम महाप्रकृतिके प्रतिकूल ही तो हैं, जिनसे सर्वशक्तिशाली भगवान् असंतुष्ट होते हैं। रेलमें बिना टिकट चलना भी हमारी व्यावहारिक बेईमानी है। राजकीय कार्यालयोंका काम भी राजकीय व्यापार है। बाबूको इसीसे असिस्टेन्ट कहा जाता है। यदि बाबू राजकीय कार्यालयके समयमें काम ठीक नहीं करता अथवा गप्पें लड़ाता है तो वह भी राजकीय व्यापारमें ईमानदारी नहीं करता। जब कि हमारी संस्कृति है 'योगः कर्मसु कौशलम्'। योगी वही है जो अपने कर्मका कुशलतासे पालन करता है। समाज अथवा व्यक्तिका कल्याण सत्याश्रित है। ईमानदारीसे व्यापार एवं काम करनेसे आत्म-अनुशासन, आत्मनियन्त्रण तथा आत्मविश्वासकी जागृति होती है। सत्याचरणसे विकारों, कुवृत्तियों, कलुषित भावनाओंका और अशुद्धियोंका निरोध होता है। यही कारण है कि हमारे देशका महावाक्य 'सत्यमेव जयते' है। राजस्थानीमें भी एक दोहा मिलता है—

सत न छोड़े सूरमाँ सत छोड़याँ पत जाय।
सत की बाँधी लिछमी फेर मिलैगी आय॥

सत्यका त्याग करनेपर लक्ष्मी नहीं आती और व्यक्तिका विश्वास समाजसे उठ जाता है। सत्य रहता है तो लक्ष्मी रहती है। एक उदाहरण है इसका। एक राजाने यह घोषणा की कि 'मेरे राज्यमें एक हाट लगायी जाय और उसमें यदि किसी व्यापारीका माल नहीं बिकेगा तो, राजकोषसे मैं उसे खरीद लूँगा।' एक दिन एक व्यापारी एक शनैश्चरकी मूर्ति बना लाया। उसे किसीने नहीं खरीदा तो राजकोषसे राजाने उसे खरीद लिया। मन्त्रियोंने मना किया कि इसे आप न खरीदें; क्योंकि शनैश्चर जहाँ रहता है, वहाँ सब नष्ट हो जाता है। पर राजा नहीं माने। वे भोजन करके सो गये। रातको लक्ष्मी आयी और राजासे बोली—'महाराज! मेरे यहाँ शनैश्चर आ गया है, इसलिये मैं जा रही हूँ।' राजाने कहा कि 'आप जा सकती हैं।' फिर धर्म आया और राजासे बोला कि 'मैं जा रहा हूँ।' राजाने उसे भी जानेकी आज्ञा दे दी। अन्तमें सत्य आया और राजासे बोला—'मेरे यहाँ शनि आ गया है, इसलिये मैं यहाँ नहीं रह सकता, मैं भी जा रहा हूँ।' तब राजाने उठकर सत्यके पाँव पकड़ लिये और कहा कि 'मैंने वचनकी रक्षाको निभानेके लिये ही तो शनिको खरीदा; नहीं तो मेरी रक्षा चली जाती। अब आप ही चले जायेंगे तो मेरा कौन है?' सत्यने जब सोचा कि राजा अक्षुण्ण सत्यपर है तो वह नहीं गया। जब सत्य नहीं गया तब लक्ष्मी और धर्मको भी वापस आना पड़ा। अतः सर्वविदित है कि सत्यवान्में ही लक्ष्मी निवास करती है।

संसारकी कोई वस्तु हमारे साथ नहीं चलेगी। सुख धन-संग्रहमें नहीं है, वह तो मानवके अंदर जो सत्य निहित है, उसके साथ संग करनेमें है। यही 'सत्संग' कहलाता है। हमारे सत्कर्म ही हमें मुक्ति प्रदान करते हैं तो फिर हम सत्यका त्याग किसके लिये करें? जब कि—

नाती मित्र सुत भ्रात सबै छाँड़ कोइ न जाहत।
एक पुण्य-कर्मै साथके कोई न हाथ बढ़ावत॥

इसलिये हमारे जीवनकी सफलता सत्यकी रक्षा तथा नीतिमें ही है। प्रजातन्त्रमें देशकी रक्षाका दायित्व प्रत्येक नागरिकपर होता है। विशेषतः व्यापारियोंपर; क्योंकि सत्यतापूर्वक व्यापारसे उपार्जित धन ही राष्ट्रकी शक्ति है। धनका दुरुपयोग करना, जरूरतसे ज्यादा खर्च करना कठिनाइयाँ पैदा करता है। सत्यता तथा ईमानदारीसे व्यापार करो और उपार्जित धनको समाज-कल्याणके उत्तम-से-उत्तम कार्यमें उदारतापूर्वक व्यय करो। इसीमें वैश्य-धर्मकी सार्थकता है।

वैश्य-धर्मके आदर्श

तुलाधार

'मेरे समान तपस्वी तथा ज्ञानी दूसरा कोई नहीं है।' योगी जाजलिके मनमें इस गर्वके उदयका कारण था। इच्छा करते ही समस्त भूगोल, खगोलका ज्ञान उन्हें प्रत्यक्षके समान हो रहा था। उन्होंने समुद्र-किनारे स्थिर खड़े होकर दीर्घकाल तक तप किया था। सर्दी, गरमी, वर्षा सहन करते, केवल वायु पीते। वे इस प्रकार स्थिर खड़े रहे थे कि पक्षियोंने उन्हें ठूँठ समझकर उनकी जटामें घोंसला बना लिया और अंडे दे दिये। उन अंडोंके फूटनेपर जो शावक निकले, वे वहीं पले, बढ़े और उड़ गये।

'जाजलि! तुम्हारा गर्व उचित नहीं है। ऐसा गर्व तो काशीमें रहनेवाले महात्मा तुलाधार भी नहीं कर सकते।' आकाशवाणीने जाजलिको सावधान किया।

'तो तुलाधार मुझसे अधिक बड़े ज्ञानी एवं तपस्वी हैं!' जाजलिके चित्तमें उन महात्माका दर्शन करनेकी इच्छा जाग्रत् हुई। वे समुद्र-तटसे चल पड़े।

'आइये! आपका स्वागत!' तुलाधार अपनी दूकानपर बैठे व्यापारमें लगे थे। योगी ब्राह्मण जाजलिको देखकर वे उठे, ब्राह्मणको प्रणाम किया, आसन देकर अतिथि-सत्कार किया। इसके बाद जाजलिने कितना तप किया और कैसे उन्हें गर्व हुआ, यह भी बतला दिया। अन्तमें बोले—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

'आपको यह ज्ञान कैसे हुआ? आप क्या साधन करते हैं?' जाजलिने पूछा।

'मैंने केवल अपने वर्णाश्रमविहित धर्मका पालन किया है।' तुलाधार बोले—'अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करते हुए किसीका अहित न करना, सबमें भगवान्‌को देखना, मेरे पास ग्राहकके रूपमें स्वयं भगवान् पधारते हैं, यह समझकर उनकी सुविधाका पूरा ध्यान रखना, उनको ईमानदारीसे न्याय-पूर्वक उचित मूल्यपर उनकी उपयोगी वस्तु देना—यह मेरा नियम है। सबका हित चाहना, अपनी शक्तिके अनुसार दान करना तथा रोगी एवं दुखियोंकी सेवा-सहायता करना—यही मैं धर्म जानता हूँ।'

'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का स्वरूप है। मिट्टी और स्वर्णमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। इच्छा, द्वेष और भयका त्याग करके जो अपने कर्तव्यका पालन करता है, दूसरोंको भयभीत नहीं करता, कष्ट नहीं देता, वही ज्ञानका अधिकारी होता है।' तुलाधारने जाजलिके पूछनेपर बतलाया।

तुलाधारके उपदेशसे जाजलिका गर्व तथा अज्ञान नष्ट हो गया। वे अपने कर्तव्यके पालनमें लग गये। सु०—

आदर्श वैश्य

वैश्य जो न्याय-धर्म-सम्राट । प्रचुर उपजाता कृषिसे अन्न ॥
पालता पशु उपजाता अर्थ । कभी करता न प्रमाद-अनर्थ ॥
सदा करता विशुद्ध व्यापार । सत्यका करता नित सत्कार ॥
न लेता परधन कभी अशुद्ध । बही-खाता रखता सब शुद्ध ॥
छोड़ता कभी नहीं ईमान । विप्र-गो-हित करता नित दान ॥
अर्थपर मान न निज अधिकार । बाँटता बनकर सदा उदार ॥
छिपाकर नहीं लाभका अंश । राज्यको देता कर दशमांश ॥
राज्य भी करता उसका मान । लूटता कभी न बन बेभान ॥
चतुर श्रमशील कर्ममें दक्ष । लाभ करता पद अर्थाध्यक्ष ॥
वेद-आराधन प्रभुकी भक्ति । सदा करता जितनी है शक्ति ॥

शूद्र-धर्म

(लेखक—गोस्वामी पं० अवधनारायणजी 'भारती')

आजकल शूद्र नाम लेने मात्रसे ही यह मान लिया जाता है कि यह वर्ण निकृष्ट है। पर यह वास्तवमें लोगोंकी महान् भूल है। जिन लोगोंने वेद-शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा सोचा करते हैं और उन शूद्रजनोंसे घृणा करते हैं। यद्यपि ऐसा करना सर्वदा त्याज्य है।

हमारे शास्त्रोंमें शूद्रोंका धर्म सर्वोपरि बतलाया गया है; क्योंकि इनका परम धर्म ही सेवा-कार्य है और सेवा-कार्य ही भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सर्वोत्तम साधन है। सेवासे प्रत्येक प्राणी इस संसार-बन्धनसे पार हो सकता है।

धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें विभिन्न कार्योंका भार विभिन्न लोगोंको दे दिया गया। उस समय एक कार्य बचा था आये हुए अतिथियोंका चरण पखारना। श्रीकृष्णने झटसे उठकर कहा—'यह कार्य मेरे लिये छोड़िये।' लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। परंतु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं; क्योंकि सेवा करनेवाला शिष्य ही एक दिन गुरुके पदपर परिलक्षित होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंके लिये भी सेवाका विधान है। भगवान् श्रीकृष्णने इसी उद्देश्यको लेकर गीताके १८ वें अध्यायके ४२-४३ तथा ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रोंके लिये पृथक्-पृथक् स्वधर्म-रूप सेवा-कार्योंका प्रतिपादन किया है। पर शूद्र तो चतुर्वर्ण-प्रासादका मूलाधार पाया है। उसके बिना वह इमारत खड़ी ही नहीं रह सकती।

आजकल प्रायः यह कहा जाता है कि 'ब्राह्मण सदैव ही शूद्रोंको नीचे गिरानेके प्रयत्नमें रहे, जिससे कि वे अपनी उन्नति न कर सकें।' पर ऐसा समझना सर्वथा भ्रम है; क्योंकि शास्त्रोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि स्वधर्म-पालन करना सबसे बढ़कर है। स्वधर्म-पालन करना ही उत्तम गतिका साधन है। यह साधन ब्राह्मणके तप आदि साधनोंकी अपेक्षा शूद्रोंके लिये सुगम है।

चारों युगोंमें मुनियोंने कलियुगको ही सर्वश्रेष्ठ माना है; क्योंकि इस युगमें भगवन्नाम-कीर्तन करनेमात्रसे ही संसार-सागरसे मुक्ति मिल जाती है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

एक बार कुछ मुनि—'किस समयमें थोड़ा-सा पुण्य महान् फल देता है और कौन उसका सुगमतासे सुखपूर्वक अनुष्ठान कर सकते हैं?' इस प्रश्नको लेकर श्रीव्यासजीके पास पहुँचे। व्यासजी उस समय गङ्गाजीमें स्नान कर रहे थे। व्यासजीने गङ्गाजीमें गोता लगाकर फिर कहा—'कलियुग श्रेष्ठ है। शूद्र तुम ही श्रेष्ठ हो, तुम ही धन्य हो। स्त्रियाँ ही साधु हैं, वे ही धन्य हैं।'

तदनन्तर व्यासजीने बाहर निकलकर नित्यकर्म किया। फिर मुनियोंका अभिवादन करके उनसे आनेका कारण पूछा। मुनियोंने कहा, 'हम एक प्रश्नको लेकर आये थे; परंतु पहले आप यह बतलाइये कि आपने जो कलियुगको, शूद्रको और स्त्रियोंको श्रेष्ठ, साधु और धन्य कहा—इसका क्या रहस्य है?'

व्यासजीने हँसते हुए कहा—जो धर्म सत्ययुग, त्रेता, द्वापरमें बहुत समयसे तथा तप, ध्यान, पूजनसे प्राप्त होता था, वह कलियुगमें श्रीकृष्णके नाम-कीर्तन मात्र थोड़ेसे प्रयत्नसे ही प्राप्त हो जाता है, इसलिये मैं कलियुगसे अति प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको बड़े संयमसे रहकर परतन्त्रतापूर्वक साधन करनेपर जिन पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है, वह सद्गति शूद्रको केवल सेवा करनेसे ही प्राप्त हो जाती है। इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है और स्त्रियाँ केवल तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करके ही शुभ गतिको प्राप्त हो जाती हैं, इसलिये वे साधु हैं। मैंने इसी अभिप्रायसे कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको श्रेष्ठ तथा धन्य बतलाया है।

ऋषियोंने कहा—महामुने! हमें जो कुछ पूछना था, उसका यथार्थ उत्तर तो आपने हमारे इसी प्रश्नके उत्तरमें दे दिया है।

इस प्रकार महर्षि व्यासने शूद्रोंकी महिमा गायी है। अतः शूद्र भाइयोंसे सादर प्रार्थना है कि वे इस स्वर्ण-अवसरको प्राप्तकर विशेष लाभान्वित हों; क्योंकि स्वधर्म-पालन करनेवाले प्राणियोंके लिये मुक्तिका द्वार सर्वथा खुला है।

——०——

गृहलक्ष्मीर्गृहे गृहे !

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी सुमन)

(१)

प्राचीन एवं अर्वाचीन—सभी विचारक इस विषयमें एकमत हैं कि स्त्रीसमाज सभ्यता एवं संस्कृतिका मेरुदण्ड है। हमारे देशकी कल्पनामें उसको कुछ और भी विशेषता प्राप्त हुई है। भोगके बीच त्याग, तपस्या, समर्पण एवं अर्चनाकी प्रतिष्ठाने उसे एक अद्भुत शक्ति एवं भव्यता प्रदान की है। उसे जगदम्बाका ही स्वरूप माना गया है। दुर्गा-सप्तशतीमें कहा गया है कि 'हे जगदम्बिके! जगत्में जितनी भी स्त्रियाँ हैं—तेरा ही भेद हैं, तेरा ही अंश हैं।' लक्ष्मीके एक स्तोत्रमें कवि कहता है—'माँ लक्ष्मी! तुम घर-घरमें गृहलक्ष्मी-रूपमें प्रतिष्ठित हो।'

यह ठीक है कि हमने बीचके युगमें शताब्दियोंतक स्त्रीके प्रति हीन भावना रक्खी और तदनुकूल आचरण किया है। उसका परिणाम भी भोगा है—हमारा सर्वाङ्गीण पतन हुआ है। परंतु हमारी विचारधारामें, हमारे धर्ममें, हमारे श्रेष्ठ साहित्यमें सदैव नारी पूज्या, आदरणीया और प्रेमास्पदा रही है। श्रुति-स्मृति-पुराण तथा गृह्यसूत्रोंमें—सर्वत्र हमें उसके प्रति विशेष स्नेह तथा आदरका व्यवहार करनेके आदेश मिलते हैं।

शतपथब्राह्मण (५ । २ । १ । १०) में स्त्रीको मनुष्यकी आत्माका अर्द्धांश बताया गया है—

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।

'महाभारत' कहता है—

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।
तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः॥
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया।
नैव भान्ति न वर्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव॥

(अनु० ४६ । ५-६-७)

'जहाँ स्त्रियोंका आदर-सत्कार होता है, वहाँ देवता-लोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं तथा जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। जब कुलकी बहू-बेटियाँ दुःख मिलनेके कारण शोकमग्न होती हैं, तब उस कुलका नाश हो जाता है। वे खिन्न होकर जिन घरोंको शाप दे देती हैं, वे कृत्याके द्वारा नष्ट हुएके समान उजाड़ हो जाते हैं। वे श्रीहीन गृह न तो शोभा पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है।'

फिर जोर देकर कहा गया है—

'स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मः' (अनु० ४६ । १०)

स्त्री धर्मकी सिद्धिका मूल कारण है। स्पष्ट आदेश है—

स्त्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता।
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत॥

(अनु० ४६ । १५)

'भरतनन्दन! स्त्रियाँ ही घरकी लक्ष्मी हैं। उन्नति चाहनेवाले पुरुषको उनका भलीभाँति सत्कार करना चाहिये। अपने वशमें रखकर उनका पालन करनेसे स्त्री (लक्ष्मी)-स्वरूप बन जाती है।'

किंतु भारतीय गृहधर्मके इस परिवेशके अतिरिक्त उसकी महती कल्पनाके पीछे एक और विशिष्टता है। कन्यासे लेकर मातातक सब जीवनके श्रेय-पथपर अग्रसर होती साधना-भूमियाँ हैं, देहमें जो प्राण है और वह प्राण-सत्त्व जिस आध्यात्मिक सत्यको लेकर ठहरा हुआ है, उसे धीरे-धीरे पानेकी साधना हैं। पुरुष इस साधनामें स्त्रीका केवल साथी नहीं है—वह और नारी दोनों मिलकर एक नवीन पूर्णताकी सृष्टि करते हैं। दोनों मिलकर एक हैं—एकात्मा हैं। दोनों अविभक्त और अविभाज्य हैं। यह साधना जन्म-जन्मान्तरोंकी साधना है। इसने जीवनके क्षितिजके उस पार बहुत दूरतक देखा है और दृश्यके पीछे जो अदृश्य है, मूर्तिके पीछे जो अमूर्त है, उसे देखने और पानेकी चेष्टा की है।

इसीलिये मैं मानता और कहता आया हूँ कि नारी ही हमारी संस्कृतिकी कुंजी है। जबतक वह अभिशप्त रहेगी, जबतक वह अपने धर्म और कर्तव्यको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करेगी, कोई वास्तविक प्रगति सम्भव न होगी। वही है हमारी आशा, वही है हमारा सम्बल, वही है

हमारी ज्योति । घर-घरमें उसी देवीकी, माताकी, समर्पणकी मूर्ति, त्यागकी देवी, प्रेमास्पदा, करुणामयी, हृदयसे जो जननी है—उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी ।

कैसे होगी यह प्रतिष्ठा ? होगी, जब कन्या सची कन्या, नारी सची नारी तथा माता सची माता बनेगी, स्वरूपका दर्शन करेगी ।

(२)

कन्या

कन्या है नारी-जीवनका आदि । वह कली है, जिसमें समस्त भविष्य मुकुलित है । इस कलीको कल फूल बनना होगा । कली फूलका आदिरूप है; जो वह है, वही फूल होगा । जीवनमें उसीकी सुगन्ध फैलेगी । इसलिये उसीके निर्माणपर सब कुछ निर्भर है । गृहोंका भविष्य, परिवारोंका सुख, समाजकी शान्ति उसीकी मुट्ठीमें है ।

बहुत दिनोंसे कन्या समाजमें उपेक्षित रही है । पहिले उसकी उपेक्षाके कारण सामाजिक परम्पराएँ थीं, जहाँ उसे 'परायी' चीजके रूपमें ग्रहण किया जाता था । आज बाह्य दृष्टिसे तो उपेक्षा नहीं है—उनको सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, लड़कियाँ प्यार-दुलारके साथ पाली जाती हैं, शिक्षा भी दी जा रही है; जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें वे प्रवेश कर रही हैं, कहीं उनके लिये विधि-निषेध नहीं है । सब मार्ग खुल गये हैं और मानव-क्षितिज विशद हो गया है ।

परंतु यह सब शिक्षा मुख्यतः ऐहिक है । इसलिये समाजने जहाँ ऐहिक सुख-सुविधाकी शक्ति उसे प्रदान की है और बाह्यतः उसे विकसित किया है, वहीं अन्तरसे संकुचित किया है । उसमें अपने सुखकी रुचि अधिकाधिक बढ़ती गयी है; इसलिये एक भोगवादी, बाहरसे वृद्धिशीला परंतु प्राणके उत्सको सुखा देनेवाले परिवेशमें वह सिमट गयी है । आभासिक छाया-मात्र उसके लिये सत्य है; किंतु जिस बिन्दुपर प्राणका रस बने एवं निवेदित होनेसे बढ़ता है, अमृत एवं अविनश्वर होता है, वह बिन्दु दृष्टिसे लुप्त होता जा रहा है ।

हमने बालकों-बालिकाओंकी शिक्षामें एकरूपताकी स्थापना करके गर्वका अनुभव किया; किंतु निसर्गजात सत्योंको हम भूल गये । पुरुष और स्त्रीकी मनोरचना, अन्तःप्रवृत्तियाँ और जीवनके निर्माणमें उनके योग तथा कार्यमें जो अन्तर है, उसीके अनुसार उनकी शिक्षा-दीक्षा, तैयारी और कार्य-विभाग होने चाहिये । बहुत-से कार्योंमें समानता होगी, कुछमें सहयोग होगा और कुछमें एकरूपता भी होगी; किंतु दोनोंकी प्रेरणाएँ अलग-अलग स्रोतोंसे उद्भूत होती हैं, इसका ध्यान न रखनेसे कठिनाइयाँ पैदा होती हैं । स्त्रीको पुरुष बनाना और पुरुषको स्त्री बनाना एक प्राकृतिक अभिक्रमको निरर्थक बना देनेकी चेष्टा है । इसमें शक्तिका अपव्यय है, विनियोग नहीं ।

इसलिये एक सीमातक ही लड़कियों-लड़कोंके पाठ्यक्रम एक होने चाहिये । सामान्य शिक्षणके बाद कन्याको इस प्रकारकी शिक्षा मिलनी चाहिये, जिससे उसकी प्रच्छन्न प्राकृतिक शक्तियोंका विकास हो; उनसे जो आशा और अपेक्षा है, उसकी पूर्ति हो ।

व्यावहारिक जीवनमें पुरुष मुख्यतः जीविका तथा तत्सम्बन्धी कार्योंका एवं कुटुम्ब, परिवार, समाजके गठनका भार उठानेवाला होता है । स्त्री इस जीवनविग्रहमें प्राण-प्रतिष्ठा करती है । पुरुष जीवनका सैनिक है; नारी उसकी श्री है, सुषमा और सौन्दर्य है । पुरुष सभ्यता है तो नारी संस्कृति है; पुरुष मस्तिष्क है तो स्त्री हृदय है; पुरुष ज्ञान है तो स्त्री भक्तिकी निष्ठा है । फिर यह भी एक सामाजिक सत्य है कि कतिपय अपवादोंको छोड़ मुख्यतः नारी एक संयुक्त विवाहित जीवन व्यतीत करती है या करना चाहती है । सुखी, विवाहित एवं गृहजीवनकी प्रेरणा औसत नारीमें औसत पुरुषसे कहीं अधिक होती है । पुरुष बँधना नहीं चाहता; स्त्री बाँधती भी है और बँधती भी है । इसलिये स्वभावतः उसे ऐसी शिक्षाकी भी आवश्यकता है, जो उनके निवेदन और समर्पणकी वृत्तिको विकसित करे, सुसंस्कृत करे—उसे परिवारको खण्डित करनेवाली नहीं, जोड़नेवाली बनाये । वह मालाके मनकोंको पिरोनेवाले सूत्रके रूपमें हो ।

इसलिये कन्याको हमारी सभ्यता एवं संस्कृतिके मुख्य तत्त्वोंसे परिचित कराना आवश्यक है । उसे थोड़ेमें हमारे दर्शन, इतिहास तथा धर्म-मूल्यका ज्ञान दिया जाना चाहिये । उसे उन प्राचीन महादेवियोंके चरित्रसे परिचित होना चाहिये, जिन्होंने पातिव्रत्य-धर्मका विकास करके एक नूतन आदर्शकी अवतारणा की थी और अपनी साधनासे सामान्य मानवको मिट्टीसे उठाकर आकाशपर पहुँचा दिया था ।

उसे गृहको सुव्यवस्थित और सजाकर रखने, विविध गृह-कलाओं, संगीत तथा पाकविद्याका अच्छा ज्ञान होना

चाहिये । इस शिक्षाके बाद भी स्वभावकी रचना प्रमुख समस्या है । सम्पूर्ण ज्ञानके होते हुए भी स्वभावकी कटुता मानव-जीवन तथा गृहजीवनका नाश कर देती है। जो लड़की जिह्वाकी मिठासमें कटुताके दंशको पिघला सकती है और मुस्कानकी चाँदनी तीखेपनके अन्धकारपर फैला सकती है, वह जीवनमें अवश्य सफल होती है ।

कन्याका धर्म है कि वह अपने माता-पिता, गुरुजनों-का आज्ञा-पालन एवं सेवा करना सीखे, भाई-बहिनोंके प्रति प्रेम-स्नेहसे भरी हो । नौकर-नौकरानियोंसे, घरकी, पड़ोसकी समवयस्का लड़कियोंसे नम्रतायुक्त मधुर व्यवहार करे, सबसे मीठा बोले, किसीका अपमान-तिरस्कार न करे, नित्य प्रातः उठकर बड़ोंको प्रणाम करे, छोटोंको आशीर्वचन कहे, नित्यक्रियाओंसे निपटकर गृहदेवता या भगवान्‌का पूजन, अर्चन, ध्यानादि करे और फिर अपने अध्ययन तथा गृहके अन्य कामोंमें लग जाय ।

(३)
नारी-धर्म

यही कन्या कल बड़ी होकर विवाहित होगी, दाम्पत्य-बन्धनमें बँधेगी, गृहलक्ष्मी होगी । एक घरके क्या, पीढ़ियोंके संस्कार एवं सुख उसपर निर्भर करेंगे । ऋग्वेदमें ससुरालकी साम्राज्ञीके रूपमें उसकी कल्पना की गयी है—'सम्राज्ञी श्वशुरे भव ।' अथर्ववेद उसकी महिमाका गान करते हुए कहता है—

> यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
> एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य च ॥
> (१४ । १ । ४३)

'जैसे नदियोंमें सिन्धु, वैसे ही उसके कथनका सम्मान होता था और उसकी आज्ञाका सभी पालन करते थे ।'

दाम्पत्यका आरम्भ ही जीवनव्यापी सत्कर्मकी प्रतिज्ञाके बाद होता है । पारस्कर-गृह्यसूत्र (१ । ६ । ३) में विवाह-संस्कारके समय पति कहता है—

'सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै, सह रेतो दधावहै, प्रजां प्रजनयावहै, पुत्रान्विन्दावहै बहून्, ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ, रोचिष्णू, सुमनस्यमानौ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् ।'

अर्थात् 'मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो; मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो; इसलिये आओ, हमलोग विवाह करें, साथ तेजको धारण करें, पुत्र उत्पन्न और प्राप्त करें; तुम बहुत वर्षोंतक जीती रहो; हमलोग प्रेमसे आनन्द-पूर्वक सौ शरद् देखें, सौ शरद् जियें, सौ शरद् सुनें ।'

आज स्त्री-पुरुषका मानस विभक्त होता जा रहा है, जिससे शान्तिके स्वर्ग-स्वरूप गृह अभिशप्त हो रहे हैं; उनमें अमृत-हास्यकी जगह कराह और आह है । परंतु एक दिन 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' (२ । ६ । १३ । १६-१७) ने घोषणा की थी—

> जायापत्योर्न विभागो विद्यते ।

'स्त्री-पुरुषका विभाग नहीं हो सकता ।'

स्त्री-पुरुषका साहधर्म्य, साहचर्य—यहाँतक कि ऐकात्म्य-साधना भारतीय दाम्पत्यका आदर्श है । स्वर्ग एवं नरक स्त्री-की अपनी सृष्टि है । कहा गया है—

> आनुकूल्यं हि दम्पत्योस्त्रिवर्गोदयहेतवे ।
> अनुकूलं कलत्रं चेत् त्रिदिवेन हि किं ततः ?
> प्रतिकूलं कलत्रं चेत् नरकेण हि किं ततः ?
> गृहाश्रमः सुखार्थाय पत्नीमूलं हि तत्सुखम् ॥
> (१० पु० २२१ । ३६-३७)

'यदि स्त्री अनुकूल है तो स्वर्गप्राप्तिसे क्या लाभ है और यदि स्त्री प्रतिकूल अर्थात् स्वेच्छाचारिणी है तो नरक खोजनेकी आवश्यकता ही क्या ।'

जहाँतक नारी-धर्मके निरूपणकी बात है, हमारे धर्म-ग्रन्थ उससे परिपूर्ण हैं । परंतु महाभारतमें रुक्मिणी-लक्ष्मी-संवादमें तथा पुनः महेश्वर-पार्वती-संवादमें इसका सुन्दर विवेचन किया गया है । रुक्मिणीके पूछनेपर लक्ष्मीजी कहती हैं—

> प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
> सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ।
> परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
> मेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥
> पापामचोक्षामवलेहिनीं च
> व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ।
> निद्राभिभूतां सततं शयाना-
> मेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु
कल्याणशीलासु विभूषितासु॥

(महाभारत, अनुशासन० ११। ११—१३)

अर्थात् जो घरके बर्तन सुव्यवस्थित न रख इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करतीं, सदा पतिके प्रतिकूल बोलती हैं, दूसरोंके घरोंमें घूमने-फिरनेमें आसक्त रहती हैं और लज्जा छोड़ देती हैं, उनका मैं त्याग कर देती हूँ। जो स्त्रियाँ निष्ठुरतापूर्वक पापाचारमें तत्पर रहती हैं, अपवित्र, चटोर, धैर्यहीन, कलहप्रिय और नींदमें बेसुध होकर सदा खाटपर पड़ी रहनेवाली होती हैं, ऐसी नारीसे मैं सदा दूर रहती हूँ। जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेश-भूषाके कारण देखनेमें प्रिय होती हैं, जो सौभाग्यशालिनी, गुणवती, पतिव्रता एवं कल्याणमय आचार-विचारवाली होती हैं तथा जो सदा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रहती हैं, ऐसी स्त्रियोंमें मैं सदा निवास करती हूँ।'

इसी प्रकार महाभारत, दानधर्मपर्व, अध्याय १४६ में पार्वतीजी नारी-धर्मका विशद विवेचन करती हैं—

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी॥
सा भवेद् धर्मपरमा सा भवेद् धर्मभागिनी।
देववत् सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति॥
शुश्रूषां परिचारं च देववद् या करोति च।
नान्यभावा ह्यविमनाः सुव्रता सुखदर्शना॥
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते।
या साध्वी नियताहारा सा भवेद् धर्मचारिणी॥
श्रुत्वा दम्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम्।
या भवेद् धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता॥
देववत् सततं साध्वी भर्तारमनुपश्यति।
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्मकृतः शुभः॥

(३५—४०)

अर्थात् 'जिसके स्वभाव, बातचीत और आचरण उत्तम हों, जिसको देखनेसे पतिको सुख मिलता हो, जो अपने पतिके सिवा दूसरे किसी पुरुषमें मन नहीं लगाती हो और स्वामीके समक्ष सदा प्रसन्नमुखी रहती हो, वह स्त्री धर्माचरण करनेवाली मानी गयी है। जो साध्वी स्त्री अपने स्वामीको सदा देवतुल्य समझती है, वही धर्मपरायणा और वही धर्मके फलकी भागिनी होती है। जो पतिकी देवताके समान सेवा और परिचर्या करती है, पतिके सिवा दूसरे किसीसे हार्दिक प्रेम नहीं करती, कभी नाराज नहीं होती तथा उत्तम व्रतका पालन करती है; जिसका दर्शन पतिको सुखद जान पड़ता है; जो पुत्रके मुखकी भाँति स्वामीके मुखकी ओर सदा निहारती रहती है तथा जो साध्वी और नियमित आहारका सेवन करनेवाली है, वह धर्मचारिणी कही गयी है। पति और पत्नीको एक साथ रहकर धर्माचरण करना चाहिये। इस मङ्गलमय दाम्पत्य-धर्मको सुनकर जो स्त्री धर्मपरायण हो जाती है, वह पतिके समान धर्मका पालन करनेवाली (पतिव्रता) है। साध्वी स्त्री सदा अपने पतिको देवताके समान समझती है। पति और पत्नीका यह सहधर्म परम मङ्गलमय है।'

पार्वतीजी आगे और कहती हैं—

शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती।
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी॥
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता॥
दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम्।
पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी॥
या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत्।
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी॥
शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा।
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी॥
न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा।
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी॥
श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता।
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना॥
ब्राह्मणान् दुर्बलानाथान् दीनान्धकृपणांस्तथा।
बिभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी॥

(४१-४२, ४४—४७, ५१-५२)

अर्थात् जो अपने हृदयके अनुरागके कारण स्वामीके अधीन रहती है, अपना चित्त प्रसन्न रखती है, देवताके समान पतिकी सेवा और परिचर्या करती है, उत्तम व्रतका आश्रय लेती है और पतिके लिये सुखदायक सुन्दर वेश धारण किये रहती है, जिसका चित्त पतिके सिवा और किसी भी ओर नहीं जाता, पतिके समक्ष प्रसन्नवदन रहनेवाली वह स्त्री धर्मचारिणी मानी गयी है। जो स्वामीके कठोर

वचन कहने या दोषपूर्ण दृष्टिसे देखनेपर भी प्रसन्नतासे मुस्कराती रहती है, वही स्त्री पतिव्रता है। जो नारी अपने दरिद्र, रोगी, दीन अथवा रास्तेकी थकावटसे खिन्न हुए पतिकी पुत्रके समान सेवा करती है, वह धर्मफलकी भागिनी होती है।···जो स्त्री अपने हृदयको शुद्ध रखती, गृहकार्य करनेमें कुशल और पुत्रवती हो, पतिसे प्रेम करती और पतिको ही अपना प्राण समझती है, वही धर्मफल पानेकी अधिकारिणी होती है। जो सदा प्रसन्नचित्तसे पतिकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती है, पतिके ऊपर पूर्ण विश्वास रखती और उसके साथ विनयपूर्ण व्यवहार करती है, वही नारी धर्मके श्रेष्ठ फलकी भागिनी होती है। जिसके हृदयमें पतिके लिये जैसी चाह होती है, वैसी कामभोग, ऐश्वर्य एवं सुखके लिये भी नहीं होती; वही स्त्री नारी-धर्मकी भागिनी होती है। जो उत्तम गुणोंसे युक्त होकर सदा सास-ससुरके चरणोंकी सेवामें संलग्न रहती है और माता-पिताके प्रति निष्ठा रखती है, वही तपस्विनी मानी गयी है। जो नारी ब्राह्मणों, दुर्बलों, अनाथों, दीनों, अन्धों और कृपणोंका अन्नद्वारा भरण-पोषण करती है, वह पातिव्रत-धर्मके पालनका फल पाती है।'

इस उमा-महेश्वर-संवादमें परमाद्या जगन्माताने स्त्री-धर्मकी जो विवेचना की है, उसके बाद कहनेको क्या रह जाता है? आज इस शिक्षाकी अवहेलना करनेके कारण ही लक्ष-लक्ष गृह निरानन्द, अभिशप्त और विखण्डित हो रहे हैं। उत्तम नारी घरका प्राण है। महाभारतमें कहा गया है—

पुत्रपौत्रवधूभृत्यैः　　संकीर्णमपि　　सर्वतः।
भार्याहीनगृहस्थस्य　　शून्यमेव　　गृहं　　भवेत्॥

अर्थात् घरमें पुत्र, पुत्रवधू, पौत्र तथा भृत्य भले ही हों, परंतु स्त्रीके बिना घर सूना मालूम पड़ता है।

फिर (महाभारत ३। ६१। २९) में कहते हैं—

न च भार्यासमं किंचिद् विद्यते भिषजो मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

दुःखमें पड़े हुए पतिके लिये स्त्री सबसे बड़ी औषध है।

इन सब सूत्रोंमें नारीको पतिके प्रेम एवं सेवामें तन्मय होनेका जो आदेश है, उसका अर्थ यह नहीं कि हर हालतमें पति उससे अधिक गुणी होता ही है; न इसका अर्थ स्त्रीकी हीनता है। इसमें पति एक उच्च धर्म-साधनाका माध्यम तथा प्रतीक है। नारीने अपनी तपस्या, निष्ठा एवं सेवासे उसमें एक महनीय सुषमाकी सृष्टि की है। भारतीय दाम्पत्यका आध्यात्मिक लक्ष्य दो जीवोंके व्यक्तित्व-निमज्जनद्वारा एक अखण्ड आत्माका निर्माण है। उसका ऐहिक लक्ष्य धर्म, अर्थ, कामकी तुष्टि एवं संस्कारद्वारा आनन्दकी प्राप्ति है।

(४)

मातृत्व

मातृत्व नारी-धर्मकी परिणति है। मैंने ऊपर कहा है कि भारतीय समाज-गठनमें प्रत्येक इकाई भोगसे त्यागकी ओर प्रयाण करती है। नारीमें मातृत्व उसी उपक्रमकी पूर्ति है। नारीमें कामनाका नर्तन है, मातृत्व उस कामनाको समर्पणमें निःशेष कर देनेका आदर्श है। नारीमें ग्रहण है, मातामें त्याग है—अपने लिये नहीं, सम्पूर्णतः दूसरोंके लिये जीनेकी भावना है और फिर यह दूसरोंके लिये जीना ही अपने लिये जीना भी है।

मातृत्व एक अवस्था ही नहीं, एक भाव भी है। ज्यों-ज्यों नारी अपने अञ्चलकी छायातले अधिकाधिक प्राणियोंको जीवन तथा शक्ति देती है, त्यों-त्यों उसमें प्रच्छन्न मातृत्वका विकास होता है। वह नित्य मङ्गलमयी, नित्य अन्नपूर्णा है। वह सतत दानमयी है—रिक्ता होकर भी ऐश्वर्यसे पूर्ण, जिसकी करुणाका कोश कभी रिक्त नहीं होता।

यों भी उसपर नवीन जीवनकी रचना एवं संवर्द्धनका भार है। एक असमर्थ जीवनको अपनी छातीके दूध, अपनी निष्ठा, सेवासे जगद्द्वन्द्वोंके बीच शक्तिका स्फुलिङ्ग बनाकर उपस्थित कर देनेसे बड़ा और कौन धर्म है!

इसीलिये प्रत्येक गृह, प्रत्येक समाज और प्रत्येक जातिका भविष्य सुमाताओंपर निर्भर करता है। यदि माँ नहीं तो संतति कैसी? प्रेमसे उमंगी-उमंगी, अन्तर्निष्ठासे जागरण और सर्वस्व देकर प्राणीका निर्माण करनेकी अदम्य आकाङ्क्षासे उद्भासित माताएँ आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता हैं, हमारी निधि भी हैं और हमारी प्रेरणा भी।

आज गृहोंमें अनेकविध कर्तव्योंसे अनुप्रेरित कन्याओं, अनेकविध निवेदनोंसे परिपूर्ण स्त्रियों—गृहिणियों तथा सम्पूर्णतः समर्पित शक्तिरूपिणी माताओंकी आवश्यकता है। आज गृह-गृहमें गृहलक्ष्मियोंका आवाहन है; आज गृह-गृहमें मातृत्वका स्वर गूँजनेकी आवश्यकता है। आओ माँ! अनेक रूपोंमें आओ, प्राणरस बनकर आओ, मार्ग बनकर आओ, आदर्श और प्रेरणा बनकर आओ।

सतीधर्म

(लेखिका—रानी श्रीसज्जनकुमारीजी शिवरती)

जैसे पुरुषसे रहित प्रकृतिका कोई अस्तित्व ही नहीं है, इसी प्रकार धर्मपत्नी भी पतिकी छायामात्र है । माता दुर्गाकी स्तुतिमें प्रार्थना है—

> पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम् ।
> तारिणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम् ॥

जिस घरमें पति-पत्नी एकचित्त हैं, वहाँ सभी सम्पदाएँ नित्य रमण करती हैं । इसी हेतु हमारी संस्कृतिमें वाइफ, बीबी आदि न होकर 'पत्नी' शब्दके पूर्व 'धर्म' शब्द जुड़ा रहता है; उसे धर्मपत्नी कहते हैं । धर्म साथ लग जानेसे पत्नी वासनापूर्तिका साधन न होकर 'तारिणी दुर्गसंसारसागरस्य' के नाते परलोकमें भी साथ नहीं छोड़ती । वह त्याग तथा विशुद्ध प्रेमकी पराकाष्ठा है ।

भारतमें चूडाला, मैत्रेयी, मदालसा, तारा, दुर्गावती आदि-जैसी अगणित ज्ञानी, ध्यानी, भक्त नारियाँ तथा वीराङ्गनाएँ हो गयी हैं, जिन्होंने विपथगामी स्वामियोंको सत्यका मार्ग दिखलाया था तथा अपने पवित्र नारी-जीवनको सार्थक किया था ।

आर्यरमणियोंने पतिसे पृथक् अपने शरीर आदिके सुख-स्वार्थकी बात कभी नहीं सोची । उनका सर्वस्व सदा अखण्डरूपसे पतिमें समर्पित रहा । ऐसे भी उदाहरण हैं कि सप्तपदीके सात पद भी पूर्ण नहीं हो पाये थे कि गौ-मुक्तिके हेतु श्रीपाबूजी विवाह-संस्कार अधूरा छोड़कर युद्धके लिये निकल पड़ते हैं तथा वहीं खेत रह जाते हैं और पत्नी पीछेसे उनकी अनुगामिनी होती है । सगाई हुई कन्याएँ भी भावी पतिके युद्धमें मरण प्राप्त होनेपर उनके साथ सती हो जाती हैं । चित्तौड़में तीन विशाल साके हुए गदलक्ष्मण, विक्रमादित्य तथा उदयसिंहके समयमें । जब क्षत्रिय वीरोंने देखा कि लाखों यवन-सेना दुर्गको चतुर्दिक् घेरे खड़ी है, रसद-प्राप्तिका कोई मार्ग नहीं बचा है, तब वे मुट्ठीभर शूर केसरिया वस्त्र पहिन (केसरिया वस्त्र परम हर्षके अवसरका द्योतक है) बड़े आनन्द तथा उल्लासके साथ शत्रुसेनामें कूद पड़े और सहस्रोंकी संख्यामें हिंदू-रमणियाँ गीत गाती हुई जलती चितामें प्रवेश कर गयीं । उनके मनमें जरा भी दुःख नहीं था, विरह भी नहीं; क्योंकि विरह तो तब हो जब पतिसे बिछुड़े । यहाँ तो तनके साथ तन, मनके साथ मन और पतिलोक-प्राप्तिका सत्य संकल्प है । सती अनुसूयाके वचन हैं—

> एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥
> उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
> बिनु श्रम नारि परमगति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥

अनुसूया कहती हैं—'बिनु श्रम परमगति' थोड़े अक्षरोंमें कितना रहस्य भरा है । भाव यह है कि पुरुषमें तो कर्तृत्वका अभिमान होता है; उसे मिटानेके लिये उसे अनेकों जप-तप, व्रत-उपवास, तीर्थ-दान-पुण्य आदि कठिन परिश्रम करने पड़ते हैं, तब कहीं सद्गति मिलती है । परंतु स्त्रियोंको तो कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता; उन्हें तो केवल ईश्वर-स्वरूप पतिके प्रति आत्मसमर्पण, सर्वस्व निछावर कर देना है । जो कुछ भी खाये-पिये, पहने—शृङ्गार करे, संतान-पालन करे—सब कार्य केवल पतिके सुखके लिये करे । पुरुषको तो ईश्वरके साक्षात्कारके पूर्व आस्था बनानी पड़ती है और हम स्त्रियोंके भगवान् तो आरम्भसे ही साक्षात् दिन-रात अपने अरसपरस रहते हैं, उनके अस्तित्वमें संदेहके लिये रंचभर भी स्थान नहीं है । न उन्हें रिझाना, न कुछ खोना; यहाँ तो केवल मिलन-ही-मिलन है । विरहमें भी मिलनकी अनुभूति है । बस, उनकी हो जाओ । इसीकी तो भगवान् भी भक्तोंसे अपेक्षा करते हैं । स्वामीकी सेवामें श्रम कहाँ, वहाँ तो नित्य नव उल्लास है—नित्य नव उत्साह है । नारीके लिये परम गतिकी प्राप्तिका श्रमरहित साधन कैसा अमोघ है । वह शुभ दिन कब होगा, जब कोढ़ चिल्ससे लाभ उठानेकी भावना छोड़ मेरी बहिनें अपने स्वरूपको समझेंगी !

युग-धर्मके अनुसार नारी-धर्म

(लेखक—श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल० बी०, एल्० टी०)

समाजरूपी शरीर

समाजरूपी शरीरका गठन स्त्री और पुरुष दोनोंको लेकर हुआ है और समाजरूपी विराट् शरीरके लिये हाथ-पैर बनकर उत्तम संतानको उत्पन्न करना उनका अपना लक्ष्य रहा है। परमेश्वरने स्त्री और पुरुषकी सृष्टि दो स्वतन्त्र प्राणियोंके रूपमें की, जिनका महत्त्व एक समान है; किंतु सृष्टिका चक्र चलानेके लिये दोनोंका सामञ्जस्य अनिवार्य है। जीव-शास्त्रके अनुसार नर और नारी सम्पूर्ण-रूपसे कभी पृथक् नहीं रह सकते; क्योंकि इनके पृथक् रहनेका तात्पर्य रचना-क्रममें सामञ्जस्यका अभाव है और इस अभावसे सृष्टिका अस्तित्व भी तो सम्भव नहीं।

नारीके दो रूप

आजकी नारी दो रूपोंमें देखी जा सकती है—(१) पारिवारिक जीवनकी अधिष्ठात्रीके रूपमें वह अपनी ही सीमाओंमें संयम और संतोषको अपनाकर उत्कर्षकी कामना करती है तथा (२) सुधार और जागरणकी संदेशवाहिकाके रूपमें वह परिवारसे विरक्त रहकर उस कृत्रिमताकी आराधना करती है, जो नारी-जीवनके लिये वस्तुतः अभिशाप है। हम यह तो स्वीकार करेंगे ही कि नारीने जीवनकी आहुति देकर भी अपने नारीत्व और सामाजिक मर्यादाकी रक्षा की है। यह सत्य है कि पिछले सब नियमोंने पुरुषको अनेक प्रकारकी छूट देते हुए नारीको जकड़ दिया है; किंतु आज भी पुरुषके हृदयमें नारीके प्रति कोमलताका एक भाव है, नियम-पालनमें उसकी क्षमताके लिये अपनेसे भी अधिक श्रद्धा है। कुछ अनुशासन स्मृतियोंद्वारा भले ही लादा गया हो, परंतु भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

दाम्पत्य-प्रेमकी सफलता

दम्पतिका प्रेम, जो पहलेसे ही इतना कोमल रहा है कि तनिक झटका लग जानेपर ऐसा टूट जाता है, जिसके जुड़नेकी सम्भावना नहीं रहती, आज कुछ विरले ही भाग्यवानोंको अपने सम्पूर्ण रूपमें प्राप्त होता है। बात भी यह है कि आजके भयंकर झंझावातमें गृहस्थीकी परिस्थितियों-का सामना कर सकना प्रत्येकका काम नहीं रहा। गृहस्थीमें ऐसी स्थिति आ ही जाती है, जिससे दाम्पत्य-प्रेमकी शृङ्खलामें व्यवधान उपस्थित हो जाता है। जीवनकी जटिलताके साथ ऐसे व्यवधानके अवसर भी बहुत हो गये और इसलिये पति-पत्नीका उत्तरदायित्व भी विशेष हो गया है। दाम्पत्य-जीवनकी सफलता तो परस्पर विचारोंमें सामञ्जस्य स्थापित करनेकी चेष्टा और उसमें असफल रहनेपर भी एक-दूसरेको निबाह लेनेकी सुबुद्धिमें है। मानव और उसकी परिस्थितियों-को उनके यथार्थ रूपमें समझकर तदनुसार आचरणका व्यावहारिक ज्ञान जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उपयोगी है—फिर गार्हस्थ्य-धर्मके सुखमय सफल निर्वाहके लिये तो उसका महत्त्व असंदिग्ध है। जब विवाहका उद्देश्य पारस्परिक सहयोगद्वारा स्त्री-पुरुषकी निजी कमजारियोंको दूर करना है, तब वे एक दूसरेकी कमजारियोंको समझते हुए उनसे निर्वाह करने तथा प्रेम, धैर्य, शान्ति और कौशलद्वारा उनका निवारण करनेकी ओर क्यों न अग्रसर हों?

स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये कुछ सच्चे सुखका यह प्रश्न है। अतः दोनोंका ही सम्मिलित प्रयत्न इधर कुछ कर सकता है, परंतु उग्रता अपनानेवाले पुरुषकी अपेक्षा धीरताके विशेष निकट नारीसे हमें विशेष आशाएँ हैं। भारतीय नारी, जिसका विकास परिवारमें होता है, थोड़ी चतुराईसे ही अपने परिवारका विश्वास जीतनेमें समर्थ होगी।

प्रेम और विवाह

प्रेम और विवाह—दो ऐसी वस्तुएँ हैं, जो अपने ऊपर आप एक कठोर शासन और सब प्रकारके स्वार्थका आप ही निस्कुल त्याग चाहती हैं; किंतु कुछ भोली लड़कियाँ उस व्यक्तिसे, जो उनपर विजय पानेका बड़ा

सौभाग्य प्राप्त कर सका है, अपनी बहुत अधिक पूजाकी आशा रखती हैं और उनकी यह मूर्खता उनके जीवनको दुःखदायी और निराशापूर्ण बना देती है। संसार कैसा हो, इसकी चिन्ता बहुत कुछ अपने बड़े-बूढ़ोंके ऊपर छोड़कर उन्हें चाहिये कि वे यह समझें कि संसार क्या है।

आजकी पढ़ी-लिखी स्त्रीकी अधिकतर यह धारणा होती है कि विवाहके उपरान्त उसे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भुलाकर अपने तन और मनका उपयोग भी पतिके इच्छानुसार करना पड़ेगा। कुछ प्रगतिशील नारियाँ स्त्री-जातिमें स्वभावतः पाये जानेवाले 'मातृत्व'के प्रबल भावका विरोध करती हुई प्रकृति और परमात्मासे भी लड़नेको तैयार हो जाती हैं। कुछ तो माता बननेमें अपने यौवन और सौन्दर्यका ह्रास समझती हैं और कुछकी यह धारणा होती है कि किसीकी माता बनकर वे असमयमें ही अपनी सुख-शान्ति खो बैठेंगी।

नौकरीके लिये दौड़

इस मनोवृत्तिको अपनानेवाली अधिकांश स्त्रियाँ स्वच्छन्द रहकर स्वयं अपनी जीविका उपार्जित करना श्रेयस्कर समझती हैं और चाहती हैं कि वे अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्यको चिरस्थायी बनाये रक्खें। यों देखनेमें किसी दूसरेके हाथ अपनी स्वतन्त्रता बेचना उन्हें इष्ट नहीं; पर उनकी यह कामना सदैव रहती है कि वे दूसरोंपर शासन करनेमें समर्थ हों। किंतु संयमकी शक्तिके बिना यह सब एक भ्रमजाल ही सिद्ध होता है। विलासिताके वर्तमान वातावरणमें स्वभावसे दुर्बल वह नारी, जो आजीवन अविवाहित रहनेका संकल्प करती है, जीवनमें सब समय, सब स्थितियोंमें आचरणकी पक्की नहीं रहती, अथवा रहने नहीं पाती।

धर्मविहित उत्तरदायित्व

ज्यों-ज्यों स्त्रियाँ नौकरीकी ओर दौड़ रही हैं, भारतीय सामाजिक जीवनमें उच्छृङ्खलता विशेष दिखायी दे रही है। सभी नारियाँ बच्चा न पैदा करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें, तो संसारकी स्थिति कल्पनातीत होगी। यथार्थमें स्त्रियाँ समाजका अपेक्षाकृत दुर्बल अङ्ग हैं—वे नितान्त स्वतन्त्र होकर सुरक्षित नहीं रह सकतीं। स्त्रीमें यदि कोमलता है, तो पुरुष कठोरता-का प्रतीक है। स्त्री और पुरुषका एक द्वन्द्व है और ऐसा कि दोनोंके साथ रहनेपर ही एक दूसरेकी शोभा है। पति-पत्नी एक दूसरेके पूरक हैं, दोनोंके मिलनेपर एक सम्पूर्ण मङ्गलमय सौन्दर्यका विकास होता है। दोनोंका शरीर परस्पर सुख-प्राप्तिके हेतु है और यह सुख-प्राप्ति कुछ विधिवत् नियमोंमें बँधकर विशेष आनन्ददायक होती है। अतएव युवक और युवतियों-का जीवन तभी सफल होगा, जब वे 'विवाह'का उद्देश्य केवल 'मनोविनोद' न समझकर उसके साथके धर्मविहित उत्तरदायित्वके समुचित निर्वाहके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपनी गर्दन झुकायेंगे। स्वेच्छासे ग्रहण किये हुए उत्तरदायित्वके सम्यक् निर्वाहसे जो आत्मतुष्टि सम्भव है, वह अन्यत्र कहाँ?

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' का सिद्धान्त उगते हुए बालक-बालिकाओंमें बहुत गहरी नींव देकर प्रतिष्ठित करना सामयिक कर्तव्यका आह्वान है। यह एक अकाट्य उक्ति है कि ब्रह्मचारी-का जन्म गृहस्थोंके ही घरमें हुआ करता है। जिस समाजका जीवन जितना उन्नत और पवित्र है, उसमें ब्रह्मचारीके सुन्दर निर्माणकी भी उतनी ही सम्भावना है। कुमार्गकी ओर ले जानेवाले कुरुचिपूर्ण साहित्य और अश्लील दृश्योंपर केवल कहने भरका नियन्त्रण न रखकर धार्मिक अथवा नैतिक ग्रन्थोंके पाठ तथा तदनुकूल आचरणको प्रोत्साहन देना समाजका प्रमुख कर्तव्य है।

सौन्दर्य-प्रतियोगिताएँ

स्त्री-जातिके स्वास्थ्य और सौन्दर्यकी रक्षाके नामपर भी एक समस्या आ खड़ी हुई है। आश्चर्य तो यह है कि वह पुरुषवर्ग, जो अपना ही स्वास्थ्य ठीक नहीं रख पाता, इस ओर विशेष उत्साह रखता हुआ दिखायी देता है। स्त्री-जातिका सुन्दर और सुदृढ़ होना सभ्यताका परमावश्यक अङ्ग है। स्थितिके अनुसार सुन्दरताका आदर्श बदलता रहता है; किंतु उसका मुख्य रूप एक है और वह है मनुष्य-जातिको आकर्षित करनेकी शक्ति। इसी पुरातन रूपको ध्यानमें रखते हुए आधुनिक युगमें संसारके उन्नत देशोंकी स्त्रियाँ व्यायाम और शृङ्गारद्वारा शरीरके सुगठनके लिये अधिक परिश्रम कर रही हैं। किंतु शृङ्गारकी बीहड़ता तथा सौन्दर्यका अवाञ्छित प्रदर्शन बहुत अंशोंमें इसे स्त्री-पुरुषोंकी विलासिताकी दौड़के रूपमें ही प्रकट करता है और आजकी सभ्य कहलानेवाली दुनिया स्त्री-सौन्दर्य-प्रदर्शनकी होड़में लगी है, जो पतनकी निश्चित सूचना है।

सतीत्व एक उच्च आदर्श

भारतका गौरव तो भारत बने रहनेमें ही है। सतीत्वके

अपने उच्च आदर्शोंको ध्यानमें रखते हुए नियम और संयमके बन्धनमें बँधे रहकर स्वास्थ्य और सौन्दर्यका चिन्तन करना ही भारतीय महिलाओंके लिये अभीष्ट है। इस प्रकारके शारीरिक व्यायाम और आवश्यक शृङ्गारके द्वारा शरीरके स्वाभाविक सौन्दर्यकी रक्षा और वृद्धि करते हुए पत्नियाँ पतियोंपर अपना अच्छा अधिकार रक्खेंगी, जिससे जीवनयात्रा अधिक सुखमयी होगी।

निष्कर्ष

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें संयमशीलता और नियमबद्धता, सरलता और पवित्रता, कर्मशीलता और चेतनताको उनके योग्य महत्त्व देनेसे ही देशकी संतान आरोग्य एवं उन्नति प्राप्त करेगी। तभी मातृत्व और पितृत्वका पूर्ण विकास देखनेको मिलेगा। अपने शरीरके प्रति कर्तव्यका निर्वाह अपने देश और समाजके प्रति कर्तव्य-पालन है।

× × ×

नारी एक जटिल पहेली है और धर्म बहुत व्यापक। साथ ही युगकी विचारधाराएँ अनेक और अस्पष्ट हैं। तथापि प्राचीन और नवीन संस्कारोंके समुचित सम्मिश्रणसे युग-धर्मके अनुसार नारी-धर्मका किञ्चित् आभास देना ही इस लेखका विषय है।

भारतीय नर-नारीका सुखमय गृहस्थ

भारतीय नर-नारी दोनोंका घरमें समान अधिकार।
एक दूसरेके पूरक बन करते विपुल शक्ति-संचार॥
जैसे दो पहिये गाड़ीके चला रहे गाड़ी अविकार।
त्यों दोनों मिल सदा चलाते ये गृहस्थका कारोबार॥
रहते पहिये सक्रिय दोनों जब गाड़ीके दोनों ओर।
चलती तभी सुचारु रूपसे गाड़ी सतत लक्ष्यकी ओर॥
अगर जोड़ दे कोई दोनों पहिये कभी एक ही ओर।
चलना रुक जायेगा, गाड़ी पड़ी रहेगी उस ही ठौर॥
वैसे ही नारी सँभालती-करती घरका सारा काम।
पुरुष देखता है बाहरका, अर्थोर्जनका कार्य तमाम॥
नारी है, घरकी सम्राज्ञी पुरुष बाहरी कार्याधीश।
सेवक-सखा परस्पर दोनों, दोनों ही दोनोंके ईश॥
है घर एक, तथापि सदा है कर्मक्षेत्र दोनोंके भिन्न।
हों यदि कर्म विभिन्न न, तो बस, हो जायेगा घर उच्छिन्न॥
खूब निखरता यों दोनोंके मिलनेसे गृहस्थका रूप।
प्रीति परस्पर बढ़ती, बढ़ता पल-पल सुख-सौभाग्य अनूप॥
दोनों दोनोंको सुख देते, रहते स्व-सुख-कामना-हीन।
स्वार्थ न होनेसे दोनोंका चित्त न होता कभी मलीन॥
दोनों दोनोंका ही आदर करते, करते सद्-व्यवहार।
प्रेरित करते दोनों प्रभुकी ओर परस्पर बारंबार॥

× × × ×

जहाँ त्याग है, वहीं प्रेम है; प्रेम स्वयं ही है सुखधाम।
त्याग-प्रेम-सुखमय भारत-नर-नारीका गृहस्थ अभिराम॥

नारीधर्म और उसके आदर्श

(लेखक—श्रीमोहनलालजी चौबे, बी० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न)

सृष्टिका आदिस्रोत है नारी । नारी सृष्टि-सृजनमें पुरुषकी पूरक है । आदिपुरुष एवं महाशक्ति विश्व-उत्पादनके स्रोत हैं । इन्हींसे संसारका आरम्भ हुआ । सृष्टि-सृजनमें यदि पुरुषका अंश बीजरूपमें रहा तो नारी उर्वरा श्यामला भूके रूपमें रही है । सृजन एवं वृद्धि नारीके प्रभूत गुण हैं । सम्भवतः नारीके इसी गुणसे वह जननी कहलाकर विश्ववन्द्य हुई । भारतीय इतिहासके पृष्ठ नारी-महिमाकी स्वर्णिम प्रशस्तिसे अङ्कित हैं । हमारा शास्त्र कहता है, 'जहाँ नारीकी पूजा—सम्मान होता है, वहाँ देवता रमण करते हैं ।'

देव-सम्मानित यह नारी-रत्न विधिकी अनुपम कृति है । नारी गृहका रत्न है । इसीलिये उसकी तुलना साक्षात् लक्ष्मीसे की गयी है और उसे 'गृहलक्ष्मी' संज्ञासे विभूषित किया गया है । लक्ष्मीजी धनकी देवी हैं । सदाचरण करनेवाली यह विदुषी अपने आदर्श आचारोंसे विद्यादेवी सरस्वतीको भी प्रसन्न कर लेती है । अतः गृह शान्ति-सदन बन जाता है । जहाँ सुमति है, वहाँ सम्पत्ति है ! जहाँ कुमति है, वहाँ विपत्ति । यथा—

> जहाँ सुमति तहँ संपति नाना ।
> जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥

वीणावादिनीकी अनुकूलतासे लक्ष्मी भी 'सुमति' ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस परिवारमें आ विराजती है, जहाँ उसे 'कलह'की जगह 'शान्ति' मिलती है । अतः ऐसे गृहमें सद्गृहिणीके प्रभावसे सरस्वती और लक्ष्मी—दोनों निवास करती हैं । यही गुणवती 'गृहलक्ष्मी' नामसे पुकारी जाती है ।

नारीका दूसरा रूप 'गृहिणी' है । गृहकार्यको परि-सुचारु चतुरतापूर्वक संचालन करना ही गृहिणीत्व है । गृहकार्यको उचित रूपमें चला ले जानेवाली चतुर नारी ही सद्गृहिणी है ।

नारीका महत्त्वपूर्ण स्वरूप 'जननी' है । नारीका यह रूप अत्यन्त आदरणीय, व्यापक एवं महान् है । जननकी महत् क्रियाके कारण ही वह जननी कहलायी । ममता इसका प्राण है । सृजनकी यह शक्ति 'मातृ', 'माता' या 'माँ'-नामोंसे सम्बोधित है । ममत्व नारीका कोमल भूषण है ।

नारीका द्वितीय महत्त्वपूर्ण रूप 'पत्नी' है । अपने स्वामीकी अनुगामिनी, गृहस्थीके उत्तरदायित्वको बँटानेवाली यह नारी अर्द्धाङ्गिनी कहलाती है । अपनी सेवासे पतिके आधे अङ्गपर अधिकार कर लेनेवाली ही अर्द्धाङ्गिनी है । पत्नीरूपमें नारी विलास-क्रीडा-सहचरी न रहकर विशुद्ध प्रेम-की प्रतीक है । पति ही उसका सर्वस्व है । ऐसी पति-परायणा नारी ही 'पतिव्रता' कहलाती है । मधुर भावमें यही 'कान्ता' है । नारीका यह विशुद्ध रूप ही उसका नारीत्व है ।

भगिनी नारी-रूपकी तृतीय धारा है । भाईके साथ सहोदरा (सह + उदर=एक ही कोखसे जन्म लेनेवाली) होनेके कारण स्नेह नारीका महत् गुण है । भाईके प्रति स्नेहकी सरिता बहानेवाली नारी ही है । कन्या इसकी शैशवावस्था है एवं तरुणी इसकी परिपक्व, प्रौढ़ा मध्य एवं वृद्धा अन्त अवस्था है । कौटुम्बिक दृष्टिसे और भी रूपभेद किये जा सकते हैं, किंतु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं । विभिन्न दृष्टियोंसे नारीके भेदोपभेदोंकी किंचित् चर्चाके पश्चात् अब नारीके धर्म एवं उसके आदर्शोंकी चर्चा कर ली जाय ।

नारीका सर्व-प्रचलित रूप पत्नी है । अतः सर्वप्रथम इसीपर विचार करें । भारतीय इतिहास पातिव्रत्यकी पुनीत धर्मध्वजा धारण करनेवाली नारियोंकी प्रशस्तिसे परिपूर्ण है । सीता, अनसूया एवं सावित्री ऐसी ही देवियाँ हैं, जिन्होंने अपने नारी-धर्मके कारण अमर ख्याति प्राप्त की ।

पातिव्रत्य-धर्म पत्नीरूपमें स्थित नारीका प्राण—आत्मा है । अतः नारीका सबसे बड़ा धर्म पातिव्रत्य ही है । इसके पालन एवं निर्वहनके पश्चात् ही वह अपना आदर्श विश्वमें उपस्थित कर सकती है ।

पातिव्रत्य-धर्म क्या है और जगत्में पतिव्रताएँ कितनी प्रकारकी होती हैं—इसका वर्णन स्वयं अनसूयाजीसे सुनिये, जो उन्होंने भगवती सीताजीके माध्यमसे संसारकी नारियोंको उपदेश देनेके हेतु सुनाया—

> जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं ।
> बेद पुरान संत सब कहहीं ॥

कौन-से हैं वे चार प्रकार—

(१) उत्तम के अस बस मन माहीं ।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥

(२) मध्यम पर पति देखइ कैसें।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
(३) धर्म बिचारि समुझि कुल रहई।
सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
(४) बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥

उत्तम, मध्यम, निकृष्ट एवं अधम—ये चार प्रकारकी नारियाँ बतायी गयी हैं। उत्तम स्वप्नमें भी परपुरुषकी कल्पना नहीं करती। मध्यम, अपने पतिके अतिरिक्त अन्य सभी पुरुषोंको—बड़ोंको पितातुल्य, सम-वयस्कोंको भाई-तुल्य एवं छोटोंको पुत्र-तुल्य—देखती है। निकृष्ट प्रकारकी पतिव्रता धर्मका विचार करके ही कुल-मर्यादा नहीं तोड़ती। अधम प्रकारकी स्त्री तो भयवशात् ही अपने धर्मपर चलती है। सीता, अनसूया एवं सावित्री प्रथम कोटिकी पतिव्रताएँ हैं, जिन्होंने अपने प्रबल सतीत्वके कारण जगत्में ख्याति प्राप्त की। सावित्रीने अपने मृतपति सत्यवान्को अपने पाति-व्रत्य-धर्मके प्रतापसे ही पुनर्जीवितकर वापस पाया। यह है नारीधर्मकी महत्ता, जिसके सामने यमराज भी झुक गये। महासती अनसूयाके प्रतापके कारण ही शिव, ब्रह्मा एवं विष्णु शिशुरूपमें परिणत हो गये और वे अपने धर्मकी रक्षा करते हुए उन्हें दुग्धपान करा सकीं तथा पार्वती, लक्ष्मी एवं ब्रह्माणीके समक्ष अपनी परीक्षा दे सकीं। अतः नारी-धर्मकी परीक्षा कम कठोर नहीं। धर्मसे कभी न डिगनेवाली नारी ही सच्ची पतिव्रता है।

नारीका उत्तम आदर्श रखनेवाली 'सीता' हैं, जिन्होंने अपने पतिके साथ चौदह वर्षतक घोर संकट सहनेके बाद भी कभी आह्तक न की। उनका परम सुख उसीमें था, जिसमें पतिका सुख हो। अतः नारीका धर्म पतिका अनुगमन करना है। यह है हमारा सनातन धर्म और हमारे पूज्य नारीरत्नोंकी गौरवमयी गाथा, जिसने विश्वकी समस्त नारियोंको प्रकाश दिया।

इन महान् नारी-आदर्शोंकी संक्षिप्त व्याख्याके पश्चात् नारीधर्मकी मीमांसा कर लेना युक्तिसंगत होगा। मानसके कतिपय स्थल नारीधर्मके आख्यानोंसे परिपूर्ण हैं। अतः मानससे उदाहरण लेना श्रेयस्कर होगा।

नारीका परम धर्म क्या है?

नारी जन्म-जात अपवित्र मानी गयी है। इतना ही नहीं, कुछ महापुरुषोंने तो नारीको नरकका द्वारतक बताया है। पर यह एक संन्यासीके लिये उचित हो सकता है, साधारण सांसारिकके लिये यह अत्युक्ति होगी। धार्मिक ग्रन्थोंमें भी नारीको अपावन अवश्य माना गया है—

नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥

—ये आठ अवगुण नारीमें जन्मजात हैं। तो कब होगी यह अपावन नारी पवित्र? जब कि वह पतिकी सेवा करनेका सुकृत करे—

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

पति कैसा भी हो, नारीके लिये सेव्य है—

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥

नारीका सर्वतोमुखी धर्म तो केवल एक ही है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

सास और ससुरके प्रति वधूका धर्म

एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥

सास-ससुरकी चरणसेवा करना—वधूरूपमें नारीका यही श्रेष्ठ धर्म है। सास-ससुरके प्रति वधूका आदरभाव होना चाहिये। देखिये सीताजीके पवित्र विनयपूर्ण भाव—

सासु ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।
मोर सोच जनि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ॥

गुरुजनोंके सामने पतिसे सीधे बात न करनेकी मर्यादा सीताके चरित्रमें देखिये—श्रीराम पत्नीको जहाँ सास-ससुरकी सेवा करनेकी सीख देते हैं, वहाँ सीता इसे स्वीकार तो करती हैं, किंतु पतिसेवा करना इससे भी बड़ा धर्म मानती हैं। मातृ-तुल्य सास कौसल्याजी सामने विराजित हैं। अतः मर्यादा निबाहना आवश्यक है। इसलिये पतिकी सीखका उत्तर पतिको न देकर किन मीठे शब्दोंमें अपनी सास श्रीकौसल्या-जीको देती हैं—

लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥

बोलनेके पहले भी साससे क्षमा माँगना और उनके पैर पकड़ना, पतिसे प्रत्यक्षमें बात न करना—कितनी मर्यादा है सीताके चरित्रमें। यही तो भारतीय नारीधर्मका आदर्श है।

धर्म-संकटके समय गुरुजनोंसे बात करना भी पड़े तो पहले क्षमा माँग लेना उचित होता है । देखिये, सुमंतसे वार्ता करते समय सीता क्या कहती हैं—

तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी॥
आरति बस सन्मुख भइउँ, बिलगु न मानब तात ।

अतः स्पष्ट हुआ कि संकटकालीन स्थितिमें गुरुजनोंसे क्षमा माँगकर (किंतु पर्दा करते हुए) बधू बात कर सकती है । संकटकालीन स्थितिमें परपुरुषसे बात करनेका मर्यादित ढंग सीता-रावण-प्रसङ्गमें देखिये ।

रावण बार-बार आग्रह करता है सीतासे अपनी ओर देखनेका; किंतु नारीधर्मकी मर्यादाकी प्रतिमूर्ति सीता किस ढंगसे बात करती हैं, देखिये—

तृन धरि ओट कहति बैदेही । सुमिरि अवधपति परम सनेही ॥

पतिके प्रति नारीका धर्म

स्त्रीके लिये तो पति ही सब कुछ है । कुटुम्बी लोग प्रिय हैं, किंतु पत्नीका नाता इनसे पतिके नातेको लेकर ही है । यथा—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई ॥
सास ससुर गुर सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ॥

पतिका सुख ही नारीका सुख है । बिना पतिके सुख कहाँ ?—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥

बिना पतिके नारी ऐसी है, जैसे बिना पानीके नदी और बिना प्राणकी देह—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥

कठिन विपत्तिके समय ही नारीके धर्मकी परीक्षा होती है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपद काल परिखिअहिं चारी ॥

कितनी नारियाँ हैं ऐसी जगत्‌में, जो पतिके सुखमें सुख और दुःखमें दुःखकी अनुभूति करती हैं ?

सासरूपमें वधूके प्रति नारीका धर्म

कौसल्याजीका अपनी पुत्रवधूके प्रति अपने धर्मका पालन और प्रेम-भावना देखिये—

मैं पुनि पुत्र बधू प्रिय पाई । रूप रासि गुन सील सुहाई ॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई । राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई ॥

जहाँ पुत्रवधूका धर्म सास-ससुरकी सेवा करना है, वहाँ सासका धर्म भी यह हो जाता है कि वह बधूको अपनी बेटीसे बढ़कर समझे । आज हम देखते हैं कि सास-बहूका मनमुटाव गृह-युद्धका कारण होता है । बहू माँसे पुत्र छीन लेती है और सम्पूर्ण कुटुम्बको पृथक् कर देती है तो दूसरी ओर सास बहूको भाँति-भाँतिकी यातनाएँ दे उसे संत्रस्त करती रहती है । क्या ही अच्छा हो कि सास और बहुएँ कौसल्या और सीतासे परस्परके बर्तावकी शिक्षा लें ।

नारीका व्यक्तित्व जितना महान् है, उतना ही उसका धर्म भी महान् है । नारी-धर्म पालन करनेवाली नारी ही अपने जीवनमें निखार ला सकती है । पतिके प्रति श्रद्धा, स्वजनोंके प्रति प्रेम, पुत्रके प्रति स्नेह, अतिथिके प्रति विनम्रता और सत्कार, मित्रों और पड़ोसियोंके प्रति सद्व्यवहार—ये सभी नारी-धर्मके अन्तर्गत आते हैं । इनसे विमुख नारी नारी नहीं हो सकती । आज पश्चिमकी हवाने भारतीय नारी-धर्मपर जो आघात किया है, उससे भारतीय नारी-संस्कृतिको कम आघात नहीं लगा है; किंतु भारतीय नारीकी ये धर्म-परम्पराएँ इतनी गहन और महान् हैं कि इनकी नींव अभी नहीं हिल पायी है । नारी पुरुषसे प्रतिस्पर्धा करनेवाली नहीं वरं उसकी सहचरी है, यह कम-से-कम भारतीय नारियोंको नहीं भूलना चाहिये । धर्म नारीका प्राण है । इसके बिना नारीका नारीत्व शून्य है ।

(२)

(लेखक—साहित्यवाचस्पति पं० श्रीमथुरानाथजी शर्मा श्रोत्रिय)

आये दिन सभ्य संसारमें ऐसी शङ्काएँ प्रायः उठती रहती हैं कि नर और नारी जब एक ही सृष्टिकर्ता जगदीश्वरकी संतान हैं, एक ही आत्मा दोनोंके अभ्यन्तर व्याप्त है, फिर दोनोंके अधिकार तथा धर्म पृथक्-पृथक् हों—ऐसा क्यों ? इसी शङ्कापर कुछ विचार यहाँ किया जाता है ।

अवश्य ही स्त्री और पुरुष दोनोंमें एक ही आत्मा विद्यमान है, किंतु दोनोंकी प्रकृति सर्वथा भिन्न-भिन्न है । जिस तरह स्थूल जगत्‌में भी मातृशक्तिके आधिक्यसे कन्या उत्पन्न होती है और पितृशक्ति अधिक होनेपर पुत्र पैदा होता है, ठीक उसी तरह आदिसृष्टिमें भी जब प्रकृति-पुरुषके

संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई, तब एक प्रकृतिकी शक्तिको अधिक लेकर नारी-धारा चली और दूसरी पुरुष किंवा परमात्माकी शक्तिको अधिक लेकर पुरुष-धारा चली। जो जीव नारी-धारामें आया वह चौरासी लाख योनियोंतक नारी-जीव बनता-बनता अन्तमें मनुष्य-योनिमें आकर स्त्री ही बना और जो जीव पुरुषधारामें आया, वह चौरासी लक्ष योनितक पुरुष जीव बनता-बनता अन्तमें मनुष्य-योनिमें आकर पुरुष ही बन गया। प्रायः ऐसा ही नियम है। इसका शाप, वरदान या अन्य विशेष कारणवश अपवाद भी होता है। उभय (स्त्री-पुरुष) शक्तियोंकी समानता होनेसे सृष्टि नहीं चल सकती; क्योंकि विषमता ही सृष्टिका कारण है और समता लयका कारण है। यही कारण है कि स्थूल जगत्‌में भी पितृशक्ति तथा मातृशक्ति अर्थात् रजोवीर्य-शक्ति-के बराबर-बराबर होनेसे प्रायः नपुंसक संतान उत्पन्न होती है, जिससे आगेकी सृष्टि नहीं चलती। अतः प्रमाणित हुआ कि स्त्री और पुरुष दोनोंमें आत्मा एक होनेपर भी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है और इसी कारणसे दोनोंके अवयवोंमें और धर्म तथा अधिकारमें विभिन्नता है। पुरुषमें पुरुष-शक्तिकी प्रधानता और नारीमें प्रकृति-शक्तिकी प्रधानता होती है। यथा देवीभागवतमें—

सर्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाधममध्यमाः।
कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः॥

उत्तम, मध्यम, अधम—सभी प्रकारकी स्त्रियाँ प्रकृतिके अंशसे ही उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक विश्वमें सभी स्त्रियाँ उन्हींके कलांशसे बनी हैं। अतः सृष्टिके स्वभावानुसार ही पुरुषमें परमपुरुष-शक्तिका प्राधान्य और नारीमें प्रकृति-शक्तिका प्राधान्य होता है। जब प्रकृति अलग-अलग है, तब धर्म और अधिकार भी अलग-अलग अवश्य ही होगा; क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल ही धर्म तथा अधिकार होते हैं। यही कारण है कि आर्यशास्त्रमें नारीका धर्म तथा अधिकार पुरुषके धर्म और अधिकारसे विभिन्न प्रकारका बताया गया है।

मानव-जीवनका लक्ष्य वास्तवमें भगवत्प्राप्ति या मुक्ति है। यह मुक्ति परमात्मामें तल्लीन हुए बिना नहीं मिलती। इस कारण मुक्तिके लिये स्त्री-पुरुष दोनोंको ही साधनाके द्वारा परमात्मामें लय होना आवश्यक है। पुरुषमें तो परम पुरुष परमात्माकी शक्ति अधिक है ही, अतः मुक्ति-लाभार्थ उसका इतना ही कर्तव्य होता है कि वह फँसानेवाली माया या प्रकृतिको छोड़कर अपने भीतर जो परमात्माकी अधिक सत्ता है, उसे पहचान ले कि—'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ; किंतु स्त्रीके भीतर तो ऐसा नहीं है। उसमें फँसानेवाली माया या प्रकृतिकी सत्ता अधिक है, बल्कि स्त्री उसकी अंशरूपिणी है। इसलिये वह अपनी सत्ताको कहाँ छोड़ेगी? वह अपनी सत्ताको छोड़ नहीं सकती, किंतु पुरुषकी सत्तामें डुबा सकती है। इस कारण अपनी स्त्री-सत्ताको पुरुष-सत्ता या पति-सत्तामें डुबो देना ही स्त्रीका धर्म है और इसीको पातिव्रत्य-धर्म कहते हैं। जो स्त्री अपनी सत्ताको मैत्रेयी, गार्गी आदिकी तरह एक बार ही परम पति परमात्मामें लय कर सकती है, वह 'ब्रह्मवादिनी' कहलाती है। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ रजस्वला नहीं होतीं, फलतः उनमें कामविकार नहीं होता। अन्यान्य स्त्रियाँ अपने पतिको ही भगवान्‌का रूप समझकर उन्हींमें सीता, सावित्री आदिकी तरह अपने मन-प्राणको तल्लीन कर देती हैं और यही उनके लिये स्वाभाविक तथा सहज सरल साधन है। इसी कारण आर्यशास्त्रमें पातिव्रत्य-धर्मका इतना गौरव तथा स्त्रीजातिके मोक्षके लिये इसे एकमात्र धर्म बताया गया है। यथा मनुसंहितामें—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
(५। १५५)

अर्थात् स्त्रियोंके लिये अलग न यज्ञ है, न व्रत है, न उपवास है—केवल पतिसेवाके द्वारा ही उनको उत्तम गति उपलब्ध होती है। यही धर्मशास्त्रवर्णित पातिव्रत्य या सती-धर्मका रहस्य है। सतीधर्मके इस रहस्यको संसारकी सब जातियोंने पूर्णरूपेण नहीं समझा है। जिस जातिकी आध्यात्मिक स्थितिका उन्नयन जितना अधिक हो पाता है, वह जाति इस रहस्यको उतना ही अधिक समझ पाती है। आर्यजातिके महर्षियोंने इस जातिका लक्ष्य आत्मानन्दकी प्राप्ति तथा मोक्ष-सिद्धि ही रक्खा था। इस कारण आर्यजातिके धर्मसिद्धान्तानुसार स्थूल-इन्द्रियोंका विषय-भोग जीवनका चरम उद्देश्य नहीं है, किंतु विषय-तृष्णाको दूर करके परमात्माके आनन्दमें लीन होना ही चरमोद्देश्य है। अतः त्यागमय सती-धर्मका गौरव भी यहीं पराकाष्ठापर पहुँचा हुआ है।

आर्यनारी अपने शरीरको पतिदेवताके सुख-अर्जनकी सामग्री समझती है और जिस प्रकार भक्तलोग देवताकी

पूजन-सामग्रीको देवताकी प्रसन्नताके लिये समर्पित करते हैं, उसी प्रकार केवल पतिदेवताकी प्रसन्नताके लिये ही सती स्त्री शृङ्गारादि धारण करती है। उसका जीवनधारण तथा सब कुछ अपने लिये नहीं, किंतु ऊपरके कुङ्कुम-चन्दनकी तरह पतिदेवताके लिये ही है। अतः जिस प्रकार देवमूर्तिके विसर्जन हो जानेपर सामग्रीकी आवश्यकता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार पतिदेवताके स्थूल शरीरका अदर्शन हो जानेपर सती स्त्री भी उनके साथ सहमृता होती है; यही स्वाभाविक सती-धर्म है और इसका फल भी शास्त्रमें लिखा है। यथा पराशरसंहितामें—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानवे।
तावत् कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति॥

अर्थात् जो स्त्री पतिके साथ सहमरणमें जाती है, उसका जितने (साढ़े तीन करोड़) रोएँ मनुष्य-शरीरमें हैं, उतने दिनोंतक स्वर्गवास होता है। हारीतसंहितामें आया है—'पति कैसा भी हो, सती स्त्री उसके साथ सहमृता होकर अपने सतीत्व-बलसे उसको पवित्र करके पतिलोक ले जा सकती है।' यही यह प्राचीन सहमरण-धर्मका अपूर्व वर्णन है, जो कालप्रभावसे लुप्तप्राय-सा हो रहा है; फिर भी आज इस घोर कलिकालमें भी ऐसी महासतियाँ हैं, जो नवाबी पुलिस-कानून-विधि, पुलिस इन्स्पेक्टर एवं लाखों दर्शकोंकी उपस्थितिमें अपने मृत पतिके शवको गोदमें लेकर चितारूढ़ होती हैं तथा गीताके पाँच-सात श्लोक बाँचनेके बाद ही चिताको फूँक देती हैं और चिता धाँय-धाँय कर धधक उठती है और स्वशरीरसे प्रकट इस योगानलमें ही सतियाँ अपना भौतिक शरीर दग्ध कर सती हो जाती हैं। सती-नमस्कारकी इस घटनाको अभी मात्र छत्तीस-अड़तीस ही वर्ष हुए हैं। उक्त सतीका नाम 'उमाजी देवी' था। वे पटना जिलान्तर्गत बेहुला ग्रामवासी पाण्डेय रामेश्वर शर्मा श्रोत्रिय ब्राह्मणकी कन्या एवं उसी ग्रामवासी श्रीशिवेश्वरजी पाण्डेयकी धर्मपत्नी थीं। बाबू उमानाथ महादेवके मन्दिरके निकट ही थोड़ी दूर उत्तर गङ्गाके पावन तटपर सतीका मन्दिर (श्रीमदनलाल केजड़ीवालद्वारा निर्मित) दर्शनीय है।

अब इसी उत्तम लक्ष्यके तारतम्यानुसार संसारके नर-नारियोंकी अधोलिखित स्थिति बतायी जा सकती है। यथा—

(१) सबसे उत्तम पुरुष वह है जिसने प्रवृत्तिमार्गको लिया ही नहीं, किंतु नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर सीधे निवृत्तिमार्गके अवलम्बनसे परमात्मातक पहुँच गया।

(२) दूसरी कोटि वह है, जिसमें पुरुष विवाह तो करे, किंतु यथाक्रम संतान उत्पन्नकर निवृत्तिसेवी होकर साधनद्वारा मोक्ष-लाभ करे।

(३) तीसरी कोटि वह है, जिसमें एक स्त्रीके मर जानेपर पुरुष पुनः विवाह न करे और निवृत्तिसेवी होकर मोक्षप्राप्तिमें मन लगावे।

(४) चौथी कोटि वह है, जिसमें केवल वंशरक्षा या अग्निहोत्रके विचारसे एक स्त्री-वियोग होनेपर द्वितीय विवाह हो। यहाँतक आर्यधर्मकी कोटि है।

(५) इसके बाद पञ्चम कोटि वह है, जिसमें एक स्त्रीके मर जानेपर केवल विषय-लालसासे द्वितीय विवाह हो।

(६) और अति अधम षष्ठ कोटि वह है जिसमें केवल कामचरितार्थ कई स्त्रियोंका संग्रह हो। ये दोनों ही निन्दनीय अनार्य भाव हैं।

इसी प्रकार नारीजातिके लिये भी निम्नलिखित छः कोटियाँ समझी जायँ। यथा—

(१) ब्रह्मवादिनी कोटि—जिसमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ अन्तर्भुक्त होती हैं; उनके विवाह न करनेपर भी कोई क्षति नहीं है।

(२) पतिव्रता कोटि, जिसमें पतिके साथ स्त्री सहमरणमें जाय।

(३) पतिव्रता कोटि, जिसमें स्त्री सहमृता न होकर नित्य ब्रह्मचर्यमें स्थित रहे और परलोकगत पतिके आत्माकी उपासना करे या उसी आत्माको परमात्मामें विलीन समझकर परमात्माकी आराधना करे। पतिके दिवंगत होनेपर सती स्त्री दुग्ध, कन्द-मूल या फल खाकर जीवन धारण करे, किंतु कभी भी अपने पतिके सिवा अन्य पुरुषका ध्यान-तक न करे। आर्यनारीकी कोटि यहाँतक है; क्योंकि इसमें जीवन-मरणमें एक ही पति लक्ष्य है; उसी पतिको भगवान् समझकर जबतक वे जीवित रहें, तबतक गृहस्थ-रूपसे उनकी साकार मूर्तिकी पूजा और उनके स्थूलशरीरके मृत होनेपर संन्यासिनी रूपसे उनके निराकार आत्माकी पूजा या भगवान्‌के किसी भी दिव्य सगुणरूपकी पूजा और उसी पूजाके द्वारा नित्यानन्दमय भगवत्प्राप्ति या

मोक्ष-लाभ लक्ष्य है। इसी लक्ष्यपर विचार करके भगवान् मनुने कहा है—

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः।

अर्थात् वैदिक विवाह-विधिमें विधवाका पुनर्विवाह कहीं नहीं पाया जाता।

(४) इसके पश्चात् चौथी कोटि वह है, जिसमें प्रथम पतिके मृत होनेपर द्वितीय पतिका ग्रहण हो। यह आर्य कोटि नहीं है; क्योंकि इसमें स्थूल इन्द्रियोंका भोग लक्ष्य है, आत्मा लक्ष्य नहीं है। यह रीति आर्यजातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें तथा हिंदुओंमें भी कहीं-कहीं शूद्रोंमें प्रचलित है।

(५) इसके उपरान्त पञ्चम कोटि वह है, जिसमें जीवित पतिको भी त्याग (Divorce) करके द्वितीय, तृतीय अनेक पति ग्रहण किये जावें। यह रीति सर्वथा निन्दनीय तथा अनार्य-भावापन्न है। अनेक पाश्चात्त्य जातियोंमें यह रीति प्रचलित है, जिससे उनमें दाम्पत्य-प्रेमका सर्वथा अभाव तथा गृहमें अशान्ति देखी जाती है और हमारे दुर्भाग्यसे भारतमें भी इस पापका प्रचार हो रहा है।

(६) षष्ठ कोटि अतिशय अधम है, जिसमें दस-बीस दिनोंके लिये एक पुरुषके साथ कन्ट्रैक्ट हो और उसके बाद उसे छोड़कर दूसरे-तीसरेके साथ कन्ट्रैक्ट हो आदि। पाश्चात्त्य देशमें कहीं-कहीं इस प्रकारकी अति घृणित रीति देखनेमें आती है।

इन सब विचारोंद्वारा यही प्रमाणित हुआ कि आर्य रीति ही सबसे उत्तम कोटिकी है और अन्यान्य जातियोंकी रीति अपनी-अपनी स्थितियोंके अनुसार अनार्य-भाव-प्रधान तथा स्थूल इन्द्रियोंके भोगमात्रको लक्ष्य करके निर्दिष्ट हुई है।

अब इस प्रकारके उच्चभावकी रक्षा कैसे हो सकती है, यही विचार्य विषय है। नारी-जीवनको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—यथा कन्या, गृहिणी और विधवा। 'कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः'—अत्यन्त यत्नके साथ कन्याका पालन तथा शिक्षण होना चाहिये, किंतु उनकी शिक्षा उन्हें पुरुष बनानेवाली नहीं होनी चाहिये; क्योंकि जिसके भीतर जो मौलिक सत्ता है, उसीको प्रकट तथा पुष्ट करना शिक्षाका लक्ष्य है। स्त्रीजातिकी मौलिक सत्ता तीन हैं—यह अच्छी माता, सद्गृहिणी तथा आदर्श सती है। अतः इन तीनों भावोंको पुष्ट करनेके लिये ही उनको शिक्षा देनी चाहिये। यदि बी० ए०, एम० ए०, आचार्य पास करनेपर भी स्त्रीजाति इन तीन भावोंको खो बैठे तो उनकी शिक्षा किसी कामकी नहीं कहलायेगी। अतः बहुत सोच-विचारकर कन्याओंको शिक्षा देनी चाहिये। उनके चित्तमें जो परम्परागत स्वाभाविक आस्तिकता तथा भक्तिका भाव है, शिक्षाके द्वारा उसे पुष्ट करना चाहिये। आर्यवीर तथा आर्य सतियोंके चरित्र रामायण, महाभारत तथा अन्यान्य इतिहासोंसे संग्रह करके उनको पढ़ाने चाहिये। संस्कृत-शिक्षा, मातृभाषा-शिक्षा, साहित्य-शिक्षा, गीतादि धर्म-ग्रन्थोंकी शिक्षा उनको अवश्य देनी चाहिये। साधारण रूपसे चिकित्सा तथा पदार्थ-विद्याकी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे बाल-बच्चोंकी सामान्य बीमारीमें भी डाक्टर न बुलाना पड़े। उनको शिल्प-शिक्षा तथा रसोई बनानेकी शिक्षा विशेष रूपसे देनी चाहिये, जिससे वे सच्ची माता बन सकें और उनका अवकाशका समय बच्चोंके लिये वस्त्रादि बनानेके कार्यमें अच्छी तरहसे कटे। अन्नपूर्णा जगत्को अन्नदान करती हैं—इस कारण उनकी अंशरूपिणी स्त्री जातिको भी भोजन बनाने तथा भोजन खिलानेमें गौरवका भान रहना चाहिये। यही सच्चा मातृधर्म है।

इस प्रकार कन्यावस्थामें शिक्षा होनेके उपरान्त विवाहके योग्य अवस्था आनेपर योग्य पात्रको कन्याका दान होना चाहिये। आजकल युवतीविवाह होने लगा है, जो सर्वथा हानि तथा पतनका कारण है। अतः बारह वर्षकी अवस्थातक कन्यादान हो ही जाना चाहिये। पुरुषसे स्त्रीमें भोगशक्ति अधिक होनेके कारण साधारणतः शास्त्रमें यही आज्ञा पायी जाती है कि कन्यासे वरकी उम्र तिगुनी हो—'वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणः स्वयम्।' किंतु सुश्रुतके सिद्धान्तानुसार १६ वर्षकी स्त्री और २५ वर्षका पुरुष—इतना अन्तर तो अवश्य ही रहना चाहिये। अन्यथा गर्भस्थ संतानको क्षति होती है। इस कारण कम-से-कम १२वें वर्षमें विवाह होकर दो-तीन वर्षतक सात्त्विक पति-प्रेमकी शिक्षा तथा संयमके बाद सोलहवें वर्षमें गर्भाधानकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गयी है। विवाहोपरान्त नारीका गृहिणी-जीवन प्रारम्भ होता है, इसमें पति ही पत्नीके लिये साक्षात् भगवान् हैं और समस्त गृहसेवा उनकी ही सेवा है। उसी सेवामें शरीर, मन, प्राण समर्पण करना सती स्त्रीका जगत्-पवित्रकर पातिव्रत्य-धर्म है, जिसके विषयमें भगवान् श्रीरामने आदर्श सती सीता माताको लक्ष्य करके कहा है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी धर्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे॥

अर्थात् हे लक्ष्मण! सीता सती परामर्श देनेमें मन्त्रीके समान, कार्य करनेमें दासी-सदृशी, धर्मकार्यमें अर्द्धाङ्गिनी और पृथ्वीके तुल्य सहनशीला, माताके समान स्नेहशीला, सहवासमें दिव्य स्त्री और कौतुकके समय सखीके सदृश आचरणशीला हैं। यह सब सती स्त्रीकी दिव्य गुणावली है।

नारी-जीवनकी तीसरी दशा वैधव्य है। यदि भाग्य-चक्रसे किसी स्त्रीको यह दशा देखनी पड़े तो संन्यासिनीकी तरह ब्रह्मचर्य, संयम आदि निवृत्ति भावके साथ उसे बिताना ही सर्वोत्तम तथा परम धर्म है। वैधव्य क्यों होता है, इस विषयमें स्कन्दपुराणमें अरुन्धती-आख्यानमें निम्नलिखित प्रमाण मिलता है। यथा—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम्।
परदाररतो वा स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि! स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्।
या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम्।
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत्॥

पार्वतीसे शंकर कहते हैं—हे देवेश्वरी! जो पुरुष अपनी निर्दोषा कुलीन पत्नीको छोड़कर परस्त्रीमें आसक्त या अन्य स्त्री ग्रहण करता है, वह दूसरे जन्ममें स्त्री-योनि पाकर विधवा हो जाता है। इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषमें रत हो जाती है, उसको भी जन्मान्तरमें वैधव्यकी प्राप्ति होती है। अतः वैधव्य जब स्त्री या पुरुष दोनोंको ही किसी प्राक्तन दोषके कारण होता है, तब तपस्याके द्वारा उस दोषका नाश करना ही धर्म होगा। विधवाके कृत्य ब्रह्मचारी तथा संन्यासीके तुल्य होते हैं और इसी कारण पवित्र विधवा स्त्री गृहस्थोंकी पूज्या भी होनी चाहिये। आजकल विधवाएँ जो बिगड़ती देखी जा रही हैं, इसके अनेक कारणोंमेंसे उनके प्रति घरवालोंका अनुचित बर्ताव भी एक प्रधान कारण है। इसीका बुरा परिणाम है कि हजारों विधवाएँ विधर्मियोंके कराल ग्रासमें गिरती जा रही हैं। यदि प्रवृत्तिसे निवृत्तिका गौरव अधिक है और भोगी गृहस्थोंसे त्यागी संन्यासियोंका गौरव अधिक है तो सधवाओंसे विधवाओंका गौरव निवृत्तिकी दृष्टिसे अवश्य अधिक होना चाहिये।

पति-धर्म

समझकर पत्नीको अर्धाङ्ग। धर्ममें रखता संतत सङ्ग॥
कौन, दासी, गुलाम-सी जान। न करता कभी भूल अपमान॥
निरन्तर सुहृद मित्र निज मान। सदा करता विशुद्ध सम्मान॥
'पूर्ण करती त्रुटियोंको नित्य। मिटाती दुविधा सभी अनित्य॥
हरण करती दुश्चिन्ता क्लान्ति। चित्तको देती सुखकर शान्ति'॥
देख यों—पत्नी सद्गुण-रूप। हृदयका देता प्रेम अनूप॥
उसे गृह-रानी कर स्वीकार। समझ उसका समान अधिकार॥
सलाह-सम्मति ले सदा ललाम। चलाता घर-बाहरका काम॥
मधुर वाणी सुमधुर व्यवहार। सदा करता आदर-सत्कार॥
शुद्ध सुख पहुँचाता अविराम। यही पति-धर्म अमल अभिराम॥

नारी-धर्म

(लेखिका—बहन श्रीशशिबाला 'बिहारी' 'विशारद')

अबतक नारी-धर्मपर हमारे विद्वानों तथा तत्त्वके मर्मज्ञ पण्डितोंद्वारा बहुत कुछ कहा तथा लिखा जा चुका है। पर ज्ञान असीम है। उसकी कोई सीमा नहीं, कुछ बन्धन नहीं। अपने गहन अनुभवके द्वारा सभी अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करते हैं।

इस सृष्टिमें नारीका एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। नारीके बिना नर अनाथ है, संरक्षणरहित है। नारी नरकी प्राणदायिनी एवं प्रेरणादायिनी है। पर नारी तभी ऐसी है जब कि वह आदर्श जननी और गृहिणी—पत्नीके पवित्र रूपमें हो। आज इस परिवर्तनशील परिस्थितिमें नारी अपने कर्तव्य-को भूलती जा रही है। पाश्चात्त्य-सभ्यताका अन्धानुकरण करती हुई वह क्षुद्रहृदया, दुर्बलचित्ता होकर केवल विलास-वासनासे आक्रान्त होने जा रही है। सच कहा जाय तो वह स्वतन्त्र होने जाकर प्रमादवश पुरुषके परतन्त्र होने जा रही है। अतः उसे सावधान होकर अपने धर्मपर आरूढ़ रहना चाहिये। मातृत्व और पत्नीत्व ही उसका असली धर्म है। प्रत्येक नारी यदि चाहे और प्रयत्न करे तो माता सीता, सती अनसूया एवं यमविजयिनी सावित्री आदि बन सकती है। केवल बी० ए०, एम्० ए०की डिग्री धारण करनेसे ही कुछ नहीं होगा। इसके लिये सच्ची भारतीय संस्कृति—आदर्श 'पातिव्रत्य-धर्म'के पावन पथसे आगे बढ़ना होगा। पतिके रूपमें भगवान्‌का दर्शन करनेवाली नारी ही पतिव्रता कही जा सकती है। पतिके नाते पतिके पूज्य माता-पिता, भाई, बहन और जितने भी सगे-सम्बन्धी हैं, सभीको यथायोग्य आदर, ममता, स्नेह तथा प्रेम देना चाहिये।

ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखण्डमें पातिव्रत्य-धर्मके विषयमें अलौकिक वर्णन आया है। पतिव्रता स्त्री अपने पतिके प्रति भक्ति-भाव रख नित्य उनकी आज्ञा ले भोजन करे। सती स्त्री अपने पतिको नारायणका रूप समझती है। वह सौन्दर्यशाली पतिके मुखकी ओर न देख चरणोंमें दृष्टि झुकाये रखती है। जो आहार पतिको प्रिय होता है वही उसे भी मान्य होता है। सती नारी अपने पति एवं अपने पूर्वजोंकी एक हजार पीढ़ियोंतकका उद्धार कर देती है। पृथ्वीपर जितने भी तीर्थ हैं, सभी सतीके चरणोंमें निवास करते हैं। पतिव्रताको नमस्कार करनेसे मनुष्य अनेकों पापोंसे मुक्त हो जाता है। पतिव्रता सौ जन्मोंतक पुण्य-संग्रहवाले पुण्यवानोंके घर जन्म लेती है और पतिव्रताके जन्मसे उसके माता-पिता पावन तथा मुक्त हो जाते हैं।

शिवपुराणकी वायवीयसंहितामें यहाँतक वर्णन आया है कि 'जो स्त्री पतिकी सेवा छोड़कर व्रत तथा उपवासमें तत्पर होती है वह नरकगामिनी होती है।'

पाश्चात्त्य-सभ्यतामें पली नारी आज अपने इस गौरवपूर्ण पातिव्रत्यके आदर्शको भूलती जा रही है। इसीसे पतिव्रत-धर्मका स्थान आज विधवा-विवाह, अवैध अपवित्र सम्बन्ध तथा तलाक और भरण-पोषणके मुकदमे ले रहे हैं। कितने महान् परितापका विषय है कि जिस नारीको गृहलक्ष्मीकी उपाधिसे विभूषित किया जाता है, वही आज हजारों पुरुषोंके बीच खुले न्यायालयोंमें न्यायाधीशके समक्ष तलाकका आवेदनपत्र उपस्थापित करती है।

आजके सभ्य समझे जानेवाले घरोंकी लड़कियोंका बनाव-शृङ्गार और पोशाक देखकर भारतीय आत्मा रो उठती है। परिस्थितिको देखकर राज्यपालको आदेश देना पड़ता है कि 'कॉलेज तथा विश्वविद्यालयोंमें पढ़ने जानेवाली छात्राएँ तंग कुरती, ऊँची एड़ीकी जूती तथा वक्षःस्थलका प्रदर्शन करानेवाली पोशाक न पहनें।' पश्चिमी सभ्यताने हमारी आँखों-पर काली पट्टी डाल दी है। उनकी अच्छी चीजोंकी नकल हम नहीं करते—गुणोंको ग्रहण नहीं करते; परंतु पर-पुरुषोंके सङ्ग भ्रमण, स्वच्छन्द विचरण, खेलकूद-प्रतियोगितामें भाग लेना, सिनेमा, नाचने-गाने तथा सहभोज आदिको ही विकास समझने लगे हैं।

मैं अपनी भारतीय बहनोंसे प्रार्थना करती हूँ कि 'देवियो! आप समय रहते चेत जायँ। गृहलक्ष्मीके आदर्शको कभी न भूलें।' आजकी पढ़ी-लिखी लड़की फैशनके चक्करमें पड़कर अपना क्षेत्र बाहर चुनती हैं। उन्हें विधानसभा तथा टेलीफोन गर्लका काम करना अधिक पसंद है। घरमें रहना कतई पसंद नहीं। पर यह वास्तवमें पतनकी भूमिका है। पवित्र नारीका क्षेत्र घर है, बाहर नहीं। भ्रमणशील नारियोंके जीवनमें अधिक-से-अधिक खतरा है। शास्त्र कहते हैं—

श्रमम् सम्पूज्यते राजा श्रमम् सम्पूज्यते धनी।
श्रमत् सम्पूज्यते विद्वान् को श्रमन्तो विनश्यति॥

आज देशपर घोर संकट है; दिनों-दिन हम गरीब होते जा रहे हैं—विदेशोंसे बड़ी रकमका ऋण हमें लेना पड़ता है। इस आर्थिक संकटकी घड़ीमें नारियाँ घरोंकी आवश्यकताएँ कम करनेमें अपूर्व योगदान कर सकती हैं।

महाभारत शान्तिपर्वके आपद्धर्मपर्वमें पतिव्रताकी प्रशंसा-विषयक चर्चा आयी है—

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे॥

अन्तमें लिखना है कि मातृत्व नारीका विशुद्ध रूप है—जगदम्बा प्राणिमात्रके लिये सभी नारियोंके हृदयमें करुणा तथा ईश्वरभक्ति प्रदान करें। आदर्श माता कौसल्या, जननी मदालसा, सती सावित्री, सती सीता, मीराँबाई, महारानी लक्ष्मीबाई आदि विभूतियाँ विश्वप्रेम और विश्वबन्धुत्वकी शिक्षा देनेमें हमारी सच्ची पथ-प्रदर्शिका हैं। सबको जगन्माता सद्बुद्धि प्रदान करें।

सपत्नी-धर्म

[माता कौसल्या और माता सुमित्राकी महत्ता]

भक्तराज श्रीहनुमान्‌जी द्रोणाचल पर्वतको उठाये आकाश-मार्गसे अयोध्याके ऊपरसे उड़े जा रहे थे। श्रीभरतजीने राक्षस समझकर बाण मार दिया और वे 'राम' कहते हुए गिर पड़े। अयोध्याकी रक्षाके लिये पर्वतको ऊपर ही रोक लिया। हनुमान्‌जी जमीनपर आ गये। भरतजी उनके मुखसे 'राम' नाम सुनकर चकित तथा दुखी हो गये। फिर भरतजीने हनुमान्‌जीके समीप जाकर उनको हृदयसे लगा लिया। हनुमान्‌जीने सब समाचार सुनाये। लक्ष्मणजीकी मूर्छा सुनकर भरतजी बहुत दुखी हुए। स्वामी रामजीकी आज्ञा अयोध्यामें ही रहनेकी है और उधर स्वामी युद्धमें फँसे हैं। भरतजी बड़े ही असमञ्जसमें पड़ गये। उनका चेहरा बड़ा उदास हो गया। यद्यपि वे जानते हैं कि भगवान् श्रीरामजी सर्वथा अजेय हैं।

माता कौसल्याजी, सुमित्राजी और शत्रुघ्न वहीं आये हुए थे। लक्ष्मणकी मूर्छाकी बात सुनकर कौसल्या माता अत्यन्त दुखी हो गयीं। हाय-हाय पुकार उठीं। सुमित्राजी-को पुत्रकी इस दशापर तो दुःख हुआ, पर साथ ही स्वामी रामके कामके लिये लक्ष्मणका यह बलिदान हो रहा है, यह स्मरण होते ही वे सुखी हो गयीं और कहने लगीं—

धन्य सुपुत्र पिता-पन राख्यौ, धनि सुबधू कुल-लाज।
सेवक धन्य अंत अवसर जो आवै प्रभुके काज॥
पुनि धरि धीर कह्यौ, धनि लछिमन, रामकाज जो आवै।
'सूर' जियै तो जग जस पावै, मरि सुरलोक सिधावै॥

सुपुत्र श्रीराम धन्य हैं; जिन्होंने पिताके प्रणकी—सत्यकी रक्षा की। उत्तम पुत्रवधू जानकी धन्य हैं जिन्होंने कुलकी लाज रक्खी। सेवक भी वही धन्य है जो प्राण छोड़ते-छोड़ते प्रभुके ही काम आया। फिर धीरज धरकर बोलीं—'लक्ष्मण धन्य है, जो श्रीरामके काम आया। यदि वह जीवित रहा तो संसारमें अक्षय यश प्राप्त करेगा और मर गया तो देवलोकमें जायगा।' तदनन्तर वे शत्रुघ्नजीकी ओर मुख करके बोलीं—'बेटा! तुम अब हनुमान्‌के साथ जाओ।' इतना सुनते ही शत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये, उनका शरीर आनन्दसे पुलकित हो गया। ऐसे प्रसन्न हुए मानो दैवयोगसे उनके पूरे-पूरे दाँव पड़ गये हैं। माता सुमित्रा तथा छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजीकी इस त्यागमयी प्रसन्नताको देखकर हनुमान्‌जी और भरतजी अपनी अयोग्यतापर अत्यन्त ग्लानिग्रस्त हो गये। तब माताने उनको समझाकर सावधान किया।

तात! जाहु कपि सँग, रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुज-गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

तदनन्तर माता सुमित्रा देवी कौसल्याजीसे कहने लगीं—

धनि जननी, जो सुभटहि जावै।
भीर परैं रिपु कौ दल दलि-मलि, कौतुक करि दिखरावै॥
कौसिल्या सौं कहति सुमित्रा, जनि स्वामिनि! दुख पावै।
लछिमन जनि हौं भई सपूती, राम-काज जो आवै॥

जीवै तो सुख बिलसै जगमें कीरति लोकनि गावै।
मरै तो मंडल भेदि भानु कौ, सुरपुर जाइ बसावै॥
लोह गहैं लालच करि जिय कौ, औरौ सुभट लजावै।
'सूरदास' प्रभु जीति सत्रु कौं, कुसल-छेम घर आवै॥

'स्वामिनीजी! आप अपने मनमें दुःख न करें। जननी तो वही धन्य है जो ऐसे शूर-वीरको जन्म देती है, जो युद्ध आ पड़नेपर शत्रुके दलको रौंद-कुचलकर खेल-सा करके दिखला दें। लक्ष्मण यदि रामके काम आ जाय तो मैं तो उसको जन्म देकर सुपुती हो गयी—मेरी कोख सफल हो गयी। वह जीवित रहा तो संसारमें रहकर सुख बिलसेगा और लोकोंमें उसकी कीर्ति गायी जायगी। मर गया तो सूर्य-मण्डलका भेदन करके दिव्य लोकमें निवास करेगा। जो शस्त्र उठाकर भी प्राणोंका लोभ करते हैं, वे कायर तो दूसरे शूर-वीरोंको भी लजाते हैं। मैं तो यह चाहती हूँ कि श्रीरघुनाथ शत्रुको जीतकर कुशल-क्षेमके साथ घर लौट आवें।'

सुमित्राजीकी बात सुनकर माता कौसल्याजी हनुमान्‌जीसे कहने लगीं—

सुनौ कपि! कौसिल्या की बात।
इहिं पुर जनि आवहिं मम बत्सल, बिनु लछिमनु लघु भ्रात॥
छाँड्यौ राज-काज, माता-हित, तुव चरननि चित लाइ।
ताहि बिमुख जीवन धिक रघुपति, कहियौ कपि समुझाइ॥
लछिमन सहित कुसल बैदेही, आनि राज पुर कीजै।
नातरु सूर सुमित्रा-सुतपर बारि अपनपौ दीजै॥

'हनुमान्! तुम कौसल्याकी बात सुनो! श्रीरामसे मेरा यह संदेश कह देना 'मेरे प्यारे बेटा! मेरे पुत्र हो तो छोटे भाई लक्ष्मणको साथ लिये बिना इस अयोध्या नगरमें लौटकर न आना। हनुमान्! तुम यह समझाकर कह देना कि रघुनाथ! जिसने तुम्हारे चरणोंमें चित्त लगाकर राजकार्य (राज्यवैभव), माता और सारे हितैषी बन्धुओंको छोड़ दिया, उससे विमुख (उससे रहित) जीवनको धिक्कार है। अतएव या तो लक्ष्मण और जानकीके साथ कुशलपूर्वक लौटकर अयोध्यापुरीमें राज्य करो, नहीं तो, सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर अपनेको न्यौछावर कर दो।'

माता कौसल्याजी फिर बोलीं—

बिनती कहियौ जाइ पवनसुत तुम रघुपतिके आगैं।
या पुर जनि आवहु बिनु लछिमन, जननी लाजनि लागैं॥

'पवनकुमार! तुम जाकर श्रीरघुनाथके सम्मुख मेरी यह विनती सुना देना कि माँकी लाज बचानेके लिये ही बिना लक्ष्मणके तुम मत आना।'

कौसल्याकी यह बात सुनकर सुमित्राजी हनुमान्‌जीको समझाकर बोलीं—

मारुत सुतहि संदेश सुमित्रा ऐसें कहि समुझावै।
सेवक जूझि परे रन भीतर ठाकुर तउ घर आवै॥
जब तें तुम गवने कानन कौं भरत भोग सब छाँड़े।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु दुखसमूह उर गाड़े॥

'हनुमान्! मेरा यह संदेश श्रीरामसे कह देना—सेवक रणमें युद्ध करता हुआ अपने प्राण दे दे, तब भी स्वामी तो घर लौटकर आता ही है। अतएव तुम्हारे आनेमें कोई अनुचित बात नहीं है। इधर भरतको भी देखना है। जबसे तुम वनको गये हो तबसे भरतने सब भोगोंका त्याग कर रक्खा है। रघुनाथ! तुम्हारे दर्शनके अभावमें उसने अपने हृदयमें दुःखोंके समूहको बसा लिया है। अतएव भरतके लिये भी तुम्हें अवश्य लौट आना चाहिये।'

श्रीहनुमान्‌जी तो माता कौसल्या, माता सुमित्रा, श्रेष्ठ भाई भरत और शत्रुघ्नके भावोंको देख-देखकर मुग्ध हो रहे हैं। पर स्वामीका कार्य करना है, रात बीत रही है, इसलिये उन्होंने भरतजीसे आज्ञा माँगी और कहा कि 'अब और देर हो गयी और कहीं रात बीत गयी तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।' तब भरतजीने हनुमान्‌को विदा किया।

माताओंमें त्यागकी होड़ लगी है और भ्रातृप्रेम तो आदर्श है ही। धन्य!
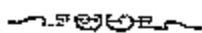
माताके धर्मकी आदर्शभूता—पतिव्रता मदालसा

गन्धर्वराज विश्वावसुकी कन्या मदालसाका विवाह राजा शत्रुजित्‌के राजकुमार ऋतध्वजसे हुआ था। राजकुमारने देवताओंके दिये अश्वपर आरूढ़ होकर ऋषि-मुनियोंको पीड़ा देनेवाले राक्षस पातालकेतुका वध किया था और उस राक्षसका पीछा करते हुए ही वे पाताल पहुँचे थे। उसी राक्षसद्वारा हरण की गयी गन्धर्वकन्या मदालसासे पातालमें उनका साक्षात्कार हुआ था। गन्धर्वोंके पुरोहित तुम्बुरुने दोनोंका विवाह सम्पन्न कराया था।

पातालकेतु मारा गया; किंतु उसका छोटा भाई तालकेतु मुनिका वेश बनाकर यमुनातटपर आश्रममें रहने लगा। अपने बड़े भाईकी मृत्युका बदला लेनेकी घातमें वह था। अतः उसने छलसे राजकुमारकी मृत्युका मिथ्या समाचार भिजवाकर मदालसाको मरवा दिया। राजकुमार पत्नीके वियोगसे दुखी रहने लगे। उन्होंने किसी भी दूसरी कन्यासे विवाह करना अस्वीकार कर दिया।

नागराज अश्वतरके दो पुत्र मनुष्यरूपमें यदा-कदा पृथ्वीपर आया करते थे। राजकुमार ऋतध्वजसे उनकी मित्रता हो गयी थी। अपने मित्रके दुःखसे उन दोनोंको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने प्रयत्न करके सरस्वतीके वरदानसे संगीतमें निपुणता प्राप्त की और कैलास जाकर अपने गानसे शंकरजीको प्रसन्न कर लिया और शंकरजीसे मदालसाके पुनः जन्म लेने तथा पूर्वस्मृति रहनेका वरदान प्राप्त किया। इस वरदानके फलस्वरूप मदालसा उनके मध्यम फणसे प्रकट हुई।

नागराजके कुमार राजकुमार ऋतध्वजको स्नान करने गोमतीमें ले गये और वहाँसे लेकर पाताल गये। वहाँ पहले-जैसे रूपमें ही मदालसाको राजकुमारने देखा। नागराजसे उसके पुनर्जन्मका वृत्त जानकर उन्होंने वहाँ फिर उससे विवाह किया। फिर, नागराजकी अनुमति लेकर वे दोनों वहाँसे पृथ्वीपर आये।

राजा शत्रुजित्‌के परलोकवासी होनेपर ऋतध्वज सिंहासनासीन हुए। समयपर उनके प्रथम पुत्र हुआ तो राजाने उसका नाम विक्रान्त रक्खा। भगवान् शिवके वरदानसे मदालसा योगविद्याकी ज्ञाता होकर जन्मी थीं। पुत्रका नामकरण देखकर वे हँसकर रह गयीं। उनके दो पुत्र और हुए। राजाने उनके नाम सुबाहु तथा शत्रुमर्दन रक्खे थे। उस समय भी रानी मदालसा हँसी थीं।

नारीकी सफलता मातृत्वमें है; किंतु उसकी सार्थकता पुत्रको मुक्त करनेमें है। अपने बच्चोंको रानी मदालसा लोरी देते हुए गाती थीं—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥

'पुत्र ! तुम शुद्ध हो ! ज्ञानस्वरूप हो ! निर्मल हो ! संसारकी मायासे सर्वथा रहित हो । संसार स्वप्नवत् है, अतः मोहनिद्राका त्याग करो !'

रानीके चौथा पुत्र हुआ । उसके नामकरणका समय आया तो राजाने कहा—'मैं नाम रखता हूँ तो तुम हँसती हो । इसका नाम तुम्हीं रक्खो ।' रानीने चौथे पुत्रका नाम 'अलर्क' रख दिया । रानीने तीनों पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश बचपनसे किया था । वे युवक होते ही वीतराग, गृहत्यागी हो गये थे । राजाने प्रार्थना की—'देवि ! अब इस पुत्रको भी ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके कुलका उच्छेद मत करो । इसे तो प्रवृत्ति-मार्गमें लगाओ ।'

चौथा पुत्र युवा हुआ । उसे रानीने धर्म, अर्थ, कामकी शिक्षा दी थी । उसे गद्दीपर बैठाकर दम्पति तपस्या करने वनमें चले गये । जाते समय रानी मदालसा पुत्रको एक अँगूठी देकर आदेश दे गयीं—'जब विपत्ति आवे तो इसे खोल लेना । इसमें उपदेश-पत्र है । उस समय उसके अनुसार कार्य करना ।'

गङ्गा-यमुनाके संगमपर यमुनापार अलर्कने अपनी राजधानी बनायी । यह स्थान अब अरैल कहा जाता है । कुछ समय बीता । अलर्कके भाइयोंने देखा कि छोटा भाई तो संसारकी आसक्तिमें ही उलझा है तो उसे सत्पथपर लानेके लिये सुबाहुने काशिराजकी सहायतासे आक्रमण कर दिया ।

जब शत्रुसेनासे राजधानी घिर गयी तो इस संकटकालमें अलर्कने माताकी दी हुई अँगूठी खोली । उसमें उपदेशपत्र निकला—'आसक्ति-त्याग ही पुरुषका धर्म है । कामनाएँ नरकका द्वार हैं । वीर वह है जो कामनाओंको जीत लेता है । अपने आत्मस्वरूपको जाननेकी इच्छा करो ! पुरुषके जीवनका यही परम साफल्य है ।'

'आप राज्य ले लीजिये । मुझे अब इसकी आवश्यकता नहीं है ।' माताका उपदेश पढ़कर अकेले, शस्त्रहीन अलर्क बड़े भाई सुबाहुके समीप जाकर उनके चरणोंमें गिर पड़े ।

'मुझे राज्यका क्या करना है !' सुबाहुने कहा । 'लेकिन तुम अब इस मोहको छोड़ो । पुत्रको सिंहासन देकर अपने उद्धारके प्रयत्नमें लगो ।'

अलर्कने पुत्रको गद्दी दे दी । वे स्वयं भगवान् दत्तात्रेयकी शरण गये । इस प्रकार रानी मदालसाने पतिव्रत-धर्म-निर्वाहके साथ माताके श्रेष्ठ कर्तव्यका पालन किया और अपने सभी पुत्रोंको परमार्थकी प्राप्ति करायी । —सु०

प्रथम सती महारानी अर्चि

पृथ्वीके प्रथम राजा, जिनके प्रजारञ्जनके कारण 'राजा'की उपाधिने जन्म लिया, महाराज पृथु पृथ्वीका दीर्घकाल-तक शासन करके भोगोंसे विरक्त हो गये । पुत्रको सिंहासन देकर तपस्या करने वनमें चले गये । बहुत दिनोंतक उग्र तप किया उन्होंने । प्रारब्ध पूरा हुआ । शरीरकी समाप्तिका समय आया । पृथुने आसन सँभाला, प्राण-निरोध किया और शरीर छोड़ दिया ।

सप्तद्वीपवती सम्पूर्ण पृथ्वीके प्रथम सम्राट्की महारानी अर्चि अपने पतिके साथ वनमें आयी थीं । पति तपस्या करते थे और वे करती थीं पतिकी सेवा तथा अर्चना । उस दिन पद-वन्दन करने गयीं तो पतिका शरीर शीतल मिला । बड़ा शोक हुआ । वनमें एकाकिनी नारी—सम्राज्ञी और उसके पतिके देहकी उत्तरक्रिया सम्पन्न करनेमें कोई सहायक नहीं !

महारानी अर्चिका चित्त शीघ्र शान्त हो गया । धैर्यपूर्वक उन्होंने वनमें काष्ठ चुना और चिता बनायी । पतिदेहको स्नान कराके चितापर रक्खा । स्वयं सरितामें स्नान करके उन्होंने पतिको जलाञ्जलि दी और तब स्वयं चितापर जाकर बैठ गयीं । उनके स्मरण करते ही अग्निदेव चितामें प्रकट हो गये ।

पतिदेहके साथ सती होनेवाली प्रथम नारी थीं विश्वमें महारानी अर्चि । उनका शरीर आहुति बना तो आकाशसे चितापर अनवरत पुष्पवर्षा होती रही । —सु०

नारी-धर्मकी आदर्शभूता सतियाँ

(१)
भगवती सती

पतिके देहके साथ चितारोहण करनेवाली नारीको सती जिनके नामके कारण कहा जाने लगा, उन दक्षकन्या भगवती सतीका पतिके सम्मानकी रक्षाके लिये देहत्याग अद्भुत तेजस्विता तथा उनके पतिप्राणा होनेका ज्वलन्त प्रमाण है।

एक बार ब्रह्माजीकी सभामें सभी देवता उपस्थित थे। प्रजापति दक्ष सबसे पीछे वहाँ आये। उनको देखकर सब देवता उनके सम्मानमें उठ खड़े हुए। ब्रह्माजीके उठनेका प्रश्न ही नहीं था। वे दक्षके पिता ही थे। भगवान् शंकर ध्यानस्थ थे, अतः नहीं उठे। दक्षने अपनी पुत्री सतीका विवाह शिवसे किया था। अपना जामाता ही अपने सम्मानमें आसनसे नहीं उठा, इसमें दक्षको अपना अपमान लगा। उन्होंने शंकरजीको बहुत बुरा-भला कहा। क्रोधमें शाप दे डाला। अपने स्वामीको शाप मिलनेसे चिढ़कर नन्दीश्वरने दक्ष तथा ब्राह्मणोंको शाप दिया। प्रत्युत्तरमें महर्षि भृगुने शिवानुयायियोंको शाप दे डाला। बात इस सीमातक बढ़ गयी, यह देखकर खिन्नचित्त शंकरजी उठकर अपने गणोंके साथ वहाँसे चले गये।

समय बीता; किंतु दक्षके मनका क्रोध नहीं गया। उन्होंने चित्तमें शिवसे द्वेष ही कर लिया। ब्रह्माजीने जब दक्षको प्रजापतियोंका अग्रणी बनाया, तब दक्षने एक महायज्ञ प्रारम्भ किया। यज्ञ जान-बूझकर शंकरजीको तिरस्कृत करनेके लिये ही किया गया था। अतः यज्ञमें दक्षने अपनी पुत्री सती या जामाता शिवको निमन्त्रित नहीं किया।

'गगन-मार्गसे झुंड-के-झुंड विमानोंपर पतियोंके साथ ये देवाङ्गनाएँ कहाँ जा रही हैं?' सतीने श्रेणीबद्ध विमानावलि जाते देखकर पूछा। 'तुम्हारे पिताके महायज्ञमें!' भगवान् शिवने सहज भावसे बता दिया। 'मेरे पिताके यहाँ महायज्ञ है? तो मैं उसे देखने जाऊँगी। आप मुझे ले चलिये!' सती उत्सुक हो उठीं। 'क्या हुआ जो निमन्त्रण नहीं आया। पिता कार्याधिक्यमें भूल गये होंगे। माता-पिताके घर जानेके लिये निमन्त्रणकी क्या आवश्यकता है!'

भगवान् शंकरने बहुत समझाया; किंतु सती रुकना नहीं चाहती थीं। वे अकेली ही चल पड़ीं। शंकरजीने उनके साथ अपने गण भेज दिये। पिताके घर पहुँचनेपर माताने पुत्रीका स्वागत किया। बहिनें भी मिलीं; लेकिन दक्षने बात ही नहीं की। दूसरे लोग भी मुख फेरे रहे। सती यज्ञशालामें गयीं तो यह दिखायी पड़ा कि दूसरे देवताओंके लिये आसन हैं, यज्ञमें उनका भाग है; किंतु भगवान् शिवका यज्ञमें कहीं भाग नहीं। उन्हें यज्ञसे बहिष्कृत कर दिया गया है।

'मैं ऐसे शिवद्रोही पितासे उत्पन्न इस देहको धारण नहीं करूँगी।' क्रोधमें उद्दीप्त सतीने दक्षको तथा सभासदोंको धिक्कारा और फिर देह-त्यागका निश्चय करके यज्ञ-मण्डपमें ही उत्तर दिशामें आसन लगाकर बैठ गयीं। भगवान् शिवका ध्यान करते हुए योगाग्निसे उन्होंने शरीरको भस्म कर दिया। विश्वमें यह आत्माहुति नारीकी प्रथम घटना है।

क्रुद्ध शिवगणोंके उत्पातको एक बार महर्षि भृगुने मन्त्रबलसे रोका; किंतु सतीके देह-त्यागका समाचार पाकर शंकरजीने वीरभद्रको प्रकट करके भेजा। वीरभद्रने यज्ञ नष्ट कर दिया। दक्ष मारे गये। देवताओंको चोट आयी। भगवती सतीने फिर हिमालय-कन्या होकर जन्म लिया और तप करके उन्होंने पुनः पतिरूपमें शंकरजीको प्राप्त किया। —सु०

(२)
भगवती उमा

नगाधिराज हिमालयकी कन्या और उनका वह उग्र तप भगवान् आशुतोषकी प्राप्तिके लिये, जिसकी कल्पना उस युगमें भी तपस्वी कठिनाईसे ही कर सकते थे।

संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गवाँए॥
कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपबासा॥
बेल पाती महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भयउ अपरना॥

तपस्या कभी असफल नहीं हुआ करती। उसे सफल तो होना ही था; किंतु उसके पूर्व तपस्वीकी निष्ठा परीक्षाकी कसौटीपर कसी जाती है। उमा भी इसका अपवाद

नहीं रहीं। यह परीक्षा तो निष्ठाको उज्ज्वल एवं प्रख्यात करनेवाली होती है।

भगवान् शंकर प्रसन्न हुए। उन्होंने सप्तर्षियोंका स्मरण करके उन्हें आदेश दिया—

पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठयहु भवन दूरि करेहु संदेहु॥

केवल परीक्षा ही नहीं लेना है। तपःफल प्राप्त होगा ही, इस सम्बन्धका पक्का आश्वासन देने भेजा जा रहा है।

सप्तर्षि आये और उन्होंने उलटी-सीधी बातें सुनायीं—'गिरिराजकुमारी! तुम कहाँ नारदके बहकावेमें पड़ गयी? नारद स्वयं घर-द्वाररहित दर-दर भटकनेवाले हैं। उन्हें सबको अपने-जैसा बनाना अच्छा लगता है। अरे, शिव तो भिक्षुक हैं। नंगे, विभूति लगाये, सर्प लपेटे, भूत-प्रेतोंके साथ रहनेवाले, विरूपाक्ष हैं। उनके साथ विवाह करके तुम्हें क्या सुख मिलना है? चलो, जो हुआ, हो गया। तुमने व्यर्थ यह तप किये। लक्ष्मी-कान्त, वैकुण्ठाधिपति, त्रिभुवनमनोहर श्रीनारायणसे हम तुम्हारा विवाह करा देंगे।'

व्यर्थ था सप्तर्षियोंका यह प्रयास एवं प्रलोभन। पार्वती-जीने बड़ी दृढ़तासे स्पष्ट कह दिया—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥
जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥

सप्तर्षियोंकी बातका खण्डन नहीं, विवाद नहीं; किंतु अपनी निष्ठापर अचल सुस्थिरता। यही स्थिरता, यही निष्ठा थी, जिसने उमाको भगवान् शंकरके आधे अङ्गमें स्थान दिया। वे चन्द्रमौलीश्वर अर्धनारीश्वर बने पार्वतीको अपने अङ्गमें निवास देकर।

भगवती पार्वती सतियोंको परम आदर्श एवं परमाराध्या हैं। उनका स्मरण, उनका अर्चन नारीको सतीत्वमें स्थिर रहनेकी शक्ति देता है। —सु०

(६)

सती अनसूया

स्वायम्भुवमनुकी दौहित्री, भगवान् ब्रह्माकी पौत्री, प्रजापति कर्दमकी पुत्री तथा सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् विष्णुके अवतार सिद्धेश्वर कपिलकी बड़ी बहिन अनसूयाजी महर्षि अत्रिकी पत्नी हैं।

अनसूयाके पातिव्रत्यकी महिमा अपार है। दीर्घकालीन अकाल पड़ा था चित्रकूटके उस प्रदेशमें, जहाँ महर्षि अत्रिने आश्रम बनाया था। महर्षि दीर्घकालसे समाधिमें स्थित थे और अनसूया उनकी सेवामें। महर्षिकी समाधि टूटी। उन्होंने पत्नीसे कहा—'देवि! जल ले आओ!'

अनसूयाजीको अब ध्यान आया कि स्वयं उन्हें अपने लिये आहार तथा जलकी आवश्यकता सूझी ही नहीं इतने दिनोंतक। पतिदेवके समीपका स्थान स्वच्छ कर देना, उनकी गार्हपत्य अग्निको प्रज्वलित रखना और उनका ध्यान करना, इसके अतिरिक्त अपने शरीरका तो स्मरण ही उन्हें नहीं आया। उन्होंने कमण्डलु उठाया और वे गुफासे बाहर निकलीं।

वनके वृक्षोंमें पत्तेतक नहीं थे। भूमिपर तृणका नाम नहीं था। वनमें केवल सूखे ठूँठ खड़े थे और कोई पशु-पक्षी तो क्या क्षुद्र कीट भी दृष्टि नहीं पड़ता था। द्वादश-वर्षीय अवर्षणने आर्द्रताका चिह्नतक मिटा दिया था। जल कहाँ ऐसे समय। लेकिन पतिने जल माँगा है तो पतिव्रता क्या यह उत्तर दे कि जल कहीं है ही नहीं? पृथ्वीमें अन्न हो, जल हो तो सामान्य प्राणीका पोषण हो; किंतु जो धर्मपर स्थिर है, उसका पोषण करनेका दायित्व धर्मपर है। उसे प्रकृतिकी अवस्था कहाँ आबद्ध करती है?

'भगवती त्रिलोचनमौलिमण्डिनी, विष्णुपादोद्भवा जाह्नवी! मैं तुम्हारा आवाहन करती हूँ। सुरसरि! अनसूया तुम्हें पुकारती है। पधारो माँ! इस बच्चीको अपने आराध्यकी अर्चाके लिये जल दो!' देवी अनसूयाने क्षण-भरको नेत्र बंद किये। उन्होंने नेत्र खोलकर देखा कि वे जहाँ खड़ी हैं, वहाँ उनके पादतलके समीपसे और आसपास-से शत-सहस्र धाराओंमें निर्मल गङ्गाजलकी धारा फूट निकली है। आजतक चित्रकूटके अत्रि-आश्रममें बूँदके शत-शत धाराओंमें झर रहा है वह सुरसरिका जल जो एकत्र मिलकर मन्दाकिनीका प्रवाह बनता है।

'देवि! इस प्रकार शुष्क कानन और उसमें तुम्हें जल कहाँ मिला?' अनसूयाजीने लाकर जल दिया। महर्षि

अत्रिने आचमन किया। लेकिन जब वे गुफासे बाहर आये, अपने चारों ओरकी अवस्था देखकर चकित रह गये। पत्नीसे उन्होंने जलका उद्गम जानना चाहा।

'आपके श्रीचरण ही इस जलका उद्गमस्थान हैं।' अनसूयाजीने मस्तक झुका लिया। नारीके लिये तो पति नारायणकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही है। 'इन चरणोंके प्रभावको देखते त्रिभुवनमें कुछ अलभ्य, अकल्पनीय तो नहीं है।'

× × ×

देवलोकतक ही नहीं—कैलास, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठतक देवी अनसूयाकी यशोगाथा गूँजी। उमा, रमा, ब्रह्माणीको भी ईर्ष्या हुई उनके पातिव्रत्यकी प्रशंसा सुनकर। पत्नियोंके आग्रहसे शिव, विष्णु तथा ब्रह्माजी विवश हुए अनसूयाकी धर्म-परीक्षा लेनेको। प्रस्थान तो तीनोंने पृथक्-पृथक् किया था, किंतु संयोग ऐसा था कि तीनों चित्रकूट पहुँचनेसे पूर्व मार्गमें ही साथ हो गये। तीनोंने छद्मवेश बनाये।

महर्षि अत्रि वनमें फल-समिधादि लेने गये थे। तीन तेजस्वी अतिथि साथ ही उनके आश्रमपर पहुँचे। तीनोंने कहा—'हम बहुत भूखे हैं।'

अनसूयाजीने उनकी अभ्यर्थना की। उन्हें आसन दिया, जल दिया। लेकिन अतिथियोंने एक अद्भुत बात कही—'जबतक आप निरावरण होकर आहार नहीं देंगी, हमारे उपयोगमें वह नहीं आवेगा।'

'अच्छा!' अनसूया गम्भीर हो गयीं। स्त्री अपने पतिके सम्मुख निरावरण होती है अथवा शिशुके सम्मुख, जो उसके उदरसे ही उत्पन्न हुआ। अन्य पुरुषके सम्मुख सती निरावरण कैसे होगी? नेत्र बंद हुए क्षणभरको उन सती-शिरोमणिके। उनके सतीत्वके सम्मुख तो त्रिदेवोंकी माया भी आवरण नहीं बन सकती थी। तथ्य क्या है, उन्हें तत्काल पता लग गया। उनके अधरोंपर मन्द स्मित आ गया।

'तुम तीनों नवजात शिशु बन जाओ!' अनसूयाने हाथमें जल लिया और छिड़क दिया तीनोंके ऊपर। त्रिदेव नन्हें शिशु बने किलकने लगे। अब माता उन्हें कैसे रखती है, कैसे दूध पिलाती है, इसका प्रश्न ही कहाँ रह गया। 'ऐसे खायेंगे और ऐसे नहीं' यह अब कहनेवाला वहाँ कौन रहा।

महर्षि आये और पत्नीने उन्हें तीन पुत्र पानेका मङ्गल समाचार दिया। अत्रि-आश्रम तीन बालकोंकी क्रीड़ासे मुखरित हो गया, किंतु कैलास, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोकमें लक्ष्मी प्रतीक्षा असह्य हो उठी। जब प्रतीक्षा सहन नहीं हुई, तीनों देवियाँ एकत्र हुईं। तीनोंकी विपत्ति-कथा एक ही थी। अतः तीनोंको अत्रि-आश्रम आना ही था।

'हम आपकी पुत्रवधुएँ हैं! हमारे अपराध क्षमा करें!' तीनोंने देवी अनसूयाके चरणोंपर मस्तक रक्खे। 'अब हमारे स्वामी हमें प्राप्त हों, ऐसा अनुग्रह करें!'

अनसूयाजीने त्रिदेवोंको उनका वास्तविक रूप दे दिया, किंतु तीनोंको ही माता अनसूयाके वात्सल्यका स्वाद लग गया था। वे उसे छोड़नेको तत्पर नहीं थे। अतएव अपने एक-एक अंशसे वे महर्षि अत्रिके पुत्र बने। भगवान् विष्णुके अंशसे दत्त, शंकरजीके अंशसे दुर्वासा तथा ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा।

× × ×

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम जब चित्रकूटसे दक्षिण जाने लगे तो महर्षि अत्रिसे विदा लेने उनके आश्रम गये। उस समय अनसूयाजीने श्रीजनकनन्दिनीको पातिव्रत्य-धर्मका उपदेश किया। प्रत्येक नारीके मनन करने योग्य है यह उपदेश।

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

—सु०

पञ्च-पतिव्रताशिरोमणि

(४)

सती सावित्री

मद्रदेश-नरेश अश्वपतिने भगवती सावित्रीकी आराधना करके एक कन्या प्राप्त की थी और उसका नाम उन्होंने सावित्री ही रक्खा था। उनकी वह कन्या बचपनसे सुशीला, विनयपरायणा तथा धर्ममें निष्ठा रखनेवाली थी। राजाओंका काम जनसामान्यके अनुसार सब व्यवहार करनेसे नहीं चलता। मद्रनरेशकी परम सुन्दरी, धर्मज्ञा कन्याका स्वयंवर हो तो पता नहीं कौन उसका हरण कर ले जाय। राजाको अपनी पुत्रीके आचरण तथा बुद्धिपर विश्वास था। उन्होंने उसे मन्त्रीके साथ पर्यटन करने भेज दिया। वह कुछ देशों तथा उनके राजकुमारोंको देख ले और जिसे वरण करे, उससे उसका विवाह कर दिया जाय।

कुछ दिनों यात्रा करके कन्या लौटी। उस समय देवर्षि नारद महाराज अश्वपतिके समीप पधारे थे। पिताके आदेशसे देवर्षिके सम्मुख ही सावित्रीको बतलाना पड़ा कि उसने किसे वरण करनेका निर्णय किया है। धर्मनिष्ठ रखनेवाली उस कन्याको कोई राज्य-वैभव लुभा नहीं सका था। उसके हृदयने शाल्वदेशके नरेश द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्‌को चुना था। द्युमत्सेनका राज्य शत्रुने छीन लिया था। वे वनमें रहते थे पत्नी तथा पुत्रके साथ और अंधे हो चुके थे। सत्यवान् ही उनका अवलम्ब था। वनमें निर्धनताका जीवन व्यतीत करना, श्रम करना, किंतु शीलवान्, धर्मात्मा, पितृभक्त पति प्राप्त करना—यह निर्णय किया था मद्रनरेशकी सर्वसद्गुणवती पुत्रीने।

सहसा देवर्षि नारदका मुख खिन्न हो गया। वे बोले—'राजन्! इसमें संदेह नहीं कि सत्यवान् रूप, शील तथा सद्गुणोंमें अद्वितीय है; किंतु उसकी आयुका तो एक ही वर्ष शेष है।'

'वे दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या निर्गुण, मैंने हृदयसे उनका वरण कर लिया। अब दूसरे पुरुषको मैं स्वीकार नहीं करूँगी। दूसरे पुरुषकी चर्चा करना तथा सुनना भी मैं नहीं चाहूँगी।' राजकन्याने बड़े दृढ़स्वरमें कह दिया। उसने पिता अथवा अन्य किसीको कुछ कहनेका अवसर ही नहीं दिया।

'यह बुद्धिमती और धर्मज्ञ है। इसकी इच्छा पूर्ण कीजिये।' देवर्षिने भी अनुमति दे दी और विदा हो गये।

महाराज अश्वपति अपनी कन्या तथा विवाह-सामग्री आदिके साथ तपोवन पहुँचे। सत्यवान्‌के पिताने उनका सत्कार किया। उनकी अनुमतिसे वनमें ही सावित्रीका सत्यवान्‌से विवाह हुआ। सावित्रीने पिताके आग्रह करनेपर भी आभूषण, मूल्यवान् वस्त्रादि नहीं लिये। उसने कह दिया—'वनमें इस सबका मेरे लिये कोई उपयोग नहीं है।'

कन्याको पतिगृह छोड़कर राजा अश्वपति लौट आये। अपनी सेवासे सावित्रीने सास-श्वशुर तथा पतिको संतुष्ट कर लिया। लेकिन उसका हृदय देवर्षिकी बातका स्मरण करके सदा व्यथित रहता था। जब देवर्षिद्वारा बताया समय आया, उसने तीन रात्रि निराहार व्रत किया। चौथे दिन प्रातःस्नानादि करके उसने सास-श्वशुर तथा ब्राह्मणोंकी वन्दना करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। यह वही दिन था, जब सत्यवान्‌की आयु पूर्ण हो गयी थी। इस दिन जब सत्यवान् वनमें समिधा लेने जाने लगा, तब आग्रह करके, सास-श्वशुरसे आज्ञा लेकर सावित्री भी साथ गयी।

वनमें थोड़ी लकड़ियाँ एकत्र करनेके पश्चात् सत्यवान्‌के मस्तकमें पीड़ा होने लगी। वह पत्नीकी गोदमें सिर रखकर लेट गया। अचानक सावित्रीको लाल वस्त्र पहने कृष्णवर्ण तेजोमय पुरुष अपने समीप दीखे। सावित्रीने उन्हें मस्तक झुकाया तो वे बोले—'मैं यम हूँ। सत्यवान्‌को लेने आया हूँ। इनकी आयु पूरी हो गयी।'

'देव! सुना है कि जीवोंको लेने आपके सेवक आया करते हैं?' सावित्रीने पूछा।

'तुमने ठीक सुना है, किंतु सत्यवान् पुण्यात्मा है।' यमने बतलाया। 'और तुम्हारे-जैसी पतिव्रता समीप बैठी है। इसलिये मेरे सेवक यहाँ नहीं आ सकते। मुझे स्वयं आना पड़ा है।'

'मेरी गति प्रकृति नहीं अवरुद्ध कर सकती।' जब यमने सत्यवान्‌का जीव निकाल लिया और चलने लगे, तब सावित्रीने पतिदेहका सिर गोदसे नीचे रख दिया और उठ खड़ी हुई—'जहाँ मेरे पति जायँगे, मैं उनके साथ जाऊँगी।'

पत्नीको पतिका अनुगमन करना चाहिये, यह बात धर्मसंगत थी। सती नारीकी गति सूक्ष्म दिव्यलोकोंतक भी अनवरुद्ध है और इच्छा करनेपर वह सशरीर यमलोक जा सकती है, यह भी यमराज जानते थे। जहाँ ऋषिपुत्र नचिकेता जा सकता है—वहाँ सती नहीं जा सकेगी,

धर्मराजको ऐसा भ्रम नहीं हो सकता था । अतः उन्होंने कहा—'मनुष्यके धर्मपालनकी सीमा मर्त्यलोक है । तुमने अपने धर्मका सम्यक् निर्वाह किया है । इससे मैं प्रसन्न हूँ । सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई भी वरदान माँग लो !'

'मेरे श्वशुरको नेत्रज्योति प्राप्त हो !' सावित्रीने माँगा ।

'एवमस्तु !' यमने कहा । 'अब तुम लौटो !'

'आप लोकपाल हैं, वैष्णवाचार्य हैं । आपके दर्शन एवं सङ्गका लाभ मुझे कहाँ प्राप्त होगा । मैं आपका साथ छोड़कर अभी नहीं लौटूँगी !' सावित्रीने उत्तर दिया ।

'अच्छा, सत्यवान्‌के जीवनके अतिरिक्त कोई और वरदान माँग लो !' यमने फिर कहा ।

'मेरे श्वशुर अपना खोया राज्य प्राप्त करें !' सावित्रीने वर माँगा ।

'ऐसा ही होगा ! अब तो तुम लौटो !' यमने पीछा छुड़ाना चाहा ।

'सत्पुरुषोंके साथ सात पद चलनेसे मैत्री हो जाती है ! मैंने आपके दर्शन तथा सत्सङ्गका लाभ पाया है । धर्मका तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है और आप उस धर्मके ज्ञाता-निर्णायक हैं !' सावित्री बोली ।

'तुम सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर एक वरदान और ले लो !' यमराजने देखा कि कहीं धर्मचर्चा छिड़ गयी तो यमलोक पहुँचकर भी उसके समाप्त होनेकी आशा नहीं । दूसरे धर्म एवं सत्सङ्ग-चर्चा स्वयं उन्हें प्रिय होनेसे आकृष्ट कर रही थी । अतः उससे शीघ्र छूट सकें, तभी कर्तव्यपालन सम्भव था ।

'मेरे निःसंतान पिताको उनके औरस सौ पुत्र हों !' सावित्रीने भी वरदान माँगनेमें कोई संकोच नहीं किया ।

'देवि ! अब तुम लौटो !' यमराजने कहा ।

'जीवन क्षणभङ्गुर है । धर्म ही मनुष्यकी वास्तविक सम्पत्ति है । धर्मका भी परम तात्पर्य भगवत्प्राप्ति है और भगवत्प्राप्तिका पथ सत्पुरुषोंके सङ्गसे प्रशस्त होता है । मेरा परम सौभाग्य कि आज मुझे आप महाभागवतके साथका लाभ हुआ !' सावित्रीने बड़ी नम्रतासे कहा ।

'भद्रे ! तुम कोई और वरदान माँगो !' यमराज इस बार कोई प्रतिबन्ध लगाना भी भूल गये ।

'सत्यवान्‌से मुझे सौ पुत्र प्राप्त हों !' सावित्रीने माँगा ।

'तथास्तु !' यमराज बोले । 'अब लौटो !'

'लौटती हूँ, भगवन् !' सावित्रीने हाथ जोड़े । 'किंतु मेरे पतिके प्राण लौटा दीजिये, जिससे आपका वरदान मिथ्या न हो !'

'धर्म नित्य विजयी है, देवि ! जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म निश्चय मुझसे भी उसकी रक्षा कर लेता है । सत्यवान् जीवित हों ! तुम सफलकाम हो !' यमराजने सत्यवान्‌का जीव उसके देहमें लौटा दिया ।

सत्यवान् उठ बैठा । सावित्री पतिके साथ आश्रम लौटी । सत्यवान्‌के पिताको दृष्टि मिल चुकी थी । उसी समय उनके राज्यके प्रमुखजन उन्हें लेने आये थे । शत्रु-नरेशको प्रजाने विद्रोह करके मार दिया था और अपने धर्मात्मा राजाको लेने वे आये थे । सावित्रीके साथ सत्यवान्‌को लेकर राजा द्युमत्सेन उसी दिन राजधानी पहुँच गये ।

—सु०

(५)

भगवती श्रीजानकीजी

सती सिरोमनि सिय गुन गाथा ।

महासती श्रीअनसूयाजीने सतीधर्मका उपदेश करनेके उपरान्त श्रीजानकीजीसे कहा—

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं ।
तोहि प्रानप्रिय राम कहेउँ कथा संसार हित ॥

महाराज जनककी इन अयोनिजा कन्या भूमिसुताका स्मरण ही सतियोंको अपने सतीत्व-धर्मपर स्थिर रहनेकी शक्ति देता है । इनके सतीत्वकी चर्चा भला, कोई क्या करेगा । श्रीरामको वन जाना था । माता कौसल्यासे विदा माँगने वे आये । श्रीजानकीको समाचार मिला और वे सासके सदन गयीं । उन्हें कुछ कहना नहीं पड़ा । उनके तो मनमें निश्चय था—

चलन चहत बन जीवन नाथू । केहि सुकृती सन होइहि साथू ॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना । बिधि करतबु कछु जात न जाना ॥

माता कौसल्याने ही श्रीरामसे अनुरोध किया कि वे जनककुमारीको अयोध्या रहनेके लिये समझायें । श्रीरामने अपनी ओरसे वनके कष्टोंका भय दिखलाया । अयोध्या रहना धर्मसंगत है, यह भी बताया ।

बचन मोर नीक जौं कहहू । बचन हमार मानि गृह रहहू ॥
आयसु मोर सासु सेवकाई । सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥
एहि तें अधिक धरम नहिं दूजा । सादर सासु ससुर पद पूजा ॥

श्रीरामके भय-दर्शन एवं उपदेश-आदेशके उत्तरमें अत्यन्त व्याकुलतापूर्वक जनकनन्दिनीने निवेदन किया—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान ।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान ॥

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवार सदन समुदाई ॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पति बिहीन सबु सोक समाजू ॥
भोग रोगसम भूषन भारू । जम जातना सरिस संसारू ॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें । सरद बिमल बिधु बदनु निहारें ॥

कहाँ राजसदनकी स्नेहपालिता राजकन्या और कहाँ वनका बीहड़ पथ, वल्कल-वस्त्र, कंद-मूल-आहार, साथरी-शयन तथा पर्णकुटी ! किंतु श्रीजानकीको यह कष्ट कभी प्रतीत ही नहीं हुआ !

यह ठीक है कि रावण छाया-सीताका ही हरण कर सका था, जनककुमारीने तो श्रीरामकी आज्ञासे पावकमें गुप्त निवास स्वीकार किया था; किंतु छाया-सीता भी तो अन्ततः सीताकी ही छाया थीं । सुरासुरजयी रावण—'लोकप जाके बंदीखाना' और उसे तिरस्कृत करके कह देना—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥

—यह ओजस्विता उन आदिशक्ति निखिलेश्वरीकी छायामें ही सम्भव थी । लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये भले मर्यादा-पुरुषोत्तमने अग्नि-परीक्षा आवश्यक मानी, किंतु जगन्माता तो नित्य मङ्गलमयी परम शुद्धा हैं ।　　　　—सु०

(६)

सती दमयन्ती

विदर्भनरेश राजा भीष्मककी कन्या दमयन्ती विवाह-योग्य हुई तो उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा इतनी फैल चुकी थी कि इन्द्र-जैसे लोकपाल भी उससे विवाह करनेको उत्सुक थे । लेकिन एक हंसके द्वारा निषधनरेश नलका वर्णन सुनकर दमयन्तीने अपना हृदय उन्हें अर्पित कर दिया था । राजा नल भी दमयन्तीके रूप-गुणको सुनकर उससे विवाह करनेको उत्सुक थे ।

दमयन्तीका स्वयंवर करना था । इन्द्र, यम, वरुण और अग्नि—ये लोकपाल भी आ रहे थे स्वयंवरमें । इन देवताओंने नलको ही अपना दूत बनाकर दमयन्तीके पास भेजा । देवताओंद्वारा प्रदत्त अन्तर्धान-विद्याके प्रभावसे नल अन्तःपुरमें पहुँचे और दमयन्तीसे बोले—'लोकपालोंके सम्मुख मनुष्य कैसे तुम्हारी रक्षा कर सकता है ! तुम इन लोकपालोंमेंसे ही किसीका वरण करो !'

दमयन्ती रोने लगी । उसने कहा—'मैंने आपको पति मान लिया है । दूसरेको मैं स्वीकार नहीं कर सकती । मैं अपने धर्मपर सच्ची हूँ तो देवता मुझे आशीर्वाद ही देंगे ।'

नल लौट आये । स्वयंवर-सभामें नलके समीप उनके ही रूपमें चारों लोकपाल भी आ बैठे । वरमाला लेकर दमयन्ती आयी तो पाँच नल देखकर चकित रह गयी; किंतु उसने देवताओंसे मन-ही-मन प्रार्थना की । सतीसे छल करनेका साहस देवताओंमें नहीं था । दमयन्तीने देख लिया कि केवल एक नलको पसीना आया है । वे ही आसनका स्पर्श करके बैठे हैं । उन्हींकी मालाके पुष्प कुम्हलाये हैं । अतः उनके कण्ठमें उसने वरमाला डाल दी ।

दमयन्तीने मनोनीत पतिके लिये लोकपालोंका भी तिरस्कार कर दिया था । इससे लोकपाल प्रसन्न हुए; क्योंकि देवता धर्मके सहायक होते हैं । अग्निने आशीर्वाद दिया—'नल ! तुम्हारे स्मरण करते ही मैं प्रकट हो जाऊँगा ।'

इन्द्रने प्रत्यक्ष यज्ञभाग लेना स्वीकार किया । वरुणने इच्छा करते ही जल प्रकट होनेका और यमने नलके हाथसे सुस्वादु भोजन बननेका आशीर्वाद दिया । देवता चले गये । नल पत्नीके साथ राजधानी आये, अनेक वर्षोंतक उन्होंने राजसुख भोगा; लेकिन नलको जुआ खेलनेका व्यसन था । अपने छोटे भाई पुष्करके साथ जुआ खेलते हुए वे सारा राज्य हार गये । दमयन्तीने अपने पुत्र तथा पुत्रीको अपने पिताके घर भेज दिया और स्वयं पतिके साथ राजभवनसे निकल पड़ी ।

'जो नलको शरण देगा, उसे प्राणदण्ड मिलेगा ।' यह घोषणा पुष्करने राज्यमें करा दी । जो कलतक नरेश थे, वे नल परम सुकुमारी रानीके साथ अशरण भटकने

लगे। उन्होंने दमयन्तीको बहुत समझाया कि वह अपने पिताके घर जाकर विपत्तिके दिन काट दे; किंतु उस पतिव्रताने संकटमें पतिका साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया।

तीन दिन बीत गये दम्पतिको वनमें भटकते; कोई आहार नहीं मिला। चौथे दिन कुछ सुनहले पंखवाले पक्षी दीखे। नलने उन्हें पकड़नेके लिये अपनी धोती फेंकी तो वे पक्षी धोती ही लेकर उड़ गये। नल नंगे हो गये। दमयन्तीकी देहपर भी एक ही साड़ी थी। भूखे-प्यासे दोनों थककर सो गये। नलकी निद्रा टूटी। उन्होंने सोचा—'मेरे तो दुर्भाग्यके दिन हैं। मेरे कारण यह राजकुमारी कष्ट पा रही है। मैं चला जाऊँ तो यह थक-हारकर पिताके घर चली ही जायगी।'

नंगे कहीं जाना सम्भव नहीं था। सोती हुई दमयन्तीकी आधी साड़ी नलने फाड़कर कमरमें लपेट ली और उसे सोती ही छोड़कर चले गये। दमयन्ती जागी तो पतिको न देखकर क्रन्दन करती हुई उन्हें वनमें ढूँढ़ने लगी। पतिवियोगमें पागल बनी दमयन्तीने देखा ही नहीं कि वह कब अजगरके पास पहुँच गयी। अजगरने उसे पकड़ा और निगलना प्रारम्भ कर दिया।

कोई व्याध वनमें आखेट करने आया था। उसने दमयन्तीकी चीत्कार सुनी तो दौड़ा आया। अजगरको उसने मार दिया; लेकिन दमयन्तीके सौन्दर्यको देखकर वह कामपीड़ित हो गया। उसने बलात्कारका प्रयत्न किया तो उस सतीके क्रोधपूर्ण नेत्र पड़ते ही व्याधके शरीरसे अग्नि प्रकट हुई और वह भस्म हो गया।

वनमें भटकती दमयन्ती राजा सुबाहुकी राजधानी चेदिनगर पहुँची। उसे दीनदशामें नगरमें जाते राजमाताने झरोखेसे देखा और अपने पास बुलवा लिया। सतीत्वकी रक्षाका आश्वासन मिलनेपर दमयन्ती उनके समीप रह गयी। पीछे सम्पर्कमें परिचय हुआ तो पता लगा कि दमयन्ती राजमाताकी सगी बहिनकी पुत्री है और उसने अनजानमें ही अपनी मौसीके यहाँ ही शरण-ग्रहण की है। यह परिचय हो जानेपर राजमाताने प्रबन्ध करके दमयन्तीको उसके पिताके घर भेज दिया।

दमयन्तीको त्यागकर नल वनमें चले गये थे। इस यात्रामें उन्हें दावाग्निसे घिरा कर्कोटक नाग मिला। नलने उसकी प्राणरक्षा की। अतः दोनोंमें मैत्री हो गयी। कर्कोटकने नलका रूप परिवर्तित कर दिया। यह व्यवस्था भी कर दी कि इच्छा होनेपर वे अपना रूप ग्रहण कर सकें। नागकी सम्मतिसे नलने अपना नाम बाहुक रख लिया। वे वहाँसे अयोध्या पहुँचे और वहाँके राजा ऋतुपर्णके द्वारा अश्वशालाके अध्यक्ष-पदपर नियुक्त होकर रहने लगे।

पिताके यहाँ पहुँचकर दमयन्तीने नलके अन्वेषणमें चारों ओर चर भेजे। उनमें एक चर अयोध्या भी पहुँचा। वह चतुर ब्राह्मण था। उसने बाहुकको देखा। बाहुकके व्यवहारसे उसे संदेह हुआ। उसका विवरण पाकर दमयन्तीने अयोध्याके राजा ऋतुपर्णके पास संदेश भिजवाया—'मैं पुनः स्वयंवर करूँगी। कलतक आप आ जायँ।'

ऋतुपर्ण चिन्तामें पड़े। एक दिनमें अयोध्यासे विदर्भ भला कैसे पहुँचा जा सकता है। लेकिन बाहुकने राजाको निश्चिन्त कर दिया। उसने रथ सजाया। बाहुकका रथ वायुवेगसे उड़ा जा रहा था। मार्गमें पूछनेपर बाहुकने ऋतुपर्णको रथ हाँकनेकी वह कला सिखलायी। बदलेमें ऋतुपर्णने भी उसे द्यूतमें विजय पानेकी विद्या बता दी।

बाहुकका रथ एक ही दिनमें अयोध्यासे विदर्भ पहुँच गया। वहाँ दूसरा कोई राजा नहीं आया था और न स्वयंवरका कोई आयोजन था। दमयन्तीको तो यह जानना था कि बाहुक नल ही हैं या नहीं।

पुत्र और पुत्री दमयन्तीने दासीके साथ भेजे। बाहुक उन बालकोंको हृदयसे लगाकर रोने लगा। भोजन बनाते समय व्यवस्था कर दी गयी थी कि बाहुकको न जल प्राप्त मिले, न अग्नि। बाहुकने फूसमें फूँक मारी और अग्निदेव प्रकट हो गये। जलपात्र उसने देखा तो वह जलसे भर गया। उसका भोजन कौशलसे दमयन्तीने मँगाया और खाकर देखा। वरुणदेवके वरदानसे नलके द्वारा बनाये भोजनमें जो स्वाद होता था, वह कोई कैसे छिपा लेता। पूरी परीक्षा करके दमयन्ती नलके पास आयी। अन्ततः नलको अपनी वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ी। उन्होंने अपना असली रूप धारण कर लिया।

विदर्भसे विदा होकर राजा नल निषध पहुँचे। उन्होंने पुष्करको जुआ खेलनेकी चुनौती दी और जुएमें खोया राज्य जुएमें ही जीत लिया। अपने उदार स्वभावके कारण उन्होंने राज्य पाकर छोटे भाई पुष्करको निर्वासित नहीं किया।

—सु०

विलक्षण पत्नी-धर्म

भामती देवी

संयम, संतोष तथा शास्त्रनिष्ठा ही ब्राह्मणका धर्म है। इस ब्राह्मणत्वके मूर्तिमान् सजीव स्वरूप थे श्रीवाचस्पति मिश्र। वे विद्याध्ययन करके लौटे तो माता-पिताने विवाह कर दिया। एकान्तमें झोपड़ी मिल गयी रहनेको और वे अपने अध्ययन-चिन्तन तथा शास्त्र-प्रणयनमें लग गये।

शरीरके धर्म सबके साथ लगे हैं। शौच-स्नान, भोजन-निद्राके अतिरिक्त ब्राह्मणके साथ संध्या-वन्दन, हवन-तर्पणके कर्म भी लगे रहते हैं। त्रिकाल स्नान, समयपर संध्या, पूजन, पितृ-तर्पणमें प्रमाद नहीं होता था; किंतु जिसे भोजनका ही स्मरण न हो कि मुखमें कैसा ग्रास जा रहा है, उसे दूसरे कर्मोंकी ओर ध्यान देनेका समय कहाँ था। शरीर जैसे यन्त्रके समान समयपर अभ्यासवश सब काम करता था; किंतु श्रीवाचस्पति मिश्रका मन तो निरन्तर शास्त्रके गम्भीर चिन्तनमें लीन रहता था।

एक रात्रिकी घटना है पण्डितजी बार-बार नेत्र बंद करके कुछ सोचते हैं और फिर लिखने लगते हैं। आस-पास ग्रन्थोंकी ढेरी बिखरी पड़ी है। कभी-कभी कोई ग्रन्थ उलटकर कुछ देखते हैं। अचानक दीपक बुझ गया। पण्डितजीके कार्यमें बाधा पड़ी, ध्यान भङ्ग हुआ। इतनेमें उनकी पत्नीने आकर दीपक जला दिया और वहाँसे जाने लगीं। पण्डितजीने पूछा—'देवी! आप कौन हैं?'

पत्नीने सिर झुका लिया। बड़े नम्र शब्दोंमें बोलीं—'मैं आपकी सेविका हूँ।'

'मेरी सेविका? मेरी सेवामें तुम्हें किसने नियुक्त किया?' पण्डितजीकी समझमें बात आयी नहीं थी।

पत्नीने बतलाया—'धर्मके अतिरिक्त पत्नीको पतिकी सेवामें दूसरा कौन नियुक्त कर सकता है।'

'तुम मेरी पत्नी हो?' पण्डितजी अब भी पूर्णतया मनको इस ओर नहीं ला सके थे। 'हमारा विवाह कब हुआ था? मुझे तो कुछ स्मरण नहीं है।'

'उस घटनाको तो पचास वर्ष हो चुके।' पत्नीने कहा। 'विवाहमण्डपमें भी आपने एक हाथमें मेरा हाथ पकड़ा तो दूसरे हाथमें पुस्तकके पन्ने थे आपके। आपका ध्यान उस शास्त्र-चिन्तनसे पृथक् न हो, यह मैंने प्रयत्न किया। आज मेरी असावधानीसे दीपक बुझा और आपके कार्यमें बाधा पड़ी। मुझे क्षमा करें।'

पचास वर्ष एक झोपड़ीमें एक साथ रहनेपर भी जिसका ध्यान ही नहीं गया कि उसके स्नान, भोजन, अध्ययनकी समस्त सेवा कौन करता है, कौन उसके लिये सब सुविधाएँ सब समय प्रस्तुत करता रहता है, वह शास्त्र-चिन्तामें लगा ब्राह्मण श्रेष्ठ है अथवा पूरे पचास वर्ष निरन्तर पतिकी सेवामें लगी, उसके लिये जल-अन्नसे लेकर दीपक जलानेतककी छोटी-बड़ी सम्पूर्ण सुविधा क्षण-क्षणकी देख-रेख करनेवाली तपस्विनी पतिव्रता श्रेष्ठ है? इसका निर्णय तो धर्मराजसे ही सम्भव है।

'मैं तुम्हारा नाम अमर कर दूँगा।' पण्डितजीने अपने ग्रन्थके नामके स्थानपर लिखा 'भामती'। 'तुम्हें और क्या चाहिये?'

शास्त्रनिष्ठ संयमी ब्राह्मण ऐसा क्या है, जो देनेमें समर्थ नहीं; किंतु पतिव्रता पत्नीको पति-सेवाके अतिरिक्त कुछ चाहिये ही कहाँ।

वेदान्तदर्शनका अपूर्व भाष्य 'भामती' आज भी इस धर्मप्राण विप्र-दम्पतिकी उज्ज्वल यशोगाथा है। —सु०

पत्नी-धर्मकी आदर्शभूता श्रीमती वासुकी

तमिलके प्राचीन प्रसिद्ध कवि संत तिरुवल्लुवरकी पत्नी श्रीमती वासुकी आदर्श पतिपरायणा नारी थीं। एक बार वे कुएँसे जल निकाल रही थीं। उसी समय पतिने पुकारा उन्हें किसी कामसे। आधे कुएँतक घड़ा आया था। उसे वहीं छोड़कर दौड़ीं—'आयी स्वामी!'

पतिव्रताने जहाँ छोड़ा था, घड़ा बीच कुएँमें वहीं लटक रहा था!

देशके कुछ भागोंमें गरीबोंमें यह रीति है कि रातको चावल पकाकर भातको पानीमें डुबाकर रख देते हैं और सवेरे नमक मिलाकर उसे खाकर काम करने चले जाते हैं। बड़े सवेरे कामपर जाना आवश्यक होता है। जो पत्नी दिनभर साथ काम करे और लौटकर भोजन बनावे, उसे सवेरे बर्तन-चौका स्वच्छ करके फिर खेतपर जाना होता है। इसलिये सवेरे बासी भात खानेकी यह प्रथा श्रमिकोंमें वहाँ चल पड़ी है, जहाँ मुख्य भोजन भात है।

उस समय तमिळनाडमें भी यह प्रथा थी। पता नहीं, अब वहाँ बासी भात खानेकी यह प्रथा है या नहीं। लेकिन मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़के जिलोंमें तथा उत्कल एवं बिहारके बहुत-से भागोंमें अब भी है। ऐसा ही पानीमें भीगा बासी भात खाने सवेरे बैठे थे तिरुवल्लुवरजी। उन्होंने अचानक पत्नीसे कहा—'भोजन बहुत गरम है, पंखा करो!'

संतकवि तो अपनी धुनमें थे। इन्होंने मन-ही-मन आराध्यको भोजन अर्पित करना चाहा और भूल ही गये कि भोजन बासी तथा जलमें डूबा है। उनके मनमें तो ताजा उत्तम भोजन था जो वे आराध्यको अर्पित करने बैठे थे।

'अच्छा, स्वामी!' सती नारीने पंखा उठाया और झलने लगी। पतिने कोई भूल की है, उनकी आज्ञा सदोष है—यह सोचना उन्होंने सीखा ही न था। —सु०

कुछ सती देवियाँ

(१)

सती कुमारी सूर्य-परमाल

बात है सन् ७१८ ई०की। बगदादके खलीफा वलीदने अपने युवक सेनापति मुहम्मद बिन कासिमको आर्य-धरापर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी। मुहम्मद बिन कासिम अपनी वाहिनीके साथ देवल (सिंध) पर टूट पड़ा।

उस समय सिंधका शासन महाराज दाहरके हाथमें था। युवराज जयशाहने यवन-सेनाका डटकर सामना किया, किंतु भाग्य विपरीत था। आर्यसेनाएँ पराजित हुईं और उसके बंदरगाहपर चाँद-तारेके निशानवाला हरा झंडा फहराने लगा।

अपनी पराजयका समाचार सुनते ही महाराज दाहर तड़प उठे। अपनी सेनाके साथ वे स्वयं युद्धभूमिमें उतर पड़े और यवन सेनाओंको गाजर-मूलीकी भाँति काटने लगे। वे रणाङ्गणमें जिधर मुड़ते, यवन-दल समाप्त हो जाता। आर्य-सेनाएँ भी बड़ी वीरतासे शत्रुको समाप्त कर रही थीं, किंतु महाराज दाहर यवनोंसे घिर गये। सैकड़ों शत्रुओंको अपनी तलवारके घाट उतारकर उन्होंने वीरगति प्राप्त की। कायर यवनोंने महाराज दाहरके निष्प्राण शरीरसे उनका मस्तक काट लिया, खलीफाके सम्मुख अपनी वीरता-प्रदर्शनके लिये।

महाराज दाहरकी वीर-पत्नीने यह समाचार सुना तो वे क्रोधसे दाँत पीसने लगीं। स्त्रियोंकी सेनाके साथ वे स्वयं शत्रुसे जूझ गयीं। कितने ही यवनोंका संहार करके वे मृत्युकी गोदमें सो गयीं।

इस प्रकार युद्ध समाप्त हुआ।

विजयोन्मत्त यवन महाराज दाहरका राज-भवन लूटने लगे। इस लूटमें सेनापति मुहम्मद बिन कासिमने तीन प्रमुख वस्तुएँ प्राप्त कीं—महाराज दाहरका सिर, उनकी दो परम रूपवती बेटियाँ—सूर्य और परमाल तथा दाहरका छत्र।

सेनापतिने लूटका सारा समाचार खलीफा वलीदके पास बगदाद भेज दिया और स्वयं भारतपर विजय प्राप्त करनेकी युक्ति सोचने लगा।

× × ×

'या खुदा!' महाराज दाहरके कटे सिरको देखकर खलीफा सहम गया। उसके मुँहसे आश्चर्यभरा वाक्य निकल गया—'हिंदुस्तानी काफिर इतने डरावने होते हैं! जल्दी हटाओ इसे यहाँसे!'

कटा सिर हटा दिया गया और सूर्य और परमाल महाराजकी दो बेटियाँ सम्मुख उपस्थित की गयीं।

उनका रूप और लावण्य! खलीफा हैरान था। 'ये

लड़कियाँ हैं कि बादिस्तकी हूरें !' शैतान जाग्रत् हुआ। आज्ञानुसार सैनिक वहाँसे हट गये।

'मैं तुम्हें अपनी बेगम बनाना चाहता हूँ !' खलीफा आगे बढ़ा। वह भारतीय देवियोंके सतीत्व और धर्मपर प्राण देनेकी बात सुन चुका था। उसे आशा थी कि वे लड़कियाँ कुपित होंगी।

किंतु उसकी आशाके विपरीत वे रोने लगीं।

खलीफा आगे बढ़ा तो पीछे हटती हुई सूर्यदेवीने कहा 'नहीं जहाँपनाह ! मुझे न छूएँ !'

'क्यों !' कुछ भी न समझकर खलीफाने पूछा। 'क्या बात है ?'

'मैं छूने योग्य नहीं रही।' रोते-रोते सूर्यदेवीने उत्तर दिया। 'यह शरीर आपके अधम सेनापति मुहम्मद बिन कासिमने अपवित्र कर दिया है !'

खलीफा ठक् रह गया। क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयीं। उसने अपने चुने सैनिकोंको आज्ञा दी—'मुहम्मद बिन कासिमको जिंदा ही सूखी खालमें सीकर हिंदुस्तानसे लाकर मेरे हुजूरमें हाजिर करो।'

सैनिकोंने प्रस्थान किया और वे भारतवर्ष पहुँचे। मुहम्मद बिन कासिम चिल्लाने लगा, अपनेको निर्दोष बताने लगा और प्रार्थना करने लगा कि वह जहाँपनाहके सामने अपनेको बेगुनाह साबित कर देगा, उसे मौका दिया जाय। पर हुक्म तो हुक्म था। सैनिकोंको उसकी तामील करनी थी।

रोता, गिड़गिड़ाता जिंदा मुहम्मद बिन कासिम सूखी खालमें ठूँसकर अच्छी तरह बंद करके सी दिया गया। उसे सैनिक बगदाद ले चले।

सूखी खालमें मुहम्मद बिन कासिमका बंद मृत शरीर खलीफाके सामने पेश किया गया। खलीफाने गुस्सेमें बड़-बड़ाते हुए उसे दो लात कसकर जमाया और उसे दूर ले जानेका हुक्म दिया।

पर उसने अपने विश्वासी और साहसी वीर सेनापति (मुहम्मद बिन कासिम) का अन्तिम संदेश सुना तो वह अवाक् रह गया। उसे अपने कानोंपर विश्वास नहीं हो रहा था। क्या यह सम्भव है ? कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा था।

महाराज दाहरकी धर्मप्राण पुत्री सूर्यदेवी और परमाल सामने खड़ी थीं।

'जो होना था हो गया'—खलीफाने कुछ चिन्तित स्वरमें कहा। 'पर तुम सच-सच बतला दो—मुहम्मद बिन कासिमके मामलेमें तुमने जो कुछ कहा था, वह सच था या नहीं ?'

'बिल्कुल झूठ !' सूर्यदेवीने दाँत पीसकर कहा, 'हिंदू कन्याको अपवित्र करनेकी सामर्थ्य तुम्हारे सेनापतिमें कहाँ ? अपने माता-पिता तथा सैनिकोंकी मृत्युका बदला लेनेके लिये मेरे पास अन्य कोई मार्ग ही नहीं बच गया था !'

खलीफाकी आँखें जैसे फट-सी गयीं। उसे चक्कर आने लगे। महाराज दाहरकी उन दोनों बेटियोंको कठोरतम दण्ड देनेके लिये उसने सिर उठाया तो देखा दोनों बेटियों-की निर्जीव देह धरतीपर लुढ़क गयी हैं। अपनी विषबुझी कटार दोनोंने एक दूसरेके वक्षमें घुसा दिया था।

खलीफा हैरान देखता रह गया। —शि० दु०

(२)

सती पद्मिनी

'मैं पद्मिनीको नहीं चाहता'—अलाउद्दीनने चित्तौड़ दुर्ग-के शासक भीमसिंह (रत्नसिंह) को संदेश भेजा। 'आप उसे एक बार सिर्फ दिखला दें, मैं दिल्ली लौट जाऊँगा।'

चित्तौड़पर घेरा डाले अलाउद्दीन थक गया था। उसके सैनिक भूखों मरने लगे थे, किंतु चित्तौड़पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अपनी लज्जा छिपानेके लिये अलाउद्दीनने उपर्युक्त संदेश भिजवाया।

'चित्तौड़-विनाशमें मैं निमित्त नहीं बनना चाहती'—क्रोधसे काँपते अपने पतिको अत्यन्त विनीत शब्दोंमें सती पद्मिनीने समझाया। 'आपत्तिके समय राजपूत-नारी अपना कर्तव्य जानती है; पर विपत्ति सरलतासे टल जाय तो अच्छा है। दर्पणमें मेरी छाया देखकर वह नृशंस लौट जाय तो कल्याणकर है।'

'दर्पणमें छायामात्र !'—अलाउद्दीन इसनेपर राजी हो गया। चित्तौड़-दुर्गमें उसका स्वागत हुआ। दूरसे दर्पणमें उसने पद्मिनीका मुँह देखा तो उन्मत्त-सा हो गया। बड़ी कठिनतासे वह संयमित हो सका।

दुर्ग-द्वारके बाहर भीमसिंह उसे पहुँचाने आये और कुटिल अलाउद्दीनने उन्हें गिरफ्तार कर लिया।

चित्तौड़-दुर्गमें क्रूर यवनके प्रति अत्यधिक घृणा और अशान्ति व्याप्त हो गयी।

× × ×

'मेवाड़का सूर्य अस्त न हो जाय'—बहुत सोच-विचारकर

पृथ्वीराजने दृढ़ प्रतिज्ञा की—'निश्चय ही मैं आपके पिताका राज्य वापिस दिलाऊँगा।'

अवसर देखकर पृथ्वीराजने सूरसेनके चरणोंका स्पर्श करके आशिष प्राप्त की और पाँच सौ चुने हुए वीर सैनिकोंको लेकर बदनौरकी ओर चल पड़ा। उसके हर्षकी सीमा नहीं थी, जब उसने देखा कि सैनिकके वेशमें स्वयं तारा उसके साथ घोड़ेपर चल रही थी। उसकी लंबी तलवार बगलमें लटक रही थी।

× × ×

उस दिन मोहर्रम मनाया जा रहा था। ताजियोंके जनाजाके साथ मुसल्मान 'हा हुसेन, हा हुसेन' कहते अपनी छाती पीटते रोते-चिल्लाते आगे बढ़ रहे थे। दुर्गके ऊपर बैठा अफगान लाइलाहा जनाजेका उठना देख रहा था।

पृथ्वीराजने अपना पैना तीर कसकर छोड़ा। वह लाइलाहाके वक्षमें धँस गया। लाइलाहा वहीं लुढ़क गया। मुसल्मानोंमें खलबली मच गयी। पृथ्वीराज और तारा अपने सैनिकोंसे मिलने पीछे भागे। मुसल्मानोंने पीछा किया। युद्ध छिड़ गया। यवनोंको अस्त्र उठानेके पूर्व ही समाप्त कर दिया गया। जो जहाँ था, वहीं मौतकी गोदमें सो गया।

ताराने भी अपनी तीक्ष्ण तलवारसे अनेक यवनोंका संहार किया।

बदनौरका दुर्ग पुनः सूरसेनके हाथमें आ गया और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ताराने पृथ्वीराजके साथ विवाह कर लिया।

—शि० दु०

कुछ आदर्श हिंदू-नारियाँ

(१)

सती चंचलकुमारी

'तू बड़ी शैतान मालूम होती है, बुढ़िया!' रूपनगरकी रूपवती और चञ्चल राजकुमारी चंचलने कुछ रोषसे कहा। 'तू या तो मुसल्मान बादशाहोंकी तस्वीरें दिखाती है या मानसिंह, जयसिंह और जगतसिंह आदि उनके नौकरोंकी! मैं तुमसे बार-बार हिंदू नरेशोंके चित्र दिखानेके लिये कह रही हूँ।'

'यह देखिये, राजकुमारी' बुढ़ियाने कहा। 'आप नाराज क्यों होती हैं?' और उसने प्रतापसिंह, करणसिंह और राजसिंहके चित्र दिखाये।

'और'? अबकी चंचल प्रसन्न हो गयी थी।

'दिल्लीके बादशाह, आलमगीरकी तस्वीर है यह।' फिर औरंगजेबका चित्र सामने रखकर बुढ़ियाने कहा। 'इसकी सिजदा करो, राजकुमारी!'

'सिजदा!' राजकुमारीने दाँत पीस लिये।

'सुनो!' अनेक दासियोंको बुलाकर हँसती हुई कुमारी चंचलने कहा। 'इस नरकके देवताकी सिजदा करो!'

और सबने उस चित्रपर जूतियाँ बरसायीं। चित्रके चीथड़े हो गये।

बुढ़ियाने चित्रके चीथड़े उठा लिये और चुपचाप चली गयी।

वह दिल्ली पहुँची और सारी घटना उसने नमक-मिर्चके साथ औरंगजेबको सुना दी।

औरंगजेब आग-बबूला हो गया।

उसने सेनापतिको तुरंत आज्ञा दी—'अभी रूपनगरके लिये फौज कूच करे और राजकुमारी चंचलका डोला यहाँ आ जाय।'

'ऐसा ही होगा!' सेनापतिने उत्तर दिया और औरंगजेबकी सशस्त्र सेना रूपनगरके लिये चल पड़ी।

× × × ×

'आप अपनी लड़कीका डोला तैयार रखें'—सेनापतिने रूपनगरके राजा, कुमारी चंचलके पिता, विक्रम सोलंकीको पत्र लिख भेजा। 'हम आ रहे हैं। अगर ऐसा नहीं हुआ तो रूपनगर खूनमें नहायेगा और कुमारी तो हमारे साथ आयेगी ही!'

विक्रम काँप गया। 'दिल्लीश्वरकी अपार शक्तिके सम्मुख मैं क्या कर सकूँगा? फिर क्यों न कुमारीको भेज दूँ? कितने ही राजपूतोंकी कन्याएँ तो मुसल्मानोंसे ब्याही जा चुकी हैं!' और अपना यही मन्तव्य उसने अन्तःपुरमें चंचलको सुना दिया।

'रक्तमें स्नान रूपनगर कर ले!'—चंचलने उत्तर दिया। 'इसमें कोई हानि नहीं; पर आपकी पुत्री मुसल्मानकी बेगम बने, यह महापाप है। कैसे सहेंगे इसे आप?'

'किंतु तेरी रक्षाकी शक्ति मुझमें नहीं!' विक्रमने कहा। 'मैं तुमसे साफ बता देता हूँ। औरंगजेबकी विशाल सेनाके सामने हम मुट्ठीभर राजपूत कर ही क्या सकते हैं?'

शक्ति आपमें नहीं, सर्वशक्ति-सम्पन्न जगदीश्वरमें है, पिताजी !' अत्यन्त दुःखी होकर चंचलने कहा। 'वे निश्चय ही मेरी रक्षा करेंगे और इतना तो आप जानते ही हैं कि अग्नि, विष और विराक्त कटार तो इन क्षत्राणियोंकी सदाकी साथिन हैं। हमारे धर्मकी रक्षा ये कर ही देती हैं। मैं पुनः वचन देकर कहती हूँ, आप मेरी चिन्ता न करें।'

विक्रम उदास, मुँह लटकाये बाहर चला गया और राजकुमारी चिन्तित, उदास, रोने लगी।

'करुणामय स्वामी ! मेरे धर्मकी रक्षा करना।' चंचलने प्रार्थना की और अचानक उसकी दृष्टि ऊपर उठी तो देखा राजसिंहका चित्र था। 'राजसिंह—महाराणा प्रतापके वंशधर चित्तौड़के रक्षक !' राजकुमारी चित्रको और एकटकी आँखें देखकर, बहुत देरतक देखती रही।

'करुणामय भगवन् !' उसने पुनः प्रभुको स्मरण किया और पत्रमें सारी बातें विस्तारसे लिखकर राणाके पास पत्र भेज दिया। उसे रुक्मिणीके द्वारा श्रीकृष्णको पत्र लिखनेकी बात स्मरण आ गयी थी।

कुछ ही दिनोंमें उत्तर भी आ गया।

'पत्र मिला।' राजसिंहने स्वयं लिखा था। 'आप निश्चिन्त रहें।'

'प्रभो !' राजकुमारीने पुनः दयामय प्रभुका स्मरण किया।

अब वह प्रसन्न थी।

× × × ×

'यह रही राजकुमारीकी डोली !'—मुगल सेनापति आश्चर्यचकित था। रक्तकी एक बूँद भी बहे बिना डोली आ जायगी, इसकी कल्पना भी नहीं थी। मुगल सेनापति प्रसन्नतापूर्वक लौट पड़ा।

सेनाएँ अरावली पर्वतके बीचवाले तंग मार्गमें आ रही थीं और राजकुमारी चंचल रह-रहकर पर्दा हटाकर बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रही थी। उसे राणा राजसिंहने आश्वासन जो दे दिया था।

अचानक विशाल शिला-खण्डोंकी वृष्टि होने लगी सैनिकोंपर।

'या खुदा !' सैनिक आगे भागे, किंतु मार्ग अवरुद्ध था। पीछे भागे, पर उधरसे निकलनेका कोई पथ नहीं। मुगल सेना जैसे चूहेदानीमें फँस गयी थी। उधर शिला-खण्डोंकी वर्षा होती जा रही थी।

कुछ ही क्षणोंमें हजारों मुसल्मान मौतकी गोदमें सो गये। कुछ ही इधर-उधरसे प्राण बचाकर भाग सके होंगे।

महाराणा चंचलके पास पहुँचे।

'अब आप अपने पिताके पास सुरक्षित पहुँचा दी जायँगी।' राजसिंहने बड़ी शालीनतासे राजकुमारीसे निवेदन किया। 'मुगल सेनाएँ सो गयीं, बची-खुची भाग गयीं। अब कोई बाधा नहीं।'

'मेरे पिता तो मुझे औरंगजेबके यहाँ भेज चुके हैं।' चंचल बोली। 'अब मैं फिर उनके पास कैसे जा सकती हूँ ?'

'तो फिर क्या किया जाय ?' राणाने पूछा।

'मैं तो इन्हीं श्रीचरणोंकी आस·····।' राजकुमारीका मुँह लज्जासे लाल हो गया। वह आगे नहीं बोल सकी।

'धन्य भाग्य मेरे !' राजसिंहने मुदित मनसे कहा।

'मेवाड़की महारानीकी जय !' राजपूतोंने उच्च घोषसे आकाशमण्डलको गुँजा दिया। —शि० दु०

(२)

सती लाजवंती

'ओफ !' अकबर भी जैसे अधीर-सा हो गया। टूटे-ढह गये भव्य प्रासाद, जली अस्थियाँ एवं मांसके लोथड़ोंको देखकर उसने कहा। 'राज्यकी सीमा बढ़ानेके लालचमें कितने बेगुनाहोंका खून करना पड़ता है। हरी-भरी दुनिया-को वीरान कर देना पड़ता है ! या खुदा !'

'तुम कौन ?' अपनी क्रूरतापर पश्चात्ताप करते हुए अकबरने दृष्टि उठायी और पीछे बँधे हाथवाले तेजस्वी सैनिकको देखकर प्रश्न किया।

'मैं पुरुष नहीं, स्त्री हूँ'—सैनिकने उत्तर दिया। 'डूँगरपुर मेरा घर है। मेरा पति पहले ही युद्धके लिये आ गया था। मैं भी जौहर-व्रतमें सम्मिलित होना चाहती थी, पर यहाँ तो मेरे आनेके पहले ही सब समाप्त हो गया। अब अपने पति-की लाश ढूँढ़ती हूँ, पर तुम्हारे सिपाहियोंने मुझे जबर्दस्ती कैद कर लिया।'

'तुम्हारे सिपाहियोंने !·····सब मुझे 'जहाँपनाह' और न जाने क्या-क्या कहते हैं। लेकिन यह राजपूत कन्या ! सचमुच यह जाति बड़ी निडर होती है।'

'तुम्हारी शादी कब हुई थी ?' अकबरने पूछा।

'अभी तो सगाई हुई है।' सैनिक वेषमें लड़कीने कहा।

'तब तुम दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेती ?' अकबरने सहानुभूतिके साथ कहा। 'अभी तो तुम्हारी सारी जिंदगी पड़ी है। क्यों बरबाद करती हो ?'

'गाली मत दो, अकबर !' लड़कीकी आँखें भर आयीं। 'सुनती हूँ, तुम बहुत बड़े बादशाह हो। भगवान्‌ने तुम्हें शक्ति-सामर्थ्य इसलिये नहीं दी कि तुम किसी सती नारीका अपमान करो।'

'नहीं, बेटी, नहीं!' अकबरने कुछ सहमकर कहा। 'बिल्कुल नहीं। मेरी यह बिल्कुल मंशा नहीं थी। इन ढेर-सी पड़ी लाशोंमें तुम्हारे पतिकी लाश मिल जाय तो ढूँढ़ लो, ले जाओ। मुझे कोई ऐतराज नहीं।'

लड़कीका नाम लाजवंती था। उसने पतिका शव ढूँढ़ लिया। कुछ लकड़ियाँ लायी। चिता बनी। उसपर पतिका शव सुला दिया, पाँच बार परिक्रमा की और पुनः प्रणाम करके स्वयं चितापर बैठ गयी। पतिका मस्तक गोदमें लेकर चकमकसे आग पैदा की। क्षणभरमें ही धू-धूकर चिता जल उठी। लाजवंतीकी कोमल काया उसके पतिके शवके साथ अग्निकी लाल लपटोंमें समाप्त हो गयी, राखकी ढेर बन गयी।

अकबर और उसके सैनिक राजपूत-कन्याका साहस और त्याग देखकर चकित थे। सतीके सहज पति-प्रेमकी प्रशंसाके अतिरिक्त वे और क्या कहते ! —शि० दु०

(३)

पतिव्रता मयणल्लदेवी

चन्द्रपुरके राजा कादम्बराज जयकेशीकी पुत्री थी मयणल्लदेवी। वह शरीरसे कुछ मोटी और कुरूपा थी; लेकिन उसका हृदय गुजरातनरेश भीमदेवके पुत्र कर्णको वरण कर चुका था। पिताके देहावसानके पश्चात् कर्ण सिंहासनासीन हुए। वे अपनी माता उदयमतीके परम भक्त थे। ये अत्यन्त रूपवान् तथा वीर थे।

'मैं दूसरेका वरण नहीं करूँगी।' राजकुमारीने विवाहकी चर्चा चलनेपर स्पष्ट कह दिया। लेकिन चालुक्यनरेश इस समय 'भारत-सम्राट्' होनेके लिये स्पर्धा कर रहे थे। दक्षिण भारतसे उनका मैत्रीसम्बन्ध नहीं था। ऐसी अवस्थामें यदि कन्याके विवाहका प्रस्ताव वे अस्वीकार करें, युद्ध अनिवार्य था। चन्द्रपुरनरेश जयकेशी युद्धसे डरते नहीं थे किंतु युद्ध करके मानी कर्णको विवाह करनेके लिये प्रस्तुत करना कठिन था।

'वे मेरे आराध्य हैं। युद्ध करके उन्हें विवश किया जाय, यह मैं सहन नहीं करूँगी।' राजकुमारीने युद्धकी चर्चा ही उठने नहीं दी। 'मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये। वे मुझे स्वीकार करें तो और अस्वीकार करें तो, मेरी गति तो उनके चरणोंमें ही है।'

पुत्रीका हठ राजा जयकेशीको स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने एक चित्रकारको आगे भेजा। चित्रकारने राजसभामें जाकर कर्णको काम्बोजराजकी कन्याका चित्र दिखलाकर निवेदन किया—'मेरे महाराजने आपकी भेंटमें हाथी भेजा है।'

हाथी देखने सभासदोंके साथ राजा कर्ण बाहर निकले। हाथीपर राजकुमारी मयणल्ल स्वयं बैठी थीं। लेकिन कर्णने उनसे विवाह करना अस्वीकार कर दिया। राजकुमारी उनका निर्णय सुनकर हाथीसे उतरी। उन्होंने कहा—'आर्य-कन्या एक बार ही पतिका वरण करती है। इस देहका उपयोग कुछ नहीं, यदि आप इसे स्वीकार नहीं करते।'

राजकुमारीके आदेशपर उनके साथ आये लोगोंने वहीं चिता बनायी। राजकुमारीने कर्णको प्रणाम किया और चितामें चढ़ने चलीं। उसी समय राजमाता उदयमती पधारीं। उन्होंने पुत्रको डाँटा—'तेरे जीवित रहते तुझे वरण करनेवाली साध्वी चितारोहण करेगी ? तुझे देहका आकार ही दीखता है, हृदयका शुद्ध सौन्दर्य नहीं दीखता ? चितामें ही चढ़ना हो तो मेरी पुत्रवधू नहीं चढ़ेगी, मैं चढ़ूँगी।'

अब राजा कर्णका हृदय द्रवित हुआ। उन्होंने माताके चरणोंमें सिर रखकर क्षमा माँगी। मयणल्लका पाणिग्रहण किया उन्होंने। यही रानी मयणल्लदेवी सिद्धराज जयसिंह-की जन्मदात्री हुई। उनकी शिक्षा तथा देख-रेखने ही सिद्धराजको इतना निपुण तथा समर्थ बनाया।

चालुक्यवंशके इतिहासमें आदर्श पतिव्रता तथा आदर्श माताके रूपमें मयणल्लदेवीका नाम अमर है। —सु०

(४)

साध्वी कान्तिमती

शाकल नगरीमें श्रीवत्स गोत्रमें उत्पन्न ब्राह्मण था वह। उसके पास अपार सम्पत्ति थी और अत्यन्त सुन्दरी, गुणवती पत्नी मिली थी; किंतु कुसङ्गमें पड़कर वह वेश्याके मोह-जालमें फँस गया था। उस वेश्याको उसने घरमें ही टिका लिया था।

पतिकी आज्ञासे साध्वी पत्नी कान्तिमती उस वेश्याके भी पैर धोती थी। रात्रिमें पति जब वेश्याके साथ शयन करता तो वह उन दोनोंके पैरोंके पास सो रहती। अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वह उन दोनोंकी सेवा करती थी।

वह ब्राह्मण नियम-संयम छोड़ ही चुका था। मनमाने आहार-विहारका फल यह हुआ कि रोगोंने उसके शरीरको अपना घर बना लिया। वमन-विरेचन हुआ, संग्रहणी हुई और फिर भगंदर हो गया। वेश्याने उसका धन अपने घर पहुँचा दिया था। अब उसे छोड़कर चली गयी। सम्बन्धियोंने उससे पहिले ही सम्पर्क त्याग दिया था। अब केवल पत्नी इस कष्टमें उसकी सहायक रह गयी। वह अपने शरीरके विश्रामकी चिन्ता त्यागकर रात-दिन उसकी सेवामें लगी रहती थी।

'मैंने तुम्हें बड़ा कष्ट दिया, तुम्हारा अपमान कराया। अब इसी पापका फल भोग रहा हूँ। मुझे क्षमा करो।' एक दिन उस पुरुषके मनमें पश्चात्ताप जागा तो वह यों बोला।

'आप मेरे आराध्यदेव हैं। मुझे अपराधिनी मत बनाइये। मैं तो आपकी तुच्छ दासी हूँ। आपकी सेवा

करके मुझे अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता है।' यह कहकर कान्तिमतीने उसके पैरोंपर मस्तक रख दिया। पतिकी मङ्गल-कामनासे वह कई प्रकारके व्रत रखती थी। देवताओंकी आराधना करती थी। पतिका कष्ट घटानेके लिये जो कर सकती थी, करती थी। घरमें कोई अतिथि-महात्मा आ जाते तो उनका सत्कार करती। उनका चरणोदक पतिके ऊपर छिड़कती।

सहसा एक दिन उस ब्राह्मणको संनिपात हो गया। बेचारी ब्राह्मणी वैद्यके पास भागी गयी और वहाँसे ओषधि ले आयी। तबतक ब्राह्मणके दाँत बैठ गये थे। बलपूर्वक दाँतोंको खोलकर वह मुखमें औषध डालनेका प्रयत्न करने लगी। रोगीने संनिपातके आवेशमें दाँत दबाये। स्त्रीकी एक अँगुली कटकर उसके मुखमें रह गयी। उसके प्राण छूट गये।

कान्तिमतीने स्नान किया। नवीन वस्त्र पहिना। अपना श्रृङ्गार किया। केशोंको खुला छोड़ दिया। सिन्दूरसे माँग भरी। पतिके शरीरके साथ श्मशान गयी और उस देहके साथ उसने चितारोहण किया।

नारीके लिये पति साक्षात् पुरुषोत्तम है। पतिव्रता नारी पतिकी आराधना उसे एक व्यक्ति, एक जीव मानकर नहीं करती। जैसे उपासकके लिये मन्दिरकी मूर्ति धातु, काष्ठ, पाषाणादि नहीं है, वैसे ही नारीके लिये पति व्यक्ति नहीं है। वह तो साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। इसलिये पतिभक्ति करके नारी उस पुरुषके साथ स्वर्ग-नरक नहीं

आती। यद्यपि वह ब्राह्मण वेश्याका चिन्तन करते मरनेके कारण तथा पत्नीकी अँगुली मुखमें रह जानेसे दूसरे जन्ममें व्याध हुआ, किंतु साध्वी कान्तिमती तो वैकुण्ठ चली गयी।
—सु०

(५)
सती वासंती

'मुझे इसी समय झाँसी ले चलिये।' करारीकी वासंतीने अपने श्वशुर प्रसादीको बुलाकर कहा।

'यह कैसे सम्भव है, बहू!' प्रसादीने प्रसूति-गृहमें पड़ी बहूको प्रेमसे समझाया। 'अभी तो कुल पाँच दिन हुए हैं। तुम बाहर कैसे निकल सकती हो और यदि जाना ही था तो किशोर (वासंतीका पति) अभी कुछ ही घड़ी पूर्व गया है; उसके साथ क्यों नहीं चली गयी?

'अब मुझे अपने परिवार तथा प्राणोंकी आवश्यकता नहीं'—वासंतीने बल देकर कहा। 'आप मेरी बातका विश्वास कीजिये। उन्हें काले नागने डँस लिया है। वे बच नहीं सकते। तभीतक उनके प्राण बचे रहेंगे, जबतक मैं उनके पास नहीं पहुँच पाती। आप तनिक भी देर करेंगे तो मेरी अभिलाषा अधूरी रह जायगी।'......'और यह बच्चा! जीजी पाल लेंगी इसे। इसे कुछ नहीं होगा। यह स्वस्थ रहेगा।

'बफातीका ताँगा झाँसीके लिये तैयार हो रहा है। आप जाकर देखिये, जल्दी कीजिये। इतनेपर तो आपको मेरी बातोंका विश्वास हो जाना चाहिये।'

प्रसादी घबराये-से बाहर दौड़े। उन्होंने देखा सचमुच बफाती ताँगा कसकर झाँसीके लिये तैयार है। प्रसादी उसे अपने द्वारपर ले आये। तबतक वासंतीने जल्दी-जल्दी कुछ वस्त्र-आभूषण पहन लिये थे।

करारी और झाँसीकी दूरी लगभग छः मील है। पौन घंटेमें ताँगा पहुँच गया। 'बड़े अस्पतालमें ले चलो' शहरमें पहुँचते ही वासंतीने कहा। ताँगा अस्पताल पहुँचा।

वासंती ताँगेसे कूदकर सर्वथा परिचितकी भाँति अस्पतालके उस कक्षमें पहुँच गयी, जहाँ डाक्टर और कम्पाउंडर निराश होकर अपने यन्त्र सँभाल रहे थे। डाक्टर आश्चर्यचकित हो गया, जब वासंतीके पहुँचते ही दो घंटेसे बेहोश किशोरने आँखें खोल दीं और हाथ उठाकर माथेसे लगा लिया।

'कुछ चिन्ता नहीं!' वासंतीने बड़ी शान्तिसे कहा। 'चलिये, मैं भी तैयार होकर आयी हूँ।'

डाक्टरके संकेतसे वासंती पकड़कर एक कमरेमें बंद कर दी गयी। 'मेरे निश्चयसे तुम मुझे डिगा नहीं सकते!' कहती हुई वासंती कमरेमें चली गयी थी।

किशोरने आँखें बंद कर लीं—सदाके लिये। उसके पिता चिल्लाने लगे।

× × ×

'क्यों श्रम कर रहे हो?' मार्गमें पिण्डदानके लिये शव उतारा गया तो हर प्रयत्न करनेपर भी उठ नहीं रहा था। समीपस्थ मन्दिरके स्वामी श्रीयुगलानन्दने आकर कहा। 'इसकी सती पत्नी वासंतीका शव आये बिना यह नहीं उठ सकेगा। उसका शव ले आओ तो यह तुरंत उठ जायगा।'

कुछ आदमी लौटे। देखा वासंतीका शरीर निर्जीव था। उसके प्राण अपने प्राणपतिके पास पहुँच गये थे।

उक्त दम्पतिकी अन्त्येष्टिमें सहस्रों स्त्री-पुरुष (कौतूहलवश भी) सम्मिलित हुए और जय-जयकार एवं पुष्पोंकी वर्षा की। —शि० दु०

(६)
सती ब्राह्मणपत्नीका प्रभाव

संवत् १९५६ विक्रमाब्दमें मारवाड़में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। अन्नके अभावसे लोग तड़प-तड़पकर प्राण-त्याग करने लगे। मारवाड़के डीडवाना नगरका एक ब्राह्मण अपनी नववधूको छोड़कर चल बसा। बेचारी दुःखी पत्नी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके घरोंसे भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करने लगी। भिक्षान्नके लिये उसने अपना गाँव छोड़ दिया। इस तरह वह सुजानगढ़के एक गाँवके ठाकुरके रावलेमें गयी और अपना सारा दुःखद वृत्तान्त सुना दिया। भगवान्‌की दयासे ठाकुरने उसे अपने श्रीराधाकृष्ण भगवान्‌के मन्दिरकी पुजारिन नियत कर दिया। ब्राह्मणी बड़ी ही सात्त्विक प्रकृतिकी देवी थी। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रीभगवान्‌की सेवा-पूजा एवं कथा-कीर्तनमें अपना दिन व्यतीत करने लगी।

एक बार ठाकुरकी उसकी पत्नीसे कुछ कहा-सुनी हो गयी। ठाकुरकी पत्नीके मनमें पवित्र पुजारिनके प्रति कुछ संदेह उत्पन्न हो गया। उसने पुजारिनको निकलवानेका षड्यन्त्र रचना शुरू किया। उसने अपने पीहरसे एक रामाको बुलवाया।

'यह देवदूती है।' रानाने श्रीठाकुरजीका प्रसाद आगे हटाकर ठाकुरसे कहा। 'मैं इसका स्पर्श किया हुआ प्रसाद नहीं स्वीकार कर सकता। इसे मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ।'

बेचारा ठाकुर किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। रानाने फिर दल देकर कहा—'मेरी बातका विश्वास न हो तो आप आगमें दहकते लोहेके दो गोले मँगवा दें। मैं उन्हें उठा लूँगा और मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा।'

आगमें तपे दो गोले मँगाये गये। गाँवके अधिकांश स्त्री-पुरुष एकत्र होकर देख रहे थे। राना अग्नि-स्तम्भन-विद्या जाननेके कारण तपे गोलोंको हाथोंमें लेकर घुमाता और उछाल रहा था। ठाकुर दुखी और चिन्तित था तथा ब्राह्मणी मन-ही-मन रो रही थी, बेचारी व्यर्थ ही अन्त्यजा सिद्ध हो रही थी।

'महाराज! कहिये, ये गोले कहाँ डालूँ?' रानाने ठाकुरसे पूछा। 'डाल सूर्यभगवान्के सिरपर!' दुखी और चिढ़ी ब्राह्मणीने दाँत पीसते हुए कहा। रानाने गोले जमीन-पर फेंक दिये।

आश्चर्यकी बात हुई। गोले अचानक आकाशकी ओर उठे और एक गोला ऊपरसे सीधे रानाके सिरपर गिरकर फट गया। रानाकी तत्काल मृत्यु हो गयी।

अब सब लोग घबराये। ठाकुरने पुजारिनके चरण पकड़ लिये—'माँ! तुम सती हो, रक्षा करो!'

'प्रभो! ये मेरे अन्नदाता हैं।' सती ब्राह्मणीने दोनों हाथ जोड़कर श्रीसूर्यभगवान्से प्रार्थना की। 'सरल और निर्दोष हैं। इनकी रक्षा कीजिये।'

दूसरा गोला नीचे नहीं आया। सभी दर्शक सतीका चमत्कार देखकर दंग रह गये। ठकुराइन सती ब्राह्मण पुजारिनके चरणोंमें गिर पड़ी और क्षमा माँगने लगी।

—शि० दु०

(७)
सती रामरखीका प्राणोत्सर्ग

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी गोयल, पत्रकार)

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी देवतास्वरूप भाई परमानन्दके भाई क्रान्तिकारी बालमुकुन्दको 'दिल्ली षड्यन्त्र केस' के मामलेमें फाँसीका दण्ड सुनाया गया। उनपर लार्ड हार्डिंगकी सवारीपर बम फेंकने तथा अंग्रेजी-शासनका तख्ता पलटनेका षड्यन्त्र रचनेका आरोप लगाया गया था।

भाई बालमुकुन्द दिल्ली जेलकी कोठरीमें बंद थे। उनकी पत्नी श्रीमती रामरखी कट्टर धर्मपरायणा एवं पतिव्रता नारी थीं। वे एक दिन अपने पतिसे मिलने जेल गयीं तो उन्होंने भाई बालमुकुन्दजीसे प्रश्न किया—'आपको खाना कैसा मिलता है?'

'मिट्टी-मिली दो रोटी एवं दालका पानी'—भाईजीने उत्तर दिया।

'आप सोते कहाँ हैं?'—रामरखीने दूसरा प्रश्न किया।

'कोठरीके अंदर केवल दो कम्बलोंमें'—उत्तर मिला।

रामरखी गम्भीर होकर घर लौट आयीं और उन्होंने उसी दिनसे मिट्टी-मिली दो रोटियाँ खानी प्रारम्भ कर दीं और भीषण सर्दीमें केवल दो कम्बलोंमें सोना प्रारम्भ कर दिया।

घरवालोंने समझाया तो रामरखीने उत्तर दिया—'मेरे पतिदेव तो मिट्टी-मिली रोटी खायें और मैं अच्छा भोजन करूँ, यह भला कैसे सम्भव है! पत्नीका यह धर्म है कि वह पतिके दुःखमें दुखी रहे, सुखमें सुखी।'

रामरखीका शरीर कुछ ही दिनोंमें सूख गया। वह अपने इष्टदेव भगवान्से प्रार्थना करने लगी—'या तो मेरे पतिदेव रिहा हो जायँ, अन्यथा मैं भी उन्हींके साथ-साथ परलोक सिधार जाऊँ।'

भाई परमानन्दजीने बालमुकुन्दको फाँसीसे बचानेका भारी प्रयास किया, पैरवी की; किंतु फाँसीकी सजा टल न सकी।

५ अक्टूबर सन् १९१५ भाई बालमुकुन्दको फाँसी देनेके लिये नियत हुआ। ५ अक्टूबरको प्रातः रामरखीने शृङ्गार किया, भगवद्भजन किया और एक चबूतरेपर बैठ गयीं। वे प्रसन्नचित्त पति-नामका स्मरण कर रही थीं।

उधर जेलकी फाँसीकी कोठरीमें भाई बालमुकुन्दने देश-की स्वाधीनताके लिये मृत्युका आलिङ्गन किया, इधर ठीक उसी समय श्रीमती रामरखी अपने प्राणप्रिय पतिके वियोगमें परलोक सिधार गयीं।

पति-पत्नी दोनोंके शवोंकी एक साथ अन्त्येष्टि-क्रिया की गयी।

श्रीमती रामरखी इस युगकी महान् पतिव्रता सतियोंमें अग्रणी थीं। देशके स्वाधीनता-संग्रामके महान् यज्ञमें जब इस महान् पतिव्रताकी आहुति पड़ी, तब उस आहुतिने अंग्रेजी साम्राज्यवादको भस्मीभूत ही कर डाला।

अद्भुत सतीत्व

जापानका रूससे युद्ध चल रहा था। रूसी सेनाकी एक टुकड़ीने सामन्तराज सातोमीके दुर्गपर घेरा डाल दिया था। पर्वतपर बना सुदृढ़ दुर्ग था और चारों ओर गहरी खाई थी, किंतु लंबे घेरेके कारण दुर्गमें भोजन समाप्त होता जा रहा था। एक दिन दुर्गपतिने घोषणा की—'शत्रुसेनाके सेनापतिका सिर लानेवालेके साथ मैं अपनी पुत्रीका विवाह कर दूँगा।'

शीतकाल आ गया था। एक दिन शामसे हिमपात प्रारम्भ हो गया। उस दिन सामन्तराजका कुत्ता सुबूसा नहीं मिला दुर्गमें तो वे चिन्तित हो उठे। वह शिकारी जातिका ऊँचा, बलवान् कुत्ता बड़ा स्वामिभक्त था। रात्रिमें बाहर रहनेपर हिमपातसे उसके मरनेका भय था; लेकिन कुत्ता रात्रिमें मिला नहीं।

रात्रिमें भारी हिमपात हुआ। शत्रुकी बड़ी तोपें हिमपातसे हिलनेकी स्थितिमें नहीं रह गयीं। उसपर आक्रमणका यह अच्छा अवसर था। प्रातःकाल दुर्गके सब सैनिक एकत्र हुए। सामन्तराज आक्रमणकी योजना बनाने जा रहे थे। उसी समय उनका कुत्ता सुबूसा दुर्गमें पहुँचा। उसके मुखमें रक्त-सना शत्रु सेनापतिका सिर था। सुबूसा शामको निकला था और शिविर निरीक्षण करने रात्रिमें निकले रूसी सेनानायकको मारनेमें सफल हो गया था।

'छिः!' युद्ध समाप्त हो गया था, शत्रु हारकर लौट चुका था; किंतु अपने कुत्तेको देखते ही सातोमीका हृदय घृणासे भर जाता था। भारतीय राजपूतोंके समान जापानके सामुराई वंशके लोग भी अपने वचनके पक्के होते हैं। कितना अभागा दिन था वह, जब सामन्तराजने शत्रु-सेनापतिका सिर लानेवालेको बेटी ब्याहनेकी घोषणा की थी। कुत्तेको अब सबसे तिरस्कार मिलता था; वह जिसके समीप जाता था, वही उसे मार बैठता। उसको भोजन देना बंद कर दिया गया। स्वामिभक्त पशु समझ नहीं पाता था कि किस अपराधके कारण उसे यह तिरस्कार मिल रहा है।

सामन्तराज सातोमीकी एकमात्र संतान उनकी पुत्री थी। वह जितनी रूपवती थी, उतनी ही गुणवती तथा ईश्वरभक्ता थी। वह सोचने लगी—'माता-पितासे मुझे यह शरीर मिला है। सामुराई सामन्त अपनी बात झूठी कर नहीं सकते। पिताने मुझे देनेकी जो प्रतिज्ञा की, उसके अनुसार सुबूसा मेरा स्वामी है। मेरे मोहके कारण पिता उसका तिरस्कार करते हैं। मैं उसे तिरस्कृत, भूखा देखूँ, यह तो धर्म नहीं है।'

अन्तमें वह धर्मज्ञा एक रात्रिको कुत्तेके साथ चुपचाप दुर्गसे निकल गयी। उसने घोर वनमें एक गुफाको अपना निवास बनाया। वनके कंद तथा फल चुन लाती थी अपना पेट भरनेको। शिकारी कुत्ता सुबूसा अपने लिये आखेट कर लेता था। वह सामन्तकुमारी तपस्विनी बन गयी। एक ही प्रार्थना प्रभुसे वह बार-बार करती—'प्रभो! इस स्वामिभक्त जीवको अपने चरणोंमें स्वीकार करो।'

सामन्तराज सातोमीने बहुत खोज करायी, किंतु उन्हें उनकी पुत्रीका पता नहीं लगा। एक दिन उनका एक सैनिक वनमें आखेटको गया। गुफाके सामने उसने सुबूसाको खड़े देखा। अपने स्वामीके कुत्तेको पहिचानकर उसने बंदूक सीधी की—'इस अभागे कुत्तेके कारण ही सामन्तराज दुखी हुए। उनकी पुत्री खोयी गयी।'

बंदूककी गोली छूटी। कुत्ता तो गिरा ही, एक कोमल कण्ठका चीत्कार भी सुन पड़ा। कुत्तेकी आड़में उससे सटकर बैठी सामन्तकुमारीको भी गोलीने बींध डाला था। कुत्तेके साथ ही उनका निष्प्राण देह पड़ा था। —सु०

त्याग दिया था, उस पत्नीके समीप जाना चाहिये अथवा जिसने मेरी पत्नीको जीवित करनेके लिये अपनी आहुति दे दी, उसका अनुकरण करना चाहिये ?'

मधुच्छन्दा तपस्वी थे। तपकी अमित शक्ति उनके पास थी। उन्होंने वहीं सूर्यके रथका स्तम्भन करके भगवान् सूर्यकी स्तुति की और भगवान् भास्करसे राजाको जीवित करनेका वरदान माँगा। सूर्यनारायणके वरदानसे राजा शर्याति जीवित हो गये। वे चिता-भस्मसे उठ खड़े हुए। महाराजके साथ ही मधुच्छन्दाने राजधानीमें प्रवेश किया।

—सु०

(२)
पतिप्राणा रानी पिङ्गला

'पतिकी मृत्युके पश्चात् जो जीवित रहे, वह सती नहीं कहला सकती। सती वह नारी है, जो पतिकी मृत्युका समाचार पाते ही देह त्याग दे। पतिदेहके साथ चिता-रोहण करनेवाली नारीको केवल वीरस्त्री कहा जा सकता है।' रानी पिङ्गलाने यह बात अनवसर कह दी। चन्द्रवंश-में उत्पन्न परमारवंशके अन्तिम राजा हून आखेटसे लौटे थे। उस समय वे उत्साहमें थे। उन्होंने वनमें सर्प काटनेसे मृत व्याधके शवके साथ उसकी स्त्रीको चितापर बैठकर जलते देखा था। व्याध-जैसे छोटे कुलमें ऐसी पतिव्रता देखकर उन्हें आश्चर्यके साथ श्रद्धा हुई थी। ऐसे समय पतिका उत्साह-भङ्ग करना उचित नहीं था।

'ऐसी सती तो रानी पिङ्गला ही होंगी!' उत्साह भङ्ग होनेसे चिढ़कर राजाने कहा। रानी चौंक गयीं। वे समझ गयीं कि उनसे भूल हुई है। अब उनकी परीक्षा अवश्य ली जायगी; लेकिन अब तो भूल हो चुकी थी। अपने धर्म-गुरु दत्तात्रेयजीके राजभवनमें पधारनेपर रानीने अपनी कठिनाई बतायी।

दत्तात्रेयजीने एक बीज देकर कहा—'इसे आँगनमें बो दो। छोटा पौधा बन जायगा। जब महाराजके जीवनके विषयमें शङ्का हो तो उस पौधेसे पूछना। यदि राजा जीवित हुए तो उससे जलके बिन्दु टपकेंगे। जीवित न हुए तो उसके पत्ते सूखकर उसी समय झड़ जायँगे।'

रानीने बीज बोया। वह उगा, बढ़ा और हरा-भरा हो गया। राजाके राज्यमें दस्यु बढ़ गये थे। वे उनका दमन करने गये। उनका दमन करके लौटते समय रानीके सतीत्वकी परीक्षाका विचार मनमें आया। उन्होंने एक दूतको अपना मुकुट देकर भेजा। दूतने राजधानीके द्वारपरसे ही रोना-पीटना प्रारम्भ किया। उसने समाचार दिया—'दस्युओंने राजाको मार डाला।'

दूतके राजसदन पहुँचनेसे पहले ही रानीके पास सखियोंने दूतके रोते हुए आनेका समाचार पहुँचा दिया था। रानीने स्नान करके वृक्षसे पूछा। वृक्षसे जलके बिन्दु टपके। रानी निश्चिन्त हो गयी थीं कि महाराज सकुशल हैं। दूतने समाचार दिया तो उन्होंने सोचा—'महाराजने मेरी परीक्षाके लिये दूत भेजा है। उनकी इच्छा है कि मैं देह-त्याग करूँ। पतिकी इच्छाका पालन ही स्त्रीका धर्म है। परलोकमें तो वे मुझे प्राप्त होंगे ही।'

पतिको सकुशल जानकर भी रानी पिङ्गलाने देहत्याग-का निश्चय किया। वे योगिनी थीं। दूतके द्वारा लाये मुकुट-को गोदमें लेकर वे आसन लगाकर बैठ गयीं। उन्होंने नेत्र बंद किये, प्राणोंका संयम किया और शरीर छोड़ दिया।

'यह संवाद मिथ्या है!' दूतने कहा; किंतु तबतक रानीका शरीर निष्प्राण हो चुका था। उधर नरेशको दूत भेजनेके पश्चात् लगा कि कहीं रानी सचमुच देहत्याग न कर दें। वे बहुत शीघ्रतासे चले। लेकिन जब नगरके समीप पहुँचे, उस समय श्मशानमें रानी पिङ्गलाका शरीर चिताकी लपटोंमें जल रहा था।

राजाने वस्त्र-आभूषण उतार फेंके। पैदल श्मशान पहुँचे। लोग तो चिता जलाकर लौट चुके थे। अकेले विक्षिप्त राजा वहाँ रोते हुए घूमने लगे। उन्हें इस अवस्थामें सिद्धश्रेष्ठ गोरखनाथजीने देखा। महापुरुषको दया आ गयी। उन्होंने समझानेका बहुत प्रयत्न किया; किंतु राजाका शोक दूर नहीं होता था।

'इनमेंसे अपनी पिङ्गला पहचान लो!' गोरखनाथजीने एक चुटकी भस्म चितापर फेंक दी। चितासे नारियोंकी एक भीड़ उठ खड़ी हुई। सब रूप-रंगमें पिङ्गलाके ही समान थीं। राजा पहचाननेमें असमर्थ रहे। संतके ताली बजाने-पर अकेली पिङ्गला रानी रह गयीं। शेष सब अदृश्य हो गयीं।

'मेरा मोह दूर हो गया। अब मुझे अपने चरणोंका आश्रय दें।' राजाको संतकी कृपासे वैराग्य हो गया। वह दीखनेवाली पिङ्गला तो माया थी, अदृश्य हो गयी। —सु०

(२)
पतिप्राणा जयदेव-पत्नी

पद्मावती भक्तवर श्रीजयदेवजीकी अर्धाङ्गिनी थीं। राजभवनमें उनका बड़ा सम्मान था। वे प्रायः रानीके पास जातीं और उसे भगवान्‌की मधुर लीला-कथा सुनाया करतीं। रानी उनकी बातें बड़े आदर और प्रेमसे सुनती तथा उनका भी सम्मान करती।

'शरीरान्त हो जानेपर पतिके साथ चितापर भस्म हो जानेवाली स्त्री उच्चकोटिकी सती नहीं होती।' पद्मावती रानीसे कह रही थीं। 'उच्चकोटिकी सती तो पतिके देहान्तके संवादसे ही प्राण छोड़ देती है।'

रानी चुपचाप सुनती रही; पर सच बात तो यह थी कि उसे पद्मावतीकी यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने अवसर देखकर पद्मावतीकी परीक्षा करनेका मन-ही-मन निश्चय कर लिया।

एक दिन नरेश आखेटपर गये। उनके साथ जयदेवजी भी थे। धीरे-धीरे संध्या हो रही थी।

'पण्डितजीको सिंह खा गया'—नेत्रोंमें आँसू भरकर, उदास मुँह बनाकर रानीने पद्मावतीके पास जाकर कहा।

'श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण!!' पद्मावती धड़ामसे गिर पड़ीं और तुरंत उनके प्राणपखेरू उड़ गये।

रानी घबरा गयी। उसकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसे कल्पना भी नहीं थी कि ऐसा हो जायगा। सतीकी महिमा उसने सुनी थी, किंतु इस कोटिका सतीत्व वह सोच भी नहीं सकती थी।

नरेशके साथ जयदेवजी लौटे। बड़े ही दुःखसे उन्हें यह संवाद सुनाया जा सका। रानी दुखी तो थी ही, किंतु लज्जा एवं ग्लानिसे भी वह मरी जा रही थी।

भक्त जयदेवजी पत्नीके शरीरान्तसे दुखी नहीं थे। रानीकी मनःस्थितिकी कल्पना करके उन्हें दुःख हो रहा था।

रानी-माँको मेरा संदेश दे दो। संदेशवाहकसे भक्तराजने मधुर वाणीमें कहलवाया—'मेरी मृत्युके संवादसे पद्मावती चली गयी है तो मेरा जीवन सुरक्षित रहनेके समाचारसे उसे वापस भी आना होगा।'

भक्तराजने परमेश्वरसे प्रार्थना की एवं पद्मावतीके शवके संनिकट बैठकर भगवान्‌के मधुर मङ्गलमय नामका कीर्तन करने लगे। धीरे-धीरे पद्मावतीके नेत्र खुले और मुसकराती हुई उठकर उन्होंने पतिके चरणोंपर सिर रख दिया। —शि० दु०

पतिप्राणा सतियोंकी जय

आत्मसमर्पण आत्मविसर्जन कर पतिमें पति-हित निर्भय।
'पति-सुख ही है नित्य परम सुख', रखती सदा यही निश्चय॥
तन-मनसे पति-सेवन करतीं, सदा मनातीं पतिकी जय।
वन्दनीय सौभाग्यवती उन पतिप्राणा सतियोंकी जय॥

नारीधर्मकी आदर्श—सिरिमा

श्रीलङ्कामें 'सिरिमा' बहुत आदरणीय नाम माना जाता है। यह 'श्रीमा' का सिंहली भाषामें हुआ रूपान्तर है। 'सिरिमा' नामकी इस कुमारीका जन्म श्रीलङ्काके अनुराधपुरमें हुआ था। बचपनसे ही बौद्धधर्ममें उसकी पक्की निष्ठा थी। तथागतके चरणोंमें उसकी भक्ति दूसरोंको भी प्रेरणा देती थी।

धार्मिक शिक्षाके साथ माता-पिताने अपनी सुशीला, सुन्दरी बालिकाको नृत्य, संगीत, वाद्य आदिकी भी शिक्षा दी। संगीतके साथ काव्योंका भी उसने अध्ययन किया था। सुमङ्गल नामके एक सुन्दर सम्पन्न व्यापारी युवकसे उसका विवाह हुआ।

सुमङ्गल व्यापारी था। समुद्र-पारके देशोंमें जाकर वह अपनी वस्तुएँ बेचता और विनिमयमें वहाँकी वस्तुएँ ले आता था। एक ऐसी ही लंबी यात्रापर वह गया था। इस यात्रामें उसे बहुत लाभ हुआ। उसके लौटनेका समाचार पाकर 'सिरिमा' बहुत हर्षित हुई। पतिके स्वागतके लिये उसने अपने भवनको सजाया।

देशका प्रतिष्ठित व्यापारी बहुत लाभ करके लौट रहा था। सिंहल (*उस समय श्रीलङ्काका यही नाम था*) वैसे भी छोटा द्वीप है। वहाँके प्रतिष्ठित लोग समुद्रतटपर सुमङ्गलका स्वागत करने गये। उन लोगोंमें नगरकी सबसे सुन्दर गणिका भी थी। सुमङ्गलने उस गणिकाको देखा तो उसका चित्त उसपर आसक्त हो गया।

सिरिमा'ने पतिका स्वागत किया। लेकिन उसने लक्षित कर लिया कि पतिके मुखपर उल्लास नहीं है। बंदरगाहपर ही पतिकी दृष्टि कहाँ ठहरती है, यह वह देख चुकी थी। एकान्तमें मिलनेपर उसने पूछा—'आप उस गणिकाके लिये ही उदास हैं ?'

सुमङ्गल बोला—'तुम जब मेरी पीड़ा जानती हो तो पूछती क्यों हो ?'

उसी समय गणिकाका संदेश लेकर दूती आयी। गणिका इतने सम्पन्न सुन्दर युवकको, भला, अपनी ओर आकर्षित होते देख तटस्थ क्यों रहती ? लेकिन सिरिमाने दूतीसे कहा—'तुम क्यों आयी हो, जानती हूँ। अपनी स्वामिनीसे कहना कि इस कुलका पुरुष उनके कोठेपर जाकर अपने वंशको कलङ्कित नहीं करेगा। उन्हें यदि अपना व्यवसाय छोड़कर इस घरकी वधू बनना स्वीकार हो तो कल आ जायँ। मैं उनके लिये अपना स्थान छोड़नेको तैयार हूँ।'

गणिकाको तो जैसे वरदान मिला। उसे ऐसा सम्पन्न वर तथा पति कहाँ मिलना था। वह दूसरे ही दिन आ गयी। सिरिमाने उसे मन्दिरमें ले जाकर अपने पतिसे उसका विवाह करा दिया और स्वयं वहीं दीक्षा लेकर भिक्षुणी बन गयी। वह मठमें रहने लगी। कुछ काल बीत गया। एक दिन एक भिक्षु रक्तसे भीगा मठ लौटा। पूछनेपर पता लगा कि 'एक गृहस्थकी पत्नीने उसे चाँदीका पात्र खींचकर तब मारा, जब वह उसके यहाँ भिक्षा लेने गया।'

सुमङ्गलकी नयी पत्नी (भूतपूर्व गणिका) मन्दारमाला ही है वह, यह बात भिक्षुके द्वारा मिले विवरणसे सिरिमा समझ गयी। उसने मन्दारमालासे मिलनेका निश्चय किया। मिलकर उसने पूछा—'एक निरपराध साधुपर तुमने प्रहार क्यों किया ?'
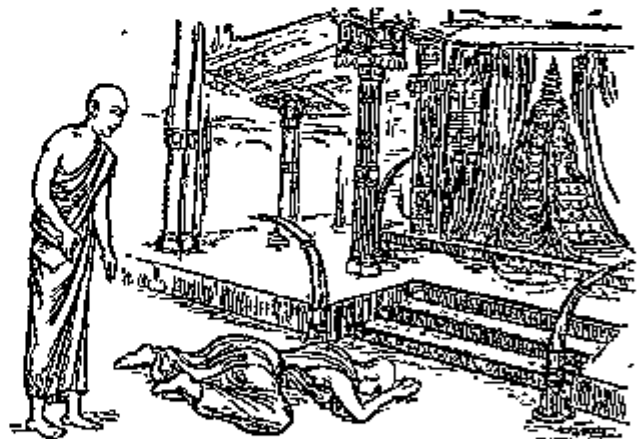
मन्दारमाला रो पड़ी—'मैं कहाँ अपने आपमें हूँ। सुमङ्गलने तुम्हें त्यागकर मुझे अपनाया और अब कल वह दूसरा विवाह करने जा रहा है।'

'प्रभु ! सुमङ्गलको सद्बुद्धि दो। उसके प्रति मेरा कुछ कर्तव्य है, उसे पूरा कर दो प्रभु !' सिरिमा सीधे मन्दिर गयी। वह फूट-फूटकर रो रही थी। वह कबतक वहाँ पड़ी रही, उसे पता नहीं। लेकिन उस रात सुमङ्गलने जो स्वप्न देखा, उसका यह प्रभाव हुआ कि प्रातः उसने अपनी सब सम्पत्ति दान कर दी। वह भिक्षु बनने मन्दिर आ गया।

—सु०
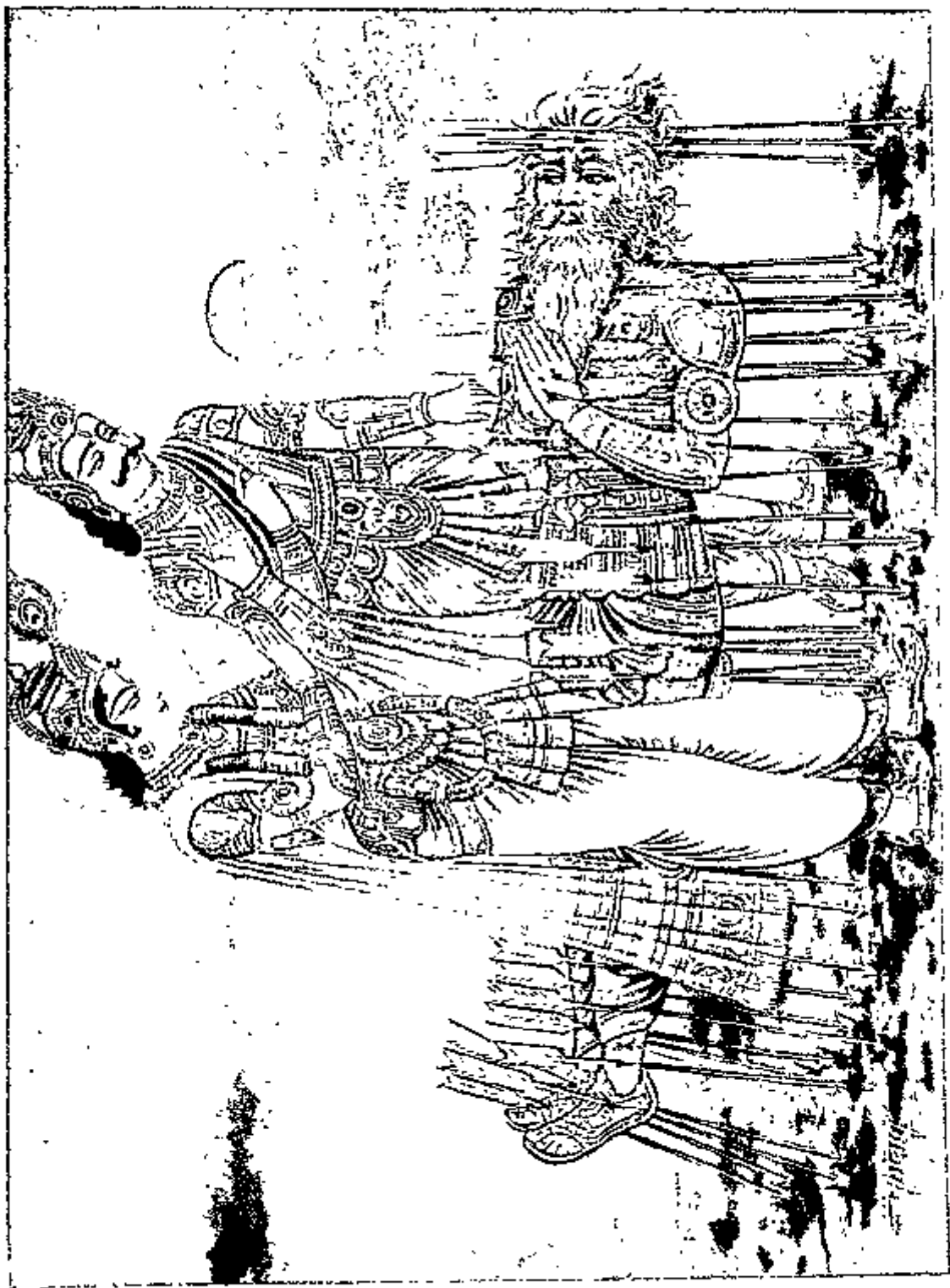
धर्मके सूर्य श्रीभीष्मपितामहके समीप श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर

आदर्श मित्र-धर्मका निरूपण

(लेखक—कविभूषण 'जगदीश' साहित्यरत्न)

मानव एक सामाजिक जीव है। वह समाजसे कदापि विलग रहना पसंद नहीं करता। जीवनमें उसे थोड़े-बहुत साथियोंकी, कुछ-न-कुछ मित्रोंकी आवश्यकता अवश्य प्रतीत होती है। मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी भी बिना साथीके अलग नहीं रहते। पशु प्रायः टोलियोंमें रहते हैं। विहंग-गण भी झुंड बनाकर विचरते हैं एवं इतस्ततः उड़ते-फिरते हैं। वास्तवमें मित्रगणसे जीवनमें स्फूर्ति और मधुर मिठास आ जाता है। कपट और विनाशके चंगुलसे मित्र ही छुड़ाता है और सुन्दर मन्त्रणा देकर कर्तव्य-मार्गपर अग्रसर करता है। इसीलिये कहा गया है कि 'दो हृदयोंका दूध और पानीकी तरह मिलकर एक हो जाना ही सच्ची मित्रता है।' श्रीपतिरामका कथन है—

मित्रका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है—दुःखोंसे बचानेवाला (प्रमीते त्रायते)। दुःखोंसे त्राण पानेके लिये तथा एकान्त जीवनमें किसीको समीप पानेके लिये मित्र बनाना परमावश्यक है। जब सच्चा मित्र मिल जाता है, तब चित्तको बड़ा आनन्द उपलब्ध होता है। यह बात निश्चय है कि सन्मित्रसे बढ़कर संसारमें कोई वस्तु नहीं है। जिनके मन धर्मानुकूल आपसमें मिले हुए हैं, वे एक दूसरेको बहुत सुख देते हैं, दुःख-सुखमें सहानुभूति प्रकट करते हैं और सद्विचारोंमें एक दूसरेके साथी और सहायक होते हैं। उनमें दिन-दुगुना तथा रात-चौगुना प्रेम बढ़ता रहता है। मैत्रीमें अगर प्रेम न हो तो वह जड मैत्री ही कहलायगी। अतएव प्रीतिके लिये कविवर रहीम कहते हैं—

> 'रहिमन' प्रीति सराहिए, मिले होत रँग दून।
> ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून॥

मित्रके कर्तव्य बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। जब हम दुःखोंमें डूबे हुए हों, हमारे लिये संसार अन्धकारसे आच्छादित हो, जिधर दृष्टि डालें, सूना-ही-सूना दिखायी देता हो, उस समय सच्चा मित्र ही हमारी तन-मन-धनसे सहायता करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मित्रकी परीक्षा विपत्तिके समय ही होती है। गोस्वामीजीने कहा है—

> धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

विपत्तिमें मित्रसे ही कार्य सधता है। युद्धमें मित्र ही काम आते हैं। रघुकुल-तिलक श्रीरामचन्द्रजीने मित्र सुग्रीवकी सहायतासे महाशौर्यशाली लङ्केश्वर रावणका संहार करके पुनः सीताको प्राप्त किया। विश्वासपात्र मित्रसे हमें अनुदिन अपेक्षा रहती है कि वह हमें बुराइयोंसे पग-पगपर बचाता रहेगा। कुमार्गकी ओर जानेसे रोकेगा। हमारे गुणोंको प्रकट करेगा तथा अवगुणोंको छिपायेगा। सुमित्र-कुमित्रके लक्षण रामचरितमानसमें अभिव्यक्त हैं—

> जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
> निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
> जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
> कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा॥
> देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
> बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
> आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई॥
> जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई॥

हमारे ग्रन्थोंमें अनेकानेक सच्चे मित्रोंके दृष्टान्त भरे पड़े हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अर्जुनके प्रति मित्रता आदर्श मानी जाती है। उनकी और सुदामाकी मित्रतासे कौन अपरिचित होगा। सहस्रों वत्सर व्यतीत होनेपर भी वह आदर्श मित्रता अद्यावधि सजीव है और उसका गुण-गान आजतक सब गाते रहते हैं। कहाँ ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्ण और कहाँ दाने-दानेको तरसनेवाला दीन द्विज सुदामा! आकाश-पातालका अन्तर था। पर करुणा-वरुणालय श्रीहरिने अपनी महानताका अभिमान न करके किस प्रकार प्रेमसे आपत्तिग्रस्त विप्र सुदामाकी दशासे दयार्द्र होकर उसकी सहायता की! श्रीकृष्णने अपने मैत्री-भावको जिस सचाई और निष्ठाके साथ निभाया, वह सच्चे मित्र-धर्मका अप्रतिम उदाहरण है। कविवर नरोत्तमदासकी दृष्टिमें दीन-बन्धु श्रीकृष्ण सुदामाकी दीन दशापर किस प्रकार अनवरत आँसू बहाते हैं—

> ऐसे बिहाल बिवाइन सों, पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
> हाय! महादुख पाये सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये।
> देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करि कै करुनानिधि रोये।
> पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोये॥

सच्चे मित्रोंमें ही सच्चे अपनत्वका अनुभव होता है। वेदोंमें भव्य विश्वकी कल्पना एवं विश्व-मैत्रीकी भावना वर्णित है। वे कहते हैं—'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।' (सारी दिशाएँ मेरी मित्र बन जायँ) तथा 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।' (हम एक दूसरेको मित्रताकी दृष्टिसे अवलोकें।) मित्रताको मजबूत बनानेके लिये हमें अपने अन्तःस्थलमें उत्सर्गकी भावनाको स्थान देना होगा। स्वार्थको आमूल-चूल हटाना होगा। आजके जमानेमें मित्र बनाना कोई सहज कार्य नहीं है। विश्वके विशाल वक्षःस्थलपर आपको अनेक तरहके लोग मिलेंगे। आप उनके चक्करमें पड़कर मित्रता कर बैठेंगे। पर वे आपको स्वार्थी, लोलुपी प्रतीत होंगे; क्योंकि जबतक आपके पास पैसा होगा, वे आपकी छाया नहीं छोड़ेंगे। ऐसोंके लिये गिरिधर कविरायने क्या ही अच्छा कहा है—

साईं सब संसारमें मतलबका व्यवहार।
जब लग पैसा गाँठमें, तब लग ताको यार॥
तब लग ताको यार, यार सँग-ही-सँग डोलै।
पैसा रहा न पास यार मुखसों नहिं बोलै॥
कह गिरधर कविराय, जगत यहि लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई साईं॥

मित्रका धर्म है कि वह कर्मक्षेत्रमें स्वयं भी श्रेष्ठ कर्म करे और अपने मित्रको भी श्रेष्ठ कर्मकी ओर प्रेरित करे। जीवन-संग्राममें स्वयं भी विजयश्री प्राप्त करे और अपने प्रेमीकी भी विजयवैजयन्ती फहराये।

यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्यका चरित्र उसके मित्रवर्गसे ही ज्ञात होता है। इसलिये सच्चरित्र व्यक्तियोंसे ही मित्रता करनी चाहिये।

मित्र-धर्मके विलक्षण आदर्श

(१)

भगवान् श्रीकृष्ण

अर्जुनके साथ श्रीकृष्णकी मैत्री इतनी प्रसिद्ध थी कि स्वयं दुर्योधनने पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञका वैभव वर्णन करते हुए अपने पिता धृतराष्ट्रसे कहा—

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः॥
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत्॥
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्।

(महाभारत, सभापर्व ५२। ३१—३३)

'श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ भी करनेके लिये कहते हैं, श्रीकृष्ण निस्संदेहरूपसे वह सब करते हैं।' श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्य धामका त्याग कर सकते हैं और अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये प्राणोंतकका त्याग कर सकते हैं।'

श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति सहज ही सख्य-प्रेम था। खाण्डववन-दाहके पश्चात् जब इन्द्रने स्वर्गसे आकर अर्जुनको वर माँगनेको कहा और उन्हें इन्द्रने बहुत-से शस्त्रास्त्र दिये, तब श्रीकृष्णने भी उनसे यह वर माँगा कि 'अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे' और इन्द्रने बुद्धिमान् (मित्रधर्ममें प्रवीण) श्रीकृष्णको यह वर दिया।

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते॥

(महाभारत, आदिपर्व २३३। १३)

मित्र अर्जुनके लिये किसी भी छोटे-बड़े काममें श्रीकृष्णने कभी इन्कार नहीं किया। पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें, जहाँ सब बड़े-बूढ़ोंके सामने एकमात्र उन्हींको अग्रपूजाके योग्य समझा जाता है और उनकी अग्रपूजा होती है, वहाँ उसी राजसूय-यज्ञमें वे समागत अतिथियोंके पैर धोनेका काम स्वयं करते हैं और अर्जुनके सम्मानके लिये अन्यान्य राजाओंकी भाँति युधिष्ठिरको चौदह हजार बढ़िया हाथी भेंट-स्वरूप देते हैं।

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः॥
अददद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।

(महाभारत, सभा० ५२। ३०-३१)

संजय पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर धृतराष्ट्रसे वहाँका समाचार सुनाते हुए अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके विलक्षण प्रेमका वर्णन करते हैं। वे कहते हैं—'मैं उन दोनोंसे बात करनेके लिये अत्यन्त विनीत भावसे अन्तःपुरमें गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा एक रत्नजटित महामूल्यवान् स्वर्णासनपर श्रीकृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं। श्रीकृष्णके चरण अर्जुनकी गोदमें हैं और अर्जुनके दोनों पैर देवी द्रौपदी

और सत्यभामाकी गोदमें हैं। वहाँ श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए और अर्जुनको अपने समान बतलाते हुए कहा—

'देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व और नागोंमें मुझे कोई ऐसा वीर दिखायी नहीं देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके। बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता और धैर्य—ये सभी सद्गुण अर्जुनके सिवा किसी भी दूसरे पुरुषमें 'एक साथ' नहीं हैं।'

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे॥
बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते॥
(महाभारत, उद्योग० ५९। २६,२९)

महाभारत-युद्धमें बड़े कौशलसे दुर्योधनकी सेना दे दी और स्वयं सारथि बनकर मित्र अर्जुनका रथ हाँकनेका काम किया और उन्हें विपत्तियोंसे बचाते रहे।

इन्द्रकी दी हुई शक्तिका घटोत्कचपर प्रयोग करके जब कर्णने घटोत्कचको मार दिया, तब श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उन्होंने सात्यकिसे जो कुछ कहा, उससे पता लगता है कि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णका कितना आदर्श प्रेम था।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'सात्यकि! इन्द्रकी दी हुई शक्तिका केवल एक ही बार प्रयोग हो सकता था। कर्ण उस शक्तिसे केवल अर्जुनको ही मारना चाहता था। इसलिये जब-जब कर्णका सामना होता, तब-तब मैं कर्णको मोहित कर रखता, जिससे उसे शक्तिका स्मरण ही नहीं होता। पर उस शक्तिके कारण मैं कर्णको अर्जुनका काल समझता और मुझे रातों नींद नहीं आती थी एवं कभी मेरे मनमें हर्ष नहीं होता था। मैं अपने पिता-माताकी, तुमलोगोंकी, भाइयोंकी और अपने प्राणोंकी रक्षा भी उतनी आवश्यक नहीं समझता, जितना रणमें अर्जुनकी रक्षा करना आवश्यक समझता हूँ। सात्यकि! तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी यदि कोई वस्तु अधिक दुर्लभ हो तो मैं अर्जुनको छोड़कर उसको भी नहीं चाहता। आज मुझे इसी बातकी प्रसन्नता है कि मेरे अर्जुन मौतके मुँहसे छूट गये।'

और भी अनेकों प्रसङ्ग ऐसे हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति विलक्षण प्रेम सिद्ध होता है।

(२)
मित्र-धर्मके आदर्श महारथी कर्ण

श्रीकृष्ण पाण्डवोंके शान्ति-दूत बनकर हस्तिनापुर आये थे। उन्होंने कहा था कि पाण्डव पाँच गाँव पाकर संतुष्ट हो जायँगे। लेकिन दुर्योधन तो युद्धके बिना सुईकी नोक-जितनी भूमि भी देनेको उद्यत नहीं था। श्रीकृष्णका प्रयास विफल हुआ। युद्ध निश्चित हो गया।

लौटते समय पहुँचाने आये लोगोंको विदा करके श्रीकृष्णने कर्णको अपने रथपर बैठा लिया। कर्णका खाली रथ सारथि पीछे ला रहा था। श्रीकृष्ण बोले—'वसुषेण! तुम वीर, धर्मात्मा और विचारवान् हो। मैं एक गुप्त बात तुम्हें बतला रहा हूँ। तुम अधिरथ सूतके पुत्र नहीं हो। दूसरे पाण्डवोंके समान तुम भी देवपुत्र हो। भगवान् सूर्य तुम्हारे पिता और देवी कुन्ती माता हैं। तुम पाण्डव हो।'

कर्णने मस्तक झुका रक्खा था। श्रीकृष्ण कहते गये—'तुम युधिष्ठिरके बड़े भाई हो। अन्यायी दुर्योधनका साथ छोड़ दो, मेरे साथ चलो। कल ही तुम्हारा राज्याभिषेक हो। युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे। पाण्डव तुम्हारे पीछे चलेंगे। मैं स्वयं तुम्हें अभिवादन करूँगा। तुम्हारे साथ पाण्डव छः भाई खड़े हों तो त्रिभुवनमें उनका सामना करनेका साहस किसमें है?'

अब कर्णने सिर उठाया और बड़ी गम्भीरतासे कहा—'वासुदेव! मुझे पता है कि मैं सूर्यपुत्र हूँ और देवी कुन्ती मेरी माता हैं। धर्मतः मैं पाण्डव हूँ। लेकिन दुर्योधनने उस समय मुझे अपनाया, उस समय मुझे सम्मान दिया, जब सब मेरा तिरस्कार कर रहे थे। मेरे भरोसे ही उसने युद्धका आयोजन किया है। मैं उसके साथ विश्वासघात नहीं करूँगा। आप मुझे उसके पक्षसे युद्ध करनेकी आज्ञा दें। होगा तो वही जो आप चाहते हैं; किंतु क्षत्रिय वीर युद्धमें वीरगति प्राप्त करे, खाटपर पड़ा-पड़ा न मरे, यह मेरी इच्छा है।'

'जब तुम मेरा प्रस्ताव नहीं मानते तो युद्ध अनिवार्य है।' श्रीकृष्णने रथ रोक दिया।

उस रथसे उतरते समय कर्णने कहा—'वासुदेव! मेरी एक प्रार्थना है। मैं कुन्ती-पुत्र हूँ, यह बात आप गुप्त रक्खें। युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्हें पता लग गया कि मैं उनका बड़ा भाई हूँ तो वे मेरे पक्षमें राज्य-स्वत्व त्याग देंगे और मैं दुर्योधनको राजा मान लूँगा। मैं दुर्योधनका कृतज्ञ हूँ, अतः युद्ध उसके पक्षमें करूँगा; किंतु चाहता यही हूँ कि

न्यायकी विजय हो। धर्मात्मा पाण्डव अपना स्वत्व प्राप्त करें। आप जहाँ हैं, विजय तो वहाँ होती ही है।'

श्रीकृष्णने कर्णका अनुरोध स्वीकार किया। कर्ण अपने रथसे लौट गये।

× × ×

युद्धकी तिथि निश्चित हो गयी। श्रीकृष्ण लौट गये। देवी कुन्तीको विदुरजीसे सब समाचार मिलता ही था। उनके मनमें बड़ी व्याकुलता हुई। उन्होंने कर्णको समझानेका निश्चय किया।

कर्ण गङ्गास्नान करके संध्या कर रहे थे। देवी कुन्तीको वहाँ पहुँचकर थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी। संध्या समाप्त करके कर्णने मुख घुमाया। पाण्डवजननीको देखते ही हाथ जोड़कर बोले—'देवि! यह अधिरथका पुत्र कर्ण आपको प्रणाम करता है।'

'वत्स! मेरे सामने तुम अपनेको सूतपुत्र मत कहो। मैं यही कहने आयी हूँ कि मैं तुम्हारी माता हूँ और जगत्के साक्षी ये भगवान् आदित्य तुम्हारे पिता हैं।' बड़े संकोचसे व्याभरे स्वरमें कुन्ती देवीने कहा। 'मैं तुम्हारी माता तुम महादानीसे यह भिक्षा माँगने आयी हूँ कि अपने सगे भाइयोंसे युद्ध करनेका हठ छोड़ दो।'

कर्ण गम्भीर हो गये—'आप मेरी माता हैं; यह मुझे पता है। लेकिन दुर्योधन मेरा उस समयका मित्र है; जब कोई मुझे पूछनेवाला नहीं था। मैं उस मित्रको आपत्तिके समय नहीं छोड़ सकता। युद्ध तो मैं उसीके पक्षमें करूँगा।'

'मैं निराश लौटूँ!' बहुत व्याभरे स्वरमें पूछा गया।

अत्यन्त खिन्न स्वरमें कर्णने कहा—'मैं कर्तव्यसे विवश हूँ। इतनेपर भी वचन देता हूँ कि अर्जुनके अतिरिक्त किसी पाण्डवको सम्मुख पाकर भी मैं उसपर घातक प्रहार नहीं करूँगा। आपके पाँच पुत्र कायम रहेंगे।'

कुन्तीदेवी कर्णको आशीर्वाद देकर लौट गयीं।

× × ×

पितामह भीष्म सदा कर्णका तिरस्कार करते थे। वे उसे 'अर्धरथी' तक बता रहे थे, जब युद्धके आरम्भमें महारथी-अतिरथी आदि वीरोंका दुर्योधनको परिचय दे रहे थे। इस अपमानसे चिढ़कर कर्णने प्रतिज्ञा कर ली—'जबतक पितामह कौरव-सेनाके सेनापति हैं, मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा।'

दस दिनोंके युद्धमें कर्ण तटस्थ दर्शक रहे। दसवें दिन पितामह युद्धभूमिमें गिरे। अर्जुनके बाणोंने उन्हें शरशय्या दे दी। उस समय स्वजनवर्गके प्रायः सभी उनके समीप आये। भीड़ समाप्त होनेपर पितामहके पास एकान्तमें कर्ण आये और उन्होंने प्रणाम किया।

पितामहने स्नेहपूर्वक कर्णको समीप बुलाया और कहा—'पुत्र! मैं जानता था कि तुम अद्भुत वीर तथा श्रेष्ठ महारथी हो, किंतु तुम्हें हतोत्साह करनेके लिये मैं सदा तुम्हारा तिरस्कार करता रहा। तुम युद्धमें उत्साह न दिखलाते तो दुर्योधन युद्धका हठ छोड़ देता। वह तुम्हारे बलपर ही कूदता है। तुम मेरी बातोंका बुरा मत मानना।'

इसके पश्चात् भीष्मपितामहने भी कर्णको बतलाया कि वह सूत अधिरथका पुत्र नहीं है। वह कुन्तीपुत्र है। वे बोले—'सूर्यनन्दन! तुम पाण्डवोंमें बड़े हो। दुरात्मा दुर्योधनका साथ छोड़कर तुम्हें अपने धर्मात्मा भाइयोंका पालन करना चाहिये।'

कर्णने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'पितामह! जिस कर्तव्यसे विवश होकर आपको दुर्योधनकी ओरसे युद्ध करना पड़ा, वही कर्तव्य मुझे भी विवश कर रहा है। दुर्योधन मेरा मित्र है। उसने मेरे साथ सदा सम्मानका व्यवहार किया है। आज वह युद्धमें उलझा है। अपनेपर उपकार करनेवाले मित्रका साथ मैं ऐसे समय किसी भी कारणसे कैसे छोड़ सकता हूँ। आप तो मुझे यह आशीर्वाद दें कि कौरव-पक्षमें युद्ध करते हुए मैं वीरगति प्राप्त करूँ।'

पितामहने आशीर्वाद दिया—'तुम्हारी कामना पूर्ण हो।'

—सु०

(२)
राजधर्माका विलक्षण मित्र-धर्म
[घोर कृतघ्नपर अहैतुकी प्रीति]

गौतम अति कृतघ्न पापी था, द्विजशरीरमें असुर कठोर।
शरणद, धनद राजधर्माकी जिसने की हत्या अति घोर॥
विरूपाक्ष थे मित्र राजधर्माके राक्षस-अधिपति एक।
पकड़ मँगाया गौतमको रख मित्र-धर्मकी सच्ची टेक॥
किया भयंकर पाप दुष्टने कर विश्वास सरलका भङ्ग।
कटवाये शस्त्रोंसे उस पापी गौतमके सारे अङ्ग॥
नरभक्षी असुरोंने, दस्युगणोंने भी न किया स्वीकार।
महापातकी उस कृतघ्नके मांस-ग्रहणको किसी प्रकार॥

आदर्श मित्र

श्रीकृष्ण-कर्ण

कुन्ती-कर्ण
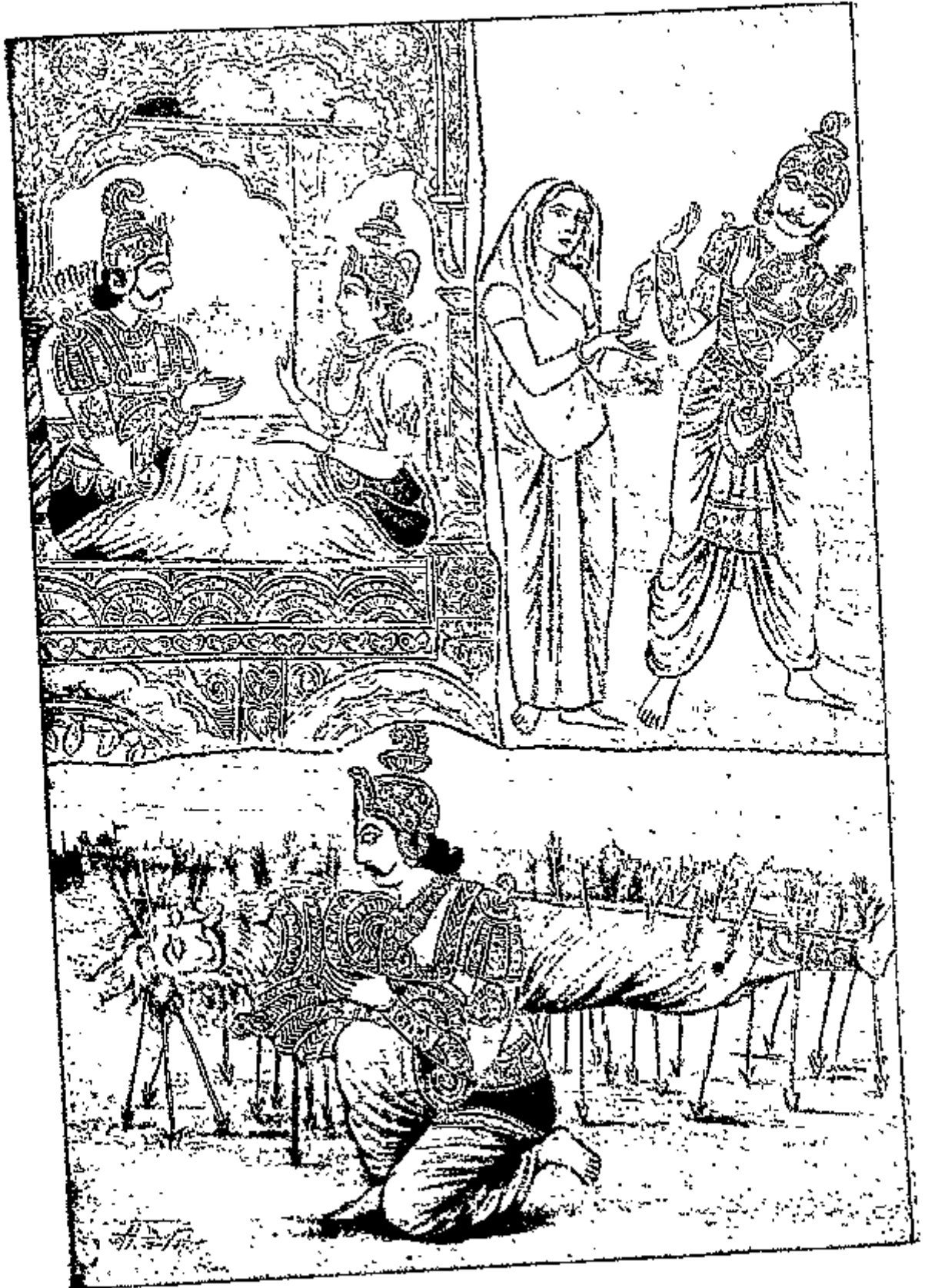
भीष्मपितामह-कर्ण

विरूपाक्षने किया मित्रका दाह, रचे सब शास्त्रविधान।
जली चितापर सुरभि-सुमुखसे झरे फेन-कण सुधा-समान॥
जीवित हुए राजधर्मा, उड़ गये तुरंत मित्रके पास।
विरूपाक्षने हृदय लगाया, भर मनमें अतिशय उल्लास॥
सुनते ही, दोनों मित्रोंसे मिलनेको आये सुरराज।
इन्द्र, पक्षिपति, राक्षसेश—तीनों सुखपूर्वक रहे विराज॥
सुरपतिसे बोले विहंगपति, कर प्रणाम, "हे सुर-सम्राट!
गौतमको जीवित कर मेरे मनका दूर करें विभ्राट॥
गौतम मेरा मित्र, उसे मैं कभी नहीं सकता 'पर' मान।
सुधावृष्टि कर देव! धर्ममय उसे दीजिये जीवन-दान"॥
विरूपाक्ष-सुरपतिने होकर चकित कहा—"हे पक्षी मित्र!
ऐसे नीच कृतघ्न जन्तुको मित्र मानना बड़ा विचित्र॥
छोड़ो इस अद्भुत आग्रहको, मानो मित्र! हमारी बात।
पचने दो उस महापातकीको, नरकोंमें ही दिन-रात॥
मानी नहीं बात धर्मात्मा बकने, उनका आग्रह मान।
सुधा-वृष्टिसे उसे जिलाया, हर्षित हुए इन्द्र श्रीमान॥
गौतम जीकर आत्मग्लानिसे हुआ शुद्ध, कर पश्चात्ताप।
हुआ धर्मजीवन फिर उसका सत्य मित्रके पुण्य-प्रताप॥

गौतम नामक एक ब्राह्मण व्याधोंकी संगतिमें रहकर हिंसक सर्वभक्षी व्याध-सा बन गया था। उसे दैवयोगसे एक बार 'राजधर्मा' नामक बगुलोंके धर्मात्मा राजासे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया। उसने ब्राह्मणको आश्रय दिया और दुखी समझकर स्वयं राजधर्माने उसका मित्र बनकर कहा कि 'तुम मेरे मित्र हो; बताओ, मैं तुम्हारा क्या काम करूँ?' गौतमने कहा—'मैं धनके लिये आया हूँ। मुझे धन मिले, ऐसा कोई उपाय बतलाइये।' राजधर्माने उसको अपने एक बड़े धनी मित्र राक्षसराज विरूपाक्षके पास धन देनेके लिये पत्र लिखकर भेज दिया।

गौतम विरूपाक्षके पास पहुँचा। विरूपाक्ष बड़ा बुद्धिमान् था। उसने गौतमको अच्छा आदमी तो नहीं समझा, पर राजधर्मा मित्रका आग्रह समझकर उसे पर्याप्त धन देकर लौटा दिया। इन दोनोंके तीसरे मित्र थे देवराज इन्द्र। तीनों मित्र प्रायः प्रतिदिन ही मिलते थे।

गौतम लौटकर राजधर्माके पास आया। राजधर्माने उसे परम मित्र मानकर अपने पास आदरपूर्वक रखा। उसको अपरिमित स्नेह-दान दिया। परंतु गौतम अत्यन्त कुटिल, राक्षसी स्वभावका दुष्ट मनुष्य था। उसने सोचा—रास्तेमें खानेको कुछ है नहीं; चलो, राजधर्माको ही मारकर ले चलूँ। वह नृशंस कृतघ्न सोते राजधर्माको मारकर उसके मृतशरीरको लेकर चलता बना।

इधर जब दो-तीन दिनोंसे राजधर्मा नहीं आये, तब विरूपाक्षको संदेह हुआ कि वह ब्राह्मण बड़ा क्रूर दीखता था, कहीं उसीने मेरे मित्रको न मार दिया हो। विरूपाक्षने अपने पुत्रको पता लगाने भेजा। उसने स्वच्छन्द जाते हुए गौतमको पकड़ा। राजधर्माका लहूलुहान शरीर मिल गया। गौतमको पकड़कर विरूपाक्षके पास लाया गया। विरूपाक्षने राक्षसमना दुष्ट गौतमके शरीरको बोटी-बोटी करके कटवा दिया। उस कृतघ्नका मांस नरभक्षी लोगोंने भी लेना स्वीकार नहीं किया।

तदनन्तर विरूपाक्षने विधि-विधानके साथ मित्र राजधर्माका दाह-संस्कार किया। इसी बीच स्वर्ग-सुरभिने मुखके फेनके रूपमें मित्रवत्सल राजधर्माकी चितापर सुधा-वर्षा की। राजधर्मा जीवित हो गये। विरूपाक्षकी प्रसन्नताका पार नहीं। उन्होंने मित्रको गले लगा लिया। तदनन्तर इन्द्र सब बात सुनकर वहाँ आ गये। तीनों मित्र प्रफुल्लित हृदयसे मिले। राजधर्मा बड़े उदास थे। प्रसन्नताके स्थानपर उनके मुखपर विषाद देखकर देवराज इन्द्र और विरूपाक्षने इसका कारण पूछा। राजधर्माने कहा कि 'गौतम चाहे जैसा रहा हो, वह मेरा बड़ा प्रिय मित्र था। उसकी मृत्युसे मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। आपलोग मुझे सुखी करना चाहते हैं तो देवराज इन्द्र अमृत-वर्षा करके उसे जिला दें।' देवराज इन्द्र तथा राक्षसराज विरूपाक्षने राजधर्माको समझाकर कहा कि 'इस प्रकारके कृतघ्नका तो विनाश ही समुचित है। वरं उसे अब दीर्घकालतक मित्र-द्रोह तथा कृतघ्नताके पापका फल भोगनेके लिये नरकमें रहना चाहिये।' राजधर्माने बड़े विनयके साथ कहा—'देवराज! आप उसके जीवनको धर्मयुक्त बनाकर उसे जीवन-दान दीजिये। मैं उसके पापके प्रायश्चित्त-रूपमें पुण्य-दान करता हूँ।' इन्द्रने केवल मित्रकी बात मानकर उसे जिला ही नहीं दिया, अपितु धर्मसम्पन्न जीवनके लिये आशीर्वाद भी दिया। इन्द्र तथा विरूपाक्षपर राजधर्माके इस आदर्श मैत्री-धर्मका बड़ा प्रभाव पड़ा।

गौतम जीवित हो गया। अब तो उसे केवल शरीरसे ही नहीं, मनसे भी श्रेष्ठ जीवन प्राप्त हो गया। राजधर्माने चरणोंमें पड़ते हुए गौतमको उठाकर हृदयसे लगा लिया।

'मित्र-धर्मकी जय!'

(४)

मैत्री-धर्मका आदर्श हंसश्रेष्ठ सुमुख

हिम्मक राष्ट्रमें एक उत्तम सरोवर था। उसमें अनेक जलपक्षी विहार करते थे। हंसोंने उड़ते समय कमलोंसे भरे उस सरोवरको देखा। अपने राजाके पास जाकर उन्होंने सरोवरकी प्रशंसा की और आग्रहपूर्वक उसे वहाँ ले आये। वहाँ सरोवरके पास एक व्याधने अपना जाल फैला रक्खा था। हंसोंका राजा वहाँ उतरा तो जालमें फँस गया। दूसरे हंस सरोवरपर जलमें उतरे थे।

धैर्यशाली हंसराज जालमें पड़कर भी शान्त रहा। वह नहीं चाहता था कि उसके चिल्लानेसे घबराकर दूसरे हंस भूखे ही भाग जायँ। संध्याके समय जब लौटनेकी बारी आयी, तब उसने अपनी स्थिति बतलायी। वहाँ विपत्ति है, यह जानकर सब हंस वहाँसे उड़ गये; किंतु सुमुख नामक हंसराजका मन्त्री वहीं रह गया।

हंसराजने कहा—'यहाँ रहकर तुम भी प्राण दो, इससे कोई लाभ नहीं। अतः तुम्हें चले जाना चाहिये।'

सुमुख बोला—'मैं यहाँसे भाग भी जाऊँ तो अमर तो रहूँगा नहीं। आपके साथ मैं सुखमें रहा, दुःखमें आपका साथ छोड़कर जाना मेरा धर्म नहीं है।'

सवेरे व्याध आया। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक स्वतन्त्र हंस भी जालके पास बैठा है और उसे देखकर उड़ता नहीं। उसने पूछा—'तुम क्यों बैठे हो? तुम्हें चोट लगी है क्या?'

सुमुख बोला—'व्याध! मुझे चोट नहीं लगी है। मैं यहाँ अपने राजाके पास बैठा हूँ। तुम इनको छोड़ दो और बदलेमें मुझे पकड़ लो। मुझे तुम बेच दो या तुम्हारी इच्छा हो तो मारकर खा लो।'

व्याधका हृदय द्रवित हो गया। उसने दोनों हंसोंको छोड़ दिया। बोला—'तुम्हारे-जैसा मित्र जिसे मिला है, उसे मारनेका पाप मैं नहीं करूँगा।' —सु०

(५)

मैत्री-धर्मके आदर्श डेमन और पीथियस

सिसलीके सिराक्यूज नगरके राजा डियोनिसियसने एक सामान्य अपराधमें डेमन नामक युवकको प्राणदण्डकी आज्ञा दी। डेमनने प्रार्थना की—'एक वर्षका अवकाश मुझे दें। शीघ्र जाकर अपने परिवार तथा सम्पत्तिका प्रबन्ध कर आऊँ।'

राजाने कहा—'कोई तुम्हारी जमानत ले, तुम्हारे न लौटनेपर फाँसीपर चढ़नेको उद्यत हो, तो तुम्हें छोड़ा जा सकता है।'

'मैं जमानत लेता हूँ।' डेमनका मित्र पीथियस आगे आया। उसे नजरबंद किया गया। डेमन स्वदेश चला गया। दिन बीतते गये, वर्ष पूरा होनेको आया; किंतु डेमन नहीं लौटा। लोग कहते थे—'डेमन अब क्यों प्राण देने आयेगा? पीथियस मूर्ख है।'

पीथियसको विश्वास था कि डेमन अवश्य लौटेगा। वह सोचता था कि—'कहीं समुद्रमें तूफान आ जाय, डेमनका जहाज मार्गमें भटक जाय और डेमन समयपर न आवे तो अच्छा। उसके प्राण बच जायँ और मेरे चले जायँ तो क्या ही उत्तम हो।'

डेमन समयपर नहीं पहुँच सका। वह चला तो समयपर था, किंतु उसका जहाज समुद्री तूफानमें फँस गया था। किनारे पहुँचा तो जो भी सवारी मिली, उससे दौड़ा। कई दिनोंका भूखा, दौड़नेसे पैरोंमें छाले पड़े, बिखरे केश डेमन भागता पहुँचा तो उसके मित्र पीथियसको प्राणदण्डकी आज्ञा हो चुकी थी, वह वध-स्थलपर पहुँच चुका था; किंतु दूरसे पुकारकर डेमनने अपने आनेकी सूचना देकर वधिकोंको रोक लिया।

राजाको इन दोनों मित्रोंकी मैत्रीका समाचार मिला तो इनकी मैत्रीसे प्रभावित होकर उसने डेमनको क्षमा कर दिया और स्वयं दोनोंका मित्र बन गया। —सु०

(६)

मैत्री-धर्मके आदर्श—रोजर और एण्टोनिओ

एक समय था जब यूरोप तथा मध्य एशियाके बर्बर लोग दूसरे दुर्बल देशोंकी बस्तियोंपर आक्रमण करके उन्हें बंदी बना लेते थे और खुले बाजारोंमें पशुओंकी भाँति बेच देते थे। रोजर तथा एण्टोनिओ इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंसे बंदी बनाकर बेचे गये थे। वे एक स्वामीके द्वारा खरीदे गये गुलाम थे। साथ रहनेके कारण उनमें मित्रता हो गयी।

दोनोंको समुद्रके किनारे पर्वतपर मार्ग बनानेके काममें लगाया गया था। एण्टोनिओ समुद्र देखता तो लंबी श्वास छोड़ता। इस सागरके पार उसका देश, घर, स्त्री और पुत्र थे। उनका स्मरण करके उसका चित्त व्याकुल हो जाया करता था। एक दिन समुद्रमें एक जहाज दीख पड़ा। एण्टोनिओको इस गुलामीके पशु-जीवनसे उद्धारकी आशा दीखी। यदि वह तैरकर जहाजतक पहुँच जाय तो दासत्वसे छुटकारा हो।

रोजर तैरना नहीं जानता था। अपने मित्रको दासताकी यन्त्रणामें छोड़कर एण्टोनिओको अकेले निकल जाना स्वीकार नहीं था। रोजरने बहुत कहा कि वह अकेला चला जाय; किंतु एण्टोनिओने रोजरको बलपूर्वक पर्वतसे समुद्रमें गिरा दिया और स्वयं भी कूद पड़ा। उसने रोजरको डूबनेसे बचाया और उसे अपनी कमर पकड़ाकर तैरने लगा।

गुलामोंकी देखरेख करनेवालोंने इन दोनोंको समुद्रमें कूदते देख लिया था। उन लोगोंने एक नौका ली और इनका पीछा किया। यह देखकर रोजरने कहा—'मित्र! हम दोनों पकड़े जायँ, इससे अच्छा है कि तुम मुझे छोड़कर अकेले तैरकर जहाजपर चढ़ जाओ। नावके लोग मुझे पकड़ेंगे, डूबनेसे बचायेंगे, तबतक तुम निकल जाओगे। मुझे लेकर चलोगे तो इस मन्द गतिके कारण वे हम दोनोंको पकड़ लेंगे।'

रोजरने यह कहकर एण्टोनिओकी कमर छोड़ दी। तैरना न आनेके कारण वह जलमें डूब गया। एण्टोनिओने मित्रको डूबा देखा तो उसने भी डुबकी लगायी। पीछा करनेवाली नौका दोनोंको जलपर न देखकर रुक गयी।

जिस जहाजको देखकर ये लोग जलमें कूदे थे, उसका कप्तान प्रारम्भसे ही इन दोनोंको देख रहा था। जहाज लंगर डाले खड़ा था। दोनोंको डूबते देखकर उसने एक छोटी नौकापर कुछ खलासी इनकी सहायताको भेजे। वह नौका इनको ढूँढ़कर निराश होकर लौटनेवाली ही थी कि एण्टोनिओ जलसे ऊपर आया। उसने एक हाथसे रोजरको पकड़ रखा था और वह जहाजकी ओर तैर रहा था। नौकावालोंने दोनोंको ऊपर उठा लिया। वे जहाजपर पहुँचाये गये।

नौकापर पहुँचते ही एण्टोनिओ मूर्छित हो गया। उसे बहुत श्रम करना पड़ा था। रोजर पहलेसे मूर्छित था; किंतु वमन हुआ, पेटसे समुद्रका पानी निकला तो वह होशमें आ गया। अपने अचेतन मित्रके शरीरका आलिङ्गन करके वह फूट-फूटकर रोने लगा—'तुमने मुझे बचानेके लिये प्राण दे दिये। मैं तुम्हारे बिना जीकर क्या करूँगा।'

एण्टोनिओमें जीवनके चिह्न नहीं दीखते थे। रोजर मित्रके शोकमें लगभग पागल हो गया था। उसे पकड़ न लिया जाता तो वह समुद्रमें कूद पड़ता। वह बार-बार समुद्रमें कूदनेकी चेष्टा कर रहा था। इतनेमें एण्टोनिओने दीर्घ श्वास लिया। रोजर आनन्दसे नाचने लगा।

उस जहाजने दोनोंको ले जाकर माल्टा उतारा। वहाँसे वे अपने-अपने घर गये। —सु०

पुत्रधर्म और उसके आदर्श

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

'पुत्र' शब्द कितना प्रिय और मधुर है, इसे एक पिता ही अनुभव करता होगा। बिना पुत्रवाला मनुष्य 'पुत्ररत्न'-की प्राप्तिके लिये कितना लालायित हो जाता है, इसे एक पुत्रहीन ही अनुभव करता है। हमारे भारतकी संस्कृति और सभ्यतामें 'पुत्र'को 'नरकसे बचानेवाला' माना गया है। पुत्रका वास्तविक महत्त्व इसीलिये है कि 'पुत्र' माता-पिताके ऋणसे उद्धार पानेके लिये अपने कर्तव्यको पूरा करेगा और श्राद्धद्वारा पितरोंको तृप्त करेगा। हवनादिक कर्म करके देवोंको संतुष्ट करेगा और वेद-पाठसे ऋषियोंको प्रसन्न करेगा। 'पुत्र'के ऊपर मातृ-ऋण, पितृ-ऋण और गुरु-ऋण तथा ऋषि-ऋण भी रहता है। इन्हीं ऋणोंसे उद्धार पानेके लिये पुत्रको कर्मयोगी बनना पड़ता है और इसीलिये 'पुत्र'-रत्न महान् रत्नोंमें सर्वश्रेष्ठ रत्न है। पुत्रके शरीरका स्पर्श चन्दनसे भी शीतल है। पुत्र स्नेहका केन्द्र है—लाड़-प्यारका मुख्य स्थान है। भारतीय आचार्योंने 'पुत्र'की बहुत सुन्दर व्याख्याएँ उपस्थित की हैं। महर्षि वसिष्ठजीने 'पुत्र'की पवित्र व्याख्या करते हुए लिखा है—'जिस पुत्रका मन सर्वदा पुण्यमें लगा हो, जो सर्वदा सत्यके पालनमें तत्पर हो, जो बुद्धिमान्, ज्ञानी, तपोनिष्ठ, श्रेष्ठ वक्ता, कुशल, धीर, वेदाभ्यासी, सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता, देव-ब्राह्मणोंका उपासक, अनुष्ठानकर्ता, ध्यानी, त्यागी, प्रियवादी, भगवान्‌का भक्त, शान्त, जितेन्द्रिय, जापक, पितृभक्त, स्वजनप्रेमी, कुलभूषण और विद्वान् हो तो ऐसा 'पुत्र' ही यथार्थ पुत्र-सुखको देनेवाला होता है। अन्य भौतिक पुत्र तो सम्बन्ध जोड़कर केवल शोक-संतापदायक होते हैं। (पद्मपुराण, भूमिखण्ड १७। २०—२५)

विद्वान् एक ही पुत्र भी श्रेष्ठ है, बहुतसे गुणहीन पुत्रोंसे क्या लाभ? सुपुत्र एक ही सारे वंशको तार देता है, दूसरे तो संतापकारक ही होते हैं।

एकपुत्रो वरं विद्वान् बहुभिर्निर्गुणैस्तु किम्।
एकस्तारयते वंशमन्ये संतापकारकाः ॥
(पद्मपु० भू० ११ । ३९)

एक ही पुत्र यदि गुणवान् हो तो अन्य सैकड़ों पुत्रोंसे कोई लाभ नहीं; क्योंकि एक चन्द्रमा आकाशके अन्धकारको दूर कर देता है और असंख्य तारे कुछ भी प्रकाश नहीं देते। एक ही पुत्र उत्पन्न करके सिंहिनी बिना भयके घनघोर जंगलमें सोती है, किंतु गर्दभी दस पुत्रोंको भी जन्म देकर केवल बोझा ढोती है। एक कविने लिखा है—'उस गौसे क्या लाभ जो न तो दूध दे रही हो और न तो गर्भिणी हो। और उस पुत्रसे क्या लाभ जो न तो धार्मिक ही हुआ और न विद्वान् ही।'

हमारी भारतीय संस्कृतिमें मानवमें 'धर्म'की भावनाको प्रधान गुण माना गया है। आज नये संसारके कुप्रभावमें युवक-समाज बहता जा रहा है और अपने धर्म तथा संस्कृति और समाजसे दूर भागता जा रहा है। ऐसे लोगोंसे धर्मकी धुरी वहन नहीं की जा सकती। जब धर्म नहीं तो कुछ नहीं। एक कविने कहा है—'जिसने पुण्य किया, जिसने तीर्थाटन किया, जिस मानवने कठिन तपस्या की है, उसीका पुत्र धार्मिक होगा, विद्वान् होगा, धनवान् होगा और वंशमें रहेगा।' यहाँपर 'पुत्रकी प्राप्ति'के लिये पिताके कर्मोंका फल भी उत्तरदायी बतलाया गया। यह तो सत्य है कि पिताके कर्मोंका फल 'पुत्र' है। इस तथ्यको माननेपर भी यह मानना पड़ेगा कि 'पुत्र-धर्म' एक पृथक् तथ्य है और 'पिता-धर्म' एक पवित्र सत्य है। 'एक सुन्दर और सुगन्धित वृक्ष अपने पुष्पोंकी मीठी और मधुर सुगन्धसे वन्यप्रदेशको सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार एक पुत्र प्रह्लाद और ध्रुवकी भाँति वंशको प्रकाशित कर देता है।' पिताके पापकर्मोंका फल पुत्रपर ऐसे स्थलोंपर नहीं प्रभाव दिखाता। एक ही पुत्र अपनी प्रज्ञा, अपने प्रभाव, बल तथा धनसे अपने वंशकी गाड़ी खींचता है और उसी पुत्रसे उसकी माता 'जननी' कहलानेकी 'अधिकारिणी' होती है। ऐसे पुत्रोंमें महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि थे।

आजके युगमें सुपुत्रोंका अभाव है, कुपुत्रोंकी बहुलता है। फलस्वरूप उनकी उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, चोरी, स्वार्थपरता और अशिष्टतासे माता-पिता, गुरु, अध्यापक—सभी परीशान हैं। ये दुर्गुण बालकोंमें घरसे ही प्रारम्भ हो रहे हैं और विद्यालयमें उनका विस्तार हो जाता है। इस कुप्रभावसे राष्ट्र भी प्रभावित है। एक लेखकने लिखा है—'एक सूखे वृक्षमें आग लगनेपर वह आग दावाग्नि बनकर वनको समाप्त कर देती है जैसे एक कुपुत्र सम्पूर्ण वंशको नष्ट कर देता है।'

एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं यथा ॥

पुत्रका 'धर्म'-पालन पुत्रको सत्पथपर चलानेमें सहायक ही नहीं, अपितु राष्ट्रके लिये भी कल्याणकारक माना गया है। यहाँ यह स्मरण रखनेकी बात है कि 'पुत्र-धर्म'को निभाना कठिन है और सरल भी। भगवान् राम, भीष्म तथा ययातिने जिस पुत्र-धर्मको निभाया, उसे आजके पुत्र तो नहीं निभा सकते; किंतु कोई पिता भी अपने सुपुत्रको वनमें भेजनेका प्रस्ताव नहीं करेगा और न कोई पिता अपने पुत्रके मार्गमें काँटा बनना चाहेगा, कोई पिता अपने पुत्रसे आयुकी याचना भी नहीं करेगा। हाँ, कुछ कुपिता भी होते हैं। उस युगमें हिरण्यकशिपु-जैसे पिता थे। आज भी हो सकते हैं। यहाँपर प्रश्न केवल 'पुत्र-धर्म-पालन'का ही है। यदि पुत्र अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता तो उसका जन्म व्यर्थ है।

तुलसीदासजी कहते हैं—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥

'जगत्‌में वही युवती पुत्रवती है, जिसका पुत्र भगवान्‌का भक्त होता है। नहीं तो, जो रामविमुख पुत्र उत्पन्न करके उससे अपना हित समझती है, उसका तो बाँझ ही रहना भला था। वह तो व्यर्थ ही ब्यायी (पशु उत्पन्न किया)।

पुत्र-धर्मके आदर्श

(१)

विष्णुशर्मा

'बेटा! समस्त रोगों तथा जरा-मृत्युका नाशक अमृत चाहिये मुझे! उसे पीकर मैं अपने देहको अजर-अमर बना लेना चाहता हूँ।' शिवशर्माने अपने पुत्रसे कहा।

'जो आज्ञा!' पिता साक्षात् नारायण हैं—यह जिसका दृढ़ निश्चय है, वह पिताकी आज्ञाके विषयमें विचार क्यों करने लगा और स्वधर्मनिष्ठ, तपस्वी ब्राह्मणकुमारके लिये त्रिलोकीमें ऐसा क्या है, जो वह साध्य न बना सके। पिता-की आज्ञा स्वीकार करके विष्णुशर्मा स्वर्गको चल पड़े।

तपोबलसे सशरीर आते उन विप्रकुमारको देवराज-ने देखा। उन्होंने अप्सराओंमें श्रेष्ठ मेनकाको भेजा कि वह इस ब्राह्मण युवकको अपनी ओर आकृष्ट करे। सम्पूर्ण शृङ्गारसे सजी-धजी मेनका नन्दन-वनमें मार्गके समीप झूलेपर बैठकर मधुरस्वरसे गाती हुई झूला झूलने लगी। उसका संगीत अपने माधुर्य तथा भावमें आह्वान ही था।

'मनोहारी युवक! इतनी त्वरामें कहाँ जा रहे हो? स्वर्ग पहुँचनेकी इतनी शीघ्रता क्यों है तुम्हें? स्वर्गका सौन्दर्य तो यहाँ तुम्हारे स्वागतको बैठा है। मैं मन्मथके शराघातसे व्याकुल तुम्हारी शरण आयी हूँ। मुझे स्वीकार करके मेरी प्राण-रक्षा करो।' जब पाससे जाते हुए विष्णुशर्माने मेनकाकी ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं, तब वह अप्सरा झूलेसे कूद पड़ी और स्वयं बोली। उसकी वाणीके साथ उसके अङ्ग-अङ्गकी चेष्टा उन्मादक थी।

'सुन्दरी! तुम्हारे मनकी बात मुझसे अज्ञात नहीं है।' विष्णुशर्माने हँसकर मेनकाको हतप्रभ करते हुए कहा। 'तुमने महर्षि विश्वामित्रके तपका नाश किया था, किंतु अपने पिताकी भक्तिके प्रतापसे मैं तुम्हारे वशमें नहीं आनेका। तुम और किसीको ढूँढ़ो! मैं पिताजीके कार्यसे जा रहा हूँ। उसमें बाधा बनोगी तो जानती ही हो कि ब्राह्मणका क्रोध कितना दारुण होता है।'

बेचारी मेनका—उसमें कहाँ शक्ति थी कि इस चुनौतीके बाद ठहरनेका साहस करे। उसका सौन्दर्य तो केवल प्रमत्तको आकृष्ट कर सकता था। विष्णुशर्मा इन्द्रके समीप पहुँचे और उन्होंने माँगा—'मेरे पिताजी अमृत पीना चाहते हैं! अमृत-कलश मुझे देनेकी कृपा कीजिये।'

इस प्रकार दे देनेके लिये तो देवताओंने असुरोंसे मेल करके इतने कष्टसे समुद्र-मन्थन करके अमृत नहीं निकाला था। अतः देवराज इन्द्र नाना प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित करने लगे। किंतु शक्तिशाली पुरुषोंका स्वभाव होता है बाधा देखकर उद्दीप्त होना। बाधा पाकर निराश तो कापुरुष होते हैं। विष्णुशर्माने सोचा—'यह इन्द्र मेरी आज्ञा नहीं मानता! ब्राह्मणकी आज्ञा जब जगन्नियन्ता श्रीहरि नहीं टालते, तब यह मेरी अवमानना करता है! मैं इसे अभी स्वर्गसे नीचे फेंक दूँगा। मेरे तपका क्षुद्रांश पाकर कोई जीव इन्द्रत्वको सँभाल ही लेगा यहाँ।'

देवता संकल्पद्रष्टा हैं। विष्णुशर्माके संकल्पने इन्द्रको भयभीत कर दिया। वे अमृतकलश लेकर तत्काल उपस्थित हो गये। उनसे अमृत लेकर विप्रकुमार पृथ्वीपर लौटे।

देह नश्वर है। तपस्वी, वीतराग ब्राह्मणको देहासक्ति नहीं हो सकती थी। शिवशर्माको अमृत पीना नहीं था। उनको तो पुत्रकी परीक्षा लेनी थी। अमृत लेकर आये पुत्रको उन्होंने भगवद्धाम प्राप्त करनेका आशीर्वाद दिया।

—सु०

(२)

पितृभक्त सोमशर्मा

शिवशर्माके सभी पुत्र पिताके परम भक्त थे। उनके चार पुत्र तो पितृभक्तिके प्रतापसे भगवद्धाम जा चुके थे। सबसे छोटे पुत्र सोमशर्माको उन्होंने अमृतघट देकर उसे सुरक्षित रखनेको कहा और स्वयं पत्नीके साथ तीर्थयात्राको निकल गये। दस वर्षके पश्चात् जब लौटे तो तपोबलसे पत्नीके साथ कुष्ठ-रोगीका रूप धारण कर रक्खा था। सर्वाङ्ग गल रहा था। उन घावोंसे पीब आ रहा था।

सोमशर्माने माता-पिताको देखा तो वे उनके चरणोंमें गिर पड़े। माता-पिताके दुःखसे वे बहुत दुखी हुए। दोनोंके घाव धोये, उनपर पट्टी बाँधी और उन्हें कोमल बिछौनेपर सुलाया। बड़े परिश्रमसे वे माता-पिताकी सेवामें लग गये। दोनोंके घाव नित्य धोते, पट्टी बाँधते। उनके कफ, मल-मूत्र स्वच्छ करते। स्नान कराते, भोजन कराते अपने हाथसे उनके मुखमें ग्रास देकर; क्योंकि वे दोनों हाथमें घाव होनेसे स्वयं तो भोजन कर नहीं सकते थे।

माता-पिताकी इच्छा होनेपर अपने कंधोंपर उठाकर उन्हें आसपासके तीर्थ-मन्दिरोंमें ले जाते। अपना नित्यकर्म, स्नान, तर्पण, देवपूजन भी नियमपूर्वक करना था। माता-पिताके लिये भोजन भी बनाना था। किंतु सोमशर्माके किसी मार्गमें, किसी सेवामें कोई त्रुटि नहीं होती थी। उनमें आलस्य कभी आया नहीं।

रोगने शिवशर्माको चिड़चिड़ा कर दिया था। जैसे रोग उनकी इच्छासे आया था, जान-बूझकर वे चिड़चिड़े भी बन गये थे। अपनी सेवामें रात-दिन कठोर श्रम करते हुए लगे पुत्र सोमशर्माको वे प्रायः झिड़कते रहते थे। बड़े कठोर वचन कहते थे। उनका तिरस्कार करते थे। डंडा अथवा जो कुछ हाथ लग जाय, उसीसे सोमशर्माको मार बैठते थे।

नम्रताकी मूर्ति पितृभक्त सोमशर्माने पिताके डाँटने, मारने, तिरस्कार करनेका कभी बुरा नहीं माना। पिताको उत्तर तो वे क्या देते, मनमें भी रुष्ट अथवा खिन्न नहीं हुए। पिता-माताकी सेवामें तनिक भी शिथिलता उन्होंने आने नहीं दी।

'अरे यह अमृत तो ले आ!' दीर्घकालतक पुत्रकी परीक्षा लेनेके पश्चात् शिवशर्मा संतुष्ट हो गये थे; किंतु पुत्रकी तपःशक्ति तथा आस्था उन्हें और देखनी थी। अपनी शक्तिसे उन्होंने अमृतको अदृश्य कर दिया था।

सोमशर्माको अमृतका स्मरण न हो, ऐसी बात नहीं थी। वे जानते थे कि अमृत सर्वरोगहारी है। लेकिन पिताने ही उसे सुरक्षित रखनेको दिया था। माता-पिता उस दैवी पदार्थका उपयोग उचित नहीं मानते तो उनसे अधिक योग्यता दिखलाकर अमृतकी चर्चा करना उन्हें अशिष्टता लगा था। इसलिये वे चुपचाप सेवामें संलग्न थे। पिताने माँगा तो अमृतघट उन्होंने उठाया; किंतु वह तो खाली पड़ा था।

'यदि मुझमें सत्य तथा गुरु-शुश्रूषारूप धर्म है, यदि मैंने निश्छलभावसे तप किया है, यदि मन तथा इन्द्रियोंके संयमसे मैं कभी विचलित नहीं हुआ होऊँ, तो यह घट अमृतसे पूर्ण हो जाय!' सोमशर्माने संकल्प किया। घटके अमृतका क्या हुआ, इस ऊहापोहमें उन्होंने समय नष्ट नहीं किया। घट अमृतपूर्ण हो गया।

'वत्स! मैं प्रसन्न हुआ तुम्हारी सेवा और तपसे!' अमृत-कलश लेकर जब सोमशर्मा माता-पिताके पास पहुँचे तो वे दोनों कोढ़ी-रूप त्यागकर स्वस्थ बैठे थे। पुत्रको साथ लेकर दोनों उसी दिन विष्णुलोक चले गये।

—सु०

(३)

पितृसेवी सुकर्मा

'ब्राह्मण! मूर्ख हो तुम! तुम समझते हो कि जगत्में तुमसे बड़ा कोई नहीं है? निर्विशेष तत्त्वका तो तुम्हें ज्ञान है ही नहीं। कान खोलकर सुनो! इस समय संसारमें कुण्डलके पुत्र सुकर्माके समान कोई ज्ञानी नहीं है। यद्यपि उन्होंने तप नहीं किया, दान नहीं दिया, ध्यान-हवनादि कर्म भी नहीं किये और तीर्थयात्रा करने भी नहीं गये, इतनेपर भी वे समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। बालक होनेपर भी उन्हें जो ज्ञान प्राप्त है, वह तुम्हें अबतक दुर्लभ है।' महातापस पिप्पलके सम्मुख अचानक एक सारस पक्षी आ बैठा था और वही उनसे ये बातें कह रहा था।

तीन सहस्र वर्षतक पिप्पलने कठोर तप किया था। उस समय उनके देहको दीमकोंने अपना घर बनाकर मिट्टीसे ढक दिया था। फिर भी, उस मिट्टीके ढेरसे अग्निकी लपटोंके समान पिप्पलके शरीरका तेज प्रकट हो रहा था। इस तपसे प्रसन्न होकर देवताओंने वरदान दिया था—'सारा जगत् तुम्हारे वशमें हो जायगा।' इस वरदानसे पिप्पल विद्याधर हो गये थे। जिस व्यक्तिका मनसे चिन्तन करते थे, वही उनके वशमें हो जाता था। इस सिद्धिके कारण उन्हें गर्व हो गया। वे अपनेको संसारमें सर्वश्रेष्ठ मानने लगे। अहंकारने भगवत्प्राप्तिका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। तपस्वी ब्राह्मणकी इस अवस्थापर ब्रह्माजीको दया आ गयी। वे सारसका रूप रखकर पिप्पलको सावधान करने आये थे।

सारसकी बातें सुनकर पिप्पल शीघ्र कुरुक्षेत्रकी ओर चल पड़े। वहाँ विप्रश्रेष्ठ कुण्डलके आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने सुकर्माको अपने माता-पिताकी सेवामें लगे देखा। गृहपर आये अतिथिका सुकर्माने स्वागत-सत्कार किया। इसके पश्चात् सुकर्माने ही बतला दिया कि सारसके वचन सुनकर पिप्पल उसके पास आये हैं।

'आपकी आयु कम है। आपने कोई तप किया हो, ऐसा भी नहीं लगता। इतनेपर भी आपका ज्ञान अपार है। इसका कारण क्या है?' सुकर्माने जब साक्षात् देवताओंको बुलाकर दिखा दिया और निर्विशेष तत्त्वका सम्यक् वर्णन किया तो पिप्पलने पूछा।

'मैं तप या यज्ञ नहीं करता। दान, तीर्थाटन अथवा कोई अन्य धर्म मैं नहीं जानता। माता-पिता ही मेरे इष्ट देवता हैं और मैं उनकी सेवाको ही अपना परम धर्म मानता हूँ।' सुकर्माने बतलाया। 'आलस्य छोड़कर रात-दिन मैं माता-पिताकी सेवामें लगा रहता हूँ। जबतक माता-पिता जीवित हैं और उनकी सेवाका अलभ्य लाभ प्राप्त है, तबतक मुझे दूसरा तप, तीर्थयात्रा एवं अन्य पुण्यकर्मोंके करनेका क्या प्रयोजन है? तप, यज्ञ, अनुष्ठान, दानादिसे जो फल मिलता है, वह सब मैंने माता-पिताकी सेवासे प्राप्त कर लिया है।'

'पुत्रके लिये माता-पितासे बड़ा कोई तीर्थ नहीं।' अन्तमें सुकर्माने बतलाया। 'माता-पिता इस लोकमें तथा परलोकमें भी साक्षात् नारायणके समान हैं। जो माता-पिताका आदर नहीं करता, उसके सब शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।'

दूसरे अनेक उपाख्यान सुकर्माने पिप्पलको सुनाये। पिप्पलका गर्व सुकर्माके उपदेशको सुनकर दूर हो गया। वे उसको प्रणाम करके वहाँसे चले गये। —सु०

(४)

पुत्र-धर्मके आदर्श पुण्डरीक

'धर्मस्य प्रभुरच्युतः'

भगवान् धर्मके लक्ष्य हैं। धर्मके परम प्राप्य और रक्षक हैं। किंतु धर्ममें दृढ़ निष्ठा हो तो वह भगवान्को भी अपने समीप आनेको विवश कर देता है। ऐसे धर्मात्मा थे पुरातनकालमें पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) के महाभाग पुण्डरीक। उन्होंने अपने माता-पिताको ही साक्षात् धर्म माना-जाना था।

जैसे कोई अत्यन्त श्रद्धालु भक्त अपने आराध्यकी उपा-

पितृभक्त भीष्मकी विलक्षण प्रतिज्ञा

उस रात्रिमें महाराज दशरथ आखेट करने निकले थे। श्रवणकुमारने जब सरयूके जलमें कमण्डलु डुबाया तो उसका शब्द सुनकर राजाको लगा कि कोई जंगली हाथी जल पी रहा है। उन्होंने शब्दके लक्ष्यपर बाण छोड़ दिया। वह बाण श्रवणकुमारकी छातीमें लगा। वे चीत्कार करके गिर पड़े। युद्धके अतिरिक्त हाथीका वध शास्त्रवर्जित है। हाथी समझकर भी राजाको बाण नहीं छोड़ना था। वह जो धर्ममें प्रमाद हुआ, उसीसे धर्मात्मा राजाके हाथसे अनजानमें यह अनर्थ हो गया।

चीत्कार सुनकर महाराज दशरथ वहाँ पहुँचे और वहाँका दृश्य देखकर व्याकुल हो गये। श्रवणकुमारने समझाया—'मैं ब्राह्मण नहीं, वैश्य हूँ। आपको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी। लेकिन मेरे माता-पिता प्यासे हैं। उन्हें जल पिला दीजिये और यह बाण मेरी छातीसे निकालिये।'

बाण निकालते ही श्रवणकुमारके प्राण निकल गये। महाराज दशरथ जल लेकर उनके माता-पिताके पास पहुँचे तो उन दम्पतिके आग्रहपर बोलना पड़ा। उन्हें यह दुःसंवाद देना पड़ा। उन दोनोंने पुत्रके पास पहुँचानेको कहा। वहाँ चिता भी काष्ठ चुनकर महाराजने बनायी। पुत्रके देहके साथ वे दोनों अन्धे वृद्ध चितामें बैठ गये। अन्तिम समय उन्होंने राजाको शाप दिया—'हमारे समान तुम भी पुत्र-वियोगमें ही मरोगे।'

पितृभक्तिका प्रताप—महाराज दशरथने देखा कि श्रवणकुमार दिव्य देह धारण कर भगवद्धाम जा रहे हैं। उनके माता-पिता भी उनके साथ ही गये। —सु०

(६)

पितृभक्त देवव्रत भीष्म

महाराज शान्तनुके एक ही पुत्र थे देवव्रत और वे भी सामान्य मानवीकी संतान नहीं थे। भगवती गङ्गाके पुत्र थे वे। देवी गङ्गाने महाराज शान्तनुसे विवाह ही इस शर्तपर किया था कि महाराज उनके किसी कार्यमें बाधा नहीं देंगे। जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वे भागीरथीके प्रवाहमें विसर्जित कर देतीं। सात पुत्र उन्होंने प्रवाहमें डाल दिये थे। आठवेंके समय महाराजने उन्हें रोका। इस प्रकार गङ्गा-जैसी पत्नीका त्याग करके शान्तनुको देवव्रत मिले थे। देवताओंने अस्त्र-शिक्षा दी थी उन्हें।

अचानक महाराज उदास रहने लगे। उनका शरीर दिनोंदिन क्षीण होने लगा। मुख म्लान हो गया। देवव्रतको पिताकी यह अवस्था असह्य हो गयी। बड़ी कठिनाईसे मन्त्रियोंके द्वारा उन्हें रोगके कारणका पता लगा। महाराज शान्तनुने कहीं दाशराजकी कन्या योजनगन्धा (मत्स्यगन्धा) सत्यवतीको देख लिया था और उसपर वे मुग्ध हो गये थे। उसकी चिन्ता उन्हें क्षीण बना रही थी और दाशराज था कि हस्तिनापुरके सम्राट्को अपनी कन्या केवल तब दे सकता था, जब उसका दौहित्र सिंहासनका अधिकारी माना जाय। भला, देवव्रत-जैसे देवात्मा पुत्रको उसके अधिकार वञ्चित करनेकी बात महाराज कैसे सोच सकते थे।

देवव्रतने कारण जाना और कहा—'बस, इतनी-सी बात! इसके लिये पिताजी इतना कष्ट पा रहे हैं!'

उन्होंने रथ सजाया और कैवर्तपल्ली पहुँचे। केवट दाश-राजकी झोपड़ीके द्वारपर रुका उनका रथ। उन्होंने दाशराजसे कहा—'आपकी कन्याका पुत्र सिंहासनासीन होगा। मैं अपने स्वत्वका त्याग करता हूँ। आप अपनी पुत्रीको विदा करें। वे महाभागा राजसदन पहुँचकर मुझे मातृ-चरण-वन्दनाका पुण्य प्रदान करें।'

'राजकुमार! आप धन्य हैं!' दाशराजने कहा। 'आपका त्याग महान् है। अन्यथा आप-जैसा धनुर्धर प्रतिपक्षमें हो, तो देवता भी कैसे सुरक्षित रह सकते हैं। आप वचन न देते तो महाराज मेरी पुत्रीसे हुई संतानको राज्य देनेका वचन देते भी तो वह निष्फल था। लेकिन आपने भले अपना स्वत्व त्याग दिया, आपकी संतान तो उसे नहीं त्याग देगी। आपके पुत्र क्या मेरे दौहित्रको निष्कण्टक राज्य करने देंगे?'

देवव्रत गम्भीर हो गये। बात उचित थी। वे युवा थे। वे विवाह करें तो उनके पुत्र इस नवीन माताके पुत्रोंसे आयुमें बहुत छोटे कदाचित् ही होंगे। वे अपना स्वत्व छोड़ ही देंगे—यह कोई कैसे कह सकता है। दो क्षण सोचकर बाहु उठाकर उन्होंने प्रतिज्ञा की—'मेरे कोई संतान नहीं होगी! मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा!'

'भीष्म! भीष्म प्रतिज्ञा!' देववाणी गूँजी और कुमार-के ऊपर गगनसे सुमन-वर्षा हुई। उसी समयसे देवव्रतका नाम भीष्म पड़ गया। सत्यवतीको साथ लेकर जब वे राजसदन पहुँचे—साश्रुनयन, गद्गदकण्ठ पिताने आशीर्वाद दिया—'वत्स! मृत्यु भी तुम्हारा अभिभव नहीं कर सकेगी। तुम इच्छा नहीं करोगे, तबतक तुम्हारा शरीर नहीं छूटेगा।' —सु०

(७)
आदर्श पुत्र सनातन

केवल ग्यारह वर्षका बालक था सनातन। उड़ीसाके एक निर्धन दम्पतिके दो बच्चे थे। उनमें सनातन ग्यारहका था और दूसरा उससे छः वर्ष छोटा था। अचानक देशमें अकाल पड़ गया और अकाल निर्धनोंको ही मारता है। जिनके पास धन है, संग्रह है, वे भी अकालके समय अपना व्यय कम कर देते हैं। मजदूरके घरमें वैसे ही कुछ नहीं रहता, अकालके समय बहुत-से चलते काम बड़े लोग व्यय घटानेको बंद कर देते हैं। अतः 'दुहरी मार दरिद्रपर' अन्न महँगा हो जाता है और काम मिलना प्रायः बंद हो जाता है।

सूर्योदयके पूर्व ही सनातनका पिता घरसे निकल पड़ता था। सूर्यास्ततक कहीं कुछ भी काम मिल जाय और उससे दो मुट्ठी अन्न प्राप्त हो जाय तो वह दिन भाग्यशाली समझा जाता था। लेकिन प्रत्येक दिन तो भाग्यशाली दिन किसीके जीवनका नहीं होता, फिर निर्धनके जीवन-दिन और वे भी भयानक अकालके समयमें। कई दिनोंतक लगातार कुछ काम नहीं मिला। काम नहीं मिला तो अन्न कहाँसे आता। घरमें जो टूटे-फूटे बर्तन आदि थे, पेटकी ज्वालामें आहुति देनेको पहले बिक चुके थे। उधार कुसमयमें निर्धनको कौन देने चला था। कोई उपाय नहीं था। सनातनके पिताने एक दिन रात्रिमें चुपचाप घर त्याग दिया। कोई नहीं जानता कि वे कहाँ गये। अपने नेत्रोंके सामने अपनी संतानको भूखसे तड़पते न देख सकनेके कारण वे कहीं चले गये।

पिता गये और उस असहाय परिवारको यदा-कदा दो मुट्ठी अन्न मिलनेकी आशा भी गयी। उपवास—कितने दिन केवल जल पीकर कोई जीवित रह सकता है? नारी खाटपर पड़ गयी। चार वर्षका नन्हा बालक मरणासन्न हो गया। कङ्कालप्राय ग्यारह वर्षका बालक सनातन अन्तमें पिताकी लाठीका सहारा लेकर निकला। अनेक दिनके उपवासके कारण उसे बार-बार चक्कर आ रहे थे। बार-बार मूर्छित होकर वह गिरा पड़ता था; किंतु उसे चलना चाहिये—चलता गया वह।

'मैया! थोड़ा-सा भात!' किसी वृद्धा नारीको मरणासन्न बालक सनातनकी इस याचनापर दया आ गयी। उसने थोड़ा भात दे दिया उसे।

सर्पिणी अपने बच्चे खा लेती है, यह अवश्य मिला है उसे; किंतु अकालमें भूखसे व्याकुल मनुष्य अपने बच्चे बेच डालता है। माता अपने मरते बच्चेके हाथसे छीनकर अन्न खा लेती है। ये दृश्य कितने भी दारुण हों, मानवताको हृदयपर पत्थर धरकर देखने पड़े हैं और बार-बार, स्थान-स्थानपर देखने पड़े हैं; किंतु मानवमें ही देवोपम—नहीं, देवदुर्लभ आत्माएँ भी अवतीर्ण होती हैं। ग्यारह वर्षका नन्हा बालक, अनेक दिनके उपवाससे बार-बार मूर्छित होता, गिरता और हाथमें भोजन; किंतु मुखमें एक दाना नहीं डाला उसने।

छोटा भाई चीखता दौड़ता आया तो उसके मुखमें एक ग्रास अन्न दे दिया सनातनने और फिर उसकी चीख-की भी उपेक्षा करके खाटपर क्षुधासे अचेत अर्धमूर्छिता माताके पास बढ़ गया—'माँ! भात लाया हूँ!'

'बेटा! कल्याण हो तेरा!' उस नारीका आशीर्वाद। किसी तपस्वी, ऋषि, देवता, लोकपालका आशीर्वाद उस माताके आशीर्वादकी समता करनेमें समर्थ हो सकता था?

—सु०

(८)
मातृभक्तिके आदर्श बालक रामसिंह

अमरसिंहकी रानी पागल-सी हो उठी।

'शाहजहाँके भरे दरबारमें अपमान करनेपर उसके वीर पति अमरसिंहने बादशाहके साले सलावतखाँका सिर उतार लिया था। बादशाह भयसे भीतर भाग गया था और अमरसिंह घोड़ेसहित दुर्गके प्राचीरसे कूदकर निकल आये थे। रानीका चाटुकार भाई अर्जुन गौड़ अमरसिंहको उलटा-सीधा सिखाकर महलमें ले गया और पीछेसे अमरसिंहको मार डाला।

शाहजहाँने अमरसिंहकी नंगी लाश बुर्जपर डलवा दी। चील-कौवे उसपर बैठने लगे।

इस समाचारसे रानीकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। उसके भेजे सभी सैनिक मार डाले गये। वे शवके समीप भी नहीं पहुँच सके।

'जिसकी लाश चील-कौवे खा रहे हैं'—शाहजहाँका यह कथन भी रानीने सुना था—'पर उसके खानदानमें एक भी ऐसा नहीं, जो उसकी लाश ले जाय?'

रानी बेचैन थी। अपने कहलानेवाले सभी लोगोंके सामने वह रो आयी, आँचल पसारा; पर किसीने ध्यान नहीं दिया। रानी अधीर हो उठी।

'बाँदी मेरी तलवार ला'—रानीने कहा। 'और मेरे साथ चल। मैं स्वयं महारावलकी लाश शाहजहाँके किलेसे निकालकर ले आऊँगी।'

रानीने सैनिकका वेश बनाया, तलवार ली और अन्तःपुरकी सभी नारियोंने तलवार, भाले और बर्छे सँभाले।

'चाची, ठहरो!' दौड़ते हुए आकर रामसिंहने कहा। 'मेरे जीवित रहते तुम्हें महलसे बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। पूज्य चाचाके निष्प्राण शरीरकी रक्षा एवं उनकी अन्त्येष्टि मेरा परम पावन धर्म है। प्राण दे दूँगा मैं इसके लिये।'

'बेटा, जा!' रोते-रोते रानीने आशिष् दी। 'महिष-विमर्दिनी दुर्गा तुम्हारी सहायता करें।'

'रो मत, चाची!' घोड़ेको एड़ लगाते हुए रामसिंहने कहा। 'चाचाजीके शवके साथ मैं अभी लौटता हूँ।'

रामसिंह अमरसिंहके बड़े भाई जसवन्तसिंहका एकमात्र पुत्र अभी केवल पंद्रह वर्षका था, पर था अपने पिता एवं चाचाकी ही भाँति वीर और पराक्रमी।

वह दौड़ पड़ा शाहजहाँके दुर्गकी ओर।

दुर्गका द्वार खुला था और तीरकी भाँति एक युवक अश्वारोही उसे पार करते भीतर चला गया। द्वाररक्षक उसे पहचान भी न सके।

बुर्जके निकट सैकड़ों मुस्लिम सैनिक तैयार थे। युद्ध छिड़ गया। मुँहमें लगाम पकड़े पंद्रह वर्षके वीर बच्चेने जिधर दोनों हाथ उठाये उधर ही शत्रु लोटते दीखते। अन्ततः वह बुर्जपर चढ़ गया।

पूज्य चाचाजीका शव उठाया, उतरा और घोड़ेपर बैठा। पुनः वही युद्ध। पर उस तेजस्वी बालकका अनेक सैनिक मिलकर भी कुछ अनिष्ट नहीं कर सके। वे ताकते रहे और रामसिंह दुर्गके बाहर निकल गया।

महलमें चिता पहलेसे तैयार थी।

'बेटा! तूने मेरी सम्मान-प्रतिष्ठा एवं धर्मकी रक्षा की है,' चरणोंपर गिरे रामसिंहको उठाकर अत्यन्त स्नेहसे उसके शीशपर हाथ फेरती हुई रानीने आशिष् दी। 'वैसे ही भगवान् तेरी सदा रक्षा करें।'

और रानी पतिके शवके साथ चितामें प्रविष्ट हो गयी।

रामसिंह नेत्रोंमें आँसू भरे चुपचाप देखता रहा। वह क्या बोलता, वाणी जो अवरुद्ध हो गयी थी। —शि० दु०

धर्मशील सुपुत्र

पुत्र सुपुत्र वही जो करता नित्य पिता-माताका मान।
तन-मन-धनसे सेवा करता, सहज सदा करता सुख-दान॥
भगवद्भक्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, कुशल, शान्त, सज्जन, धीमान्।
जाति-कुटुम्ब-स्वजन-जन-सेवक, ऋत-मित-हित-वादी, विद्वान्॥
धर्मशील, तपनिष्ठ, मनस्वी, मितव्ययी, दाता, धृतिमान्।
पुत्र वही होता कुल-तारक, फैलाता कुल-कीर्ति महान्॥

कवि और लेखकका धर्म

(१)

(लेखक—आचार्य श्रीविश्वनाथजी पाठक)

'निरङ्कुशाः कवयः' का आभाणक प्रायः सुननेमें आता है और 'लीक छाँड़ि तीनों चलैं सायर सिंह सपूत' की उक्ति भी बहुत प्रचलित हो गयी है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या कवि सचमुच उच्छृङ्खल होते हैं? उनकी कोई मर्यादा नहीं होती? यदि ऐसी बात है, तब तो कविका महत्त्व एक आवारासे अधिक नहीं। परंतु प्राचीन ग्रन्थोंमें कविकी महिमाका मुक्तकण्ठसे गान किया गया है। अमरकोषके अनुसार कवि सर्वज्ञ होता है। वेदोंमें परमेश्वरके लिये कवि शब्दका प्रयोग मिलता है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीको 'आदिकवि' की उपाधिसे विभूषित किया गया है—

तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये।

अग्निपुराणमें कवित्वको मानवका दुर्लभ गुण बतलाया गया है—

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।

आचार्य आनन्दवर्धनने कविकी तुलना प्रजापतिसे की है; क्योंकि वह अपने इच्छानुसार सम्पूर्ण विश्वको परिवर्तित कर सकता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥

इससे प्रतीत होता है, कवि कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह अलौकिक प्रतिभासम्पन्न पुरुष है। वह समाजका नेतृत्व करता है। उसकी लेखनीसे निकले हुए अक्षर ज्योतिस्फुलिंग बनकर मोह-निशामें भ्रान्त प्राणियोंको मार्ग-दिशाका संकेत देते हैं। उसकी कल्पना-शक्तिसे अमृतका वह अक्षय उत्स फूटता है जो दुःख-दाव-दग्ध हृदयोंको अनन्त कालतक शीतल सुधा-रससे सींचता रहता है। वह अपने प्रातिभ नेत्रोंसे तीनों कालोंका साक्षात्कार कर जिन मान्यताओं और आदर्शोंकी सृष्टि कर देता है, समाज युग-युगतक उसका अनुवर्तन करनेमें गौरवान्वित होता है। प्राचीन आर्योंकी सभ्यता और संस्कृतिके प्रचारक कवि ही थे। समाजमें जो कुछ तप, त्याग, अहिंसा, दया, दाक्षिण्य, धर्म, नीति एवं बलिदानकी भावना है, उसकी नींव कवियों और लेखकोंने ही डाली है।

वाल्मीकि और व्यास-जैसे कवियोंने ही हमें ऊँचे आदर्श और उज्ज्वल परम्पराएँ प्रदान की हैं। अतएव कवियोंको उच्छृङ्खल समझना भूल है। विश्वका सम्पूर्ण हालाहल पीकर भी जो अपने काव्यामृतसे समाजको अमरत्व प्रदान करता है, वही वास्तविक कवि है। कवि या साहित्यकार होना असिधारा-व्रतका पालन करना है। इस व्रतमें जिसकी निष्ठा नहीं, उसे लेखनी रख देनी चाहिये।

आजका साहित्यकार कहानी लिखता है वासनाको उद्दीप्त करनेके लिये; उपन्यास लिखता है सन्मार्गपर चलनेवाले भोले-भाले नवयुवकोंको गुमराह करनेके लिये; गीत लिखता है समाजमें विरह-वेदना जगानेके लिये। ऐसा लगता है जैसे इसके अतिरिक्त वह कुछ जानता ही नहीं। जिस देशके महान् मर्यादावादी कवि गोस्वामी तुलसीदासजीने कभी घोषणा की थी—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

आज उसी देशके कवि और लेखक विनाशकारी साहित्यकी सर्जनामें ही अपनी प्रतिभाकी सार्थकता समझने लगे हैं।

साहित्य धर्मतक पहुँचनेका सरल सोपान है और धर्म है ऐहिक एवं आमुष्मिक सुखोंका निष्पादक। जब साहित्य धर्मकी उपेक्षा कर मनमाने मार्गपर चलने लगता है, तो उसमें लोकमङ्गलकी भावना नहीं रह जाती। ऐसा साहित्य देशको पतनकी ओर ले जाता है। अतएव साहित्यपर धर्मका नियन्त्रण रहना अनिवार्य है। धर्म-नियन्त्रित साहित्य ही समाजकी बुराइयों और कुरीतियोंको दूर कर सकता है। साहित्यकार जबतक धर्मके प्रति आस्थावान् नहीं होगा, तबतक उसकी वाणी देश और जातिका अभ्युत्थान करनेमें असमर्थ रहेगी।

गद्य और पद्य साहित्यके दो रूप हैं। विद्वानोंने दोनोंको 'काव्य' कहा है। काव्यकी उपयोगिता जीवनके सभी क्षेत्रोंमें है। त्रिकालदर्शी ऋषियोंने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी शिक्षा देनेके निमित्त काव्यकी रचना की थी। वेदव्यासने महाभारतमें स्पष्ट कहा है—

धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

अलंकार-शास्त्रके आचार्योंने काव्यको धर्मादिसाधनोपाय कहा है । वक्रोक्तिजीवितकारने काव्य-प्रयोजनका निरूपण करते समय लिखा है—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥

अर्थात् काव्य अभिजातवर्गको धर्मादिकी शिक्षा देनेका सुकुमार साधन है । वक्रोक्तिजीवितकार काव्यके आह्लादकत्व-मात्रसे संतुष्ट नहीं । वे इसी कारिकाकी वृत्तिमें आगे लिखते हैं—तथा 'सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकादिवत्प्रख्यता प्राप्नोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः ।' यदि काव्यमें सरसताका रहना ही अनिवार्य मान लें तो उसमें और बालकोंके खिलौनोंमें कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा । अतएव उसे धर्मादिसाधनोपाय कहा गया है । खिलौने बालकोंका मनोविनोद अवश्य करते हैं; परंतु प्रौढ़ व्यक्तियोंके जीवनमें उनका क्या उपयोग हो सकता है ? क्या तत्त्वदर्शी कवियोंकी सारगर्भित वाणीका मूल्य बालकोंके क्रीड़ा-कन्दुकसे अधिक नहीं ? क्या संत कवि तुलसीदासका रामचरितमानस बच्चोंका खिलौना है ? रसालमंजरीमें छिपकर गानेवाली कोयलकी कूक मनोरंजनके लिये हो सकती है; परंतु विवेकशील कवियोंके व्यापार केवल सहृदयोंके रंजनके लिये नहीं होते । प्रत्येक लेखक या कविका यह धर्म है कि वह ऐसा साहित्य रचे जो अधार्मिकोंको धर्म, कामियोंको त्याग, दुष्टोंको दण्ड, सज्जनोंको संयम, नपुंसकोंको धृष्टता, शूरोंको उत्साह, मूर्खोंको ज्ञान, विद्वानोंको वैदुष्य, शोकार्त और दुखी हृदयोंको विश्रान्ति देनेमें सक्षम हो । तभी उसकी कला सार्थक होगी, तभी उसकी साधना पूर्ण होगी ।

शील-सौन्दर्यसे मण्डित काव्य ही सत्काव्य है । जिस काव्यसे कोई शिक्षा नहीं मिलती, कोई दर्शन, कोई सत्प्रेरणा, कोई आदर्श नहीं मिलता वह वाग्जालमात्र है । काव्यमीमांसामें राजशेखरने काव्यको हितोपदेश देनेमें धर्मशास्त्रके समकक्ष माना है—

गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वाद्धितोपदेशकत्वात् तद्धि शास्त्राण्यनुधावति ।

रामायण पढ़नेपर रामकी पितृभक्ति, सीताका सतीत्व, लक्ष्मणका भ्रातृप्रेम और भरतका त्याग हमारे हृदयोंको वशीभूत कर लेता है । उनके शील-सौन्दर्यपर हम इतना मुग्ध हो जाते हैं कि उन्हीके अनुकरणमें अपने जीवनका साफल्य समझने लगते हैं ।

कवि और लेखकोंका काम समाजको परिष्कृत एवं सुरुचिसम्पन्न बनाना है । कृतयुग और कलियुग उन्हीं लेखनीके परिणाम हैं । अतएव साहित्यकारको बहुत सोच-समझकर लेखनी उठानी चाहिये । एक-एक शब्द विवेक-निकषपर कसकर लिखना चाहिये । उन्हें सोचना चाहिये कि उनका जीवन राष्ट्रकी सेवामें अर्पित है । उन्हें देशमें नयी स्फूर्ति, नयी चेतना, नया उत्साह और नयी आशाका संदेश देना है । उन्हें सत्य, अहिंसा, तप, त्याग, विशुद्ध प्रेम, सेवा एवं बलिदानकी भावना जन-जनके हृदयतक पहुँचानी है । उन्हें समाजमें शिवाजी और प्रताप-जैसे देशभक्त, श्रीकृष्ण, बुद्ध और महावीर-जैसे महापुरुष, सीता और अनसूया-जैसी देवियाँ एवं ध्रुव और प्रह्लाद-जैसे दृढ़व्रती बालकोंको जन्म देना है ।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कल्पित आदर्शोंको ही अपना ध्येय बना लेनेमें आजके साहित्यकारका चरम साफल्य है । आदर्श तभी ग्राह्य हो सकता है, जब वह यथार्थकी ठोस भित्तिपर आधारित हो । परंतु नग्न यथार्थका बीभत्स प्रदर्शन कम भयावह नहीं । हमारा शरीर यदि नंगा कर दिया जाय तो क्या उसकी शोभा होगी ? सर्वगुणसम्पन्न साहित्य वही हो सकता है जो सत्य, शिव और सुन्दर हो । इनमें किसी एक गुणका विपर्यय होनेपर साहित्य विकलाङ्ग हो जाता है । असत्य साहित्यपर किसीकी निष्ठा नहीं होती, शिवत्व न रहनेपर वह समाजका अभ्युदय नहीं कर सकता और सौन्दर्यके अभावमें वह नीरस हो जाता है । यथार्थके भीतर छिपे शिवत्वको ढूँढ़ निकालनेमें ही साहित्यकारका सबसे बड़ा कृतित्व है, सबसे बड़ी साधना है । यथार्थके क्षार-समुद्रके मन्थनसे जो अमूल्य अमृत निकलता है, उसीकी संज्ञा साहित्य है । उस साहित्यामृतका पान करनेवाला अजर और अमर हो जाता है । यथार्थके नामपर दौःशील्य एवं भ्रष्टाचारको प्रेरणा देनेवाले साहित्यकार देशद्रोही हैं । उनकी रचनाओंका बहिष्कार होना चाहिये ।

आज हमारे साहित्यपर विदेशी प्रभाव बढ़ता जा रहा है । हमारे नवयुवक विदेशी आचार-विचार और सभ्यता-संस्कृतिपर लट्टू होकर अपनी प्राचीन संस्कृति और

संदेशके बलपर युग-युगतक जीवित रहता है। जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वह प्रशंसा और निन्दा दोनोंको समान भावसे सहन करता है। उसका जीवन बहुत कुछ एक दार्शनिकका जीवन होता है। प्रकृतिके साथ सच्ची एकात्मता प्राप्त करनेपर ही वह संकोचहीनता एवं उन्मुक्तताका अनुभव करता है। वह एक अत्यन्त साधारण घटनापर भी अपने जीवन-आदर्शके आलोकमें विचार करता है और कविता सुन्दर स्रोतस्विनीके समान बह चलती है।

यदि सौभाग्यसे धन्यात्मा वाल्मीकिके समान उसके सामने एक बड़ा चित्रपट हुआ तो अपने नाटकके सभी पात्रोंको वह उस विशाल चित्रमें अपने-अपने स्थानपर गौरवके साथ बैठा देता है। वाल्मीकिके काव्यमें घृणाकी पात्री रानी कैकेयीके लिये भी उसके लड़केके सामने ही श्रीरामके मुखसे प्रशंसाके ही शब्द निकले। उस महाकाव्यमें भरत और उनके अनुज शत्रुघ्नका बहुत थोड़ा चरित्र होनेपर भी कविने उनको अपने उचित स्थानपर बैठाकर अधिकार-भरे हाथोंसे उनका चरित्र चित्रण किया है। गुह और शबरी भी अपने सुन्दर उद्गारोंद्वारा महाकविके संदेशको अभिव्यक्त करते हैं।

कविका धर्म है संसारको उस रूपमें देखना, जिस रूपमें उसे दिखायी देना चाहिये। वानर और ऋक्ष जातियोंको महिमान्वित करके उनके द्वारा भी सत्यकी महान् कथा कहनेवाले उस कविके धर्मको संसारके सम्मुख रक्खा गया है। कविकी शैलीकी सरलता, उसके भावोंकी उच्चता और जहाँ-जहाँ आवश्यक प्रतीत हो, वहाँ-वहाँ उसके काव्यमें धर्मके पास उसकी सीधी पहुँच—उसको वस्तुतः भगवान्‌का संदेशवाहक बना देती है।

वह अपने धर्मका सर्वोत्कृष्ट रूपसे तभी पालन करता है जब अपनेको भूलकर अपनी विशाल रचनामें अपने पात्रोंसे यथोचित व्यवहार करवाता है और संसारके लिये केवल शब्दोंमें ही नहीं, वरं क्रियाओं तथा जीवनमें भी संदेश छोड़ जाता है। सभी युगोंके महाकवि अपने महान् संदेशको अपनी रचनाके द्वारा इसी रूपमें छोड़ गये हैं। कविका वास्तविक जीवन उसकी रचनाओंमें ही प्रस्फुटित होता है। उसका पाञ्चभौतिक शरीर सहस्रों वर्ष पूर्व ही विदा हो चुका हो, परंतु उसकी रचना युग-युगतक उसके धर्मका प्रचार करती रहेगी।

पुराणों और महान् इतिहासोंकी कथाएँ ज्ञानकी खान हैं। प्राचीन कालके महान् मनस्वी इन कथाओंके धार्मिक पक्षकी ही व्याख्या सदा करते आये हैं। पक्षियों और पशुओंको भी किसी संदेशका वाहक बनाया गया है। कवि बड़ी कुशलतासे अपनी बुद्धिको प्रत्येक पात्रमें भरकर उसके द्वारा, चाहे वह स्त्री-पुरुष या पशु-पक्षी कोई भी हो, अपने अन्तस्तम भावोंको व्यक्त कराता है।

श्रीमद्भगवद्गीता एक महान् काव्यकृति है। उपनिषद् भी अपने विचारों और अभिव्यञ्जनामें काव्यमय हैं। गीताके लेखक व्यास माने जाते हैं, परंतु वह है—श्रीकृष्णद्वारा उद्घोषित संदेश। विचारोंको विशद-रूपसे व्यक्त करनेके लिये यत्र-तत्र उपमाओं और रूपकोंका प्रयोग हुआ है। यहाँ कविने उच्च दार्शनिक एवं धार्मिक सत्योंको अत्यन्त सरल भाषामें अभिव्यक्त किया है। वह अपने कवि-धर्मको सदा अपनी दृष्टिके सामने रखता है। वह आत्मगोपनकी चेष्टा करते हुए भी प्रत्येक परिस्थितिका समुचित वर्णन करनेसे नहीं भागता।

उपनिषदोंमें भी मानव-कल्याणके लिये तपस्या एवं ब्रह्मचर्यके सच्चे पात्रोंकी सहायतासे उच्चतम विचारों और मानव महत्त्वाकाङ्क्षाओंको सरलतम भाषामें अभिव्यक्त किया गया है। इनका लेखक चाहे जो भी हो, उसने अपने काम-को बड़ी निर्मलतासे निभाया है। और साथ ही उनमें व्यक्त सत्यके साथ अपनेको नहीं जोड़कर आत्म-प्रचारसे पूरी तरहसे बचाया है। भूत, वर्तमान और भविष्यके बड़े-से-बड़े कवि-का सर्वश्रेष्ठ धर्म है—'आत्म-प्रचारके प्रति उपेक्षा।'

(२)

(लेखिका—शिक्षा-विभाग-अग्रणी साध्वीश्री मंजुलाजी)

साहित्य युगका प्रतिबिम्ब ही नहीं, युगका निर्माता भी है। जिस युग और देशका साहित्य जितना मौलिक और परिष्कृत होगा, वह युग और देश उतना ही चमकेगा। यद्यपि महापुरुषोंका जीवन भी युग और देशको चमकाता है, किंतु दिव्य-जीवन न तो उतना व्यापक ही होता है और न उतना स्थायी भी, जितना कि साहित्य होता है। दूसरे, साधकका समग्र दृष्टिकोण व्यक्तिगत होता है, जब कि साहित्यकार अपने स्वप्नको विश्वात्मामें परिणत करके चलता है।

मैं बहुत बार सोचती हूँ कि उपदेशकों, व्याख्याताओं और प्रवचनकारोंको अपना मूड बदल लेना चाहिये और

कुंठी हो जाती है, तेज फीका पड़ जाता है। लिखें कुछ नहीं, केवल लेखक होनेका दम भरें, गर्व करें—स्पष्ट ही यह अधार्मिकता है।

व्यर्थ उपयोगकी व्यर्थता दीपक लेकर दिखानेकी वस्तु नहीं। चाहे जब अंट-शंट, अनाप-शनाप, जो जीमें आया, टेढ़ा-सीधा लिख मारा। भला, यह भी कोई बात हुई। इस तरह धर्मका पालन तो होनेसे रहा; 'महामति बोड़मदास'की उपाधिसे भूषित होकर लोगोंकी 'हाहा-हीही' एवं व्यंग्य-बाणोंका शिकार अवश्य हुआ जा सकता है।

दुरुपयोग तो और भी भयावह है। नितान्त धर्म-विरुद्ध तो यह है ही, साथ ही यह हमें क्षमताके स्वत्वसे भी वञ्चित कर दे सकता है। जो क्षमता मिली है, वह दुरुपयोगके लिये नहीं, दुरुपयोगसे तो वह दिन-प्रति-दिन छीजती चली जाती है और एक दिन हमें कोरा 'बाबाजी' बनाकर छोड़ देती है।

तो धर्मका पालन हो सकता है—क्षमताको अनुपयोग, व्यर्थ उपयोग एवं दुरुपयोगसे बचाकर उसका सदुपयोग करनेसे।

अब प्रश्न होता है कि सदुपयोग क्या है?

दुरुपयोग-सदुपयोगकी धुँधली-धुँधली तसवीर तो सबके मानस-चक्षुओंके समक्ष घूमती रहती है। तनिक स्पष्ट झाँकी करें। सीधे सरल शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं कि जो लिखा जाना चाहिये, वह न लिखना और जो न लिखा जाना चाहिये, उसे लिखना दुरुपयोग है। ऐसे ही जो न लिखा जाना चाहिये, उसे न लिखना और जो लिखा जाना चाहिये, उसे ही लिखना सदुपयोग। यों भी कह सकते हैं कि असत् साहित्यका सृजन दुरुपयोग है और सत्-साहित्यका सृजन सदुपयोग।

लेकिन सत् क्या? असत् क्या?

लेखक जब जिस क्षण सत्योन्मुख हुआ, सरस प्रेममयताका पाथेय लिये, सुख-दुःखकी पगडंडियोंपर सममानसे पग धरता, डग भरता, सत्यका साक्षात्कार करता है, सत्यरूप होता है, तब उसी क्षणको शब्दोंमें (भले ही न पकड़ा-सा ही हो) पकड़कर उसकी झलक-झाँकीसे जन-जनको रसमय करना एवं उनके मस्तिष्कोंको कुरेदते हुए, हृदयोंको छूते हुए एवं हाथोंमें कर्मण्यता लाते हुए उन्हें सत्योन्मुख करना, सत्यका साक्षात्कार करनेके लिये, सत्यरूप होनेके लिये प्रेरित करना, सहारा देना उसके लेखनका उद्देश्य होता है। जो इस उद्देश्यके अनुकूल लिखा जाता है, वह सब सत्-साहित्य होता है; शेष सब असत्।

सत् साहित्य और पैसेका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। लिखनेपर पैसा मिल जाय, वह और बात है। पेट सबके लगा हुआ है, उसे ग्रहण कर लेनेमें भी दोष नहीं है। किंतु लिखते हुए पैसा ध्यानमें आ गया तो साहित्य सत्-साहित्य नहीं रहेगा। ध्येय—वास्तविक ध्येय सहज आँखसे ओझल हो जायगा और हम कहीं-के-कहीं जा पड़ेंगे। ऐसा न होता तो रुचि बिगाड़नेवाले सस्ते मनोरञ्जक साहित्यकी साहित्य-जगत्‌में इतनी भरमार न होती।

यशोभावना भी कुछ ऐसा ही खेल खिलाती है। सत्-साहित्य लिखनेपर यश मिल जाय, अच्छी बात है; पर मिल ही जाय—यह आवश्यक नहीं। अपयश भी मिल सकता है। यश-अपयशकी भावनासे मुक्त रहकर ही सत्-साहित्यका सृजन किया जा सकता है; अन्यथा सत्-साहित्यका सृजन तो दूर, यशोलिप्सा अन्य नामी लेखकोंकी रचनाओंमें काट-छाँट, कमी-बेशी करके किसी प्रकार उन्हें अपनी बनानेके चक्करमें फँसा, हमें चोर-दस्युतक बनाकर हमारी दुर्गति कर सकती है।

लिखनेमें रस आता है, केवल इस लिये लिखना भी खतरेसे खाली नहीं। रस जिसमें आना चाहिये, सदा उसीमें आये—यह तो जरूरी नहीं। और ऐसी अवस्थामें जो लिखा जाय, वह सत्-साहित्य ही हो—इसकी क्या गारंटी।

संक्षेपमें कह सकते हैं कि जो साहित्य सीमित 'अहं' की तृप्तिके लिये, उसे उसकी सीमिततामें ही फुलाने-फैलानेके लिये लिखा जाता है, वह सत्-साहित्य नहीं होता। सत्-साहित्य तो निश्चितरूपसे वह होता है, जिसे सीमित अहंकी संकीर्णता छू भी नहीं गयी होती, जो सबके लिये होता है, सबके हितार्थ होता है, सबके जीवनमें समृद्धि, यशस्विता एवं रस लाता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि लेखक इस प्रकार स्वयं वञ्चित नहीं रह जाता। सबमें वह भी तो सम्मिलित होता है। इस प्रकार तो सबकी निर्विरोधताके कारण उसकी स्वयंकी प्राप्ति उलटे और भी सुरक्षित रहती है।

ऐसा साहित्य—सत्-साहित्य निर्गुण होता है। निर्गुणसे आशय गुण-विहीनतासे न होकर गुण-सामञ्जस्यसे है। उसमें सब गुण होते हैं; पर उसका कोई गुण किसी अन्य गुणपर आघात नहीं करता, उसपर छाता नहीं, उसे हतप्रभ नहीं करता। सब गुणोंसे पूरा होते हुए गुणोंसे निर्लिप्त वह, प्रेममें डूबता-डुबाता-सा, तेयापथपर चलता-चलाता-सा, सत्यकी ओर ही लिये चलता है और एक दिन सत्य-साक्षात्कार कराकर—कहना चाहिये कि सत्यरूप करके ही रहता है—बिना भेदभाव सब किसीको। धन्य है ऐसा साहित्य और उसका सृजक साहित्यकार!

तो निष्कर्ष यह निकला कि 'अहंता'से दूर रहकर, सर्वमयतामें रमते हुए व्यर्थके तथा असत् साहित्यके सृजनसे बचकर निरालस्य भावसे सदैव आवश्यकतानुसार सत्-साहित्यका सृजन ही लेखकका धर्म है, जिसका उसे प्राणपणसे पालन करना चाहिये। इसीमें कल्याण है, कवि-जीवन-सार्थकता है।

आदर्श निर्भीक कवि—श्रीपति

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी गोयल)

बादशाह अकबरके राज-दरबारमें प्रायः कविसम्मेलनों एवं कवि-दरबारोंका आयोजन होता रहता था। देशभरके प्रसिद्ध कवि और शायर जहाँ अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करके भारी पुरस्कार प्राप्त करते थे, वहाँ दरबारी कवियोंका भी बादशाहकी ओरसे सम्मान किया जाता था।

कवि अपना धर्म और कर्तव्य भुलाकर, बादशाह अकबरकी प्रशंसामें नयी-नयी कविताएँ बनाते, चाटुकारिता करते एवं 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' की ध्वनिसे राजदरबार गूँज उठता। कवि स्वा, भाटों तथा चाटुकारोंसे दरबार भरा रहता था।

अकबरके दरबारमें जहाँ चाटुकार कवियोंका बाहुल्य था, वहाँ उसका एक तपस्वी ब्राह्मण कवि श्रीपति भगवान् श्रीराम-कृष्णके गुणगानमें कविताएँ सुनाकर अपने कविधर्म-पर अटल था। श्रीपतिने भगवान्के अतिरिक्त कभी किसीकी प्रशंसामें एक शब्द भी मुखसे न निकाला था।

बादशाहकी प्रशंसाके पुल बाँधनेवाले मुसल्मान कवियोंमें असंतोष फैल गया कि 'जब यह बादशाहकी प्रशंसामें तो एक शब्द भी नहीं कहता और हिंदू देवी-देवताओंकी स्तुति करता है, फिर इसे दरबारसे सम्मान और पुरस्कार क्यों दिया जाता है?'

अन्य कवियोंने कवि श्रीपतिको दरबारसे हटवानेका षड्यन्त्र रचा। एक समस्या रक्खी गयी—

'करो सब आस अकब्बर की'

सबने कहा—देखें, अब श्रीपति कैसे अपने मुखसे बादशाह-सलामतकी प्रशंसामें कविता न बनायेंगे? अब कैसे अपने देवी-देवताओंकी प्रशंसाके पुल बाँधेंगे?

दरबारके सभी कवि समस्या-पूर्तिकी तैयारियोंमें लग गये। अकबरकी प्रशंसामें तुकबंदी करने लगे। किंतु कवि श्रीपति तो एक निर्भीक एवं धर्मात्मा कवि थे। ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीसे भयभीत होना अथवा किसीकी चापलूसी करके प्रसन्न करना वे जानते ही न थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि कविका धर्म सरस्वतीकी उपासना करना है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीराम-श्रीकृष्णके गुणगान करके वाणीको सार्थक बनाना है। अतः कवि श्रीपतिने भी समस्यापूर्ति की।

निश्चित दिन अकबरका दरबार लगा। दरबार दर्शकों एवं कवियोंसे खचाखच भरा हुआ था। दरबारमें जहाँ अनेक कवि बैठे हुए थे, वहाँ कविवर श्रीपति भी माथेपर लंबा तिलक लगाये, बनीदार कुरता पहिने, गलेमें तुलसीकी माला पहने हुए विराजमान थे।

अनेक कवियोंने 'करो सब आस अकब्बर की' समस्यापर, गुणगान और चापलूसीकी कविताएँ सुनानी प्रारम्भ कीं। दरबार वाह! वाह!! की ध्वनिसे गूँज उठा। जब बारी आयी कवि श्रीपतिकी, तब दरबारमें सन्नाटा छा गया। कविगण श्रीपतिको पथसे गिरता देखनेके लिये उत्सुक हो उठे। 'आज देखेंगे इसका कवि-धर्म'—फुसफुसाहट प्रारम्भ हो गयी।

कवि श्रीपतिने सरस्वती-वन्दनाके पश्चात् प्रारम्भ किया—

पकहि छाँड़ि कै दूजौ भजै, सो जरै रसना अस लब्बर की।
अबकी दुनियाँ गुनियाँ जो बनी, वह बाँधति फेंट अँडब्बर की॥

कवि श्रीपति आसरो रामहिं को, हम फैंट गही बड़ जब्बर की ।
जिनको हरि में है प्रीति नहीं, सो करो सब आस अकब्बर की ॥

निर्भीक कवि श्रीपतिके मुखसे उक्त शब्द सुनते ही दरबारमें सन्नाटा छा गया । बादशाह अकबर भी कवि श्रीपतिके कवि-धर्मकी दृढ़ता एवं निर्भीकताको देखकर दंग रह गया । दरबारके सभी चाटुकार कवि एक-एक करके दरबारसे खिसक गये ।

कविका सर्वोपरि धर्म है, धर्म और ईश्वरके गुणगान करना है, सरस्वतीकी आराधना करना है; किसी व्यक्ति-विशेषके गुणगान करना तो माँ सरस्वतीका तिरस्कार ही है ।

धर्मकी बलिवेदीपर

[एक बिल्कुल सच्ची रोमाञ्चकारी गाथा]

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

घटना सन् १९४७ की है ।

भारतमाताके अङ्ग-भङ्ग, खण्ड-खण्ड होकर पाकिस्तान बननेकी घोषणा होते ही समस्त पंजाब, सिंध, बंगालमें मुस्लिम गुंडोंने हिंदुओंको मारना-काटना तथा ग्रामोंको आगकी लपटोंमें भस्मीभूत करना प्रारम्भ कर दिया था । हिंदुओंको या तो तलवारके बलपर हिंदू-धर्म छोड़कर मुसल्मान बननेको बाध्य किया जा रहा था, अन्यथा उन्हें मार-काटकर भगाया जा रहा था ।

पंजाबके ग्राम टहलरामसें भी मुसल्मानोंने हिंदुओंको आतङ्कित करना प्रारम्भ कर दिया । गुंडोंकी एक सशस्त्र भीड़ने हिंदुओंके घरोंको घेर लिया तथा हिंदुओंके सम्मुख प्रस्ताव रक्खा कि—'या तो सामूहिक रूपसे कलमा पढ़कर मुसल्मान हो जाओ अन्यथा सभीको मौतके घाट उतार दिया जायगा' । बेचारे बेबस हिंदुओंने सोचा कि जबतक हिंदू मिलिट्री न आये इतने समयतक कलमा पढ़नेका बहाना करके जान बचायी जाय । उन्होंने मुसल्मानोंके कहनेसे कलमा पढ़ लिया, किंतु मनमें राम-रामका जप करने लगे ।

'ये काफिर हमें धोखा दे रहे हैं । हिंदू सेना आते ही जान बचाकर भाग जायँगे । इन्हें गोमांस खिलाकर इनका धर्म भ्रष्ट किया जाय और जो गोमांस न खाय, उसे मौतके घाट उतार दिया जाय ।'—एक शरारती मुसल्मानने धर्मान्ध मुसल्मानोंकी भीड़को सम्बोधित करते हुए कहा ।

'ठीक है, इन्हें गोमांस खिलाकर इनकी परीक्षा की जाय ।' मुसल्मानोंकी भीड़ने समर्थन किया ।

मुसल्मानोंने गाँव टहलरामके प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा हिंदुओं-के नेता पं० बिहारीलालजीसे कहा कि—'आप सभी लोग गोमांस खाकर यह सिद्ध करें कि आप हृदयसे हिंदू-धर्म छोड़कर मुसल्मान हो गये हैं । जो गोमांस नहीं खायेगा, उसे हम काफिर समझकर मौतके घाट उतार डालेंगे ।'

पं० बिहारीलालजीने मुस्लिम गुंडोंके मुखसे गोमांस खानेकी बात सुनी तो उनका हृदय हाहाकार कर उठा । उन्होंने मनमें विचार किया कि धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करने, सर्वस्व समर्पित करनेका समय आ गया है । उनकी आँखोंके सम्मुख धर्मवीर हकीकतराय तथा गुरु गोविंदसिंहके पुत्रोंद्वारा धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करनेकी झाँकी उपस्थित हो गयी । वीर बंदा वैरागीद्वारा धर्मकी रक्षाके लिये अपने शरीरका मांस गरम-गरम चिमटोंसे नुचवाये जानेका दृश्य सामने आ गया ।

पं० बिहारीलालजीने विचार किया कि इन गो-हत्यारे, धर्म-हत्यारे म्लेच्छोंके अपवित्र हाथोंसे मरनेकी अपेक्षा स्वयं प्राण देना अधिक अच्छा है । हमारे प्राण रहते ये म्लेच्छ हमारी बहिन-बेटियोंको उठाकर न ले जायँ और उनके पवित्र शरीरको इन पापात्माओंका स्पर्श भी न हो सके, ऐसी युक्ति निकालनी चाहिये ।

पं० बिहारीलालजीने मुसल्मानोंसे कहा कि 'हमें चार घंटेका समय दो, जिससे सभीको समझाकर तैयार किया जा सके ।' मुसल्मान तैयार हो गये ।

पं० बिहारीलालजीने घर जाकर अपने समस्त परिवार-वालोंको एकत्रित किया । घरके एक कमरेमें पत्नी, बहिन, बेटियाँ, बालक, बूढ़े—सभीको एकत्रित करके बताया कि 'मुसल्मान नराधम गोमांस खिलाकर हमारा प्राणप्रिय धर्म भ्रष्ट करना चाहते हैं । अब एक ओर गो-मांस खाकर धर्म भ्रष्ट करना है, दूसरी ओर धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करना है । सभी मिलकर निश्चय करो कि दोनोंमेंसे कौन-सा मार्ग अपनाना है ।'

सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्धोंने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया—'गो-मांस खाकर, धर्म-भ्रष्ट होकर परलोक बिगाड़नेकी अपेक्षा धर्मकी बलिवेदीपर प्राण देने अच्छे हैं। हम सभी मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये तैयार हैं।'

पं० विहारीलालजीने महिलाओंको आदेश दिया—'तुरंत नाना प्रकारके सुस्वादु भोजन बनाओ और भगवान्‌को भोग लगाकर खूब छककर खाओ, अन्तिम बार खाओ। और फिर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनकर धर्मकी रक्षाके लिये मृत्युसे खेलनेके लिये मैदानमें डट जाओ।'

तुरंत तरह-तरहके सुस्वादु भोजन बनाये जाने लगे। भोजन बननेपर ठाकुरजीका भोग लगाकर सबने डटकर भोजन किया तथा अच्छेसे वस्त्र पहिने। सजकर एवं वस्त्राभूषण धारण करके सभी एक लाइनमें बराबर-बराबर खड़े हो गये। सभीमें अपूर्व उत्साह व्याप्त था। पं० विहारीलालजीका समस्त परिवार गो-रक्षार्थ, धर्म-रक्षार्थ प्राणोंपर खेलकर सीधे गोलोक-धाम जानेके लिये, शीघ्रातिशीघ्र मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये व्याकुल हो रहा था।

सभीको एक लाइनमें खड़ा करके पं० विहारीलालजीने कहा—'आज हमें हिंदूसे मुसल्मान बनाने और अपनी पूज्या गो-माताका मांस खानेको बाध्य किया जा रहा है। हमें धमकी दी गयी है कि यदि हम गोमांस खाकर मुसल्मान न बनेंगे तो सभीको मौतके घाट उतार दिया जायगा। हम सभी अपने प्राणप्रिय सनातन-धर्मकी रक्षाके लिये गो-माताकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते बलिदान होना चाहते हैं।'

सबने श्रीभगवत्स्मरण किया और पं० विहारीलालजीने अपनी बंदूक उठाकर धाँय! धाँय!! करके अपनी धर्म-पत्नी, पुत्रियों, बन्धु-बान्धवों तथा अन्य सभीको गोलीसे उड़ा दिया। किसीके मुखसे उफतक न निकली—हँसते हुए, मुस्कराते हुए गो-रक्षार्थ, धर्म-रक्षार्थ बलिदान हो गये। घर लाशोंके ढेरसे भर गया।

अब पं० विहारीलाल एवं उनके भाई दो व्यक्ति ही जीवित थे। दोनोंमें आपसमें संघर्ष हुआ कि 'पहले आप मुझे गोली मारें; दूसरेने कहा नहीं', 'पहले आप मुझे गोलीका निशाना बनायें।' अन्तमें दोनोंने अपने-अपने हाथोंमें बंदूक थामकर आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरेपर गोली दाग दी। पूरा परिवार ही धर्मकी रक्षाके लिये बलिदान हो गया!

ग्रामके अन्य हिंदुओंने जब पं० विहारीलालजीके परिवारके इस महान् बलिदानको देखा तो उनका भी खून खौल उठा। वे भी धर्मपर प्राण देनेको मचल उठे। मुसल्मान शरारतियोंके आनेसे पूर्व ही हिंदुओंने जलकर, कुओंमें कूदकर एवं मकानकी छतसे छलाँग लगाकर प्राण दे दिये, किंतु गोमांसका स्पर्शतक न किया।

मुसल्मानोंकी भीड़ने जब कुछ समय पश्चात् पुनः ग्राम दहलरामसें प्रवेश किया, तब उन्होंने ग्रामकी गली-गलीमें हिंदू वीरोंकी लाशें पड़ी देखीं। पं० विहारीलालके मकानमें घुसनेपर लाशोंका ढेर देखकर तो मुँहमें दाँतों तले अँगुली दबा उठे।

सदाचार-धर्म

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्। आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्। त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥
तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः। अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः। साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥

(महाभारत अनुशासन० १०४ । ६—९)

सदाचारसे ही मनुष्यको आयु प्राप्त होती है, सदाचारसे ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचारसे ही इहलोक और परलोकमें भी कीर्तिकी प्राप्ति होती है। दुराचारी मनुष्य, जिससे सब प्राणी डरते हैं और तिरस्कृत होते हैं, इस संसारमें ही आयु नहीं पाता। अतः यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है तो उसे इस जगत्‌में सदाचारका पालन करना चाहिये। पापयोनि मनुष्य भी यदि सदाचारका पालन करे तो वह उसके तन-मनके बुरे संस्कारोंको दबा देता है। सदाचार ही धर्मका लक्षण है। सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी पहचान है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा बर्ताव करते हैं, वह सदाचारका स्वरूप अथवा लक्षण है।

भ्रातृधर्म—श्रीराम और भरत
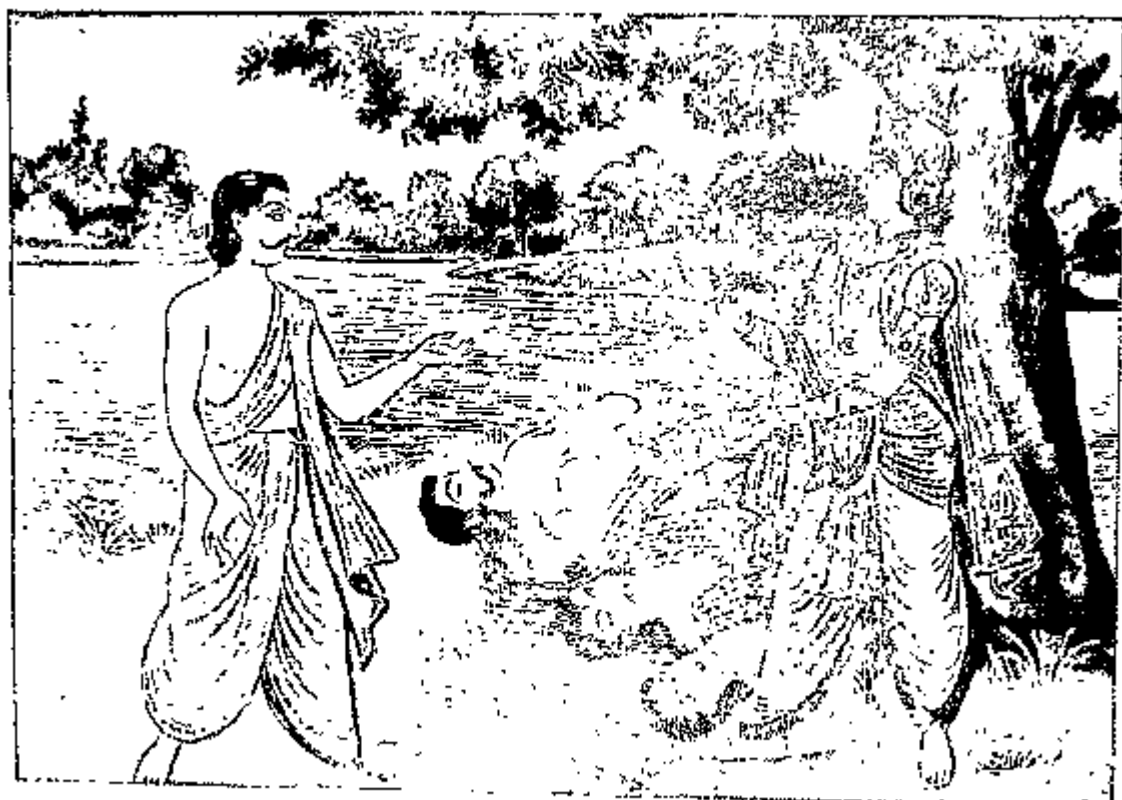
भ्रातृ-धर्मके आदर्श

(१)
त्यागमूर्ति श्रीभरतजी

आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥

—यह महाराज दशरथका प्रभाव कहा गया है। अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट्का वह सिंहासन भरतके लिये सुलभ था। श्रीराम वनमें चले गये, महाराज दशरथने उनके वियोगमें देहको त्याग दिया। अयोध्या सूनी हो गयी। जब राज्यपरिषद् एकत्र हुई, तब किसीको इसके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं सूझता था कि भरत शासनाधीश बनें। सत्यप्रतिज्ञ श्रीराम चौदह वर्षसे पूर्व वनसे लौट नहीं सकते और न लक्ष्मण या जनकनन्दिनीके लौटनेकी सम्भावना है। अयोध्याका सिंहासन रिक्त तो रहना नहीं चाहिये। मन्त्रियोंने, प्रजाके प्रमुख लोगोंने, गुरु वसिष्ठने तथा माता कौसल्यातकने आग्रह किया कि भरतको सिंहासन स्वीकार कर लेना चाहिये। कम-से-कम चौदह वर्ष तो अवश्य वे राज्य करें।

सौंपेहु राजु राम के आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥

लेकिन भरतजीका उत्तर बहुत स्पष्ट है—

हित हमार सियपति सेवकाईं। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाईं॥
सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखन राम सिय बिनु पद देखें॥

जिस राज्यकी स्पृहा सुरपतिको भी हो, वह ठुकराया फिर रहा था। भरत वनको चले और चले भी नंगे पैर, पैदल। उनसे जब रथपर बैठनेको कहा गया, तब वे बोले—

राम पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

'श्रीराम पैदल गये इस पथमें और मेरे लिये रथ, हाथी, घोड़े! अरे! मुझे तो सिरके बल चलकर जाना चाहिये; क्योंकि मैं उनका सेवक हूँ।'

श्रीरामको लौटना नहीं था, वे लौटनेके लिये तो वन गये नहीं थे; किंतु भरतको संतुष्ट करके ही उन्होंने लौटाया। श्रीरामका मत रहा तो भरतका प्रेम भी सम्पूर्ण सम्मानित हुआ। भरत लौटे श्रीरामकी चरण-पादुका लेकर। राज्यका कार्य वे करेंगे तो केवल प्रतिनिधिके रूपमें और वह भी राजभवनमें रहकर नहीं। अग्रज वनमें पर्णकुटीमें रहता है तो अनुजने भी नन्दिग्राममें पर्णकुटी बनायी और—

महि खनि कुस साथरी सँवारी।......

राम लखन सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥

श्रीराम कंद-मूल-फलका आहार करते होंगे; किंतु भरतने तो चौदह वर्ष गोमूत्र-यावक-व्रत किया। अर्थात् यव गायको खिलाया। वह गोबरमें निकला तो धोकर, स्वच्छ करके गोमूत्रमें पकाया गया और दिन-रातमें एक बार उसका आहार किया गया। यह तप भी कोई क्लेश मानकर नहीं किया गया।

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

यह अवस्था भरतकी रही। 'भायप भगति भरत आचरनू।' परम पावन है इस 'भायप भगति'का स्मरण भी...।

—सु०

(२)
धर्मराज युधिष्ठिर

वनवासका समय व्यतीत करते हुए पाण्डव द्वैतवनमें पहुँचे थे। एक दिन उन्हें बहुत प्यास लगी। युधिष्ठिरने वृक्षपर चढ़कर देखा। दूर एक स्थानपर हरियाली और जलपक्षी दिखायी पड़े। वहाँ जलका अनुमान करके उन्होंने नकुलको जल लाने भेजा। वहाँ स्वच्छ जलसे पूर्ण सरोवर था। लेकिन नकुल सरोवरके तटपर पहुँचे ही थे कि उन्हें सुनायी पड़ा—'इस सरोवरपर मेरा अधिकार है। इसका जल पीनेका साहस मत करो। मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर तब जल पीना।'

एक यक्ष बगुलेके रूपमें वृक्षपर बैठा यह बात कह रहा था। नकुल बहुत प्यासे थे। उन्होंने यक्षकी बातपर ध्यान नहीं दिया। किंतु सरोवरका जल मुखसे लगाते ही वे निष्प्राण होकर गिर पड़े।

बहुत देर हो गयी; नकुल नहीं लौटे तो युधिष्ठिरने सहदेवको भेजा। उनके साथ भी नकुल-जैसी ही घटना हुई। इसी क्रमसे अर्जुन तथा भीम गये और उन दोनोंकी भी नकुल-जैसी ही दशा हुई।

जल लाने गये कोई भाई भी जब लौटे नहीं, तब बहुत थके होनेपर भी युधिष्ठिर स्वयं वहाँ गये। वहाँ अपने भाइयोंको मृत देखकर वे बहुत व्याकुल हुए। शोक चाहे जितना हो, प्याससे व्याकुल प्राणोंको तृप्त तो करना ही था। वे जल पीने बढ़े तो यक्षकी वही बात उन्हें भी सुनायी पड़ी।

युधिष्ठिर खड़े हो गये। उन्होंने कहा—'सरोवरके जलपर तुम्हारा यदि अधिकार है तो ठीक है; दूसरेके स्वत्वकी वस्तु मैं लेना नहीं चाहता। तुम प्रश्न करो, अपनी बुद्धिके अनुसार मैं उत्तर देनेका प्रयत्न करूँगा।'

यक्ष प्रश्न करता गया। युधिष्ठिरने उसके प्रश्नोंका उचित उत्तर दिया। अन्तमें वह बोला—'तुमने मेरे प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दिया है; अतः तुम जल पी सकते हो और अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको चाहो, वह जीवित हो जायगा।'

'आप मेरे छोटे भाई नकुलको जीवित कर दें।' युधिष्ठिरने कहा। बड़े आश्चर्यभरे स्वरमें यक्ष युधिष्ठिरकी बात सुनकर बोला—'तुम कहीं विवेक तो नहीं खो बैठे हो? राज्यहीन होकर तुम वनमें भटक रहे हो। यहाँ अनेक विपत्तियाँ हैं। अन्तमें प्रबल शत्रुओंसे तुम्हें युद्ध करना है। नकुल तुम्हारी क्या सहायता करेगा? वनमें जो सहायक हो सके और शत्रुओंका मान-मर्दन कर सके, ऐसे महापराक्रमी भाई भीमसेन अथवा दिव्यास्त्रोंके पारगत अर्जुनको छोड़कर नकुलको क्यों जीवित करना चाहते हो?'

युधिष्ठिर बोले—'यक्ष! वनवासका दुःख या राज्य तो प्रारब्धसे मिलता है। मैं भोगकी चिन्ता करके धर्मका त्याग क्यों करूँ? जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म स्वयं उसकी रक्षा कर लेता है। मेरे दो माताएँ हैं। उनमें कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरी दूसरी माता माद्रीका वंश नष्ट न हो, उनका भी एक पुत्र जीवित रहे। अतः तुम नकुलको जीवनदान देकर उनको पुत्रवती बनाओ।'

'वत्स! तुम अर्थ और कामके विषयमें भी धर्मनिष्ठ हो, अतः तुम्हारे चारों भाई जीवित हों।' यक्ष साक्षात् धर्मके रूपमें प्रकट होकर बोला। 'मैं तो तुम्हारा पिता धर्म हूँ। तुम्हारी धर्मनिष्ठाकी परीक्षा लेने आया था।'

युधिष्ठिरके चारों भाई ऐसे उठ बैठे, जैसे निद्रासे जागे हों। —सु०

पुरोहित-धर्मके आदर्श

महाराणा प्रताप अपने छोटे भाई शक्तसिंहके साथ आखेटको निकले थे। विजयादशमीका पर्व था और इस दिन आखेट करना राजपूत शुभ मानते थे। संयोगवश दोनो भाइयोंकी दृष्टि एक साथ एक मृगपर पड़ी। दोनोंने बाण चलाया। मृग तो मर गया; किंतु दोनों भाइयोंमें विवाद छिड़ गया कि मृग किसके बाणसे मरा। दोनो उसे अपना आखेट बतलाने लगे। बात बढ़ती गयी और इतनी बढ़ी कि दोनोंने तलवार खींच ली।

राजपुरोहित साथ आये थे। उन्होंने दोनोंको समझानेका प्रयत्न किया। लेकिन राणाप्रताप छोटे भाईके स्नेहको क्रोधमें भूल गये थे और क्रोधके आवेशमें शक्तसिंह बड़े भाईको श्रद्धा-सम्मान देनेको प्रस्तुत नहीं थे। राजपुरोहितकी शपथका भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

'मैंने इस भूमिमें जन्म लिया और राजकुलके अन्नसे पला। यजमानकी विपत्तिसे रक्षा करना पुरोहितका मुख्य धर्म है। मैं नहीं देख सकता कि मेरे यजमान परस्पर कट मरें।' राजपुरोहित दोनोंके मध्यमें कटार लेकर खड़े हो गये—'आज जब विधर्मी इस मातृभूमिको रौंदनेका अवसर देख रहे हैं, रक्षाका जिनपर दायित्व है,

उनके सिर क्रोधका पिशाच चढ़ गया। इसे यदि रक्त पीकर ही शान्त होना है तो यह मुझ ब्राह्मणका रक्तपान करे।'

ब्राह्मणने कटार अपनी छातीमें मार ली। उनका शरीर भूमिपर गिर पड़ा। दोनों भाइयोंने मस्तक झुका लिया। —सु०

धर्म और मल्लविद्या

(लेखक—डॉ० श्रीनीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी)

भारतीय विचार-परम्पराके अनुसार मानव-जीवनकी सार्थकता पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धिमें मानी गयी है। ये चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। इनकी शृङ्खला इस प्रकार बनी है कि प्रथम पुरुषार्थके द्वारा दूसरेकी तथा प्रथम और द्वितीयके द्वारा तीसरेकी सिद्धि मानी गयी है। मोक्षकी सिद्धि धर्मानुमोदित अर्थ तथा धर्मार्थसे सम्पादित कामके द्वारा सम्भव है। इसलिये सर्वप्रथम धर्मकी सिद्धि अत्यावश्यक है। इस पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जितने भी आवश्यक साधन या अङ्ग हैं, उनमें मानवके शरीरको आद्य साधन माना गया है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। अतएव उसे सुदृढ़ एवं कार्यक्षम रखना धर्मसाधनका श्रीगणेश है। हमारा यह शरीर एकादश इन्द्रियोंसे युक्त है—पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन। मन एवं ज्ञानेन्द्रियोंके संवर्धनके लिये अन्यान्य शास्त्रोंका निर्माण हुआ, पर कर्मेन्द्रियोंके विकास एवं वर्धनके लिये व्यायाम-शास्त्र बना। भारतीय पद्धतिके अनुसार कोई भी विद्या शास्त्रका रूप तभी लेती है, जब वह श्रुति-स्मृति एवं सदाचारके अनुरूप हो। व्यायाम-शास्त्र भी इसके लिये अपवाद नहीं है। उसकी भी विशिष्ट धर्म-परम्पराएँ एवं मान्यताएँ हैं। साधारण मान्यताओंके अतिरिक्त व्यायाम-शास्त्रके विशिष्ट अङ्गोंकी—यथा मल्लविद्या, मृगया, जलक्रीड़ा, अश्वविद्या, गजविद्या, शस्त्रविद्या आदिकी भी अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ एवं धर्म हैं। भारतीय ग्रन्थोंमें इनका विवेचन किसी एक स्थानपर तो नहीं, परंतु प्रसङ्गानुसार विभिन्न स्थानोंपर अङ्कित है, जिनका संकलन उपयोगी होगा। प्रस्तुत लेखमें हम केवल मल्ल-विद्याकी धार्मिक मान्यताओंका विचार करेंगे।

आचार्य और देवता

प्रथम व्यायाम-शास्त्रके, जिसका एक प्रधान अङ्ग मल्लविद्या है—देवता और आचार्योंका विचार करें। यह विद्या कई आचार्योंद्वारा पल्लवित हुई, जिनमें अगस्त्य, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जाम्बवान्, द्रोण, कृप, परशुराम आदिकी गणना मुख्यतासे की जाती है। असुरोंमें इस विद्याके मुख्य आचार्य शुक्र थे। मल्लपुराणके अनुसार मल्लविद्याका उपदेश सर्वप्रथम ब्रह्माने नारदको किया था (मल्लपुराण १। ४)। इस शास्त्रके प्रमुख देवताओंमें सूर्य और हनुमान् तो हैं ही, इनके अतिरिक्त इस सम्बन्धमें अन्य देवताओंके भी उल्लेख मिलते हैं। कूर्मपुराणके अनुसार व्यायामविद्याके देवता वायु हैं (कूर्म० उत्तरा० २०–२३)। यहाँ बतलाया गया है कि वायुको प्रसन्न करनेसे बलकी प्राप्ति होती है। कदाचित् परवर्ती कालमें वायुपुत्र हनुमान् और व्यायामका स्थिर सम्बन्ध इसीलिये स्थापित हुआ। वायुका बलसे सम्बन्ध आयुर्वेदसे भी अनुमोदित है। पहलवानोंके एक आराध्यदेव यक्ष पूर्णभद्र भी थे। चम्पा नगरीमें नट, बाजीगर, विदूषक आदि लोग वहाँके मन्दिरमें इस यक्षका पूजन पुष्प, धूप-दीप आदिसे किया करते थे (आनन्द कुमारस्वामी, यक्ष, भाग १, पृ० २०)। दक्षिणकी मान्यताके अनुसार मल्लोंके प्रथम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण थे। महाराज सोमेश्वर चालुक्यके द्वारा निर्मित 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थके 'मल्लविनोद' नामक प्रकरणमें बतलाया गया है कि रङ्गभूमि या अखाड़ेमें आग्नेय दिशाकी ओर श्रीकृष्णमण्डप बनाया जाय (मानसोल्लास, अध्याय ५ विंशति ४, ९७०)। पहलवान भी अक्षत और दूर्वाङ्कुरोंको हाथमें लेकर प्रवेश करते ही प्रथम श्रीकृष्णको नमस्कार करते थे (वही ९८२)। इस तथ्यका विस्तृत उल्लेख मल्लपुराण नामक ग्रन्थमें भी मिलता है। यह एक प्राचीन ग्रन्थ है, जो अभी हालमें ही प्रकाशित हुआ है। इसके अनुसार देवालय ग्राम (वर्तमान देलमाल, गुजरातमें मोढेराके निकट) में मथुरासे द्वारकाकी ओर जानेवाले श्रीकृष्णद्वारा सोमेश्वर नामक ब्राह्मणको यह पुराण सुनाया गया था। इस ग्रन्थमें मल्लोंके आराध्य 'सर्वकामप्रद' श्रीकृष्णका जो रूप बतलाया गया है, उस ध्यानमें बायीं ओर हरि, दाहिनी ओर शिव, नाभिमें ब्रह्मा तथा हाथोंमें

माताओंका निवास कहा गया है (मल्ल० ६-२५) । इन्हें 'नारायण' नामसे भी पुकारा गया है (वही १४-५६) । मल्लविद्यासे श्रीकृष्णका सम्बन्ध कुछ प्राचीन मूर्तियोंसे भी सिद्ध होता है । मथुराकी कुषाणकालीन कलामें भारश्रम (weight-lifting) के कुछ ऐसे साधन मिले हैं, जिनपर श्रीकृष्णकी लीलाएँ यथा केशिवध अङ्कित हैं (नी०पु० जोशी, मथुराकी मूर्तिकला, फलक ६४, पुरातत्त्व-संग्रहालय मथुराकी मूर्तिसंख्या ५८.४४७४) ।

श्रीकृष्णके अतिरिक्त सुदर्शन (मल्ल० ६-३२), हलधर तथा वासुकि (वही ६-३७), वसुंधरा (वही ६-४१) भी मल्लोंके लिये सदा वन्दनीय थे । मल्लोंकी कुलदेवीका नाम लिम्बजा बतलाया गया है—मल्लानां लिम्बजा शक्तिः । मल्लपुराणके अनुसार लिम्बजा योगमायाका स्वरूप है । श्रीकृष्णने सोमेश्वरको एक लिम्ब-नीमके वृक्षपर इस सिंहवाहिनी चतुर्भुजा देवीके दर्शन कराये थे (मल्ल० १८-३३—३६) । इसका स्मरण, पूजन आदि विजय देनेवाला माना गया है ।

इस प्रकार आचार्य तथा देवताओंकी उपस्थितिमें मल्लविद्याका धार्मिक स्वरूप निखरने लगता है । इस शास्त्रका अध्ययन प्रारम्भ करनेके लिये भी धार्मिक बन्धन हैं । बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदानके अनुसार चिकित्सा, यात्रा, दान, अध्ययन, शिल्प एवं व्यायामके लिये पञ्चमी तिथि श्रेष्ठ मानी गयी है (दिव्या० ३३, शार्दूलकर्णावदान, पृ० ४२१) । आज भी नागपञ्चमीके दिन मल्लोंके उत्सव होते रहते हैं । अन्य शास्त्रोंके समान इस शास्त्रके अनध्याय या छुट्टियोंकी तिथियाँ भी निश्चित हैं । मल्लपुराणके अनुसार अष्टमी, चतुर्दशी, दर्श (अमावस्या), क्षयातिथि, सूतक, महाष्टमी, प्रेतपक्ष या कन्यागत, अक्षयनवमी एवं चन्द्र और सूर्यके ग्रहण—मल्लशास्त्रके लिये अनध्यायकी तिथियाँ हैं (मल्ल० ९-२९-३०) ।

मल्लोंके धर्म और आचार—

मल्लोंके धर्मका जितना सुन्दर विवेचन महाभारतके खिलपर्व 'हरिवंश' में मिलता है, उतना कदाचित् अन्यत्र सुलभ नहीं है । विवेचनकर्ता हैं श्रीकृष्ण तथा सभामें उपस्थित वृद्ध यादव । ये मल्लधर्म निम्नाङ्कित हैं (हरिवंश गीताप्रेस सं० विष्णु०, ३० । १२—३०):—

(१) रङ्गस्थलमें भुजाओंके अतिरिक्त किसी अन्य शस्त्र या अस्त्रका प्रयोग नहीं होना चाहिये ।

(२) दोनों पहलवानोंका जोड़ निश्चित करनेके लिये तथा नियुद्धके नियमोंका पालन करानेके लिये 'मध्यस्थ' अथवा 'प्राश्निक' होने चाहिये । इन अधिकारियोंको मल्लपुराणमें 'मतिकार' कहा गया है ।

(मल्ल० ६ । ४९ । ५२)

(३) दोनों पहलवानोंका विद्या और वयमें समान होना आवश्यक है ।

(४) जो पहलवान लड़ते समय जिस मार्ग या दाँव-पेंचका अनुसरण करता था, उसका प्रतिस्पर्धी भी उसी मार्गको अपनाता था ।

(५) एक समय एक पहलवानके साथ एकाधिक मल्ल नहीं भिड़ सकते थे ।

(६) विद्वान् प्रबन्धकोंके लिये यह आवश्यक था कि वे योद्धाओंके लिये जल तथा करीष या गोबरका चूर्ण प्रस्तुत कर सदैव उनका सत्कार करें ।

(७) प्रतिद्वन्द्वीको गिरा देनेके उपरान्त जेता मल्लको उसके साथ और कुछ भी करना अनुचित था ।

(८) प्रत्येक पहलवानका कर्तव्य था कि वह बाहुयुद्धके नियमोंका उल्लङ्घन करके अपनी परम्पराको कलङ्कित न करे ।

(९) मल्लोंके निर्मित आचारके अनुसार गोत्रके चूर्णको उबटनके समान शरीरमें मलना, जलका उपयोग तथा गेरूके रंगका लेपन करना रङ्गस्थलके धर्म थे ।

(१०) संयम, स्थिरता, शौर्य, व्यायाम, सत्क्रिया तथा बल—रङ्गसिद्धिके छः साधन हैं ।

(११) नियुद्ध या कुश्तीमें मल्लका प्राणहरण करना मल्लमार्गको कलङ्कित करना है । युद्धमार्गमें शत्रुको विदीर्ण कर देना सिद्धिका द्योतक है, परंतु बाहुयुद्धमें प्रतिमल्लको गिरा देनेमें ही सिद्धि है ।

यद्यपि यह सिद्धान्त अर्थतः मान्य रहा होगा और मल्लपुराण भी उसका इसी रूपमें उद्घोष करता है (मल्ल० १५ । २२-२३), तथापि अन्यान्य उदाहरणोंसे स्पष्ट होता है कि उक्त नियम कदाचित् सर्वमान्य नहीं रहा । श्रीकृष्णने स्वयं ही इसका सकारण उल्लङ्घन किया था । कंसकी सभामें दिये हुए अपने भाषणमें उन्होंने उन कारणोंको भी स्पष्ट किया है । ऐसे ही एक युद्धमें भीमने विराट नगरीमें प्रसिद्ध

मल्ल जीमूतको मार डाला था। भीमने कुश्तीमें ही जरासंधके प्राण लिये थे। बादमें भी यही परम्परा चलती रही।

(१२) बाहुयुद्ध प्राणान्तिकी यात्रा है, उसमें धराशायी होनेवालेको स्वर्ग मिलता है; परंतु मल्लमार्ग बल और दाँवपेंचके कौशलका मार्ग है। इसमें न तो मरनेवालेको स्वर्ग है और न मारनेवालेको यश।

मल्लोंके उपर्युक्त धर्मोंके अतिरिक्त कुछ अन्य आचारों-की चर्चा महाभारतमें भीम-जरासंध-युद्धके अवसरपर मिलती है। जैसे—

(१) नियुद्ध-कर्म या कुश्तीके प्रारम्भमें सर्वप्रथम बलिकर्मादि माङ्गलिक आचार किये जाते थे। भीम-जरासंधवाले प्रकरणमें ये आचार क्रमशः श्रीकृष्ण और जरासंधके पुरोहितद्वारा सम्पन्न किये गये थे (महाभारत सभा० २३। ५। ६)।

(२) बाहुयुद्धके आरम्भमें दोनों मल्ल एक दूसरेसे हाथ मिलाते और पैर छूते थे (महाभारत, सभा० २३। ११)।

मल्लपुराणमें भी स्थान-स्थानपर मल्लोंके विविध आचारों-की चर्चा है, जिनमें मुख्य निम्नाङ्कित हैं—

(१) दैनिक व्यायाम प्रारम्भ करनेके पूर्व भूमि—व्यायामभूमिको वन्दन करना आवश्यक है (मल्ल० ६। २५)। इसे 'भूमिवन्दन' कहते थे।

(२) व्यायामके समय बाल, वृद्ध, अंधा, बहरा, छिन्नाङ्ग, क्रोधी, रोगी, पिशुन या उन्मत्त, अनृत या असत्यवादी, पाखण्डी, मत्त, बकबक करनेवाला, धूर्त, आर्त, कोढ़ी, छली, चोर, चाण्डाल, मायिक या जादूगर तथा स्त्रियाँ—इनसे प्रत्येक पहलवान अपनेको बचावे। साथ ही वह उस समय उच्चहास्य, खाँसी, छींक, आपसी विवाद, रोना तथा किसी दूरवालेको पुकारना—इनसे भी बचा रहे (मल्ल० ६। २६-२७)।

(३) खाँसी तथा दमेका रोगी, भूखा या तुरंत ही भोजन किया हुआ, दुर्बल, असमर्थ, व्यग्रचित्त, चिन्तातुर, अजीर्णसे पीड़ित, मद्यपीड़ित या मतवाला, सिरका रोगी, भ्रान्त आदि प्रकारके लोगोंको मल्ल-कर्म नहीं करना चाहिये (मल्ल० ८। २५-२६)।

इस प्रकार मल्लोंके भोजन, स्त्री-समागम, भैषज्य आदिके विषय भी मल्लपुराणमें चर्चित हैं; पर यहाँ हम उन्हें विस्तारभयसे छोड़ देते हैं।

धर्म और मल्लविद्याका विचार करते समय मल्लोंकी सामाजिक स्थितिका भी विचार करना होगा। बलोपासनाके लिये मल्लविद्याका अभ्यास तथा जीविकोपार्जनके लिये उसका उपयोग दो भिन्न वस्तुएँ मानी जाती थीं। बलोपासनाके लिये मल्लविद्याका अध्ययन सभी लोग कर सकते थे और करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण, दीक्षाकल्याणके पूर्व भगवान् ऋषभनाथ, तीर्थंकर महावीरके पिता महाराज सिद्धार्थ, सौराष्ट्रके शासक कुमारपाल, विजयनगरके पराक्रमी शासक कृष्णदेवराय, महाराष्ट्रके कई पेशवा राजा मल्लविद्याके मान्य ज्ञाता थे (नी० पु० जोशी, भारतके कुछ प्रमुख महापुरुषों-की व्यायामसाधना, विश्वगा, फरवरी १९६० पृ० १२९-१३२)। जीविकोपार्जनके लिये मल्लविद्याका प्रश्रय लेने-वालोंकी बात दूसरी थी। मल्लपुराणके अनुसार ब्राह्मणोंकी ही एक शाखाने यह कार्य अपनाया था, जो बादमें पतित उद्घोषित कर दी गयी (साँडेसरा, ज्येष्ठीमल्ल ज्ञाती अने मल्लपुराण, पृ० २)। स्कन्दपुराणकी यही मान्यता है (स्कन्द० ३, ब्रह्माण्ड ३९, २८७) कि ये ब्राह्मण कलियुग-में शूद्रोंके अन्तर्गत माने जायँगे। धर्मशास्त्रियोंने भी इसे स्वीकार किया है। मल्लोंकी एक स्वतन्त्र जाति ही मानी गयी है, जो सदैव नट, झल्ल, बाजीगर आदिके साथ ही शूद्रोंमें गिनायी गयी है (मनु० १०-२२, काणे पा० वा०, History of Dharmashastra, खण्ड १, पृ० ८२, ९०)। कभी-कभी मल्लोंकी नियुक्ति अपराधियोंको शारीरिक दण्ड देनेके लिये की जाती थी (जैन महापुराण, ४६, २९३), जो उनके निम्नस्तरीय होनेकी ओर संकेत करती है।

इस प्रकार मल्लोंका सामाजिक स्तर निम्न होनेका परिणाम यह निकला कि शनैःशनैः मल्लविद्या भी कहीं-कहीं हेय दृष्टिसे देखी जाने लगी। परंतु उपर्युक्त विवेचनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस विद्याकी उपादेयताको देखकर प्राचीन कालसे ही उसे धार्मिक बन्धनोंसे एक सुसंस्कृत शास्त्रका स्वरूप दिया गया। यही नहीं, उस विद्यासे सम्बन्धित एक छोटे-से पुराणकी भी रचना हुई।

धर्म और खान-पान

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी उपाध्याय 'आर्य मुसाफिर')

धर्म और खान-पान—इस विषयपर विचार करनेसे पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि 'धर्म' शब्दका क्या अर्थ है। यदि इसे हम जान लें तो धर्म हमें क्या खाना, कैसा खाना अथवा किस प्रकारका खानपान करना चाहिये—इन सब प्रश्नोंका यथार्थ ज्ञान कराता है। अस्तु,

धृञ् धारणपोषणयोः—इस धातुसे मन् प्रत्यय करके 'धर्म' शब्द बनता है, जिसका अर्थ महर्षि पाणिनिने उणादि-कोषमें 'ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स धर्मः'—अर्थात् जो सुखकी प्राप्तिके लिये धारण किया जाय या जिसका मानवके पोषणके अर्थ सेवन किया जाय, वह धर्म है।

व्याकरणशास्त्रके महान् आचार्य महर्षि पाणिनिजीकी इस कसौटीसे हमें इस बातको समझने-सोचनेके लिये बड़ी सरलता और सहायता मिल गयी है कि संसारमें जो कर्म मनुष्य करे, उसमें सबसे पहले यह विचार कर ले कि जिन कर्मोंको मैं कर रहा हूँ, उनसे वस्तुतः वर्तमानमें मुझे क्या सुख प्राप्त हो रहा है और भविष्यमें क्या होगा।

अपनी आत्मामें उस आत्म-तत्त्व प्रभुका साक्षात्कार करते हुए ऋषि कहते हैं—'वेदविहितकर्मजन्यो धर्मः, निषिद्धस्तु अधर्मः' अर्थात् वेदोंमें जिन कर्मोंका विधान है, वे सब धर्म हैं और निषिद्ध कर्म सब अधर्म हैं।

अब पाठक विचार कर सकते हैं कि जो खान-पान धर्मानुकूल है, वह यथार्थ है और जो इसके विपरीत है, वह सब निषिद्ध है। समाजशास्त्रके आदिप्रणेता महर्षि मनुने कहा है—

> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
>
> (मनु० २। १२)

अर्थात् धर्मके ये चार लक्षण हैं, जिनसे हम धर्माधर्मको पहिचान सकते हैं। प्रथम मानव-कृत कर्म वेदके अनुकूल हों; दूसरे, स्मृति आदि धर्म-ग्रन्थोंसे प्रतिपादित हों; तीसरे, महापुरुषोंके आचार व्यवहारके अनुकूल हों और चौथे हमारी आत्माके अनुकूल भी हों। यही सच्चा धर्म है। अस्तु,

इन चारों कसौटियोंपर कसनेसे पता चलता है कि आजके युगमें शिक्षित कहे जानेवाले मनुष्यसमुदायने जो मद्य, मांस, मछली, अंडा आदि निकृष्ट पदार्थोंको अपने भोजनमें सम्मिलित कर लिया है, वह सर्वथा हेय है। किसी-का भी मांस हिंसा बिना किये प्राप्त नहीं हो सकता और किसी भी प्राणीको कष्ट देकर उसके प्राणोंका उसके शरीरसे वियोग करके जो उदर-पोषण करना है, वह सर्वथा जघन्य कृत्य है, महान् अधर्म एवं भयानक पाप है, जिसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है।

फारसी भाषाके तत्त्वज्ञानीने कितना सुन्दर कहा है—

इसके खुदराम पसन्द, दीगरामपसन्दी।

अर्थात् ओ इन्सान! जो बात तू अपने लिये पसंद नहीं करता, वह दूसरोंके वास्ते भी पसंद मत कर। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य नहीं चाहता कि मेरे कोई काँटा लगे तब उसे भी उचित है कि वह भी किसीके चाकू न मारे। यह है मनुष्यका मनुष्योचित धर्म।

हम मनुष्यके भोजनको दो मार्गोंमें बाँट सकते हैं—एक धर्मशास्त्रोक्त, दूसरा आयुर्वेद-शास्त्रोक्त।

धर्मशास्त्र और धर्माचार्य मनुष्यको मनुष्यत्वसे ऊपर उठाकर उसे देवता बनाकर परम पदपर पहुँचाना चाहते हैं। अतः उनकी आज्ञा है कि जो भोजन छल, कपट, धोखा, चोरी, विश्वासघात आदि दुष्कर्मोंद्वारा उपार्जित धनसे प्राप्त हो, वह सर्वथा अभक्ष्य है; उसे कदापि नहीं खाना चाहिये। क्योंकि इस प्रकारके भोजनसे उसकी आत्मशक्ति दूषित तथा मन, चित्त, बुद्धि अत्यन्त मलिन होते हैं, जिससे निश्चित घोर पतन होता है। भारतका धार्मिक इतिहास इस प्रकारके उदाहरणोंसे भरा पड़ा है। साथ ही मल-मूत्र-विष्ठादिके संसर्गसे उत्पन्न पदार्थ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सद्-वृत्तियुक्त शूद्र भी न खावे। देखिये, मनु० अ० ५, श्लोक ५—अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च। इसी प्रकार 'वर्जयेन्मधु मांसं च' (मनु० अ० २ श्लोक १७७)।

मनुस्मृतिके उपर्युक्त द्वितीय अध्याय तथा याज्ञवल्क्य-स्मृतिके आचाराध्यायका इस विषयके प्रेमियोंको विशेष रूपसे अध्ययन करना चाहिये। मनुष्य अपनी शारीरिक, आत्मिक, बौद्धिक एवं मानसिक उन्नतिके हेतु क्या आहार-विहार करे, इसका विशद वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थोंमें किया गया है। खेद है कि पश्चिमी सभ्यताकी चमक-दमक-

में आज हम ऋषियोंकी संस्थापित कल्याणमयी शाश्वत मर्यादाओंको भूल गये हैं और भूलते जा रहे हैं। इसीके फलस्वरूप उत्तरोत्तर दुःखकी वृद्धि और सुखका क्षय होता जा रहा है।

अब आप थोड़ा आयुर्वेदिक दृष्टिसे विचार कीजिये। आयुर्वेदका सैद्धान्तिक पक्ष है कि शरीरको हृष्ट-पुष्ट बनानेके लिये उत्तम, स्वच्छ, पवित्र और ताजा भोजन, ताजे फल आदि खाये जायँ। साथ ही उसका निषेधाधिकार यह है कि—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।
(शार्ङ्गधर ४। २१)

अर्थात् जिन पदार्थोंके सेवनसे बुद्धि, विचार-शक्ति, मनन-शक्तिका विनाश हो, उन्हें मदकारी पदार्थ जानकर कदापि सेवन नहीं करना चाहिये।

इससे सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि शराब, भाँग, चरस, गाँजा आदि तथा सड़नेवाले बासी पदार्थ स्वास्थ्यके लिये अहितकर हैं। उनका सेवन सर्वथा वर्जित है।

धर्मग्रन्थ आज्ञा देते हैं कि उत्तम ताजा स्वच्छ भोजन भी यदि अनुचित उपायोंसे प्राप्त किया गया है तो वह अखाद्य है; क्योंकि उससे जो रसादि बनेंगे वे मनको, बुद्धिको दूषित संस्कार तथा दूषित विचारसे युक्त कर देंगे।

प्राचीन इतिहास बताता है कि हमारे ऋषि भोजनपर बड़ी गहरी दृष्टि रखते थे। छान्दोग्य-उपनिषद्में महर्षि उद्दालक महाराज अश्वपतिके अतिथि होकर उनके यहाँ भोजनसे इन्कार करते हैं।

अभिप्राय यह है कि राज्यमें चोर, जुआरी, व्यभिचारी—सब तरहके लोग रहते हैं और राजाके यहाँ सभीसे कर आदिके रूपमें पैसे आते हैं। अतएव राज्यान्न निकृष्ट कोटिका भोजन है और बुद्धिको बिगाड़नेवाला है। इसपर राजा अश्वपतिने जब विश्वास दिलाते हुए यह कहा—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात् मेरे समस्त राज्यमें न तो चोर हैं न जुआरी, न शराबी, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और न कोई दुराचारी ही है; फिर कुलटा स्त्री तो आती ही कहाँसे ? और जब ऋषिको इस बातपर पूरा विश्वास हो गया, तभी उन्होंने भोजन ग्रहण किया।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १७। ८-९)

बहुत कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले तथा परिणाममें दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं। अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।

आजकल सर्वथा निषिद्ध मांस, अंडे आदिका प्रचार तो बढ़ ही रहा है। साथ ही उपर्युक्त दोषोंवाले,—जिनसे दुःख, चिन्ता तथा रोग उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं और मन-बुद्धिके तमसाच्छन्न होनेपर पतन होता है,—आहारका प्रचार भी बहुत हो रहा है। प्याज, लहसुन, बिस्कुट, पावरोटी तथा हर किसीका जूँठन खाना तो स्वभाव-सा हो चला है। ये सब अधर्ममय आहार हैं। इनका त्याग अत्यावश्यक है।

लेखका कलेवर बढ़नेके भयसे मैं अब यहाँ ही विश्राम देते हुए 'कल्याण'के पाठकोंका ध्यान बलपूर्वक आकर्षित करता हूँ कि आजके युगमें जब कि दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंसे मनुष्य-समाज अत्यन्त दुखी है, आवश्यकता है कि हम धर्मानुकूल आचरण करके अपने खान-पानको शुद्ध बनायें और सच्चे अर्थोंमें भगवान्के अमृतपुत्र बननेका यत्न करें। तभी हम उक्त त्रितापोंसे बच सकते हैं और इस नरकतुल्य धराधामको स्वर्गधाम बनाकर देवभूमि उद्घोषित कर सकते हैं। ओम् शम्।

शुद्ध आहार

मिला हुआ हो न्यायोपार्जित धनसे जो विशुद्ध आहार।
हिंसारहित, पवित्र, शुद्ध तन-मनसे हो निर्मित अविकार॥
सादा, सात्विक, युक्त, स्वास्थ्यकर हो, जिससे, न बढ़े व्ययभार।
प्रभुको अर्पित भोजन, करता उदय हृदयमें शुद्ध विचार॥

पतिधर्म

(लेखक—श्रीमहेन्द्रप्रतापजी पाण्डेय)

धर्म हमें शुद्ध एवं पवित्र जीवन बितानेका मार्ग बतलाता है। धार्मिक भावना हमें सुख-शान्ति तथा आनन्दमय जीवन प्राप्त कराती है। धर्मका आधार है—'ईश्वरपर विश्वास।' सबमें ईश्वर है। अतः सबकी सेवा तथा सबसे प्रेम करना चाहिये। पतिधर्म भी एक आवश्यक धर्म है। पतिकी परिभाषा क्या है? मनुष्य पति कब बनता है? ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना अर्थात् शास्त्रीय विवाहमें किसी एक कन्याका पाणिग्रहण करना उस लड़कीका पति बनना है। माँगमें लाल सिन्दूर भरते ही मनुष्य उसके जीवनकी लाजकी रक्षाका जिम्मेवार बनकर पतिका पद ग्रहण करता है। जब कर्तव्य धर्मभावनासे प्रेरित होकर हमारे मनमें बसता है, तब हम अपने ऊपर नैतिक एवं आत्मिक उत्तरदायित्वका अनुभव करने लगते हैं।

पति-पत्नीका धर्म

भारतीय संस्कृति अध्यात्मपर आधारित है। इसी कारण हम परिणाममें जीवनका सच्चा सुख प्राप्त कर पाते हैं। जहाँ त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंने पत्नीके लिये पातिव्रत्यधर्मका आदेश दिया है, वहाँ पतिके लिये पत्नीव्रतका बड़ा महत्त्व बताया है। स्त्री-पुरुषमें लिङ्ग-भेदके साथ ही शारीरिक एवं मानसिक विभिन्नताएँ भी हैं। सब बातोंमें दोनोंकी समानता नहीं की जा सकती। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर ही पूर्ण बनते हैं। स्त्री आज व्यर्थ ही समानाधिकारका दावा करती है। स्त्रीका कर्तव्य-क्षेत्र घर-परिवार है एवं पुरुषका बाहरी दुनियामें है।

पतिके कर्तव्य

पर दोनों वास्तवमें हैं एक ही स्वरूपके दो पूरक तत्त्व। पति-पत्नी दोनों धर्ममय जीवन बिताते हुए एक दूसरेके लिये त्याग करके हित करते हैं और एक दूसरेको भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर होनेमें सहयोग—सहायता देते हैं। यही धर्म है।

पतिके लिये सबसे बड़ा कर्तव्य है—बचपनसे विवाहतक पूर्णरूपसे यौन-पवित्रतासे रहना। हर आदमी चाहता है कि मेरी पत्नी शुद्ध एवं पवित्र चरित्रकी हो; तब स्वयं उसका कर्तव्य है कि वह भी उसे एक सच्चरित्र पतिके रूपमें मिले। क्या कोई आदमी ऐसी लड़कीसे विवाह करना चाहेगा, जिसकी पवित्रता नष्ट हो चुकी है? नहीं, कभी नहीं। इसका अर्थ हुआ कि आप उसकी चारित्रिक शुद्धता ऊँची चाहते हैं। तो फिर आपसे भी वह आशा रखती है कि आप भी परम पवित्र-चरित्र, सुप्रसन्न, स्वस्थ एवं कुशलतासे जीवन चलानेमें सक्षम हों। यौन-दुर्बलता रहते विवाह करनेसे पति-पत्नीका धर्म बिगड़ता है। विवाह पवित्र, स्वस्थ एवं प्रसन्न स्थितिमें ही होना चाहिये।

पत्नी विवाह होते ही आपके प्रति आत्मसमर्पण कर देती है अपने जीवनका। वह आपकी प्रियतमा हृदयेश्वरी बनती है। आपके बच्चोंकी ममतामयी माँ बनती है। आपकी और आपके परिवारकी सेविका तो होती ही है, साथ-साथ आपकी सच्ची जीवन-सङ्गिनी भी बनती है। वह अपने स्नेहपूर्ण माता-पिता तथा परिवारका परित्याग करके आपके प्रत्येक सुख-दुःखमें यथार्थरूपसे हिस्सा बँटाने आती है। इसलिये पत्नीकी सुरक्षा, उसे सुख तथा भरपूर प्रेम देनेकी जिम्मेवारी आपपर है। अपने माता-पिता एवं परिवारके अन्य सदस्योंसे उसे स्नेह दिलानेमें आप बड़े सहायक बन सकते हैं। यदि पत्नीमें कोई दुर्गुण है तो उसे कड़ाई, आघात या आलोचनात्मक ढंगसे न सुधारकर प्रेमसे पहले उसकी प्रशंसा करें; तदनन्तर सच्चा अवगुण विनम्र तथा सहानुभूतिकी भाषामें बतलाकर सुधारा जा सकता है। इसीके साथ आपको चाहिये कि आप उसे अच्छे विचारोंके वातावरणमें रखें तथा स्वस्थ एवं प्रसन्न बनायें।

पत्नीकी उचित आवश्यकताओंका ख्याल रखना, यथासाध्य उनकी पूर्ति करना एवं उसकी रुचिका आदर करना सीखिये। उसके मनोभावोंको उठाइये, अपने कार्योंमें उसका हाथ लीजिये ताकि उसके अंदर अपनेको हीन माननेकी भावना न रह जाय। उसके माता-पिता, भाई-बहिन एवं अन्य सम्बन्धियोंसे मधुर सम्बन्ध बनाये रखिये। अपनी प्रेमपूर्ण आत्मीयताके रससे उसके हृदयको सराबोर किये रहिये। यों करनेपर आप दोनोंका विशुद्ध प्रेम तथा आत्मिक सुख बढ़ता रहेगा। आपका दाम्पत्यजीवन सुख-शान्तिमय हो जायगा। आप अपने सदाचार तथा सद्व्यवहारसे अपनी छोटी-सी दुनियाको स्वर्ग बना लेंगे। परिवारमें आत्मीयताका अभ्यास जीवन-क्षेत्रमें भी बड़ी कुशलता देता है।

कभी भी पत्नीके चरित्रपर संदेह मत कीजिये। उसके पिछले जीवनको भूलकर अब नये ढंगसे जीवन चलाइये। थोड़ी समझदारीसे आप काम लेंगे तो प्रतिदिनके लड़ाई-झगड़े,

अनबनसे बचकर आप दोनों बड़ी शान्तिके साथ खुशी-खुशी दाम्पत्य-जीवन चला सकते हैं। आप स्वयं संयमी तथा अच्छे स्वभावके बनकर पत्नीको भी अपनी चालपर ढाल लीजिये। अभीतक तो वह पितृगृहमें रही, आपसे अनभिज्ञ थी। उसका वातावरण दूसरा था। अब उसे अपने आदर-प्रेम तथा शुद्ध व्यवहारके द्वारा अपने संस्कारोंमें मिलाकर बदल लीजिये।

उसे कोई रोग या कष्ट हो तो सहानुभूतिपूर्ण सान्त्वना दीजिये। बीमारीकी स्थितिमें उसके असमर्थ होनेपर उससे काम तो कराइये ही नहीं, उसकी यथायोग्य सेवा कीजिये—स्नेहके साथ, अहंकारसे नहीं। आपकी सान्त्वनासे उसका आधा रोग-कष्ट दूर हो जायगा। उसे रोगमुक्त कराइये, प्रसन्न रखिये, चिन्ता-उलझनोंसे बचाकर प्यार दीजिये, ताकि वह आपके साथ अपने जीवनको सुखी एवं सुरक्षित समझे। सोचिये—अब आप पति बन गये हैं, पत्नी भी आपके साथ है; इसलिये आपकी अकेलेकी नहीं चलेगी, वरं दोनोंकी चलेगी। आप प्रेमसूत्रमें बँधे हैं। हर कामको मन मिलाकर कीजिये। आप गृहस्थ-जीवनमें आये हैं तो गृहस्थका ब्रह्मचर्य अपनाइये। न अनावश्यक संयमिततासे स्त्रीके मनोभावोंको कुचलिये, न पत्नीको मानसिक क्षुत्तिका शिकार ही बनाइये और न अनर्गल वासनाको प्रोत्साहन दीजिये। आध्यात्मिक जीवनके लिये ब्रह्मचर्य जरूरी है, परंतु गृहस्थजीवनमें परस्परकी स्वीकृतिसे सीमित यौन-व्यवहार भी आवश्यक है। पत्नीको आपके कामोंसे अपनत्व एवं हार्दिक सहानुभूति दिखायी दे, ऐसा ध्यान रखिये।

संत गृहस्थ कहते हैं कि जिस घरमें पति-पत्नी एकमन होकर रहते हैं, वहाँ स्वर्गसे भी अधिक आनन्द बना रहता है। यह असार संसार भी पति-पत्नीके हार्दिक ऐक्यसे मधुर लगता है।

कबीरदासजीने अपने एक शिष्यसे कहा था कि 'साधु बनो तो अत्यन्त विनम्र और क्रोधरहित बनो। यदि गृहस्थ बनना है तो मुझ-जैसा बनो। मैं यदि पत्नीसे दिनमें दीपक जलानेके लिये कहता हूँ तो वह बिना कुछ पूछे तुरंत जला देती है।' इतनी छाप पड़ जाय पत्नीके मनपर आपके प्रति विश्वासकी कि उसमें कभी आपसे दूर होनेकी कल्पना ही न आये।

सुशील, धार्मिक भावना रखनेवाली, पति-सेवा करनेवाली, गृहमें शान्ति बनाये रखनेवाली स्त्रीके प्रति आदरसे सिर झुकता है। स्त्री कितना सहती है आपके लिये। क्या आप उसके लिये उससे अधिक नहीं करेंगे? दुष्ट, शराबी-जुआरी एवं व्यभिचारी पतिसे पत्नी परेशान रहती है। एवं उसमें आत्महत्याकी भावना जन्म ले लेती है। आप भी पति हैं। अतः इन दुर्गुणोंसे सदा बचिये।

आप पति हैं—पत्नीकी सुन्दरता, उसका रूप-लावण्य आपको मनमोहक लगता है। पर याद रखें—स्त्रीका बाह्य रूप-सौन्दर्य एवं शिक्षा उतनी मूल्यवान् तथा कामकी वस्तु नहीं है, जितना उसका हृदय-सौन्दर्य है। विवाह होनेके बाद आपको अपनी पत्नी संसारकी सबसे सुन्दर, योग्य एवं अच्छी पत्नी लगनी चाहिये। आपके मधुर व्यवहारसे बिगड़ी तथा खराब स्वभावकी स्त्री भी ठीक हो सकती है। यदि उसके व्यवहारमें कटुता होगी तो आपके व्यवहारसे उसका मन बदलकर वह सीधी एवं सुशील बन जायगी। पत्नीके प्रति शिकायत रखना, अपनेको कोसना कि मुझे कैसी पत्नी मिली है—यह बहुत गलत है। जैसी है, बहुत अच्छी है। उसीको आप स्वयं बहुत अच्छे बनकर और अच्छी बनाइये। अच्छी खेतीमें तो सभी अन्न उत्पन्नकर पेट भर लेते हैं, परंतु बंजड़ भूमिको सुधारकर उसमें अन्न उत्पन्न करना ही प्रशंसाकी बात है। त्याग, प्रेम, सहृदयता, आत्मीयता एवं उच्च तथा आध्यात्मिक विचारोंकी सहायतासे आप उसे कोयलेसे हीरा बना सकते हैं। आप अपने मनको अपनी पत्नीके प्यारसे तृप्त एवं संतुष्ट रखिये।

परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि आप पत्नीके प्यारमें अपने परम लक्ष्यको भी भूल जायँ। याद रखिये—पहले आप मनुष्य हैं और पति बादमें। अतः सबमें ईश्वरत्वका ध्यान रखकर सबकी निःस्वार्थभावसे सेवा करनेकी भावना रखिये—चाहे वे माता-पिता हों, पत्नी हो, बच्चे हों या अन्य कोई भी संसारी। सदा सत्सङ्ग, भजन, जप, कीर्तनादिमें पत्नीके सहित भाग लेकर निरन्तर उस परम ज्योतिर्मय परमात्मामें अपनी खण्ड ज्योति आत्माको मिला देनेका प्रयत्न करते रहिये। ईश्वरपर अनन्य विश्वास रखेंगे तो इस लोकमें तो सुख भोगेंगे ही, परमात्माकी प्राप्तिरूप परम लाभके भागी हो सकेंगे।

गुरुधर्म और आदर्श

(लेखक—श्रीरामानन्दजी गौड़ एम्० ए०, व्या० सा० आचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ आदि)

समय था जब गुरु वास्तवमें गुरु था—गौरवशाली, ब्रह्मज्ञानी, विद्वान् तथा समाजका संचालक था। वह अधिकारहीन सर्वाधिकारी होकर स्वराज्यमें विचरण करता और अमृत-पान करके जीवित रहता था। भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका वह उद्गम माना जाता था। उसके जीवनका लक्ष्य था—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

प्राचीन कालमें ऐसे गुरुओंके आश्रम जंगलमें होते थे। गुरुकुलोंके वातावरण सात्त्विक और मानवताके केन्द्र होते थे, जिससे प्रभावित होकर हिंसक जीव-जन्तु भी हिंसात्मक वृत्तिको त्याग सौहार्दसे विचरण करते। लोकनायक तुलसीको परखिये—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

गुरुदेवकी सच्ची अहिंसाकी प्रतिष्ठाका उल्लेख दर्शनकार पतञ्जलि महर्षिने किया है—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।' चक्रवर्ती राजा-महाराजातक आचार्योंकी आज्ञा पालनेमें जीवनकी सार्थकता समझते थे। गुरुकी इसी गरिमाके कारण तो गुरुको इन शब्दोंमें नमस्कार किया जाता है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

'शिष्यादिच्छेत् पराजयम्।' जीवनमें कोई पराजय नहीं चाहता; गुरु ही एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपने ही शिष्यसे अपनी पराजय चाहता है। शिष्यकी उन्नति और वृद्धि देखकर आचार्य फूला नहीं समाता। अपने शिष्यके व्यक्तित्वमें वह अपनी आत्माके दर्शन करता है। वह भेदभावके धरातलसे ऊपर उठकर ज्ञानामृतकी वर्षा करता है। गुरुकी महिमा अपार है। उसके अनुग्रहसे मानव सहज ही वह गति प्राप्त कर लेता है, जो कोटि जन्म पानेपर भी जीवको दुर्लभ है।

गुरु कुम्भकारके समान है, जो घड़ेके नीचे हाथ देकर उसे थपकी मारता है, उसके दोष दूर करता है। गुरु भी शिष्यके अन्तर्हृदयमें प्रविष्ट होकर, उसकी आत्माको सहारा देकर, बाहरसे कठोर वचनोंसे ताड़ना देकर उसे सर्वथा निर्दोष बना देता है। नीतिकार भर्तृहरिने कहा है—'गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।' गुरुके कटु और तीक्ष्ण वाग्बाणोंसे तिरस्कृत होनेपर ही मानवका महत्त्व बढ़ता है। गुरुका स्थान मनुष्योंमें ही नहीं, देवोंमें भी विशिष्ट है—

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।

ईश्वरके रुष्ट हो जानेपर गुरु सँभाल (रक्षा) कर सकता है; परंतु यदि कहीं गुरु अप्रसन्न हो जाय तो ईश्वर-तक सहायक नहीं बन सकते। संतोंने गुरुकी महिमामें लिखा है—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेवकी, जिन गोविंद दियो मिलाय॥

बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥

प्राचीन कालमें गुरु धनका नहीं, सम्मानका इच्छुक था। वह अपने आदर्श और सिद्धान्तोंका रक्षक था। आज तो उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वर्तमानमें गुरु बदला, शिष्य बदला, शिक्षा और संस्कृति बदली। गुरु-शिष्य-परम्पराका इतिहास बड़ी तीव्र गतिके साथ बदलता जा रहा है। गुरु-शिष्य, आचार्य-अन्तेवासी, उपाध्याय-छात्र, अध्यापक-विद्यार्थी, शिक्षक-परीक्षार्थी, प्रोफेसर-स्कालर, टीचर-स्टूडेंट आदि अनन्त रूप होते चले आ रहे हैं। आगे पता नहीं, यह परिवर्तन कहाँतक चलेगा। आजकी परम्परा बड़ी विकृत हो चली है—

लोभी गुरु लालची चेला, दोनों नरक में ठेलमठेला॥

आजकी स्थिति बड़ी भयावह और विषम है। गुरु-शिष्यमें संदेबाजी पनपने लगी। अनुशासनका नामतक न रहा। शिक्षा और शिक्षकपर अधिकारियों और श्रीमानोंका नियन्त्रण है। शिक्षासंस्थान शिक्षाशास्त्रियोंके हाथोंमें नहीं; शिक्षासे सम्बन्ध न रखनेवाले व्यवसायी लोग उनके मालिक बन रहे हैं। जिस समाजमें शिक्षक, कवि और कलाकार व्यापारियोंके,

धनियोंके उपजीवी होंगे, शिक्षकपर अधिकारियोंका आधिपत्य होगा, आचार्य, ब्राह्मण निर्भय न होंगे, उस समाजमें शिक्षक अपने प्राचीन आदर्शोंको अक्षुण्ण कैसे रख सकेगा !

आजके युगमें शिक्षक संत्रस्त है। उसका उदात्त मस्तिष्क कुण्ठित है। वह इस अर्थप्रधान युगमें अपनेको अभावग्रस्त पाता है। मेरे विचारमें समाजका स्तर सदा एक समान नहीं रहता। जब कोई कहता है—प्राचीन कालका गुरु कहाँ गया, तब वह आत्मनिरीक्षण क्यों नहीं करता ? वह यह क्यों नहीं कहता कि अशोक, चन्द्र, विक्रम, भोज-जैसे शासकोंको कौन ले गया, चाणक्य-जैसे महामन्त्रीका त्याग-तपोमय जीवन क्यों आजके मन्त्रियोंमें नहीं रहा ?

जब समाजका प्रत्येक वर्ग पहले-जैसा नहीं रहा, तब गुरु ही पहले-जैसा रहे—यह कैसे सम्भव है ? फिर भी गुरु अपने प्राचीन आदर्शोंको समेटे है। उसे अपने आदर्शोंकी रक्षाकी चिन्ता है। पर शासन और समाजपर इसका बड़ा उत्तरदायित्व है। जब उसकी अर्थ-व्यवस्थाका दायित्व शासनपर होगा, उसे समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त होगी; वह चिन्ता-रहित होगा और उसका उर्वर मस्तिष्क अप्रतिहत गतिसे सक्रिय होगा, तब गुरु-आदर्शोंकी रक्षा सम्भव होगी।

शिक्षककी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह अपने मस्तिष्ककी अतुल ज्ञानराशिको अपने शिष्यवर्गमें वितरित करता रहता है। इसी त्याग (अध्यापन) में वह अपने जीवनकी सार्थकता समझता है। गुरुके जीवनमें दान है, आदान नहीं। 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' अध्यापकमें न होना चाहिये। उसके जीवनपर तो अनेक जीवोंकी गहरी दृष्टि है। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।' इस सिद्धान्तके अनुसार अध्यापकको बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। उसकी आत्मामें विश्वास, जीवनमें संयम और वाणीमें सत्य और ओज होना चाहिये। यदि अध्यापकके जीवनमें यत्किंचित् भी शैथिल्य आने लगेगा तो वह अकेला ही पतित नहीं होगा, अपि तु समाजका एक बहुत बड़ा भाग पथभ्रष्ट हो जायगा। राष्ट्रनिर्माणका जितना दायित्व शिक्षकपर है, उतना अन्य किसीपर न है, न होगा।

शिक्षकपर ही निर्भर है कि वह समाजको किस साँचेमें ढाले—अबोध बालकोंके निरीह जीवनको किस रंगमें रँग दे। शिक्षकके पास विद्यार्थी गीली मिट्टीके समान आता है। कुम्हारकी भाँति गुरु जैसा चाहे, उसका बर्तन बना दे। उस समय उसके हाथमें अपार शक्ति है। वह अपनी स्वतन्त्र सृष्टिका निर्माण कर सकता है। उसके ही हाथोंमें व्यास-शुक, शिवाजी-प्रताप, गाँधी-नेहरू-जैसे व्यक्तियोंका निर्माण है। गुरुके मस्तिष्कके ही तो आविष्कार हैं—तिलक, गोखले, राजेन्द्र, राधाकृष्णन्-जैसे देशरत्न। यदि किसी अध्यापकने ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदपर आसीन होकर भी अपनेको न समझा, मनमानी की और कक्षामें बालकोंसे माँगकर सिगरेट-बीड़ी पी ली, बच्चोंके सामने चाट खा लिया, सिनेमा देख लिया तो समाजमें अनाचार-भ्रष्टाचारका बोलबाला क्यों न होगा ? अतः शिक्षकको हर समय जागरूक रहनेकी आवश्यकता है।

आजका शिक्षक यदि अपने धर्म और आदर्शको भूलकर स्वेच्छाचारिताका दास बना रहेगा, विलासिताके पङ्कमें फँसा रहेगा, आचरणकी अपेक्षा अर्थको प्रधान मानेगा तो उसे यह सुनना ही पड़ेगा—

'मैं फीस देता हूँ तो पढ़ता हूँ। अध्यापक हमारा क्रीत दास है, तभी तो घरपर प्रतिदिन आकर हमें पढ़ाता है। यदि मैं नहीं पढ़ता तो अपना ही समय और पैसा खोता हूँ, इसमें अध्यापककी क्या हानि है ? मैं काम करूँ या न करूँ, अध्यापक कौन होता है मुझे डाँटने-डपटनेवाला—मारनेवाला अध्यापक कानूनी अपराधी है। रही परीक्षा पास करनेकी बात, उसके लिये आज अनेकों साधन हैं। गेसपेपर लेकर, नकल करके, रिश्वत देकर, गुंडागर्दी मचाकर, 'मास्टर साहेब ! छेड़ मत देना हमें नकल करतेको, जानसे हाथ धोना पड़ेगा। देखा है यह चाकू, पिस्तौल ?' कितना बड़ा चैलेंज है गुरुके प्रति आजके शिष्यका। प्राचीन कालका आदर्श था—

> गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
> कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥
> गुरुणा नैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन।
> अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर॥

'युधिष्ठिर ! गुरुकी बुराई अथवा निन्दा जहाँ होती हो, वहाँ दोनों कान मूँद लेने चाहिये अथवा वहाँसे कहीं अन्यत्र चले जाना चाहिये। गुरुके साथ कभी हठ नहीं करना चाहिये और गुरु यदि क्रुद्ध हो जायँ तो उनसे पूछकर कोई काम करना चाहिये एवं अनुनय-विनयसे उन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये।'

धर्म

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम', साहित्याचार्य)

(१)

धर्म नर-नारायणका रूप, धर्म है संतत सत्त्वप्रधान,
धर्मके बिना मनुज पशुतुल्य, धर्म मानवताकी पहचान।
धर्म दैवी सम्पत्ति, अधर्म दस दानवताका है रूप,
धर्मके पाण्डुपुत्र दृष्टान्त, अधर्मी दुर्योधन-सा भूप॥

(२)

धर्म जगतीका धारक तत्त्व, धर्म ही है सबका आधार,
धर्म ही सार, धर्मके बिना नहीं टिक सकता है संसार।
सिंह यदि खो दे अपना शौर्य, शृगालोंसे भी हो अति दीन,
करें सब जंगम ही पद-दलित, भुजंगम जो होवे विषहीन॥

(३)

स्वप्नमें भी पूजित होगा न, तपनमें तापन-कर्म न जो,
राख बन जाये, रहे न साख, दहनमें दाहक धर्म न जो।
चन्द्र तज दे आह्लादक धर्म, उसे चितये क्या कभी चकोर?
जलद जो दे न सके जलदान, बने क्या चातकका चितचोर?॥

(४)

धर्म जीवन है, इससे कौन भला हो सकता है निरपेक्ष,
अतः संसृतिके सारे राष्ट्र धर्मके प्रति संतत सापेक्ष।
भूप शिवि, रन्तिदेव, हरिचंद, राम, दशरथ, पुरु आदि नरेश,
पाण्डुसुत प्रभृति जनोंने सहे धर्मपालन हित कितने क्लेश॥

(५)

धर्मसे ही भूतलका राज्य वैजवनने भोगा चिरकाल,
धर्मकी अवहेलासे गिरे रसातल बीच नहुष तत्काल।
शिवा-राणाने कर संघर्ष धर्मका रक्खा गौरव-मान,
हकीकतराय वीर-सिरमौर धर्मके हेतु हुए बलिदान॥

(६)

धन्य गोविन्दसिंह गुरुदेव, धर्मरत जिनके पुत्र महान,
समुद दीवारोंमें चुन गये, धर्मके लिये दे दिये प्रान।
यहाँ जनतन्त्र या कि नृपतन्त्र—रहे शासनका कोई रूप,
राष्ट्रपति निर्वाचित हो था कि परम्परया आगत हो भूप॥

(७)

प्रजा-रक्षण सबका ही धर्म, शान्ति-संस्थापन सबका कर्म,
सभीको इष्ट—जगत्में बना रहे अस्तेय आदि सद्धर्म।
दस्युओं-दुष्टोंका कर दमन अमन कायम रखना सर्वत्र,
धर्मका, सत्पुरुषोंका त्राण—यही ईप्सित है अत्र-परत्र॥

(८)

धर्म ही तो हैं विविध विधान, चला करता जिनसे सौराज्य,
न जगमें कहीं धर्मनिरपेक्ष कभी हो सकता कोई राज्य।
सती सावित्रीने तत्काल धर्मबलसे जीता यमराज,
धर्मने ही बनकर परिधान, बचायी द्रुपदसुताकी लाज॥

(९)

धर्म ही माता-पिता सुबन्धु, धर्म ही है सब जगका मीत,
धर्म है जहाँ, वहाँ श्रीकृष्ण, कृष्ण हैं जहाँ, वहीं है जीत।
धर्ममें तत्पर हों सब लोग, धर्मकी शक्ति अनन्त अपार,
धर्मकी दृढ़ नौकासे शीघ्र किया जाता भवसागर पार॥

धर्म और प्रेम

(लेखक—श्रीनन्ददुलालजी ब्रह्मचारी 'भक्ति वैभव')

मानव शिशु दस मास, दस दिन माताके गर्भमें अशेष दुःख-भोग करके इस पृथ्वीके वक्षःस्थलपर आविर्भूत होता है। शिशुके जन्म लेनेपर माताके स्तनसे दुग्ध क्षरित होने लगता है। अपने सुख-स्वातन्त्र्यको भूलकर, आहार-निद्रा त्यागकर माता संतानके पालनमें रत हो जाती है। माताकी अशेष कृपाके बलसे शिशु धीरे-धीरे बढ़ने लगता है और उसके साथ-साथ इस संसारके साथ वह परिचय प्राप्त करने लगता है। वह इशारा समझने लगता है, माताके नाना प्रकारके अङ्ग-संचालनसे, सिर हिलानेसे वह हँसने लगता है। जन्मके साथ माता वसुमती उसके सारे प्रयोजनीय उपकरणोंकी व्यवस्था करती है—खेलका स्थान, भोजनकी वस्तु, जलवायु आदिकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये प्रकृति सहायकके रूपमें नियुक्त होती है।

उसके कुछ बड़े होनेपर पाठशालाकी पढ़ाई शुरू होती है। वहाँ अध्यापक नियुक्त होते हैं, पिता संरक्षक होते हैं। वह पाठशालासे स्कूलमें और स्कूलसे कालेजमें जाता है, विद्यालयके साथ-साथ संसारसे उसका परिचय भी बढ़ता जाता है। सांसारिक विद्योपार्जनके मूलमें रहती है प्रतिष्ठाकी आशा और अर्थोपार्जनकी स्पृहा, जिसके द्वारा वह सुख-शान्तिकी आशा करता है। भावी सुखकी आशासे वह कर्मपथकी ओर बढ़ता है। भोगासक्त इन्द्रियोंका इन्धन जुटानेके लिये वह जी-जानसे परिश्रम करता है। आजकलका विज्ञानका युग उसने अपने हाथों गढ़ा है, कितना सुखका सम्भार उसके पास है! कलकत्तेके समान यान्त्रिक वाहनोंसे भरा शहर, वैद्युतिक आलोकमालासे बिजलीके समान दीप्तिमान् रातकी शोभा, अपने सोफापर बैठे-बैठे टेलीफोनसे परस्पर बातचीत, रेडियोसे अप्रत्याशित वार्तावहन तथा निकट भविष्यमें टेलिविजनसे प्राप्त होनेवाले गायक-गायिकाकी राग-रागिनीके प्रच्छेदपटसे नेत्रोंका आनन्दवर्द्धन! जलमें, स्थलमें, आकाशपथमें—सर्वत्र आज मानव अभियान कर रहा है। आधुनिक सभ्यताके मूलमें है—सिनेमाकी मन-मोहिनी चित्रकला। इसी कारण आज भगवान्के अथवा किसी महान् पुरुषके चित्रके स्थानमें सिनेमा-नटियोंके चित्र घरकी शोभा बढ़ा रहे हैं। आधुनिक सभ्यताके नामपर भोगवादने अमेरिकाके Bikini dress और इंग्लैंडके Shock frock dress को हमारे भारतवर्षकी देवीस्वरूपिणी मातृजातिकी सभ्यतामें ला दिया है।

क्या मनुष्यजन्मकी अन्तिम प्राप्य वस्तु यही है? क्या यही चरम सुख है या और कुछ भी है? हम यदि एक बार कौपीनधारी सर्वत्यागी ऋषियोंकी ओर देखें और उनके आदर्शको उपाख्यान कहकर उड़ा न दें तो इस तत्त्वको जनश्रुति और रैक्व मुनिके उपाख्यानसे जान सकते हैं। एक बार राजा जनश्रुति एक सहस्र गायें, एक सुवर्णहार, एक रथ और अपनी कन्याको लेकर रैक्व मुनिके पास गये और बोले—'आप ये सारी वस्तुएँ ग्रहण करें, मेरी इस कन्याको भार्याके रूपमें स्वीकार करें और इस ग्रामको अपने आश्रमके

रूपमें ग्रहणकर मुझको कृतार्थ करें ।' परंतु रैक्व मुनिने अस्वीकार करते हुए कहा—'रे शोकार्त शूद्र !' देखिये, वे किस धनके धनी थे । जगत्‌में आशा करें किस लिये ? पशुका जन्म हो या पक्षीका जन्म हो, सभी जन्मोंमें तो आहार, विहार, मैथुन और निद्राका भोग किया जाता है। तब फिर मनुष्य-जन्मकी विशेषता कहाँ रहती है ?

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।

'जब मनुष्य अनुभव करता है कि वह पशु-प्रकृतिसे उच्च स्तरकी कोटिका प्राणी है, तब उसे जागतिक सफलता या भौतिक विज्ञानकी विजयसे मनस्तुष्टि नहीं होती । धर्म इसको पाप और द्वेषसे युद्ध करनेमें मदद करता है, नैतिक शक्ति प्रदान करता है तथा जगत्‌की रक्षा करनेके प्रयत्नमें उत्साह प्रदान करता है । यह मानवकी वास्तविक योग्यता और गौरवके अनुसंधान तथा उसके ऊर्ध्वलोकके साथ सम्बन्धपर आधारित है ।'

वेदकी परिभाषामें अङ्गिरा-स्मृति कहती है कि जो कार्य-कलाप आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक नहीं होता, वह केवल बालककी क्रिया-चपलता मात्र है । मनु कहते हैं—'अनासक्त, विगतस्पृह पण्डित जो आत्मोन्नतिके लिये यजन करते हैं, वही धर्म है ।' और भी कहते हैं कि (१) 'वेदके अनुशासनका पालन, (२) स्मृतिके अनुशासनका पालन, (३) महापुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित धाराका अनुमोदन, तथा (४) जो कर्म मानसिक शान्ति प्रदान करते हैं, उनमें प्रवृत्त होना'—वही धर्म है । इस प्रकार शास्त्रकारगण कोई यज्ञको, कोई योगको, कोई तर्कको, कोई पुण्यको, कोई वैराग्यको, कोई तपस्याको, कोई धर्मयुद्धको, कोई ईश्वरोपासनाको, कोई गुरुकी उपासनाको, कोई प्रायश्चित्तको और कोई दानको धर्मका पर्याय मानते हैं । समयानुसार तत्त्वज्ञान (Philosophy) ने इस कार्यमें हस्तक्षेप किया तो जान पड़ा कि ये सब उपाय मूलतः तीन तत्त्वोंके अर्थात् कर्म, ज्ञान और भक्तिके नामान्तर हैं ।

श्रीभगवान्‌ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुनको लक्ष्य करके जगत्‌के निस्तारका एक उपाय, सर्ववेदसारार्थ उपोद्घातके रूपमें गीताके प्रारम्भमें बतलाया है—'योगस्थः कुरु कर्माणि ।' (गीता २ । ४८) फिर आगे वे कहते हैं—"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।" (गीता ३ । ४) कोई बिना कर्म किये रह नहीं सकता । परंतु नैष्कर्म्य-प्राप्तिके लिये यथार्थ कर्म होना चाहिये, नहीं तो वह बन्धनकारक होगा । 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।' (गीता ३ । ९) अनधिकारी व्यक्तिके लिये कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है । जब कर्मत्यागके द्वारा शरीरयात्राका भी निर्वाह नहीं होता, तब कर्मत्याग कहाँतक सम्भव हो सकता है ! अतएव काम्यकर्मका त्याग करके (कर्मणा बध्यते जन्तुः—इति स्मृतिः) सकाम होते हुए भी भगवत्-उपासना करे । जो कर्मके अवान्तर फलस्वरूप अन्य वस्तुकी कामना करते हैं, वे कर्मसङ्गी हैं । अज्ञ और कर्मसङ्गी पुरुषको तत्त्वज्ञानका तात्पर्य बतलाओ तो वह श्रद्धापूर्वक उसके लिये आग्रह प्रकट नहीं करेगा । अतएव ऐसे लोग अपनी-अपनी राजसिक और तामसिक प्रकृतिके द्वारा प्रेरित होकर उन छोटे-छोटे नियमोंका पालन करते हुए तदनुरूप सब देवताओंकी उपासना करें (गीता ७ । २०) । भगवान्‌के इन अधिकारानुरूप साधनोंकी बात पढ़कर और अर्जुनकी वास्तविक स्थिति न समझकर स्थूलदर्शी साधकोंने यही सिद्धान्त स्थिर कर लिया कि 'वर्णाश्रम-विहित कर्म नित्य हैं, अतएव सारी गीता श्रवण करनेके बाद अर्जुनने युद्धरूपी क्षत्रियधर्मको ही अङ्गीकार किया । अतएव वर्णाश्रम-धर्म-विहित कर्मका आश्रय ही गीताका तात्पर्य है ।' पर सूक्ष्मदर्शी साधक इस प्रकारके सिद्धान्तसे संतुष्ट नहीं होते, वे ब्रह्मज्ञान अथवा पराशक्तिके आश्रयको ही तात्पर्यरूपमें स्थिर करते हैं । साधनकालमें जबतक हृदयमें काम विराजमान रहता है, तबतक वर्णाश्रमादि धर्मकी अपेक्षा रहती है । इसी कारण श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान् कहते हैं—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(११ । २० । ९)

'जबतक कर्मफलभोगसे विरक्ति नहीं होती अथवा भक्तिमार्गमें मेरी (भगवान्‌की) कथामें श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती, तभीतक सब कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये ।'

ज्ञानी पुरुष ज्ञानका उदय होनेपर सांसारिक वस्तुके अनित्यत्वको जानकर साम्यभावकी प्राप्तिसे ब्रह्ममें अवस्थित होकर लाभालाभसे अविचलित—स्थिरबुद्धि बनता है और योगीपुरुष अष्टाङ्गयोगके द्वारा इन्द्रिय-निरोध करके परमात्मस्वरूप, सर्वभूत-अन्तर्यामी पुरुषको प्राप्त करता है । ज्ञानी और योगी आत्मा और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्त करते हैं । निष्काम कर्मयोगी परमात्मरूपी पुरुषके उद्देश्यसे ही यज्ञ करते हैं । भागवतमें कहा है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
(११ । २० । ७)

'जिनको कर्म और कर्मफलसे निर्वेद उत्पन्न हो गया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिनकी फलभोगकी वासना दूर नहीं हुई है, वे कामी लोग कर्मयोगके अधिकारी हैं ।' कलियुग-पावनावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुके इस प्रश्नपर कि—

'भुक्तिमुक्ति वाञ्छे जेइ काहाँ दोंहार गति ?'

श्रीरामानन्दजी कहते हैं—

स्थावर देह देवदेह जैछे अवस्थिति ।
अरसज्ञ काक चूसे ज्ञान निम्बफले ।
रसज्ञ कोकिल खाय प्रेमाम्रमुकुले ॥
अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्क ज्ञान ।
कृष्णप्रेमामृत पान करे भाग्यवान ॥
(चैतन्य-चरितामृत म० ८ । २५६ । ५८)

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते ।

'ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।
गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज ॥'
भव भटकत कोउ भाग्यवान जन पावत दुर्लभ चीज ।
गुरु-भगवत् प्रसाद तें अतुलित भक्तिलताके बीज ॥

पूर्वजन्मोंकी भक्त्युन्मुखी सुकृतिके फलस्वरूप भाग्यवान् जीव गुरु और श्रीकृष्णके प्रसादसे भक्तिलताका बीज अर्थात् श्रद्धा प्राप्त करके साधकरूपी माली बनकर उस बीजको हृदय-क्षेत्रमें वपन करता है और निरन्तर भगवत्कथा-श्रवण-कीर्तनरूपी जल-सेचनमें लगा रहता है । यह भक्तिलताका बीज अङ्कुरित होकर भक्तिलता-स्वरूपमें बढ़ते-बढ़ते इस मायिक ब्रह्माण्डका भेद करके, विरजा और ब्रह्मलोकका अतिक्रम करके परव्योमके ऊपर गोलोक-वृन्दावनमें श्रीकृष्ण-चरणरूपी कल्पवृक्षके आश्रयमें प्रेमफल प्रदान करता है ।

प्रेमफल पाकि पड़े माली आस्वादय ।
सुखे प्रेमफल रस करे आस्वादन ॥

यह प्रेम-भक्ति प्राप्त होती है कैसे ?

'शुद्ध भक्ति हैते हय प्रेमा उत्पन्न ।'
शुद्ध भक्तिसे ही होती है प्रेमाभक्ति सरस उत्पन्न ।

ब्रह्माण्डकी किसी वस्तुके प्रति भक्ति प्रयुक्त नहीं हो सकती । ब्रह्माण्डको पार करके विरजा नदी है, वहाँ गुणत्रय साम्यावस्थामें लक्षित होते हैं; यह प्राकृत मलको धो डालनेवाली स्रोतस्विनी है, उसके पार करनेपर ही ज्ञानीलोगोंका आदर्श ब्रह्मलोक आता है । विरजामें जैसे भक्तिलताके आश्रयके उपयुक्त कोई वृक्ष नहीं है, ब्रह्मलोकमें भी उसी प्रकार भक्तिलताके लिये सेव्य वृक्षका अभाव है । परव्योममें श्रीनारायणकी पूजामें शान्त, दास्य और सख्यार्द्धमात्र रस हैं और गोलोक-वृन्दावनमें श्रीकृष्णकी सेवामें इनके अतिरिक्त विश्रम्भ, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस पूर्णमात्रामें विकसित हैं । यहाँपर भक्तिलता सर्वतोभावेन आश्रय प्राप्त करके प्रेम-फल प्रदान करती है ।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
(श्रीमद्भागवत १ । १ । ३)

'हे भगवत्-प्रीतिरसज्ञ अप्राकृतिक रसविशेष-साधना-चतुर भक्तवृन्द ! श्रीशुकके मुखसे निःसृत होकर स्वेच्छासे पृथ्वीपर अखण्डरूपमें अवतीर्ण, परमानन्द-रसमय त्वक्-अष्टि आदि कठिन हेयांशसे रहित, तरल, पानयोग्य इस श्रीमद्भागवत-नामक वेदकल्पतरुके पक्वफलका आपलोग मुक्तावस्थामें भी निरन्तर पान करते रहें ।'

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः ।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः ॥

भावनापथके परे अलौकिक चमत्कारकी पराकाष्ठाका आधारस्वरूप जो स्थायी भाव शुद्ध सत्त्वसे उज्ज्वल हृदयमें निश्चितरूपमें आस्वादित होता है, वही 'रस' कहलाता है । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको 'उत्तमश्लोक' कहा गया है । श्लोकका प्रतिपाद्य विषय है वस्तुके माध्यमसे रूपके प्रकाशमें रसकी संयोजना । 'रस' शब्दसे छः मुख्य और सात गौण रसोंकी आलोचना प्राकृत काव्यमें देखनेमें आती है और वैष्णवोंके काव्यमें इन समस्त रसोंका पूर्ण परिचय भगवत्ताको केन्द्रित करके हुआ है । इन रसोंका आस्वादन मुक्तिके परे भक्तिके आश्रयमें होता है—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।

इसी कारण वैष्णव काव्यका उद्भव होता है वैकुण्ठसे—

वैकुण्ठाज्जनितो परा मधुपुरी तत्रापि गोवर्द्धनो
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात् ।
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः ॥

वैकुण्ठसे उत्पन्न भक्तिका बीज-वपन हुआ मधुपुरी (मथुरा) में। उसने अङ्कुरित होकर रासोत्सवमें श्रेष्ठता प्राप्त की। वृन्दावनमें गोवर्द्धन-शैलपर वह श्रेष्ठतर हुआ तथा राधाकुण्डमें श्रेष्ठतमताको प्राप्त हो गया, यही उत्तमश्लोककी उत्तमता है।

भक्तिमें स्वार्थ या लाभका विचार ही नहीं होता। भक्ति केवल अपने प्रभुकी सेवा-आराधनाके लिये अपने-आपको उत्सर्ग करनेकी चेष्टामें लगी रहती है।

आत्मेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छा धरे प्रेम नाम॥

कलियुग धर्म हय कृष्ण नाम संकीर्तन।
नाम संकीर्तने उपजय प्रेम धन॥
केवल जे रागमार्गे भजे कृष्ण अनुरागे,
तारे कृष्ण-माधुर्य सुलभ।
कृष्णरूपामृत सिन्धु, ताँहार तरङ्ग बिन्दु,
एक बिन्दु जगत डुबाय॥

अर्थात् अपनी इन्द्रियोंकी प्रीतिकी इच्छाको 'काम' कहते हैं और श्रीकृष्णकी इन्द्रियोंकी तृप्तिकी कामनाका प्रेम नाम है। कलियुगका धर्म श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन है, नाम-संकीर्तनसे प्रेमधन प्राप्त होता है। जो केवल रागमार्गसे अनुरागपूर्वक श्रीकृष्णका भजन करता है, उसको श्रीकृष्णका माधुर्य-रस सुलभ होता है। श्रीकृष्ण-रूप-सुधाके समुद्रकी तरङ्गोंका एक बिन्दु सारे जगत्को डुबो देता है।

अनन्य शरणागति-धर्म

(लेखक—स्वामीजी श्रीरँगीलीशरणदेवाचार्यजी, साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, मीमांसा-शास्त्री)

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥
(श्रीनिम्बार्काचार्यकृत वेदान्तकामधेनु)

आनन्दकंद गोविन्द मुकुन्द श्रीकृष्ण प्रभुके उदार पदारविन्दके अतिरिक्त कोई अन्य गति नहीं है। वस्तुतः साधकोंके लिये शाश्वत सुख-शान्तिका सुन्दर सदन और कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

शरणागति-धर्ममें ज्ञानप्रभृति सर्व-साधनोंके अभिमान-को छोड़कर आत्मा-आत्मीय सर्व-सम्बन्धको प्रभुके उदार पदारविन्दमें समर्पण करना होता है। वहाँपर किसी अपनी योग्यता तथा कला-कौशलका प्रदर्शन करना या मनमें रखना शरणागति-धर्मके सर्वथा विरुद्ध है। वहाँ तो साध्य-साधन सर्व-सम्बन्धको प्रभुसे जोड़ना है; क्योंकि—

'तन्निष्ठस्य मोक्षव्यपदेशात् ।' 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वाल्मीकिरामायण)

विपत्तापन्न प्रपन्नपर प्रभु प्रसन्न होकर अभयदान देते हैं।

शरणागति-धर्मका निरूपण वेदके संहिताभागमें देखिये। श्रीनिम्बार्काचार्यकथित वचनोंमें प्रमाण—

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम् ।
(ऋग्वेद ४ । १ । ५)

'इस असार संसार-सागरसे पार करनेवाले प्रभो! मनुष्योंके सच्चे माता-पिता तथा रक्षक तुम ही हो।'

और हम तुम्हारे हैं तथा तुम हमारे हो। 'त्वमस्माकं तवास्म्यहम्।'

हम तुम्हारे सेवक एवं शरणागत हैं और तुम हमारे स्वामी तथा शरण्य हो।

श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । १८)

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो विद्यां तस्मै गोपयति स्म कृष्णः ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुः शरणं व्रजेत् ॥
(गोपालपूर्वतापिनी० ६)

अर्थात् जो भगवान् श्रीकृष्ण विधाताके भी विधाता हैं और सर्वप्रथम जिन प्रभुने अपने दिव्य ज्ञान वेदोंका ब्रह्माको उपदेश दिया, जो आत्मा, मन एवं बुद्धि तथा सकलेन्द्रियोंके प्रकाशक हैं, उन जगत्के अभिन्ननिमित्तो-पादानकारण श्रीकृष्ण प्रभुकी मैं शरण प्राप्त करता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी शरणागतिका ही प्रधानतया निरूपण किया गया है।

श्रीनिम्बार्कभगवान्के मतसे गीताका उपक्रम शरणागतिसे और आवृत्ति शरणागतिकी और पर्यवसान शरणागतिमें है। यथा—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।

(उपक्रम)

× × ×

निवासः शरणं सुहृत् । तमेव शरणं गच्छ । मामेव ये प्रपद्यन्ते ।

(आवृत्ति)

× × ×

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

(उपसंहार)

यही शास्त्रीय पद्धति है । 'शरण'का अर्थ रक्षक तथा आश्रय होता है । ('शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः) । शरणागति षड्विधा होती है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।

(नारदपाञ्चरात्र)

अनुकूल आचरण करना, प्रतिकूलता-निषेध, प्रभु श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं—ऐसा विश्वास एवं रक्षाके लिये प्रार्थना करना, आत्मनिवेदन और दैन्य । यथा—

श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥

इसमें आत्मनिवेदन अङ्गी है एवं अन्य पाँच अङ्ग हैं । यह 'वेदान्तरत्नमञ्जूषा'का प्रमाण है । भगवान्‌की शरणमें किसी भी भावसे आये, वे उसका परम कल्याण करते हैं । कृपाकृपण पूतना अपने उरोजोंमें हलाहल विष लगाकर भगवान्‌को मारनेकी भावनासे आयी । दीनदयालु प्रभुने उसको भी जननीकी उत्तम गति दी । इस दयालुतापर श्रीउद्धवजीका हृदय गद्गद हो उठा—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २ । २३)

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये लौकिक-पारलौकिक भोगत्याग, उपरति, तितिक्षा, मुमुक्षुता आदि बड़े विकट संकट-साध्य साधनोंकी आवश्यकता पड़ती है; किंतु शरणागतिमें तो दीनभावसे, आँसू भरकर आश्रय लेनेसे ही प्रभुकी कृपा प्राप्त हो जाती है । प्रभुकी कृपा प्राणीके ऊपर कैसे एवं कब उतरती है, अनन्य प्रेम-शरणागति-धर्मका निरूपण करते हुए महावाणीकार कहते हैं—

विधि-निषेध आदिक जिते, कर्म-धर्म तजि तास ।
प्रभुके आश्रय आवई, सो कहिये निज दास ॥

जो कोउ प्रभुके आश्रय आवै । सो अन्याश्रय सब छिटकावै ॥
विधि-निषेध के जे-जे धर्म । तिनि कौं त्यागि रहै निष्कर्म ॥
झूठ, क्रोध, निंदा तजि देहीं । बिन प्रसाद मुख और न लेहीं ॥
सब जीवनि पर करुना राखैं । कबहुँ कठोर बचन नहिं भाखैं ॥
मन माधुर रस माहिं समोवैं । घरी-पहर-पल वृथा न खोवैं ॥
सतगुरु के मारग पगु धारैं । हरि सतगुरु बिच भेद न पारैं ॥
ए द्वादस लच्छन अवगाहैं । जे जन परा परम पद चाहैं ॥

(सिद्धान्त-सुख)

शरणागत श्रीभट्टजी कहते हैं—

मदन गोपाल सरन तेरि आयौ ।
चरन कमल की सेवा दीजै, चेरौ करि राखौ घर जायौ ॥
धनि-धनि मात-पिता, सुत-बंधु, धनि जननी, जिन गोद खिलायौ ।
धनि-धनि चरन चलत तीरथ कौं, धनि गुरु, जिन हरि-नाम सुनायौ ॥
जे नर बिमुख भए गोविंद सौं, जनम अनेक महादुख पायौ ।
श्रीभटकौं प्रभु दियौ अभय पद, जम डरप्यौ, जब दास कहायौ ॥

अनन्य शरणागति-धर्मका पालन करनेवाली सौभाग्यवती श्रीमती सती-शिरोमणि तत्सुखवती व्रज-युवतियोंको देखकर समस्त-रसामृत-मधुर-मूर्ति श्रीकृष्ण ऋणी होकर उऋण होनेकी प्रार्थना करते हैं—'न पारयेऽहं' कहकर अपनेको असमर्थ बताकर वे कहते हैं—

तब बोले व्रजराज कुँवर, हौं रिनी तुम्हारी ।
अपने मन तें दूरि करौ किन दोस हमारौ ॥
कोटि कल्प लगि तुम प्रति प्रति उपकार करौं जौ ।
हे मन-हरनी तरुनी उरिनी नाहिं तबौं तौ ॥

गोपियोंसे यों कहकर, फिर किशोरी ठकुरानी श्रीराधारानीजीका सम्मान करते हुए रसिकशिरोमणि सुन्दर श्याम श्रीप्रभु बोले—

सकल विस्व अप-बस करि मो माया सोहति है ।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहि मोहति है ॥
तुम जो करी, सो कोउ न करै, सुनु नवल किसोरी ।
लोक-वेद की सुदृढ़ सुंखला तृन सम तोरी ॥

सकल-कला-कलाप-कुशल किशोरी श्रीस्वामिनिजू बड़े संकोचके साथ विपुल पुलकवती होकर बोलीं—

प्यारे ! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मनकी सहित विवेक ।
अन्योंके अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम ! एक ॥
सरल सुगम सुंदर सुखदाई । साधन सरनागती सुहाई ॥

योऽशेषदोषं करुणागुणेशं
मनोज्ञवेषं सकलेष्टदेशम् ।
भजेद् व्रजेशं शरणं परेशं
स क्लेशलेशं न समेति शेषम् ॥

एक परमात्माको देखना ही वास्तविक धर्म है

(लेखिका—ब्रह्मलीना संन्यासिनी)

समस्त चराचर जगत्में एक आत्मा, परमात्मा या एक भगवान्को देखनेवाला धर्म ही वास्तविक धर्म है। वस्तुतः एक आत्मा या भगवान्के अतिरिक्त नाम-रूपकी सत्ता ही कहाँ है? अतः देखना सीख लीजिये। नाम-रूपको सर्वथा देखकर आप उसके भीतर नहीं देख पायेंगे, जिसको देखना आपका परम धर्म है। आप पुरुषको देख रहे हैं, स्त्रीको देख रहे हैं, मनुष्य तथा पशुको देख रहे हैं, परंतु इन सबमें अनुस्यूत आत्माको नहीं देखते। इसीसे पागलकी भाँति ठोकरें खाते इधर-उधर भटकते फिर रहे हैं!

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंकी पोशाक उतार दीजिये; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंको त्याग दीजिये, फिर चराचर जगत्में सर्वत्र सदा परमात्मा—भगवान्के दर्शन होने लगेंगे। यही आपका सच्चा धर्म है। आप निष्कलङ्क हैं, इन शरीरों तथा अवस्थाओंके साथ आपका वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। आप नित्य हैं—न कर्ता हैं, न भोक्ता हैं, न जन्म लेनेवाले हैं, न मरनेवाले। ये सब तो जड हैं, आप चेतन हैं। सभी चेतन हैं। एक चेतन परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं! आपकी आँखोंपर नाम-रूपका पर्दा पड़ा है। इसी कारण सबमें भेद दिखायी दे रहा है!

तत्त्वज्ञानका चश्मा लगाकर देखिये। सर्वत्र एक परमात्मा ही दिखायी देंगे। चराचर जगत्-रूपमें एक परमात्मा ही भरे हैं। उन्हींको देखिये, वही आपका स्वरूप है और यह स्वरूप-दर्शन ही धर्म है। सारे साधनोंका यही एकमात्र फल है।

धर्म

(लेखक—श्री डी० आर० बोडस एम० ए०, एडवोकेट ई० एस्० नहीदस)

यह आश्चर्यका विषय है कि जहाँ अभिमानके पुतले हम आधुनिक लोग सच्चे जीवनकी खोजमें ठोकरें खाते, गिरते-पड़ते और भटकते फिर रहे हैं, वहाँ हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजोंने अन्तर्दृष्टि, अन्तःप्रेरणा तथा वैज्ञानिक खोजोंमें लगी तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा व्यक्तिगत रूपमें, समाजके एक अङ्गके रूपमें एवं भगवान्की सार्वभौम दृष्टिके अन्तर्गत एक बिन्दुके रूपमें मानव-सम्बन्धी सत्य तत्त्वोंको जान लिया था। उन्होंने यह भी पता लगा लिया था कि जीवनका क्या अर्थ है, जीवनका क्या मूल्य है और इसका सर्वोत्तम उपयोग क्या हो सकता है।

शताब्दियोंके भीतर अथवा जितना हमको पता नहीं है, ऐसे सहस्रयुगोंके भीतर एकत्रित किया हुआ उनका पुञ्जीभूत ज्ञान हमलोगोंके पास वेदों, उपनिषदों, वेदान्तों, शास्त्रों एवं पुराणोंके रूपमें उपलब्ध है, जो नक्षत्रमण्डलके समान आँखोंमें चकाचौंध उत्पन्न कर रहा है तथा जो शाह सुलेमानके खजानोंसे भी अधिक मूल्यवान् है। यह वह बौद्धिक निधि है, जिसको न तो रोम, न यूनान, न मिस्र, न बेबीलोनिया, न चीन, न जापान, न पेरू, न मेक्सिको या किसी भी राष्ट्रके प्राचीन जन अपने वंशधरोंके लिये छोड़ गये हैं।

इस निधिके क्षेत्रमें संसारभरमें हमारा देश अतुलनीय है। यदि कोई चाउ-एन-लाई या इकेडा, क्रुश्चेव, नासिर या हैलसिलासी, लार्ड रसेल अथवा कोसीजिन, जॉनसन या डेगॉलसे पूछे—धर्म क्या है? तो विचारमग्न होकर अपने चिबुकको खुजलाते हुए वे कहेंगे—'धर्म है अंधा आशावाद, पारलौकिक देवताके प्रति घोर भावुकता!'

किंतु इस प्रश्नका उत्तर दसों हजार वर्ष पहले वेदोंमें स्पष्ट अक्षरों एवं गरजती हुई वाणीमें दिया गया था, जिसकी ओरसे आजकलके हम कुछ लोग कान बंद कर लेना चाहते हैं। उन्होंने कहा था—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदति।
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥

'धर्म ही विश्वका आधार है। सारी प्रजा धर्मानुयायीके चरण चूमेगी। धर्मसे पापका उदय नहीं होता। धर्ममें सभी लोग प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये धर्मको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।'

उन लोगोंने उसी धर्मको उपेक्षकर उसका विश्लेषण किया और समाजके विभिन्न वर्गोंके व्यक्तियोंके लिये उसके आचरणका पथ-निर्देश किया। नाम गिनायें तो कुछ धर्म ये हैं—राजधर्म, आर्यधर्म, स्त्रीधर्म, कुलधर्म, यतिधर्म, आपद्धर्म इत्यादि।

सरस्वतीके भारतीय उपासकोंमें सर्वाधिक आदर-प्राप्त कालिदासके द्वारा राजधर्मके निम्नलिखित वर्णनकी विशदता अनुकरणीय है—

> सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
> आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
> यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
> यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥
> त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
> यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
> शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
> वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
>
> (रघुवंश १ । ५—८)

'वे रघुवंशी राजालोग जन्मसे ही पवित्र होते थे, वे किसी कामको उठाते थे तो उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। उनका राज्य समुद्रके इस पारसे उस पारतक फैला हुआ था और इन्द्रलोकसे सीधे स्वर्गतक उनके रथ आया-जाया करते थे। वे शास्त्रानुसार यज्ञ करते थे, वे याचक-को अभिलषित दान देते थे, वे अपराधियोंको अपराधके अनुसार दण्ड देते थे और वे अवसर देखकर काम करते थे। वे त्याग करनेके लिये धन जुटाते थे, सत्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे, अपना यश बढ़ानेके लिये ही दूसरे देशको जीतते थे और वे भोग-विलासके लिये नहीं, बल्कि संतान उत्पन्न करनेके लिये विवाह करते थे। वे बाल्यकालमें पढ़ते थे, तरुणाईमें संसारके भोगोंको भोगते थे, बुढ़ापेमें मुनियोंके समान जंगलोंमें रहकर तपस्या करते थे और अन्तमें योगके द्वारा शरीरका परित्याग करते थे।'

क्या कोई और देश राजधर्मका ऐसा विधान प्रस्तुत कर सकता है?

उपनिषदोंमें स्नातक विद्यार्थीका धर्म बताया गया है। गुरु उसको आदेश देते हैं—

> सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥
>
> (तैत्तिरीय० शीक्षा० अनु० ११)

'सत्य बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद न कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (कर्तव्य) कर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐश्वर्य देनेवाले माङ्गलिक कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। तू माताको देवता (भगवान्) मान, पिताको देवता मान, आचार्यको देवता मान, अतिथिको देवता मान। जो अनिन्द्य कर्म हों, उन्हींका सेवन कर। अन्य साधु पुरुषोंके शुभ आचरणोंका अनुकरण कर। किसी कार्यके औचित्यमें संदेह होनेपर वैसी परिस्थितिमें आदरणीय गुरुजन क्या करेंगे, इसको जानकर वैसा ही कर।'

प्राचीन कालमें स्नातकोंके लिये धर्मका यही विधान था। आज स्नातकोंके लिये असंख्य 'दीक्षान्त-भाषण' होते हैं, किंतु उनमें किसी उपयोगी उपदेशको घासकी ढेरीमें सूईके समान खोजना पड़ता है।

धार्मिक उपदेशोंकी खान विशाल महाभारत ग्रन्थमें एक रोचक कथा है, जिसमें नाना प्रकारके धर्मोंका निरूपण किया गया है। कौशिक नामधारी एक तपस्वी ब्राह्मण एक दिन दोपहरके समय एक छायादार वृक्षके नीचे खड़ा था। अचानक एक पक्षीकी बीट उसके सिरपर गिरी। इस गंदगीसे क्रुद्ध होकर उसने रोषभरी दृष्टिसे ऊपर देखा और पक्षी निष्प्राण होकर उसके चरणोंपर गिर पड़ा। इस दृश्यसे खिन्नमन होकर उसके मनमें अनुताप जगा और उसने पक्षीकी आत्माके लिये प्रार्थना की। पीछे वह कुटियोंकी बस्तीमें गया, जहाँसे वह नित्य भिक्षा माँग लाया करता था। एक घरके बाहर खड़े होकर आवाज लगायी—'देवि! भिक्षा दो।'

गृहिणीने भीतरसे उत्तर दिया—'महाराज ! ठहरिये ।' किंतु दूसरे ही क्षण उसके पतिने उसको पुकारा और उनकी सेवामें उसको कुछ समय लग गया । तत्पश्चात् वह किंचित् भोजन लेकर ब्राह्मणके पास शीघ्रतासे गयी । उसने क्रोधको रोककर उसकी ओर देखते हुए पूछा—'तुमने मुझे क्यों ठहरनेके लिये कहा और फिर इतनी देर क्यों की ? तुम्हें मालूम नहीं कि अपमानित ब्राह्मण भयानक शत्रु है ?' गृहिणीने उत्तर दिया—'महाराज ! मैं जानती हूँ । मैं यह भी जानती हूँ कि आपके क्रोधने वनमें अभागे बगुलेकी जान ले ली । किंतु उसी प्रकार मुझे मृत्युके घाट नहीं उतारा जा सकता । मैं एक सती और धर्मनिरता स्त्री हूँ । आपको ठहरनेके लिये कहनेके बाद मुझे अचानक पतिकी सेवामें जाना पड़ा । पत्नीके लिये पति-सेवाके अतिरिक्त और सब कर्तव्य गौण हैं । इसीलिये मुझसे देर हुई । कृपा करके मुझे क्षमा कीजिये और अपने क्रोधका दमन कीजिये । महाशय ! क्रोध मनुष्योंका शरीरनिहित शत्रु है । ऋषियोंने कहा है—

'जो काम-क्रोधसे मुक्त हो चुका है, वही सच्चा ब्राह्मण है । जो सत्यवादी है, गुरुको आनन्द देनेवाला है, जो मार खानेपर उलटकर मारता नहीं, वही सच्चा ब्राह्मण है । जो जितेन्द्रिय है, धर्मपरायण है, स्वाध्यायनिरत, तन-मनसे पवित्र तथा काम-क्रोधसे रहित है, वही सच्चा ब्राह्मण है । जो अध्ययन एवं अध्यापन करता है, जो यज्ञोंको करता एवं करवाता है और यथाशक्ति दान देता है, वही सच्चा ब्राह्मण है ।*

'मान्यवर ! मुझको संदेह नहीं है कि आप धर्म जानते हैं; किंतु धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म और जटिल है । यदि आप इसको ठीकसे जानना चाहते हैं तो मिथिलामें धर्मव्याधके पास जाइये और उनसे ठीकसे समझिये । मेरी बकवासको क्षमा कीजिये और विश्वास करिये कि मेरा अभिप्राय आपको रुष्ट करनेका नहीं था ।'

कौशिक एक क्षणतक तो स्तम्भित होकर उस अद्भुत स्त्रीके सामने खड़ा रहा; फिर बोलने लायक स्थितिमें आकर उसने निश्छल मनसे उसको धन्यवाद दिया और अपनी राह ली ।

तत्पश्चात् धर्मव्याधके प्रति उत्सुकता लिये हुए वह मिथिला पहुँचा और मांस-बाजारमें एक कसाईकी दूकानपर उनको मांस बेचते हुए पाया । हिचकिचाते हुए वह थोड़ी दूरपर खड़ा हो गया । उसे देखकर धर्मव्याध शीघ्रतासे उसके पास गये और अभिवादन करनेके पश्चात् बोले—'स्वागत है, मान्यवर ! मैं जानता हूँ, आप भक्तिमती महिलाके आदेशसे पधारे हैं । मैं यह भी जानता हूँ कि उन्होंने क्यों आपको मेरे पास भेजा है । कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

दूसरे बात जाननेकी इस दूसरी घटनापर ब्राह्मण चकित रह गया और धर्मव्याधके साथ उनके घर गया । वहाँ उसे आदरसहित आसन दिया गया । आरम्भमें ही ब्राह्मणसे यह पूछे बिना नहीं रहा गया—'मैं इस बातका मेल नहीं बैठा पा रहा हूँ कि आपके समान आध्यात्मिक उपलब्धिवाला व्यक्ति ऐसा गर्हित व्यापार करे !' धर्मव्याधने उत्तर दिया, 'महाशय ! मैं धर्मपूर्वक अपने व्यापारका पालन करता हूँ । मैं किसी प्राणधारीकी हत्या नहीं करता । मैं मांस लेकर उसे ईमानदारीके साथ बेच देता हूँ । मैं अधिक दाम नहीं लेता । मैं सत्य बोलता हूँ, किसीको धोखा नहीं देता, किसीको मारता नहीं और न देनेसे अरुचि रखता हूँ । मेरे माता-पिता, जिन्होंने मुझे जन्म दिया और बड़ा बनाया, वृद्ध हो चुके हैं; मैं कर्तव्य-परायणताके साथ उनकी सेवा करता हूँ । जो कुछ मैं कमाता हूँ, उसे भगवान् और मनुष्योंकी सेवामें लगा देता हूँ । अपने ऊपर केवल शेषांश ही व्यय करता हूँ । मैं मांस नहीं खाता । मैं दिनमें उपवास रखकर केवल रात्रिमें एक बार भोजन करता हूँ । कोई व्यापार तभी गर्हित है, यदि वह किसीको नीचे गिरा दे । यदि धर्मपरायण व्यक्ति धर्मपूर्वक कोई व्यापार करता है तो व्यापारकी वस्तुसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । यही कारण है कि अपने पूर्वजोंके मांस बेचनेके व्यापारको मैंने भी अपना रक्खा है ।'

* क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
कामक्रोधौ वशे यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
योऽध्यापयेदधीयीत यजेद् वा याजयेत वा ।
दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
(महाभारत वन० २०६ । ३२–३४, ३६)

धर्मव्याधके प्रभावपूर्ण विवेचनसे मुग्ध होकर कौशिकने उन्हें धन्यवाद दिया और धर्मके गूढ़ तत्त्वोंसे अवगत करानेके लिये उनसे प्रार्थना की। कई अध्यायोंमें समानेवाला धर्मव्याधका धर्मके ऊपर प्रवचन सुकरात, ईसामसीह अथवा बुद्धके मुँहसे भी सुना जा सकता है; किंतु धर्मव्याधके ये उपदेश हैं उनसे सहस्रों वर्ष पूर्ववर्ती।

महाभारतके बहुमूल्य आनुशासनिक पर्वमें शय्यापर पड़े हुए भीष्मसे युधिष्ठिर पूछते हैं—

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥
(१४९।३)

'पुरुषवर! आपकी दृष्टिमें सब धर्मोंमें कौन-सा धर्म सर्वश्रेष्ठ है?' और भीष्म उत्तर देते हैं—

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥
(१४९।८)

'सबके स्रष्टा, सबके पालक और सबको क्रोडीकृत करनेवाले भगवान् पुण्डरीकाक्षका एकान्त निष्ठापूर्वक निरन्तर स्तवन करनेको ही मैं सबसे बड़ा धर्म मानता हूँ।' और ज्ञानके सागर महर्षि व्यासके अनुसार—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥

'सभी आगम-ग्रन्थ आचारको प्रथम स्थान प्रदान करते हैं। आचार ही धर्मका आधार है और धर्मके स्वामी हैं अविनाशी भगवान्।'

गुरु स्नातक शिष्यको आदेश देता है—'सत्यं वद।' (सच बोलो।) किंतु सत्य क्या है? इसपर एक ज्ञान-सम्पन्न ऋषि कहते हैं—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयाद् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

'सत्य एवं प्रिय वचन बोलना चाहिये। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये। प्रिय किंतु असत्य भी नहीं बोलना चाहिये। यही सनातन धर्म है।'

इसका अर्थ हुआ—अप्रिय सत्यवादन भी अधर्म है।

भगवान् वासुदेवने कहा है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

'करोड़ों ग्रन्थोंमें जो कहा गया है, उसको मैं आधे श्लोकमें बता रहा हूँ। परोपकार ही पुण्य है और परपीडन-का ही नाम पाप है।'

धर्मके विभिन्न विविध स्वरूप हैं और उनमें कुछ परस्परविरोधी भी हैं। वस्तुतः सात रंगोंसे बनी होनेपर भी श्वेत दीखनेवाली सूर्यकी रश्मिकी भाँति धर्मकी गति भी बड़ी गहन और जटिल है। भगवान्के द्वारा नियुक्त वेदोंद्वारा उद्घोषित इस देशके अनेक मादर्श और रूसोसे भिन्न ज्ञान-सम्पन्न विचारकोंने युग-युगमें धर्मको संगठित और व्यवस्थित करनेकी चेष्टा की है। उनके नाम हैं—मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा, बौधायन, आपस्तम्ब, नारद, आश्वलायन इत्यादि। सहस्राब्दोंतक इनके धर्मशास्त्रोंकी व्याख्या की गयी एवं उनका संकलन-सम्पादन हुआ।

यदि इस देशकी अधिकांश जनता धर्मप्राण न होती तो अराजकता फैल गयी होती और हमलोग अफ्रीकाकी किसी जंगली जातिसे अच्छे नहीं होते। किंतु इस देशके लोगोंकी अन्तश्चेतनामें अब भी धर्म सो रहा है। वह यहाँकी धरती और आकाशका अङ्ग बन गया है। वह उस वृक्षके समान है, जो वसन्तमें खिलता और पतझड़में मुरझा जाता है। प्रायः इसकी शाखाओंको अनाचारी तोड़ डालते हैं और इसकी जड़को कीड़े खा जाते हैं। पुनरुज्जीवित करनेके लिये इस वृक्षको भी सँभालकी आवश्यकता पड़ती है।

इसीलिये भगवान्ने गीता (४।७) में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् प्रकट होता हूँ।'

जब हमको पता चलता है कि आजके पहले ही नौ अवतार हो चुके हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मका ह्रास हमारे ही सामने पहली बार नहीं हो रहा है। इसका उतार-चढ़ाव भूतकालमें भी हो चुका है और अब वर्तमानमें यह फिर शायद उतारपर है; परंतु पूर्वकी भाँति अब भी इसकी चिनगारी धर्मप्राण, दृढ़, क्रियाशील व्यक्तियोंकी अस्थि, हृदय और मानसमें छिपी है, जो उस पावन पावकको पुनः प्रज्वलित करनेसे चूकेगी नहीं।

चालीस करोड़ नर-नारियोंमेंसे प्रत्येक धर्मकी मूर्ति

नहीं बन सकता। परंतु उनमेंसे कुछ आदमी तो ऐसे होने चाहिये, जो राष्ट्रके हृदयस्थानीय हों, जो धर्मकी धाराको इसकी रक्तवाहिनियोंमें भेजते रहें, जिससे विकृतियोंके उपरान्त भी राष्ट्र जीवित रहे।

कहीं हम मूर्खतासे यह न मान लें कि कुछ स्वार्थ-साधक, अहंमन्य अर्द्ध-शिक्षित अस्पष्ट व्यक्तियोंसे बनी हुई बालकी खाल निकालनेवाली धारासभाके द्वारा लोगोंके ऊपर विधानके रूपमें जो कुछ लादा जाता है, वही धर्म है। हमारे ऋषि अधिक समझते थे। वे धर्मको मनुष्योंके कल्याणके लिये भगवान्का बनाया हुआ मानते थे। समझदारीका थोड़ा भी दावा करनेवाला व्यक्ति इसे अस्वीकार नहीं कर सकता।

किसी निर्मल रात्रिको सिर उठाकर ऊपर देखनेपर हम करोड़ों मील दूरसे सहस्रों नक्षत्रोंको झिलमिलाते हुए पायेंगे। हमारे विश्वासप्राप्त वैज्ञानिकगण कहते हैं कि सभी नक्षत्र सूर्य हैं। हमारे अपने सूर्यसे अनेकगुना बड़े हैं। वे वहाँपर करोड़ों वर्षोंसे निराधार, निश्चिन्त, निष्कम्प अक्षय बने खड़े हैं। मेजपर रक्खी हुई संगमरमरकी गोलियोंकी भाँति उनमें व्यवस्था-विहीन लुढ़क-पुढ़क क्यों नहीं मचती? कौन दैवी शक्ति ऐन्द्रजालिक या जादूगर उनको अपने-अपने स्थानपर रोके हुए है? क्या सारी मानव-जाति एक साथ लगकर उनको तिनके भर भी हटा सकती है? कभी नहीं।

फिर यदि हम कहें कि सुविस्तृत अनवगाह्य, अचिन्त्य और विशाल नक्षत्रलोकको भगवान्का बनाया धर्म थामे हुए है तो क्या इसे 'अन्धविश्वास' कहा जायगा? नहीं। वैदिक ऋषियोंने यही बात सहस्रों वर्ष पूर्व इन शब्दोंमें कही थी—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' (अखिल ब्रह्माण्ड धर्मपर अवस्थित है।)

घरके निकट पृथ्वीरूपी बड़ी गेंदको देखें। क्या पृथ्वी और जलका वह एक निष्क्रिय दलदल भर है? वैज्ञानिक इसे सूर्यकी परिक्रमा करनेवाला एक पिण्ड बताते हैं। सवा नौ करोड़ मील दूर बसनेवाला वह अद्भुत सूर्य, लट्टू नचानेवाले पाठशालाके विद्यार्थीकी भाँति, पृथ्वीको घंटेमें हजार मीलकी चालसे नचा रहा है और सालभरमें एक चक्कर कटाता हुआ इसे अपनी ओर एक वृत्तमें चक्कर कटा रहा है, जिसका व्यास साढ़े अठारह करोड़ मील है। करोड़ों-करोड़ों वर्षोंसे वह खेल चल रहा है और भगवान् ही जानें कबतक चलता रहेगा। वह लड़का सदा खेलता ही रहता है। कभी थकता नहीं। बड़ा दुष्ट लड़का होना चाहिये सूर्यको।

किस लौह-रज्जुसे पृथ्वी और सूर्य बँधे हुए हैं? क्यों नहीं पृथ्वी भुवन-मण्डलके गर्तमें गिरकर विलीन हो जाती? यदि सूर्य इसे खींच रहा है तो सवा नौ करोड़ मील दूरपर ही यह क्यों ठहर गयी? क्यों नहीं, यह सूर्यकी ओर दौड़कर उसमें लय हो जाती?

क्योंकि सूर्य और पृथ्वी दोनों भगवान्के बनाये धर्मका अनुसरण कर रहे हैं। भगीरथ-प्रयत्नके बाद अन्तरिक्ष-पोत या अन्तरिक्ष-यात्रीको ऊपर भेजकर आज हमारे वैज्ञानिक फूले नहीं समा रहे हैं। भगवान्के द्वारा निर्मित और चालित सुविस्तृत, असीम, अचिन्त्य, अनवगाह्य ब्रह्माण्डरूपी विस्मयकारी एवं अवर्णनीय अद्भुत वस्तुकी तुलनामें यह सब कुछ कितना तुच्छ और बालोचित है!

इस विशाल ब्रह्माण्डको भगवान् कैसे चलाते हैं? उत्तर है—'धर्मके द्वारा।'

यह हमारे पूर्वजोंके लिये गौरवकी बात है कि उनके पास वह ज्ञान, वह प्रकाश, वह कल्पना थी, जिससे उन्होंने ब्रह्माण्डकी विशालताको जाना, स्रष्टाकी महिमाको पहचाना और उन्हें अपनी अजस्र श्रद्धा-भक्ति समर्पित की।

उन्होंने समझा कि जब एक नगरका निर्माण करनेमें, एक इस्पातका कारखाना खड़ा करनेमें, जलविद्युत्की योजना बनानेमें परिपक्व मस्तिष्कोंकी सावधान विवेचना और प्रयत्नकी आवश्यकता पड़ती है, तब किसी निष्णात मस्तिष्क, सबसे बड़े निष्णात मस्तिष्कने इस सुविशाल ब्रह्माण्डकी रचा होगा, जिसमें भीमकाय नक्षत्र हैं, तारागण हैं, ग्रह हैं, उपग्रह हैं और सब अपने पथको बिना इधर-उधर हिले आकाशमें रत दृढ़ताके साथ पकड़े हुए हैं।

इस प्रकार यदि भगवान्का धर्म ब्रह्माण्डको बाँधे रखकर उसको नियन्त्रणमें रखता है तो स्वाभाविक बात है कि भगवान्का बनाया हुआ मनुष्योंके लिये भी कोई धर्म होगा। हमारे महर्षियोंने उस धर्मका दर्शन करनेकी चेष्टा की है और अपने साथी मानवोंके लिये धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रोंमें उसकी व्याख्या करनेका प्रयास किया है और जनतामें उसका प्रचार करनेके लिये सुन्दर संगीतमय एवं नीतिमय पुराणोंकी रचना की है।

शक्तिधारी किसी दल अथवा संघके द्वारा अंधाधुंध

रूपसे स्वार्थमें भरकर या निरङ्कुशरूपसे लादे हुए विधानका हम विरोध कर सकते और छल-बलसे उसके परिणामोंसे भी बच जा सकते हैं; किंतु यदि हम भगवान्‌के धर्मका विरोध करेंगे तो हम हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, हिडिम्ब, बक, कंस बनेंगे और उनकी ही गति भोगेंगे।

सबको छोड़कर केवल हमारे ही ऋषियोंने सत्यको समझा है और पीछे आनेवाली पीढ़ियोंके लिये उसकी इतनी सुन्दर प्रभावोत्पादक, विशद एवं परिश्रमपूर्ण व्याख्या की है। प्रत्येक पीढ़ीको उस ज्ञानको एक पवित्र धरोहरके रूपमें ग्रहण करना चाहिये और आगामी पीढ़ीके स्वीकारोत्सुक हाथोंमें रख देना चाहिये; किंतु मूर्खतासे लादी हुई विदेशी शिक्षा यदि किसी पीढ़ीमें उचित विनय और विश्वासके साथ उसे ग्रहण करनेकी क्रियाके प्रति अरुचि पैदा कर देती है तो यह पीढ़ी नष्ट हो जायगी तथा मार्क्स, लेनिन एवं उनके-जैसे व्यक्ति उस विनाशको और जल्दी बुला लेंगे।

उन्हींके विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

> अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
> स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
> दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
> अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
> (कठ० १।२।५)

'वे अविद्याके भीतर रहनेवाले, किंतु अपने आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए और अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ पुरुष, अंधेरे ही ले जाये जाते हुए अंधेके समान अनेकों कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए भटकते रहते हैं।'

और गीता (१६। २१-२२) में भगवान्‌की वाणी कहती है—

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
> एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
> आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं अर्थात् उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं; इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझ भगवान्‌को प्राप्त होता है।'

अधर्मरूप आधुनिक धर्मसे सर्वनाश

(लेखक—स्वामीजी श्रीजयरामदेवजी महाराज)

आज मनुष्य भौतिक विकासके चमचमाते हुए रंगीन रंगमञ्चोंमें प्रवेश करके स्वयं ऐक्टर बनकर आनन्द भोगना चाहता है। किंतु परिणामका विचार न करके वह विमूढ़ हो रहा है, अतः अन्तमें उसे अन्धकार एवं घोर पतन प्राप्त होता है। जब प्रबल ठोकरें लगती हैं, तब बुद्धि ठिकाने आती है। केवल बाह्य रूप-रंग सुन्दर देखकर मिठाई खा लेना ही बुद्धिमानी नहीं है—उसकी परीक्षा करके उसके परिणामपर विचार करना ही चातुर्य है। यदि उस मिठाईमें विष मिला हुआ हो तो परिणाम क्या होगा? रूप सुन्दर नेत्रोंको सुख देगा, खानेसे तृप्ति होगी; किंतु अन्तमें उस विषका जब प्रभाव होगा, तब वह प्राणान्त कर डालेगा। इसीलिये आजके रहन-सहन एवं कर्तव्योंपर विचार करनेकी आवश्यकता है।

सहशिक्षाके दुष्परिणाम

प्राचीन समयमें भारतवर्ष मर्यादा-पालनपर जोर देता रहा। स्त्रियाँ अपने पतिको छोड़कर दूसरेको देखना या उससे बातचीत करना भी पसंद नहीं करती थीं। लड़कियोंको पूर्ण नियन्त्रणमें रक्खा जाता था। स्त्रियोंको स्वच्छन्दता देनेसे वे बहक जाती हैं—'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।' कुसङ्गसे मन निश्चय ही बिगड़ने लगता है—आगके पास घीको रक्खोगे तो वह पिघलेगा ही।

कुछ दिनोंसे लड़कियाँ और लड़के साथ पढ़ाये जाने लगे। जवान लड़कियाँ स्वच्छन्द होकर उनसे बातें करने लगीं। कितने ही मास्टर ऐसे होते हैं, जो लड़कियोंसे हास्य-विनोद करते हैं। कितने ट्यूशन-मास्टर लड़कियोंके साथ दुराचार करते पकड़े गये हैं। उधर जवान लड़के भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्तकर निरङ्कुश हो 'धर्म-अधर्म कुछ नहीं' ऐसे कहते हुए आचरणभ्रष्ट होनेमें ही अपनी समस्त उन्नति मान बैठते हैं। आसक्त होकर कन्याएँ भी दिन-रात असत्-चिन्तनमें घरवालोंको वैरी बना लेती हैं।

इस दुराचारके परिणाम-स्वरूप ऐसी सैकड़ों घटनाएँ जहाँ-तहाँ हो रही हैं, जिनके वर्णनसे हृदय काँप उठता है। लोग सत्य और धर्मको त्याग रहे हैं। उसके बदले दुष्कर्मोंको खरीद

रहे हैं, जिनका परिणाम भयंकर दण्डके रूपमें भोगना पड़ता है। अभी हालमें ही एक सज्जनको लकवा हो गया। भयंकर कष्ट पा रहे थे। जवानीमें ही तड़प-तड़पकर मरे थे। मैंने उनसे पूछा था कि 'आप तो बहुत सच्चे व्यक्ति हैं, आपको इतना कष्ट कैसे मिल रहा है ?' उन्होंने बताया—'मैं कालेजमें जब पढ़ता था तो एक कालेजमें आनेवाली लड़कीसे मेरा प्रेम हो गया। उसके गर्भ रह गया। जब बच्चा हुआ तो उसने मुझे बुलाया कि मेरी इज्जत बचाओ तो मैंने ही अपने हाथोंसे बच्चेको मारकर उसे जमीनमें गाड़ दिया था। अब यह उसी पापका फल है कि मुझे जीते ही नरक भोगना पड़ रहा है।' घोर कष्ट पाकर वे मरे। इस प्रकार कितने ही नित्य हत्या-काण्ड हो रहे हैं। मनुष्य छिपाकर पाप कर लेता है, परंतु सर्वदर्शी परमात्मा उसका भी दण्ड समयपर किसी-न-किसी रूपमें अवश्य देता है।

इसलिये भारतवर्षकी यदि वास्तविक उन्नति चाहते हैं तो लड़की-लड़कोंको ब्रह्मचर्यकी शिक्षा देना आवश्यक है। बचपनसे ही ब्रह्मचर्य नष्ट होनेके कारण लड़की-लड़के निस्तेज हो जाते हैं। भविष्यमें भीम-अर्जुन-से बलवान् कैसे हो सकेंगे ? शिक्षा ही बालकोंको बनाने और बिगाड़नेवाली होती है। प्राचीन समयमें तपस्वी ऋषियोंके आश्रमोंमें जाकर पचीस वर्षतक पूर्ण ब्रह्मचर्य धारणकर बालक शिक्षा ग्रहण करते थे। वे जब घर आते थे, तब पूर्ण ज्ञानी, बलवान, समस्त गृहकार्योंमें दक्ष होकर संसारमें सुयश प्राप्त करते थे।

जिसमें ब्रह्मचर्यका बल नहीं है, वह न संसारके कार्य सुचारुरूपसे चला सकता है, न परलोकके लिये साधनामें सफल हो सकता है। इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षाके उपाय करना सबके लिये आवश्यक है। गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तक—'ब्रह्मचर्य' अवश्य पढ़नी चाहिये। प्रत्येक बालकको ऐसी पुस्तकें पढ़ानी चाहिये।

सिनेमा

इसी प्रकार सिनेमा, जो मनोरञ्जनका प्रधान साधन माना जाता है और जिसका विस्तार अरण्यकी अग्निके समान अत्यन्त तीव्रतासे हो रहा है, सार्वत्रिक चरित्र भ्रष्ट करनेका एक प्रधान साधन है। सिनेमा मानो आकर्षक मीठे विषकी वह प्रबल धारा है, जिसमें पड़कर सारा समाज विष-जर्जर हो चरित्र-विनाश-सागरकी ओर तेजीसे बहा जा रहा है। बड़े संतापकी बात तो यह है कि पण्डित-मूर्ख, धनी-निर्धन, मालिक-मजदूर, सरकारी-गैरसरकारी, आबालवृद्ध-वनिता सभी इसकी अनिवार्य दासतामें फँसकर हर्षके साथ अपना पतन कर रहे हैं। कुएँ भाँग पड़ी।

सिनेमा बिल्कुल नहीं देखना चाहिये। कुछ शिक्षाप्रद सिनेमा देखनेकी इच्छासे लोग जाते हैं; परंतु प्रत्येक फिल्ममें कुछ-न-कुछ कामोत्तेजक सामग्री रहती है। नृत्य, हास-विलास न हो तो मनचले लोग पसंद ही नहीं करते। इसीसे धार्मिक चित्रोंमें भी ऐसी चीजें दिखा देते हैं कि जिनसे मन खराब हो जाता है।

साहित्य

गंदे उपन्यास, कहानियाँ आदि आधुनिक साहित्य ऐसा निकल रहा है कि जिसे पढ़कर सदाचारी व्यक्ति भी विषयलोलुप बन जाता है। भारत-सरकारको ऐसे साहित्यके प्रकाशनपर रोक लगानी चाहिये।

आधुनिक रहन-सहन तथा खान-पान

आजके पढ़े-लिखे कहलानेवाले बहुत-से लोग माताको माता तथा पिताको पिता कहनेमें भी लज्जित होते हैं। नमस्कार करना तो असभ्यता समझते हैं। यहाँतक कि पिताको बेवकूफ तक कहते सुना गया है। हमारे एक मित्रने अपने लड़केको सहस्र-सहस्र रुपये खर्च करके पढ़ाया और विलायत भेजा। विलायतसे वह एक लेडी ले आया। उससे शादी भी कर ली। जब बम्बई आया तब वहाँ आते ही उसको उच्चकोटिकी डिग्री मिलनेके कारण नौकरी भी मिल गयी। फिर वह पितासे मिलने कभी अपनी जन्मभूमिमें गया ही नहीं। पिता स्वयं बम्बई उसके पास मिलने गये तो पिताका निरादर किया। पिता दुःखी होकर लौट आये। फिर पिताने पत्र लिखा तो कई महीने बाद उन्होंने पत्रका उत्तर स्वयं न देकर क्लर्कसे लिखवा दिया कि 'साहबको पत्र लिखनेका अवकाश नहीं है।' यह है आजकलकी सभ्यता! माता-पिता रो-पीटकर बैठ रहे। भगवान् श्रीराम क्या करते थे, जरा उनका आदर्श धर्म देखिये—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

पिता आदि गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करनेसे—आज्ञा-पालन करनेसे पुत्रकी आयु, विद्या, बल और कीर्ति बढ़ती है। भगवान् राम पिताके वचनपर राज्य त्यागकर चौदह वर्षके

लिये वनको चले गये। उस आदर्शको त्यागकर आजका नवयुवक अपने पैरोंमें अपने-आप कुल्हाड़ी मार रहा है। रहन-सहनकी बात बहुत ही बिगड़ चुकी है। खड़े-खड़े पेशाब करनेमें लोग सभ्यता समझने लगे। यह बहुत खराब आदत है। पेशाबके छींटे उछलकर पाजामे या धोतीपर पड़ते हैं। इस तरह खड़े होकर पेशाब करनेवाले सब अशुद्ध होते हैं; उनके पास बैठना, उनको छूना दोषरूप है। एक दिन बाजारमें एक सज्जन दीवालके सहारे खड़े पेशाब कर रहे थे, वे सिगरेट भी पीते जाते थे। उनका ध्यान दूसरी ओर था। दीवालसे लगकर उछलकर उनका पेशाब उनके पाजामेपर पड़ रहा था। पाजामा भीग गया। फिर वे आकर सामने वाचनालयमें बैठकर अखबार पढ़ने लगे। जाड़ेके दिन थे। पाजामा कुछ ठंडा लगा तो उन्होंने दोनों हाथोंसे वहींपर पाजामा निचोड़ा। यों पेशाब निचोड़कर फिर उन्हीं हाथोंसे वे अखबार पढ़ने लगे। पश्चात् आकर बिना हाथ धोये ही नमकीन-चाट खाने लगे। इस प्रकारकी अशुद्धि आज प्रगतिके या सभ्यताके नामपर धर्म बन रही है और शुद्धताको ढोंग बताया जाता है। अतः 'कल्याण' पढ़नेवाले सभी बन्धुओंसे मेरा निवेदन है कि वे आजसे इस दूषित आदतको त्यागकर दूसरोंको भी इस कार्यसे मना करें और बैठकर सावधानीसे ऐसे पेशाब करें कि ऊपर छींटे न पड़ने पायें। अपवित्र रहनेसे मन ईश्वर-चिन्तनमें न लगकर तमोगुणी बन जाता है।

ऐसे ही दूसरोंका जूठा खानेसे, अशुद्ध तामसी चीजें खानेसे मनमें आसुर-भाव उत्पन्न होता है। लोग जरा-जरा-सी बातपर क्रोधित होकर लड़ने लग जाते हैं, गाली देते हैं, मारपीट करते हैं, मुकदमे चलाते हैं। इसका कारण, एक प्रधान कारण अशुद्धतासे रहना और अशुद्ध भोजन करना है। बिना भगवान्‌को भोग लगाये, पशुकी तरह जो मिला सो खा लिया। इससे बुद्धिका विनाश होता है। प्राचीन कहावत है—

जैसा अन्न वैसा मन। जैसा संग वैसा रंग॥

होटलोंमें चाय पीना, भोजन करना महान् दोषरूप है। वहाँ बर्तन ठीकसे धोये नहीं जाते। एक होटलमें लिखा था—'शुद्ध वैष्णव भोजनालय'; किंतु परीक्षाके लिये उसमें हमारे एक मित्र गये और उन्होंने कहा—'हम लहसुन-प्याज खाते हैं।' तो होटलवालेने कहा—'वह भी तैयार है, दो तरहका खाना हम बनाते हैं।' मित्रने पूछा—'क्या मांस वगैरहका भी प्रबन्ध हो सकता है?' होटलवालेने कहा—'भीतरके कक्षमें वह सब तैयार है, आप चले आइये।' भीतर भी मेज, कुर्सियाँ पड़ी थीं, लोग अण्डे-मछली-मांस सब खा रहे थे। यह दशा है आज होटलोंकी। उनको पैसेसे मतलब है—धर्म-अधर्मसे क्या लेना-देना? इसलिये शुद्ध भोजनके अभावसे बुद्धि मलिन रहती है। इसीसे काम-क्रोध विशेषरूपसे उत्पन्न होते हैं। अतः होटलोंमें कभी नहीं खाना चाहिये। अपने घर शुद्धतासे बनाकर तुलसी डालकर भगवान्‌को समर्पित करके तब खाना उचित है। ऐसा भोजन करनेसे मन शान्त रहता है, बुद्धि निर्मल रहती है और ईश्वर-चिन्तनमें स्थिरता आती है। इस प्रकार अनेकों बातें रहन-सहनमें बिगड़ी हुई हैं। अनेकों अपराध करके लोग अधर्म कमा रहे हैं। पापोंको ही धर्म समझ रहे हैं। सुख चाहते हैं, पर करते हैं अधर्म—'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।' यह बुद्धि विपरीत होनेका ही फल है। लोग अपनी विपरीत बुद्धिको ठीक समझ रहे हैं—धर्मको ढोंग समझते हैं, यही आसुर भाव है, जिसका फल चिन्ता, दुःख, अशान्ति और नरक है।

अतएव इस अधर्ममय आधुनिक धर्मका परिणाम निश्चय ही सर्वनाश होगा। संसारमें धर्मसे ही मनुष्य-जन्म मिला है। यदि अब अधर्मका बीज बोयेंगे तो दुःख-ही-दुःख आगे मिलेगा। मनुष्य-जन्म तो हो ही नहीं सकता। पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी निकृष्ट योनि मिलेगी और नाना प्रकारके कष्ट पाने होंगे। भगवान्‌ने कहा है, 'आसुरी प्रकृतिवाले मूर्खोंको जन्म-जन्ममें आसुरी योनिकी प्राप्ति होती है। तदनन्तर उन्हें नरक भोगना पड़ता है। भगवत्प्राप्ति तो होती ही नहीं।' (गीता १६। २०)।

इसलिये अपने प्राचीन महापुरुषोंके बताये सनातन-धर्मके मार्गपर चलना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस छोटे-से लेखमें क्या-क्या लिखा जाय—यह दिग्दर्शनमात्र है। इसीसे सब रहस्य समझ लें। अपने समस्त आचरण सुधार लें। पवित्र, सत्त्वगुणी जीवन सुखमय होता है। धर्मवान् पुरुषोंको सर्वत्र सुख-ही-सुख मिलता है।

जिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धर्मसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

विश्वास-धर्म—भगवान्‌का प्रत्येक विधान मङ्गलमय

भगवान् सब प्राणियोंके सहज सुहृद् हैं, सर्वज्ञानस्वरूप हैं और सर्वशक्तिमान् हैं। अतएव उनके दयापूर्ण नियन्त्रणमें जीवोंके लिये फलरूपमें जो कुछ विधान किया जाता है, सब उनके कल्याणके लिये होता है; क्योंकि भगवान् सुहृद् हैं, वे अहित कर नहीं सकते, सब उचित होता है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप भगवान् जानते हैं कि कौन-से कार्यसे इसका वास्तविक कल्याण होगा। और सब पूरा होता है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। अतएव विश्वासी भक्त प्रत्येक परिस्थितिमें, प्रत्येक परिणाममें मङ्गलमय भगवान्‌का कल्याण-विधान समझकर प्रसन्न रहता है, उनकी अपार अहैतुकी कृपाका—उनके अनन्त सौहार्दका अनुभव करता और परम प्रसन्न रहता है, उसे प्रत्यक्ष मङ्गल दिखायी देता है। वह अनुकूल फलमें ही नहीं, प्रतिकूल-से-प्रतिकूलमें भी भगवान्‌की कृपा देखकर निर्विकार रहता और एकान्त आनन्दका अनुभव करता है। प्रत्येक अपमान, तिरस्कार, निन्दा, धननाश, प्रिय-से-प्रिय वस्तुके विनाश तथा अभाव, रोग, मृत्यु—सभीमें समानरूपसे प्रसन्न रहता है। किसी भी स्थितिमें उसका विश्वास जरा भी नहीं हिलता।

भक्त नरसीजीके एकमात्र पुत्र था। बड़ा प्रिय था। भगवान्‌के मङ्गल विधानसे उसकी मृत्यु हो गयी। नरसीजी-को दिखायी दिया—मेरे मनमें पुत्रमोह था। मैं इस मोहमें भगवान्‌को कभी-कभी भूल जाता था। यह एक बाधा थी भजनमें। भगवान्‌ने कृपा करके इस बाधाको दूर करके मेरा बड़ा मङ्गल किया। उन्होंने भगवन्नाम-कीर्तन करते हुए गाया—

भलुँ थयुँ रे भाँगी जंजाळ। सुखेथी भजशुं श्रीगोपाळ॥

बहुत अच्छा हुआ, जंजाल टूट गया! अब सुखसे निर्बाध श्रीगोपालका भजन करूँगा।

प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलमय

जगमें जो कुछ भी है मिलता—कीर्ति-अकीर्ति, मान-अपमान।
धन-दारिद्र्य, शुभाशुभ, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, लाभ-नुकसान॥
जन्म-मृत्यु, आरोग्य-रोग, सब ही निश्चित हितपूर्ण विधान।
रचते मङ्गलहेतु ज्ञानमय सुहृद-शिरोमणि श्रीभगवान्॥
विश्वासी अति भक्त नित्य संतुष्ट बना रहता यह जान।
हर स्थितिमें पाता वह मङ्गलमय प्रभुका संस्पर्श महान॥
हर्ष-विषाद-रहित वह रहता सदा परम आनन्द-निमग्न।
चित्त-बुद्धि सब रहते उसके नित्य सतत प्रभुमें संलग्न॥
प्रभुका अतिशय प्रिय वह होता, परम दिव्य समता-सम्पन्न।
होता उसके उरमें प्रभुका नित्य नवीन प्रेम उत्पन्न॥
एकमात्र प्रभुमें होती उसकी अनन्य ममता एकान्त।
हो जाता दुर्लभ फिर उसका परम भागवत जीवन शान्त॥

परहित-धर्म

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

तामसी प्रकृतिका महान् बलशाली रावण जगज्जननी सीताका अपहरण करके लिये जा रहा था। वयोवृद्ध पक्षिराज जटायुने सीताका करुण विलाप सुना और वे दुर्वृत्त रावणके हाथसे उन्हें छुड़ानेके लिये रावणसे भिड़ गये। पक्षिराजने रावणको रणमें बहुत छकाया और जबतक उनके जीवनकी आहुति न लग गयी, तबतक लड़ते रहे। अन्तमें रावणने जटायुके दोनों पक्ष काटकर उन्हें मरणासन्न बनाकर गिरा दिया और वह सीताजीको ले गया। कुछ समय बाद भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ सीताजीको खोजते हुए वहाँ पहुँचे। जटायुको अपने लिये प्राण न्योछावर किये देखकर भगवान् श्रीराम गद्गद हो गये और स्नेहाश्रु बहाते हुए उन्होंने जटायुके मस्तकपर अपना हाथ रखकर उसकी सारी पीड़ा हर ली। फिर गोदमें उठाकर अपनी जटासे उसकी धूल झाड़ने लगे।

दीन मलीन अधीन ह्वै अंग बिहंग पर्‌यो छिति छिन्न दुखारी।
राघव दीन दयालु कृपालु को देखि दुखी करुना भइ भारी॥
गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन-सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

गृध्रराज कृतार्थ हो गये। वे गृध्र-देह त्यागकर तथा चतुर्भुज नीलसुन्दर दिव्यरूप प्राप्त करके भगवान्‌का स्तवन करने लगे—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥

स्तवन करनेके पश्चात् अविरल भक्तिका वर प्राप्त करके जटायु वैकुण्ठधामको पधार गये—

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

पर-हितकारीके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं

पर-दुखको निज-दुःख समझकर, कर प्रयत्न करते परिहार।
निज सुख देकर सुखी बनाते सहज मान-मद, रहित-उदार॥
पर-हितको निज स्वार्थ मान, वे परहित करते निज-हित त्याग।
अतुलनीय सुख अनुभव करते पुरुष इसीमें वे बड़भाग॥
पर-रक्षणमें कर देते वे अपने जीवनका बलिदान।
सदा इसे समझते वे सज्जन अपना सौभाग्य महान॥
नहीं मानते वे फिर इसको किसी तरह भी पर-उपकार।
रविके सहज प्रकाश-दान सम होता यह उनका व्यवहार॥
विनय-विनम्र-हृदय वे नर-वर नहीं जनाते कुछ अहसान।
उनपर सदा स्वयं बरसाते अपनी कृपा-सुधा भगवान॥
उनके लिये न रह जाता फिर दुर्लभ कुछ भी कहीं पदार्थ।
बन जाते वे आप सहज ही पावन परम रूप परमार्थ॥

सर्वत्रभगवद्दर्शन-धर्म

पुरानी बात है। कान्तिपुरमें चोल नामक चक्रवर्ती नरेश राज्य करते थे। उनके राज्यमें कोई पापी, रोगी और दुखी नहीं था। राजा निरन्तर मुक्तहस्तसे दान-पुण्य तथा यज्ञ किया करते थे। अपार धन-सम्पत्ति थी। वे बड़े प्रेमसे भगवान्‌के श्रीविग्रहका राजोपचारसे पूजन किया करते थे। पर उनके मनमें कुछ गर्व था। वे ऐसा समझने लगे थे कि मैं प्रचुर धनके द्वारा दान-पूजन करके भगवान्‌को जितना अधिक प्रसन्न कर सकता हूँ, उतना दूसरा कोई नहीं कर सकता। वे इस बातको धन-मदमें भूल गये थे कि भगवान् धनसे नहीं, भावपूर्ण मनसे प्रसन्न होते हैं।

उसी कान्तिपुरमें विष्णुदास नामक एक धनहीन दीन ब्राह्मण भी रहते थे। वे बड़े विद्वान् तथा भगवान्‌के भक्त थे। उनका विश्वास था कि श्रद्धा-भक्तिसे समर्पित पत्र-पुष्पादि छोटी-से-छोटी वस्तुको भी भगवान् बड़े चावसे ग्रहण करते हैं। समुद्रके तटपर बने मन्दिरमें राजा चोल और ब्राह्मण विष्णुदास दोनों भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा करने आया करते। एक दिन राजा चोल बहुमूल्य मोतियों, रत्नों तथा सुन्दर-सुन्दर स्वर्ण-पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा कर दण्डवत्-प्रणाम करके मन्दिरमें बैठे थे। इतनेमें भक्त विष्णुदास एक हाथमें जलका लोटा और दूसरेमें तुलसी तथा पुष्पोंसे भरी छोटी-सी डलिया लिये वहाँ पहुँचे। विष्णुदासने न राजाकी ओर देखा न राजाके द्वारा की हुई पूजनकी बहुमूल्य सामग्रीको। वे भावमें मतवाले-से आये और सीधे भगवान्‌के पास जाकर उनकी पूजा करने लगे। विष्णुसूक्तका पाठ करके भगवान्‌को भक्तिके साथ स्नान कराया। स्नानके जलसे राजाके द्वारा चढ़ाये हुए सारे वस्त्राभूषण भींग गये। तदनन्तर उन्होंने फूल-पत्तोंसे भगवान्‌की पूजा की। यह सब देखकर राजाको दुःख हुआ। राजाने कहा—'कंगले ब्राह्मण! मालूम होता है तुममें तनिक भी बुद्धि नहीं है। मैंने मणि-मुक्ताओं तथा सोनेके फूलोंसे भगवान्‌का कितना सुन्दर शृङ्गार किया था। तुमने सब क्यों बिगाड़ दिया? यह भी कोई भगवान्‌की पूजा है?'

ब्राह्मणने कहा—'राजन्! मैंने तुम्हारी पूजाकी सामग्रीको देखा ही नहीं, मेरी समझसे भगवान्‌की पूजा स्वर्ण-पुष्प और मणिमुक्ताओंसे ही होती हो, ऐसी बात नहीं है। जिसके पास जो कुछ हो, उसीसे वह भक्तिभावपूर्ण हृदयसे भगवान्‌का पूजन-अर्चन करे। भगवान्‌की तुष्टिके लिये भावकी आवश्यकता है, न कि धन-दौलतकी। भगवान् यदि धनसे ही प्रसन्न होते तो गरीब बेचारे कैसे पूजा कर सकते? अतः तुम धनका गर्व छोड़ दो और अपनी स्थितिके अनुसार वस्तुओंसे भगवान्‌की भावसे पूजा-अर्चना किया करो। दूसरे लोग अपनी स्थितिके अनुसार पूजा करें, इसमें तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये।'

पर राजाको तो अभी धनका मद था। उन्होंने पुनः ब्राह्मणका तिरस्कार करते हुए कहा—'तेरी दरिद्रतासे भगवान् प्रसन्न होते हैं या मेरी धन-सम्पत्तिके अर्पणसे? अब देखूँगा कि हम दोनोंमें किसको पहले भगवान्‌के दर्शन होते हैं। मैं भी साधन करता हूँ, तू भी कर।' ब्राह्मणने राजाकी दर्पोक्तिसे न डरकर उनका चैलेंज स्वीकार किया।

राजाने महलमें जाकर मुद्गल मुनिको बुलाया और उनके आचार्यत्वमें एक बहुत बड़े विष्णुयज्ञका आरम्भ कर दिया। बहुत बड़ी संख्यामें ब्राह्मण विद्वान् बुलाये गये तथा राजा सगर्व मुक्तहस्तसे धनका सदुपयोग करने लगे। गरीब विष्णुदासके पास धन तो था ही नहीं। उन्होंने व्रतोंका आचरण, तुलसीवन-सेवन, भगवान्‌के द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्रका सभक्ति जप, नित्य भक्तिपूर्वक भगवान्‌का पूजन करना आरम्भ किया। इसीके साथ उन्होंने खाते-पीते, सोते-जागते, जाते-आते—सब समय भगवन्नाम-का प्रेमपूर्वक स्मरण करते हुए सर्वत्र समानभावसे भगवान्-के दर्शनका अभ्यास किया। ब्राह्मणके कोई भी बाह्य आडम्बर नहीं था। यों राजा और ब्राह्मण दोनों ही इन्द्रियों-को वश करके अपनी-अपनी रुचिके अनुसार साधन करने लगे। बहुत काल बीत गया।

ब्राह्मण विष्णुदास प्रातःकाल नित्यकर्म करनेके बाद रोटी बनाकर रख देते और मध्याह्नमें एक बार खा लेते। दिन-रात साधनामें लगे रहते। एक दिन रोटी बनाकर रक्खी थी, पर रोटी गायब हो गयी। ब्राह्मण भूखे तो थे, पर दुबारा रोटी बनानेमें साधनका समय व्यय करना अनुचित समझकर वे भूखे रह गये। दूसरे दिन रोटी बनाकर रक्खी और जब भगवान्‌को भोग लगाने गये तो देखा रोटी नहीं है। इस प्रकार रोटियोंके चोरी होते सात दिन बीत गये। ब्राह्मण भूखसे विकल थे। सोचने लगे, रोटी कौन चुराता है—देखना होगा। अतः आठवें दिन वे रोटी बनाकर एक तरफ छिपकर खड़े हो गये।

उन्होंने देखा कि एक चण्डाल रोटी चुरा रहा है। वह चण्डाल भूखसे व्याकुल था, उसके मुखपर दीनता छायी थी और शरीर चमड़ीसे ढका केवल हड्डियोंका ढाँचा था। चण्डालकी यह दयनीय दशा देखकर ब्राह्मणके हृदयमें दया उमड़ आयी, उसी समय सर्वरूपमें सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाले विष्णुदासने चण्डालको भगवान् मानकर कहा—'ठहरो-ठहरो, रूखा अन्न कैसे खाओगे ? मैं घी देता हूँ, इससे रोटी चुपड़कर खाओ।' चण्डाल डरकर भागा। ब्राह्मण घीका पात्र लिये 'ठहरो, घी ले लो'—पुकारते हुए पीछे-पीछे दौड़े। कुछ दूर जानेपर भूखा-थका चण्डाल मूर्छित होकर गिर पड़ा। ब्राह्मणश्रेष्ठ विष्णुदास कृपावश उसको कपड़ेसे हवा करने लगे। इसी बीच विष्णुदासने देखा—'चण्डालके शरीरमेंसे साक्षात् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये स्वयं चतुर्भुज भगवान् नारायण प्रकट हो गये हैं। विष्णुदास आनन्दमें बेसुध हुए उस मधुर मनोहर छवि-सुधाका नेत्रोंके द्वारा पान करने लगे।

तदनन्तर इन्द्रादि देवता तथा ऋषि आ गये। भगवान् विष्णुने अपने परम सात्त्विक भक्त विष्णुदासको प्रेममें आलिङ्गनकर अपने साथ विमानमें बैठाया। विमान आकाश-पथसे चोल राजाके यज्ञस्थलके ऊपरसे निकला। यज्ञदीक्षित चोलराजने देखा—दरिद्र ब्राह्मण केवल भावपूर्ण भक्तिके प्रतापसे उनके यज्ञकी पूर्णाहुतिके पहले ही भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनके साथ वैकुण्ठ जा रहा है। चोलराजका सारा धन-दर्प चूर्ण हो गया। सारा गर्व गल गया। राजाके मनमें धनसे सम्पन्न होनेवाले कर्मोंकी जो एक विशेष महत्ता थी, वह नष्ट हो गयी। वही एक प्रतिबन्धक था, वह दूर हो गया। यज्ञकी पूर्णाहुति हो रही थी। चोलराजके पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने भानजेको राज्याधिकार दे दिया और यज्ञकुण्डके समीप खड़े होकर—'हे भगवन्! मुझे मन, वाणी, शरीर और कर्मद्वारा होनेवाली अविचल भक्ति प्रदान कीजिये'—कहते हुए वे यज्ञकुण्डमें कूद पड़े। राजा भगवान्‌के भक्त थे ही, उनकी धन-सम्पत्ति भी भगवान्‌की सेवामें ही लगी थी, विष्णुयज्ञका फल भी होना था। एक धन-गर्वकी बाधा थी, वह दूर हो गयी। अतः उनके यज्ञकुण्डमें कूदते ही भक्तवत्सल भगवान् नारायण यज्ञाग्निसे आविर्भूत हो गये। राजाको हृदयसे लगाकर विमानपर बैठाया और अपने साथ वैकुण्ठधामको ले गये।

सर्वत्र भगवद्दर्शन

जो नित सबमें देखता, चिन्मय श्रीभगवान्।
होता कभी न वह परे, हरि-दृगसे विद्वान्॥
ले जाते हरि स्वयं आ, उसको निज परधाम।
देते नित्य स्वरूप निज, चिदानन्द अभिराम॥

धर्मपर स्वामी विवेकानन्दके कुछ विचार

(संकलनकर्ता—श्रीमुन्नालालजी मालवीय 'भरत' एम्० काम०)

'संसारका प्रत्येक धर्म गङ्गा और युफ्रेटिस नदियोंके मध्यवर्ती भूखण्डपर उत्पन्न हुआ है। एक भी प्रधान धर्म यूरोप या अमेरिकामें पैदा नहीं हुआ। एक भी नहीं। प्रत्येक धर्म ही एशिया-सम्भूत है और वह भी केवल उसी अंशके बीच। ये सब धर्म अब भी जीवित हैं और कितने ही मनुष्योंके लिये उपकारजनक हैं।'

× × × ×

'हिंदू-जातिने अपना धर्म अपौरुषेय वेदोंसे प्राप्त किया है। वेदान्तमें दिये हुए धर्मके सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं; क्योंकि वे उन शाश्वत सिद्धान्तोंपर आधारित हैं जो कि मनुष्य और प्रकृतिमें हैं। वे कभी भी परिवर्तित नहीं हो सकते। आत्माके और मोक्षप्राप्ति आदिके विचार कभी भी नहीं बदल सकते।'

'भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरोंपर विश्वासके समान हिंदू-धर्म नहीं है वरं हिंदू-धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कारका धर्म है। हिंदू-धर्ममें एकजातीय भाव देखनेको मिलेगा। वह है आध्यात्मिकता। अन्य किसी धर्ममें एवं संसारके और किसी धर्म-ग्रन्थमें ईश्वरकी संज्ञा निर्देश करनेमें इतना अधिक बल दिया गया हो, ऐसा देखनेको नहीं मिलता।'

× × × ×

'धर्म अनुभूतिकी वस्तु है। मुखकी बात, मतवाद अथवा युक्तिमूलक कल्पना नहीं है—चाहे वह कितनी ही सुन्दर हो। आत्माकी ब्रह्मस्वरूपताको जान लेना, तद्रूप हो जाना—उसका साक्षात्कार करना—यही धर्म है। धर्म केवल सुनने या मान लेनेकी चीज नहीं है, समस्त मन-प्राण विश्वासके साथ एक हो जाय—यही धर्म है।'

'धर्मका अर्थ है आत्मानुभूति, परंतु केवल कोरी बहस, खोखला विश्वास, अँधेरेमें टटोलबाजी तथा तोतेके समान शब्दोंको दुहराना और ऐसा करनेमें धर्म समझना एवं धार्मिक सत्यसे कोई राजनीतिक विष ढूँढ़ निकालना—यह सब धर्म बिल्कुल नहीं है।'

× × × ×

'प्रत्येक धर्मके तीन भाग होते हैं। पहला दार्शनिक भाग—इसमें धर्मका सारा विषय अर्थात् मूलतत्त्व, उद्देश्य और लाभके उपाय निहित हैं। दूसरा पौराणिक भाग—यह स्थूल उदाहरणोंके द्वारा दार्शनिक भागको स्पष्ट करता है। इसमें मनुष्यों एवं अति-प्राकृतिक पुरुषोंके जीवनके उपाख्यान आदि लिखे हैं। इसमें सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व मनुष्यों या अति-प्राकृतिक पुरुषोंके जीवनके उदाहरणोंद्वारा समझाये गये हैं। तीसरा आनुष्ठानिक भाग—यह धर्मका स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पद्धति, आचार, अनुष्ठान, शारीरिक विविध अङ्ग-विन्यास, पुष्प, धूप, धूनी प्रभृति नाना प्रकारकी इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ हैं। इन सबको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्मका संगठन होता है। सारे विख्यात धर्मोंके ये तीन विभाग हैं।'

× × × ×

'ईश्वर पृथ्वीके सभी धर्मोंमें विद्यमान है। वह अनन्त-कालसे वर्तमान है और अनन्तकालतक रहेगा। भगवान्‌ने कहा है—'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।' मैं इस जगत्‌में मणियोंके भीतर सूत्रकी भाँति वर्तमान हूँ—प्रत्येक मणिको एक विशेष धर्म, मत या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। पृथक्-पृथक् मणियाँ एक-एक धर्म हैं और प्रभु ही सूत्र-रूपसे उन सबमें वर्तमान हैं।'

× × × ×

'निःस्वार्थता ही धर्मकी कसौटी है। जो जितना अधिक निःस्वार्थी है वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिवके समीप है।'

'जहाँ यथार्थ धर्म वहीं आत्मबलिदान। अपने लिये कुछ मत चाहो, दूसरोंके लिये ही सब कुछ करो—यही है ईश्वरमें तुम्हारे जीवनकी स्थिति, गति तथा प्रगति।'

'क्या वास्तवमें धर्मका कोई उपयोग है? हाँ, वह मनुष्यको अमर बना देता है। उसने मनुष्योंके निकट उसके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित किया है और वह मनुष्योंको ईश्वर बनायेगा। यह है धर्मकी उपयोगिता। मानव-समाजसे धर्म पृथक् कर लो तो क्या रह जायगा। कुछ नहीं केवल पशुओंका समूह।'

'संसारमें जितने धर्म हैं, वे परस्परविरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं। वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्मके भिन्न-भिन्न भावमात्र हैं। यही एक सनातन धर्म चिरकालसे समस्त विश्वका आधाररूप रहा है।'